

श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम्

ब्रह्मसूत्रम्

(पारायणसंस्करणम्)

शाङ्करभाष्योपेतम्

शङ्करं शङ्कराचार्यं केशवं बादरायणम्।
सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः।।



१ॐ

Q व्यावहारिक प्रातिभासिकयोर्मध्ये को भेदः ?

A त्रिकालाबाध्यं पारमार्थिक सत्ता.

यस्य बाधो ब्रह्मज्ञानेनैव भवति तत् व्यावहारिक सत्ता.

ब्रह्मज्ञानं विनापि बाधो यस्य तद् प्रातिभासिक सत्ता।

Q. मिथ्या, असतो भेदः ?

मिथ्या सत् भिन्न है असत् भिन्न है सत्सद् भिन्न है।
प्रातीति मात्र है। बाधित होता है।

असत् तुच्छ है। न बाध है, न प्रत्यक्ष है।

Q रज्जु सर्प ज्ञानं किमात्मकम् ? केन प्रमाणेन ज्ञायते?

अयं सर्पः न चक्षुषा एव दृश्यते.

अयं सर्पः = प्रत्यक्ष ज्ञान चक्षुर्जन्य: अधिष्ठान का.

साक्षी प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञान नहीं।

इदं ज्ञान अलग. सर्प ज्ञान अलग।

ॐ स्वामी मेधानन्द पुरीजी



।।श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ।।

श्रीकैलासविद्यालोकस्य द्विसप्ततितमः (७२) सोपानः

श्रीबादरायणविरचितम् शांकरभाष्योपेतम्

ब्रह्मसूत्रम्

(पारायणसंस्करणम्)

निर्देशकः

श्रीशांकरभाष्यपारायणप्रवर्तकाचार्य वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य

श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर

अनन्तश्रीविभूषित स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज



सम्पादक

स्वर्ण लाल तुली

बी. इ., डी. डी. इ. (न्यूज़ीलैण्ड)

प्रकाशक :

श्री कैलास विद्या प्रकाशन

कैलास आश्रम, ऋषिकेश - २४९२०१

द्वारा

श्रीकैलासविद्यातीर्थ-आदिशंकराचार्य स्मारक,

६, भाई वीर सिंह मार्ग, नई दिल्ली - ११०००१

सौजन्य :

अनन्त प्रेम मन्दिर, श्री जीवन्मुक्त ट्रस्ट,

अम्बाला शहर

एवं

अनन्त श्री स्वामी ब्रह्मप्रकाश न्यास समिति न्यास,

कैलास गेट, ऋषिकेश - २४९२०१

प्रथमावृत्तिः २०००

वि. सं. २०५७; सन् २००१

मूल्य ३७५ रुपये

ग्रन्थ प्राप्ति स्थान —

१. **कैलास आश्रम,** कैलास गेट, ऋषिकेश - २४९२०१ दूरभाष : ०१३५-४३०५९८
२. **दशनाम संन्यास आश्रम,** भूपत वाला, हरिद्वार - २४९४०१ दूरभाष : ०१३३-४२७२०६
३. **कैलास आश्रम,** उजेली, उत्तरकाशी - २४९१९३ दूरभाष : ०१३७४-२२३६१
४. **कैलासधाम,** नई झूंसी, प्रयागराज - २२१५०६ दूरभाष : ०५३२-६६८७१८
५. **शंकर ब्रह्मविद्या कुटीर,** ८३-ए, द्वारकापुरी, मुजफ्फर नगर - २५१००१
६. **रामाश्रम,** सामाना मण्डी (पटियाला)- १४७१०१ दू० : ०१७६४-२०४५०
७. **कैलास विद्यातीर्थ - आदि शंकराचार्य स्मारक,** ६, भाई वीर सिंह मार्ग, नई दिल्ली - ११०००१, दूरभाष : ०११-३३४७४७५
८. **कैलास आश्रम,** मॉडल टाऊन, रोहतक - १२४००१
९. **कैलास विद्याधाम,** रूप नगर, जम्मू तवी - १८०००१
१०. **कैलास विद्या तीर्थ,** गिरियक रोड़, राजगीर (नालन्दा)-८०३ ११६ दूरभाष : ०६११९-२५२८३
११. **नर्मदा सत्संग आश्रम,** भिलाड़िया घाट, सिवनी मालवा, होशंगाबाद (म. प्र.)

मुद्रक :— **नाथ प्रिंटर्ज,** जोशी रोड, करोल बाग, नई दिल्ली - ११०००५, ✦ दूरभाष - ३५५५५८९, ३६१९१७०

लेज़र कम्पोज़िंग : - **आकृति प्रिन्टोग्राफिक्स,** जनक पुरी, नई दिल्ली - ११००५२ ✦ दूरभाष : [illegible]२३००६

ॐ

॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

सम्पादकीय

दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः

कैलास विद्या प्रकाशन से 'ब्रह्मसूत्र' के ऊपर यह पाँचवाँ ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्रम् (पारायणसंस्करणम्') पाठकों के समक्ष रखते हुये हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है। इससे पूर्व, ब्रह्मसूत्र विद्यानंदवृत्ति, चतु:सूत्री, ब्रह्मसूत्र (सटिप्पण संस्करण), ब्रह्मसूत्र (मूल) प्रकाशित हो चुके हैं। कैलास ब्रह्मविद्यापीठ के वर्तमान दशमाधीश्वर श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्तश्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज ने १ जुलाई सन् १९९८ से शांकरभाष्य साहित्य पारायण को अपनी दिनचर्या में अपना कर वैदिक सनातन धर्मावलम्बियों को एक नई दिशा प्रदान की। जिसकी परमावश्यकता होते हुये भी न जाने क्यों इसकी ओर शांकरी समाज ने ध्यान नहीं दिया था। प्रथम तो महाराज श्री ने एक वर्ष के लिये एक घण्टे प्रतिदिन पारायण का नियम लिया था परन्तु इसकी उपादेयता एवं प्रभाव को अनुभव करके इसे आजीवन अपनाने का दृढ़ संकल्प कर लिया। महाराज श्री ने भगवान् शंकराचार्य के प्रस्थान त्रयी भाष्यों का इससे पूर्व सैंकड़ों बार स्वाध्याय किया और करवाया होगा परन्तु जो रसानुभूति उनको पारायण करने पर हुई वह अलौकिक है। महाराज श्री ने यह निष्कर्ष निकाला कि मात्र स्वाध्याय क्रम से शांकरभाष्यों का जितना अर्थावबोध होता है उससे कई गुणा अधिक पारायण करने से भावार्थ हृदयङ्गम होता है। ऐसा भी अनुभव में आया है कि संस्कृतज्ञ, असंस्कृतज्ञ, कोई भी भाष्य पारायण करके आनन्द का अनुभव करता है। नित्य पारायण द्वारा पाठक अर्थ गाम्भीर्य अथवा अर्थ को जानने लगता है। इतना तो भाष्यों के आधिभौतिक स्वरूप का सेवन करने से फल प्राप्त हो जाता है।

शांकरभाष्यों के आधिदैविक एवं आध्यात्मिक स्वरूप भी हैं जो पारायणानुरक्तों के लिए विशेष लाभप्रद हैं। जैसे कि उक्ति प्रसिद्ध है कि जो कुछ ज्ञान संसार में उपलब्ध है वह 'महाभारत' में है और जो 'महाभारत' में नहीं वह संसार में भी नहीं। इसी प्रकार शांकरभाष्यों का आधिदैविक स्वरूप सभी वाङ्मय में समाया हुआ है। शांकरभाष्यों में सभी ज्ञान विज्ञान उपलब्ध है। विश्व की कोई भी समस्या का समाधान उस के उपासनापूर्वक पारायण में निहित है, वह समस्या वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्यों न हो, अथवा भौतिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं आर्थिक क्यों न हो। आध्यात्मिक स्वरूप का ज्ञान तो शांकरभाष्य पारायण में पूर्णतया प्रवीण हुये महासाधक को ही प्राप्त हो सकता है। भाष्यों के एक-एक अक्षर में जिस जिज्ञासु की निष्ठा बन गई है और जो भाष्यों के पारायण के साथ उसके अर्थावलोक से आप्लावित है वह महापुरुष भगवान् शंकराचार्य का कृपापात्र बन अवश्यमेव पारायण के द्वारा परिपूर्ण तत्त्व का अनुभव करेगा।

उपरोक्त गुणों के कारण हीं महाराज श्री ने शांकरभाष्य पारायण को जन साधारण तक पहुँचाने का अभियान प्रारम्भ किया है। उसके पारायण में सौविध्य के लिये प्रस्थानत्रयी ग्रन्थों के प्रकाशन का क्रम भी कैलासविद्या प्रकाशन, महाराज श्री के आदेश एवं आशीर्वाद से, बड़ी तेजी से सम्पन्न कर रहा है। इस क्रम में श्रुतिप्रस्थान के नौ उपनिषदों (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक) के पारायण संस्करण प्रकाशित होकर पाठकों के समक्ष आ चुके हैं। दसवाँ छांदोग्योपनिषत् यन्त्रस्थ है। स्मृतिप्रस्थान श्रीमद्भगवद्गीता पारायण संस्करण भी यन्त्रस्थ है। दर्शनप्रस्थान के शांकरभाष्यों के अन्तर्गत प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन भगवत्कृपा से सम्पन्न होकर पाठकों के समक्ष है ही।

कैलास विद्या प्रकाश द्वारा प्रकाशित उपरोक्त पारायण संस्करणों की कुछ विशेषताएं हैं। प्रथम तो जो पाठक

महाराज श्री के सान्निध्य में शांकरभाष्य पारायण के आजीवन नित्य पाठ की शपथ लेता है वह बिना मूल्य ग्रंथ प्राप्त कर सकता है। श्रुति-प्रस्थान एवं स्मृति-प्रस्थान के पारायण संस्करणों में मूल मन्त्र अथवा श्लोक की 'विद्यानन्दी मिताक्षरा' हिन्दी व्याख्या भी दी गई है। अक्षरों को मोटा एवं स्पष्ट रखा गया है। जिससे कमजोर नजर वाले पाठकों को भी पाठ करने में सुविधा रहे। प्रतिदिन एक घण्टा पारायण के अनुरूप आह्निक अथवा विश्रामों का भी ग्रंथ में संकेत कर दिया गया है। इसके अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्र का ३२ दिनों में पारायण सम्पन्न हो जाता है।

ब्रह्मसूत्र के चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय के चार पाद हैं। विषय विभाग की दृष्टि से पाठ अधिकरणों एवं तदन्तर्गत सूत्रों में विभक्त है। इस ग्रन्थ में अधिकरण के दायीं ओर की संख्या उस पाद की अधिकरण संख्या की द्योतक है। अधिकरण की बायीं ओर की कोष्ठक में दी गई संख्या सम्पूर्ण पादों की सामूहिक अधिकरण संख्या को दिखलाती है। उस अधिकरण में जितने सूत्र पाद संख्या क्रम से आये हैं उसका भी संकेत दायीं ओर कोष्ठक में दे दिया गया है। सूत्रों के दायीं ओर की संख्या प्रत्येक पाद में आये सूत्रों को लेकर है। बायीं ओर की कोष्ठक में दी गई संख्या सम्पूर्ण ग्रन्थ के सभी १६ पादों में आये सूत्रों के आधार पर है।

पाठकों के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि भगवान् शंकराचार्य को पादुर्भूत हुये १२१३ वर्ष हो चुके हैं, तो आज ही उनके भाष्यों के पारायण का डंका आप क्यों बजा रहे हैं? क्या आज से पहले किसी महापुरुष का इस ओर ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ? इसके उत्तर में निवेदन है कि सर्वान्तर्यामी परमात्मा की योजना से ही ऐसे कार्य सम्पन्न होते हैं। इस कार्य का समय अभी उपस्थित हुआ तो परमात्मा ने महाराज श्री को इस कार्य के लिये प्रेरित किया। महाराज श्री ने कुछ समय पूर्व 'भगवत्पादीय दिव्ययुगारम्भ' की घोषणा की, जो सबको चौंकाने वाली थी। महाराज श्री ने अनुभव किया ('श्रद्धासुमनाञ्जलि' पृष्ठ ४४ द्रष्टव्य है) कि भारत के सभी क्षेत्रों में संस्कृति एवं धर्म के ह्रास के सीमोल्लंघन की स्थिति उपस्थित हो गई है। समाज में भ्रूण हत्या एवं दहेज प्रथा जैसे कलंक उभरने लगे हैं। अतएव इनका अन्त एक दिव्ययुगारम्भ द्वारा होना संभव प्रतीत होता है। इस दिव्ययुग के देवता (आराध्य) भगवान् आदि जगद्गुरु शंकराचार्य हैं। उनकी आराधना विशेष कर उनके भाष्यों के नियमित पारायण से इस भगवत्पादीय दिव्ययुग में मानव का अभ्युदय-निःश्रेयस छिपा हुआ है। इस संदेश को जो निष्ठापूर्वक अपना लेगा उसको अभीष्ट लाभ भगवान् शंकराचार्य के अनुग्रह से अवश्य मिलेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ महाराज श्री की प्रेरणा से अनन्त प्रेम मन्दिर, श्री जीवन्मुक्त ट्रस्ट अम्बाला शहर एवं अनन्त श्री स्वामी ब्रह्मप्रकाश न्यास समिति न्यास ऋषिकेश के सदस्यों ने ब्रह्मलीन श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य अनन्त श्री विभूषित स्वामी ब्रह्मप्रकाश जी महाराज एवं ब्रह्मलीन श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य विरक्तशिरोमणि अनन्त श्री विभूषित स्वामी अनन्त प्रकाश जी महाराज के पुण्य संस्मरण में छपवाने का संकल्प लिया। अतएव उन पुण्य कर्मा शिष्य मण्डली को कोटिशः धन्यवाद है। उनकी गुरुभक्ति का सुभाव अनुकरणीय है। इन्हीं के सहयोग से ब्रह्मसूत्र का 'ललिता संस्करण' भी छप रहा है। जिसमें महाराज श्री द्वारा विरचित ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की हिन्दी 'ललिता' व्याख्या भी होगी।

ग्रन्थ को शुद्ध एवं सुन्दर बनाने का भरसक प्रयास किया गया है जिसमें मुद्रक नाथ प्रिंटर्ज एवं कम्पोज़र आकृति प्रिन्टोग्राफिक्स का विशेष सहयोग हमें मिला है। फिर भी अशुद्धि रह ही जाती है, जिसके लिये पाठक क्षमा करेंगे। ॐ तत्सत्

श्रावण पूर्णिमा वि. सं. २०५७

गुरुपादानुरागी

स्वर्ण लाल तुली

ॐ

ब्रह्मसूत्रम् (पारायणसंस्करणम्)
विश्राम – प्रदीपिका

विश्राम - प्रदीपिका

३ - तृतीयोऽध्यायः

४ - चतुर्थोऽध्यायः

ॐ

॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

श्रीबादरायणविरचितम्

ब्रह्मसूत्रम्

शाङ्करभाष्योपेतम्

॥ अथ समन्वयोनाम प्रथमोऽध्यायः ॥

प्रथमः पादः

(अत्रपादे स्पष्टब्रह्मलिङ्गोपेतानां श्रुतिवाक्यानां विचारः)

अथ अध्यासभाष्यम्

(श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितम्। उपोद्घातः)

युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां, तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः। इत्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः, तद्विपर्ययेणविषयिणस्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्। तथाप्यन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेन, अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य, अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।

आह— कोऽयमध्यासो नामेति। उच्यते— स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः। तं केचिदन्यत्रान्यधर्माध्यास इति वदन्ति। केचित्तु यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम इति। अन्ये तु यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षत इति। सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति। तथाच लोकेऽनुभवः — शुक्तिका हि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति।

कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम्? सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यस्यति, युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि। उच्यते—न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्, अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः। नचायमस्ति नियमः—पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यमिति। अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति। एवमविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यासः।

तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते। तद्विवेकेन च वस्तुस्व-

रूपावधारणं विद्यामाहुः। तत्रैवं सति यत्र यदध्यासस्तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न संबध्यते। तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि। कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति। उच्यते—देहेन्द्रियादिष्वहंममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नहीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः संभवति। नचाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः संभवति। न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद्व्याप्रियते। नचैतस्मिन्सर्वस्मिन्नसत्यसङ्गस्यात्मनः प्रमातृत्वमुपपद्यते। न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति। तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति। पश्वादिभिश्चाविशेषात्। यथा हि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां संबन्धे सति शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्तन्ते, अनुकूले च प्रवर्तन्ते, यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमयमिच्छतीति पलायितुमारभन्ते, हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखीभवन्ति, एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान्बलवत उपलभ्य ततो निवर्तन्ते, तद्विपरीतान्प्रति प्रवर्तन्ते। अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः। पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः। तत्सामान्यदर्शनाद्व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते। शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी नाविदित्वात्मनः परलोकसंबन्धमधिक्रियते, तथापि न वेदान्तवेद्यमशनायाद्यतीतमपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदमसंसार्यात्मतत्त्वमधिकारेऽपेक्ष्यते, अनुपयोगादधिकारविरोधाच्च। प्राक्च तथाभूतात्मविज्ञानात्प्रवर्तमानं शास्त्रमविद्यावद्विषयत्वं नातिवर्तते। तथाहि—'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादीनि शास्त्राण्यात्मनि वर्णाश्रमवयोऽवस्थादिविशेषाध्यासमाश्रित्य प्रवर्तन्ते। अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम। तद्यथा पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति, तथा देहधर्मान्स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, गौरोऽहं, तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि चेति। तथेन्द्रियधर्मान्मूकः, काणः, क्लीबः, बधिरः, अन्धोऽहमिति। तथाऽन्तःकरणधर्मान्कामसंकल्पविचिकित्साऽध्यवसायादीन्। एवमहंप्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिष्वध्यस्यति। एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः। अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते। यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां, तथा वयमस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः।

॥ इत्यध्यासभाष्यम् ॥

ॐ

(१) जिज्ञासाधिकरणम् ॥१॥ (सू० १)

वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्येदमादिमं सूत्रम्—

(१) अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

तत्राथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते नाधिकारार्थः, ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्। मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात्। अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति। पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात्। सति चानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्षत, एवं ब्रह्मजिज्ञासाऽपि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते, तद्वक्तव्यम्। स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम्। नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः। न, धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः। यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः क्रमस्य विवक्षितत्वान्न तथेह क्रमो विवक्षितः शेषशेषित्वेऽधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावात्, धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्यभेदाच्च। अभ्युदयफलं धर्मज्ञानं, तच्चानुष्ठानापेक्षम्। निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मविज्ञानं, न चानुष्ठानान्तरापेक्षम्। भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्। इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम्। चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च। या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति। ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलं, अवबोधस्य चोदनाऽजन्यत्वान्न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते। यथाक्षार्थसंनिकर्षेणार्थावबोधे, तद्वत्। तस्मात्किमपि वक्तव्यं, यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इति। उच्यते—नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादिसाधनसंपत्, मुमुक्षुत्वं च। तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्मजिज्ञासितुं ज्ञातुं च, न विपर्यये। तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधनसंपत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते।

अतःशब्दो हेत्वर्थः। यस्माद्वेद एवाग्निहोत्रादीनां श्रेयःसाधनानामनित्यफलतां दर्शयति—'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छा० ८/१/६) इत्यादिः। तथा ब्रह्मविज्ञानादपि परं पुरुषार्थं दर्शयति—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २/१) इत्यादिः। तस्माद्यथोक्तसाधनसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या।

ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा। ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणं 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र. सू. १/१/२) इति। अत एव न ब्रह्मशब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरमाशङ्कितव्यम्। ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी, न शेषे, जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासायाः, जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च। ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुध्यते, सम्बन्धसामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात्। एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य सामान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः स्यात्। न व्यर्थः, ब्रह्माश्रिताशेषविचारप्रतिज्ञानार्थत्वादिति चेन्न, प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामर्थाक्षिप्तत्वात्। ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्तुमिष्टतमत्वात्प्रधानम्। तस्मिन्प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति, तान्यर्थाक्षिप्तान्येवेति न पृथक्सूत्रयितव्यानि। यथा राजासौ गच्छतीत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनमुक्तं भवति, तद्वत्। श्रुत्यनुगमाच्च। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० ३/१) इत्याद्याः श्रुतयः, 'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' (तै० ३/१) इति प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं दर्शयन्ति। तच्च कर्मणि षष्ठीपरिग्रहे सूत्रेणानुगतं भवति। तस्माद्ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी। ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म, फलविषयत्वादिच्छायाः। ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म। ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः, निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात्। तस्माद्ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्।

तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात्। यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासितव्यम्। अथाप्रसिद्धं नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति। उच्यते—अस्ति तावद्ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं, सर्वज्ञं, सर्वशक्तिसमन्वितम्। ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते, बृंहतेर्धातोरर्थानुगमात्, सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात्, सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्। आत्मा च ब्रह्म। यदि तर्हि लोके ब्रह्मात्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति, ततो ज्ञातमेवेत्यजिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नम्। न। तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः। देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लौकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः। इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे। मन इत्यन्ये। विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके। शून्यमित्यपरे। अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी, कर्ता, भोक्तेत्यपरे। भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येके। अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित्। आत्मा स भोक्तुरित्यपरे। एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमा-

श्रयाः सन्तः। तत्राविचार्य यत्किंचित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात्प्रतिहन्येतानर्थं चेयात्। तस्माद्ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते॥ १॥

(२) जन्माद्यधिकरणम् ॥ २ ॥ (सू० २)

ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तम्। किंलक्षणं पुनस्तद्ब्रह्मेत्यत आह भगवान्सूत्रकारः-

(२) जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। जन्मस्थितिभङ्गं समासार्थः। जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं, वस्तुवृत्तापेक्षं च। श्रुतिनिर्देशस्तावत् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० ३/१) इत्यस्मिन्वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात्। वस्तुवृत्तमपि, जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थितिप्रलयसंभवात्। अस्येति प्रत्यक्षादिसंनिधापितस्य धर्मिण इदमा निर्देशः। षष्ठी जन्मादिधर्मसंबन्धार्था। यत इति कारणनिर्देशः। अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति तद्ब्रह्मेति वाक्यशेषः। अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिष्वेवान्तर्भाव इति जन्मस्थितिनाशानामिह ग्रहणम्। यास्कपरिपठितानां तु 'जायतेऽस्ति' इत्यादीनां ग्रहणे तेषां जगतः स्थितिकाले संभाव्यमानत्वान्मूलकारणादुत्पत्तिस्थितिनाशा जगतो न गृहीताः स्युरित्याशङ्क्येत, तन्मा शङ्कीति योत्पत्तिर्ब्रह्मणस्तत्रैव स्थितिः प्रलयश्च, त एव गृह्यन्ते। न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वान्यतः प्रधानादचेतनादणुभ्योऽभावात्संसारिणो वा उत्पत्त्यादि संभावयितुं शक्यम्। न च स्वभावतः, विशिष्टदेशकालनिमित्तानामिहोपादानात्। एतदेवानुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्त ईश्वरकारणिनः।

नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे। न। वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम्। वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते। वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिर्नानुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्ता। सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्यायानुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवन्न निवार्यते, श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्। तथाहि— 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' (बृ० २/४/५) इति श्रुतिः 'पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवा-

न्पुरुषो वेद' (छा० ६/१४/२) इति च पुरुषबुद्धिसाहाय्यमात्मनो दर्शयति। न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायाम्। किंतु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणं, अनुभवावसानत्वाद्भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य। कर्तव्ये हि विषये नानुभवापेक्षास्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात्पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्तव्यस्य। कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म, यथाश्वेन गच्छति, पद्भ्यामन्यथा वा, न वा गच्छतीति। तथा 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति', 'उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति' इति विधिप्रतिषेधाश्चात्रार्थवन्तः स्युः, विकल्पोत्सर्गापवादाश्च। न तु वस्त्वेवं नैवमस्ति नास्तीति वा विकल्प्यते। विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः। न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्। किं तर्हि वस्तुतन्त्रमेव तत्? नहि स्थाणावेकस्मिन्स्थाणुर्वा पुरुषोऽन्यो वेति तत्त्वज्ञानं भवति। तत्र पुरुषोऽन्यो वेति मिथ्याज्ञानम्, स्थाणुरेवेति तत्त्वज्ञानं, वस्तुतन्त्रत्वात्। एवं भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम्, तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव, भूतवस्तुविषयत्वात्।

ननु भूतवस्तुत्वे ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वमेवेति वेदान्तवाक्यविचारणानर्थिकैव प्राप्ता। न। इन्द्रियाविषयत्वेन संबन्धाग्रहणात्। स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि, न ब्रह्मविषयाणि। सति हीन्द्रियविषयत्वे ब्रह्मणः, इदं ब्रह्मणा संबद्धं कार्यमिति गृह्येत। कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणा संबद्धं किमन्येन केनचिद्वा संबद्धमिति न शक्यं निश्चेतुम्। तस्माज्जन्मादिसूत्रं नानुमानोपन्यासार्थं, किं तर्हि वेदान्तवाक्यप्रदर्शनार्थम्। किं पुनस्तद्वेदान्तवाक्यं यत्सूत्रेणेह लिलक्षयिषितम्। 'भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति' इत्युपक्रम्याह— 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति' (तै० ३/१)। तस्य च निर्णयवाक्यम्—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति' (तै० ३/६)। अन्यान्यप्येवंजातीयकानि वाक्यानि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावसर्वज्ञस्वरूपकारणविषयाण्युदाहर्तव्यानि॥ २॥

(३) शास्त्रयोनित्वाधिकरणम्॥ ३॥ (सू० ३)

जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तं, तदेव द्रढयन्नाह—

(३) शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति। यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्संभवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके। किमु वक्तव्यमनेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादिप्रविभागहेतोर्ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्याप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवद्यस्मान्महतो भूताद्योनेः सम्भवः, 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृ० २/४/१०) इत्यादिश्रुतेः। तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति।

अथवा यथोक्तमृग्वेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाधिगमे। शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः। शास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि। किमर्थं तर्हीदं सूत्रं, यावता पूर्वसूत्र एवैवंजातीयकं शास्त्रमुदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो दर्शितम्। उच्यते —तत्र पूर्वसूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्यानुपादानाज्जन्मादि केवलमनुमानमुपन्यस्तमित्याशङ्क्येत, तामाशङ्कां निवर्तयितुमिदं सूत्रं प्रववृते शास्त्रयोनित्वादिति॥ ३ ॥

(४) समन्वयाधिकरणम् ॥ ४॥ (सू० ४)

कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते, यावता 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० १/२/१) इति क्रियापरत्वं शास्त्रस्य प्रदर्शितम्। अतो वेदान्तानामानर्थक्यं, अक्रियार्थत्वात्। कर्तृदेवतादिप्रकाशनार्थत्वेन वा क्रियाविधिशेषत्वं, उपासनादिक्रियान्तरविधानार्थत्वं वा। नहि परिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनं सम्भवति, प्रत्यक्षादिविषयत्वात्परिनिष्ठितवस्तुनः। तत्प्रतिपादने च हेयोपादेयरहिते पुरुषार्थाभावात्। अत एव 'सोऽरोदीत्' इत्येवमादीनामानर्थक्यं मा भूदिति, 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जै० १/२/७) इति स्तावकत्वेनार्थवत्त्वमुक्तम्। मन्त्राणां च 'इषे त्वा' इत्यादीनां क्रियातत्साधनाभिधायित्वेन कर्मसमवायित्वमुक्तम्। न क्वचिदपि वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेणार्थवत्ता दृष्टोपपन्ना वा। न च परिनिष्ठिते वस्तुस्वरूपे विधिः सम्भवति, क्रियाविषयत्वाद्विधेः। तस्मात्कर्मापेक्षितकर्तृस्वरूपदेवतादिप्रकाशनेन क्रियाविधिशेषत्वं वेदान्तानाम्। अथ प्रकरणान्तरभयान्नैतदभ्युप-

गम्यते, तथापि स्ववाक्यगतोपासनादिकर्मपरत्वम्। तस्मान्न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति प्राप्ते उच्यते—

(४) तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। तद्ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलय-कारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते। कथम्? समन्वयात्। सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'। (छा० ६/२/१) 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐत० २/१/१) 'तदेतद्ब्रह्मा-पूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २/५/१९) 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मु० २/२/११) इत्यादीनि। न च तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमानेऽर्थान्तरकल्पना युक्ता, श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्। न च तेषां कर्तृस्वरूपप्रतिपादनपरताऽवसीयते, 'तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २/४/१४) इत्यादि क्रियाकारकफलनिराकरणश्रुतेः। न च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षा-दिविषयत्वं ब्रह्मणः, 'तत्त्वमसि' (छा० ६/८/७) इति ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रमन्त-रेणानवगम्यमानत्वात्। यत्तु हेयोपादेयरहितत्वादुपदेशानर्थक्यमिति, नैष दोषः, हेयो-पादेयशून्यब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात्पुरुषार्थसिद्धेः। देवतादिप्रतिपादनस्य तु स्ववाक्यगतोपासनार्थत्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः। न तु तथा ब्रह्मण उपासना-विधिशेषत्वं सम्भवति, एकत्वे हेयोपादेयशून्यतया क्रियाकारकादिद्वैतविज्ञानोपम-र्दोपपत्तेः। नह्येकत्वविज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः सम्भवोऽस्ति, येनोपासना-विधिशेषत्वं ब्रह्मणः प्रतिपद्येत। यद्यप्यन्यत्र वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्वं न दृष्टं, तथाप्यात्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वान्न तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम्। न चानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यं, येनान्यत्र दृष्टं निदर्शनमपेक्षेत। तस्मा-त्सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम्।

अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते—यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म, तथापि प्रतिपत्तिविधि-विषयतयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते। यथा यूपाहवनीयादीन्यलौकिकान्यपि विधि-शेषतया शास्त्रेण समर्प्यन्ते, तद्वत्। कुत एतत्? प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनत्वाच्छास्त्रस्य। तथाहि शास्त्रतात्पर्यविद आहुः—'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' इति। 'चोदना' इति क्रियाया प्रवर्तकं वचनम्। 'तस्य ज्ञानमुपदेशः—' (जै० १/१/५)। 'तद्भूतानां

क्रियार्थेन समाम्नायः—' (जै० १/१/२५)। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्—' (जै० १/२/१) इति च। अतः पुरुषं क्वचिद्विषयविशेषे प्रवर्तयत्कुतश्चिद्विषयविशेषान्निवर्तयच्चार्थवच्छास्त्रम्। तच्छेषतया चान्यदुपयुक्तम्। तत्सामान्याद्वेदान्तानामपि तथैवार्थवत्त्वं स्यात्। सति च विधिपरत्वे यथा स्वर्गादिकामस्याग्निहोत्रादिसाधनं विधीयत, एवममृतत्वकामस्य ब्रह्मज्ञानं विधीयत इति युक्तम्। नन्विह जिज्ञास्यवैलक्षण्यमुक्तम्—कर्मकाण्डे भव्यो धर्मो जिज्ञास्य, इह तु भूतं नित्यनिर्वृत्तं ब्रह्म जिज्ञास्यमिति। तत्र धर्मज्ञानफलादनुष्ठानापेक्षाद्विलक्षणं ब्रह्मज्ञानफलं भवितुमर्हति। नार्हत्येवं भवितुम्। कार्यविधिप्रयुक्तस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यमानत्वात्। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २/४/५) इति। 'य आत्माऽपहतपाप्मा—सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः'। (छा० ८/७/१)। 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ० १/४/७) 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' (बृ० १/४/१५)। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३/२/९) इत्यादिविधानेषु सत्सु कोऽसावात्मा किं तद्ब्रह्म इत्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपसमर्पणेन सर्वे वेदान्ता उपयुक्ताः—'नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतो नित्यतृप्तो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्येवमादयः। तदुपासनाच्च शास्त्रदृष्टोऽदृष्टो मोक्षः फलं भविष्यतीति। कर्तव्यविध्यननुप्रवेशे वस्तुमात्रकथने हानोपादानासंभवात्, सप्तद्वीपा वसुमती, राजासौ गच्छतीत्यादिवाक्यवद्वेदान्तवाक्यानामानर्थक्यमेव स्यात्! ननु वस्तुमात्रकथनेऽपि 'रज्जुरियं नायं सर्प' इत्यादौ भ्रान्तिजनितभीतिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं दृष्टं, तथेहाप्यसंसार्यात्मवस्तुकथनेन संसारित्वभ्रान्तिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं स्यात्। स्यादेतदेवं, यदि रज्जुस्वरूपश्रवण इव सर्पभ्रान्तिः, संसारित्वभ्रान्तिर्ब्रह्मस्वरूपश्रवणमात्रेण निवर्तेत, न तु निवर्तते, श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं सुखदुःखादिसंसारिधर्मदर्शनात्, 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २/४/५) इति च श्रवणोत्तरकालयोर्मनननिदिध्यासनयोर्विधिदर्शनात्। तस्मात्प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यमिति।

अत्राभिधीयते—न, कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात्। शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्धं धर्माख्यं, यद्विषया जिज्ञासा 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (जै० १/१/१) इति सूत्रिता, अधर्मोऽपि हिंसादिः प्रतिषेधचोदनालक्षणत्वाज्जिज्ञास्यः परिहाराय। तयोश्चोदनालक्षणयोरर्थानर्थयोर्धर्माधर्मयोः फले प्रत्यक्षे सुखदुःखे शरीरवाङ्मनोभिरेवोपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे।

मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यमनुश्रूयते। ततश्च तद्धेतोर्धर्मस्य तारतम्यं गम्यते। धर्मतारतम्यादधिकारितारतम्यम्। प्रसिद्धं चार्थित्वसामर्थ्यादिकृतमधिकारितारतम्यम्। तथा च यागाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधिविशेषादुत्तरेण पथा गमनं, केवलैरिष्टापूर्तदत्तसाधनैर्धूमादिक्रमेण दक्षिणेन पथा गमनं, तत्रापि सुखतारतम्यं तत्साधनतारतम्यं च शास्त्रात् 'यावत्संपातमुषित्वा' (छा० ५/१०/५) इत्यस्माद्गम्यते। तथा मनुष्यादिषु नारकस्थावरान्तेषु सुखलवश्चोदनालक्षणधर्मसाध्य एवेति गम्यते तारतम्येन वर्तमानः। तथोर्ध्वगतेष्वधोगतेषु च देहवत्सु दुःखतारतम्यदर्शनात्तद्धेतोरधर्मस्य प्रतिषेधचोदनालक्षणस्य तदनुष्ठायिनां च तारतम्यं गम्यते। एवमविद्यादिदोषवतां धर्माधर्मतारतम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुखदुःखतारतम्यमनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम्। तथाच श्रुतिः—'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' इति यथावर्णितं संसाररूपमनुवदति। 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छा० ८/१२/१) इति प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधाच्चोदनालक्षणधर्मकार्यत्वं मोक्षाख्यस्याशरीरत्वस्य प्रतिषिध्यत इति गम्यते। धर्मकार्यत्वे हि प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधो नोपपद्यते। अशरीरत्वमेव धर्मकार्यमिति चेन्न, तस्य स्वाभाविकत्वात्। 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' (क० १/२/२१) 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मु० २/१/२) 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४/३/१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अत एवानुष्ठेयकर्मफलविलक्षणं मोक्षाख्यमशरीरत्वं नित्यमिति सिद्धम्। तत्र किंचित्परिणामि नित्यं, यस्मिन्विक्रियमाणेऽपि तदेवेदमिति बुद्धिर्न विहन्यते। यथा पृथिव्यादिजगन्नित्यत्ववादिनाम्। यथा च सांख्यानां गुणाः। इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं, व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं, स्वयंज्योतिःस्वभावम्। यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते। तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम्। 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च' (क० २/१४) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अतस्तद्ब्रह्म यस्येयं जिज्ञासा प्रस्तुता, तद्यदि कर्तव्यशेषत्वेनोपदिश्येत, तेन च कर्तव्येन साध्यश्चेन्मोक्षोऽभ्युपगम्येत, अनित्य एव स्यात्। तत्रैवं सति यथोक्तकर्मफलेष्वेव तारतम्यावस्थितेष्वनित्येषु कश्चिदतिशयो मोक्ष इति प्रसज्येत। नित्यश्च मोक्षः सर्वैर्मोक्षवादिभिरभ्युपगम्यते, अतो न कर्तव्यशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशो युक्तः। अपि च 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३/२/९)

'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मु० २/२/८)। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चन' (तै० २/९)। 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४/२/४)। 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' (बृ० १/४/१०)। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईश० ७) इत्येवमाद्याः श्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरं मोक्षं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति। तथा 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' (बृ० १/४/१०) इति ब्रह्मदर्शनसर्वात्मभावयोर्मध्ये कर्तव्यान्तरवारणायोदाहार्यम्। यथा तिष्ठन्गायतीति तिष्ठतिगायत्योर्मध्ये तत्कर्तृकं कार्यान्तरं नास्तीति गम्यते। 'त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि' (प्र० ६/८) 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु (छा० ७/१/३) 'तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं' दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः' (छा० ७/२६/२) इति चैवमाद्याः श्रुतयो मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति। तथा चाचार्यप्रणीतं न्यायोपबृंहितं सूत्रम्—'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' (न्या० सू० १/१/२) इति। मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति। न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं संपद्रूपम्। यथा 'अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति' (बृ० ३/१/९) इति। न चाध्यासरूपम्। यथा 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छा० ३/१८/१) 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३/१९/१) इति च मनआदित्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्यध्यासः। नापि विशिष्टक्रियायोगनिमित्तं 'वायुर्वाव संवर्गः' (छा० ४/३/१) 'प्राणो वाव संवर्गः' (छा० ४/३/३) इतिवत्। नाप्याज्यावेक्षणादिकर्मवत्कर्माङ्गसंस्काररूपम्। संपदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने 'तत्त्वमसि' (छा० ६/८/७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १/४/१०) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २/५/१९) इत्येवमादीनां वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरः पदसमन्वयः पीड्येत। 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' (मु० २/२/८) इति चैवमादीन्यविद्यानिवृत्तिफलश्रवणान्युपरुध्येरन्। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३/२/९) इति चैवमादीनि तद्भावापत्तिवचनानि संपदादिपक्षे न सामञ्जस्येनोपपद्येरन्। तस्मान्न संपदादिरूपं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानम्। अतो न पुरुषव्यापारतन्त्रा ब्रह्मविद्या। किं तर्हि? प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयवस्तुज्ञानवद्वस्तुतन्त्रैव। एवंभूतस्य ब्रह्मणस्तज्ज्ञानस्य च न कया-

चिद्युक्त्या शक्यः कार्यानुप्रवेशः कल्पयितुम्। न च विदिक्रियाकर्मत्वेन कार्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः, 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (केन० १/३) इति विदिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधात्, 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्' (बृ० २/४/१३) इति च। तथोपास्तिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधोऽपि भवति—'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' इत्यविषयत्वं ब्रह्मण उपन्यस्य, 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' (केन० १/४) इति। अविषयत्वे ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरिति चेत्। न। अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य। नहि शास्त्रमिदंतया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति। किं तर्हि? प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्यवेदितृवेदनादिभेदमपनयति। तथा शास्त्रम्—'यस्याऽमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' (केन० २/३) 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः', 'न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः' (बृ० ३/४/२) इति चैवमादि। अतोऽविद्याकल्पितसंसारित्वनिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्न मोक्षस्यानित्यत्वदोषः। यस्य तूत्पाद्यो मोक्षस्तस्य मानसं, वाचिकं, कायिकं वा कार्यमपेक्षत इति युक्तम्। तथा विकार्यत्वे च, तयोः पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम्। नहि दध्यादि विकार्यं, उत्पाद्यं वा घटादि, नित्यं दृष्टं लोके। न चाप्यत्वेनापि कार्यापेक्षा, स्वात्मस्वरूपत्वे सत्यनाप्यत्वात्। स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वं, सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वात्सर्वेण ब्रह्मणः आकाशस्येव। नापि संस्कार्यो मोक्षः, येन व्यापारमपेक्षेत। संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्याद्दोषापनयनेन वा। न तावद्गुणाधानेन संभवति, अनाधेयातिशयब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य। नापि दोषापनयनेन, नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य। स्वात्मधर्म एव संस्तिरोभूतो मोक्षः क्रिययात्मनि संस्क्रियमाणेऽभिव्यज्यते, यथाऽऽदर्शे निघर्षणक्रियया संस्क्रियमाणे भास्वरत्वं धर्म इति चेत्। न। क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेरात्मनः। यदाश्रया क्रिया तमविकुर्वती नैवात्मानं लभते। यद्यात्मा क्रियया विक्रियेतानित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत। 'अविकार्योऽयमुच्यते' (गी० २/२५) इति चैवमादीनि वाक्यानि बाध्येरन्। तच्चानिष्टम्। तस्मान्न स्वाश्रया क्रियाऽऽत्मनः संभवति। अन्याश्रयायास्तु क्रियाया अविषयत्वान्न तयात्मा संस्क्रियते। ननु देहाश्रयया स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिकया क्रियया देही संस्क्रियमाणो दृष्टः। न। देहादिसंहतस्यैवाविद्यागृहीतस्यात्मनः संस्क्रियमाणत्वात्। प्रत्यक्षं हि स्नानाचमनादेर्देहसमवायित्वम्। तया देहाश्रयया तत्संहत एव कश्चि-

दविद्ययात्मत्वेन परिगृहीतः संस्क्रियत इति युक्तम्। यथा देहाश्रयचिकित्सा-निमित्तेन धातुसाम्येन तत्संहतस्य तदभिमानिन आरोग्यफलं, अहमरोग इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते। एवं स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिना अहं शुद्धः संस्कृत इति यत्र बुद्धि-रुत्पद्यते स संस्क्रियते। स च देहेन संहत एव। तेनैव ह्यहंकर्त्राहंप्रत्ययविषयेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रिया निर्वर्त्यन्ते। तत्फलं च स एवाश्नाति, 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (मु० ३/१/१) इति मन्त्रवर्णात्। 'आत्मे-न्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (क० १/३/४) इति च। तथा च 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वे० ६/११) इति। 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्' (ई० ८) इति च। एतौ मन्त्रावनाधेयातिशयतां नित्यशुद्धतां च ब्रह्मणो दर्शयतः। ब्रह्मभावश्च मोक्षः। तस्मान्न संस्कार्योऽपि मोक्षः। अतोऽन्यन्मोक्षं प्रति क्रियानुप्रवेशद्वारं न शक्यं केनचिद्दर्शयितुम्। तस्माज्ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते। ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया। न। वैल-क्षण्यात्। क्रिया हि नाम सा, यत्र वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते, पुरुषचित्तव्या-पाराधीना च। यथा 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषटकरिष्यन्' इति। 'सन्ध्यां मनसा ध्यायेत्' (ऐ० ब्रा० ३/८/१) इति चैवमादिषु। ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसं, तथापि पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं, पुरुषतन्त्रत्वात्। ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम्। प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयमतो ज्ञानं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुमशक्यं, केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत्। न चोदनातन्त्रम्। नापि पुरुषतन्त्रम्। तस्मान्मानसत्वेऽपि ज्ञानस्य महद्वैलक्षण्यम्। यथा च 'पुरुषो वाव गौतमाग्निः', 'योषा वाव गौतमाग्निः' (छा० ५/७/१,५/८/१) इत्यत्र योषित्पुरुषयोरग्निबुद्धि-र्मानसी भवति। केवलचोदनाजन्यत्वात्क्रियैव सा पुरुषतन्त्रा च। या तु प्रसिद्धेऽग्ना-वग्निबुद्धिर्न सा चोदनातन्त्रा। नापि पुरुषतन्त्रा। किं तर्हि? प्रत्यक्षविषयवस्तुतन्त्रैवेति ज्ञानमेवैतन्न क्रिया। एवं सर्वप्रमाणविषयवस्तुषु वेदितव्यम्। तत्रैवं सति यथाभूतब्रह्मात्मविषयमपि ज्ञानं चोदनातन्त्रम्। तद्विषये लिङादयः श्रूयमाणा अप्यनियोज्यविषयत्वात्कुण्ठीभवन्त्युपलादिषु प्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यादिवत्, अहेया-नुपादेयवस्तुविषयत्वात्। किमर्थानि तर्हि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' (बृ० २/४/५) इत्यादीनि विधिच्छायानि वचनानि? स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखी-

करणार्थानीति ब्रूमः। यो हि बहिर्मुखः प्रवर्तते पुरुषः 'इष्टं मे भूयादनिष्टं मा भूत्' इति, न च तत्रात्यन्तिकं पुरुषार्थं लभते, तमात्यन्तिकपुरुषार्थवाञ्छिनं स्वाभाविककार्यकरणसंघातप्रवृत्तिगोचराद्विमुखीकृत्य प्रत्यगात्मस्त्रोतस्तया प्रवर्तयन्ति 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादीनि। तस्यात्मान्वेषणाय प्रवृत्तस्याहेयमनुपादेयं चात्मतत्त्वमुपदिश्यते। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २/४/६) 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात् विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृ० ४/५/१५) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २/५/१९) इत्यादिभिः। यदप्यकर्तव्यप्रधानमात्मज्ञानं हानायोपादानाय वा न भवतीति, तत्तथैवेत्यभ्युपगम्यते। अलंकारो ह्ययमस्माकं यद्ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः कृतकृत्यता चेति। तथा च श्रुतिः—'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।' (बृ० ४/४/१२) इति। 'एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत (भ० गी० १५/२०) इति च स्मृतिः। तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया ब्रह्मणः समर्पणम्।

विश्रामः॥ १॥

* * * *

यदपि केचिदाहुः—'प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण केवलवस्तुवादी वेदभागो नास्ति' इति तन्न, औपनिषदस्य पुरुषस्यानन्यशेषत्वात्। योऽसावुपनिषत्स्वेवाधिगतः पुरुषोऽसंसारी ब्रह्म, उत्पाद्यादिचतुर्विधद्रव्यविलक्षणः स्वप्रकरणस्थोऽनन्यशेषः, नासौ नास्ति नाधिगम्यत इति वा शक्यं वदितुम, 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३/९/२६) इत्यात्मशब्दात्, आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्, य एव निराकर्ता, तस्यैवात्मत्वात्। नन्वात्माहंप्रत्ययविषयत्वादुपनिषत्स्वेव विज्ञायत इत्यनुपपन्नम्। न। तत्साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात्। नह्यहंप्रत्ययविषयकर्तृव्यतिरेकेण तत्साक्षी सर्वभूतस्थः सम एकः कूटस्थनित्यः पुरुषो विधिकाण्डे तर्कसमये वा केनचिदधिगतः सर्वस्यात्मा, अतः स न केनचित्प्रत्याख्यातुं शक्यो विधिशेषत्वं वा नेतुम्। आत्मत्वादेव च सर्वेषां न हेयो नाप्युपादेयः। सर्वं हि विनश्यद्विकारजातं पुरुषान्तं विनश्यति। पुरुषो हि विनाशहेत्वभावादविनाशी, विक्रियाहेत्वभावाच्च कूटस्थनित्यः, अतएव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः। तस्मात् 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः'

(क० १/३/११) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० ३/९/२६) इति चौपनिषदत्वविशेषणं पुरुषस्योपनिषत्सु प्राधान्येन प्रकाश्यमानत्व उपपद्यते। अतो भूतवस्तुपरो वेदभागो नास्तीति वचनं साहसमात्रम्।

यदपि शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रमणम्— 'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' (शाब० भा०) इत्येवमादि, तद्धर्मजिज्ञासाविषयत्वाद्विधिप्रतिषेधशास्त्राभिप्रायं द्रष्टव्यम्। अपि च 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० १/२/१) इत्येतदेकान्तेनाभ्युपगच्छतां भूतोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गः। प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण भूतं चेद्वस्तूपदिशति भव्यार्थत्वेन, कूटस्थनित्यं भूतं नोपदिशतीति को हेतुः। नहि भूतमुपदिश्यमानं क्रिया भवति। अक्रियात्वेऽपि भूतस्य क्रियासाधनत्वात्क्रियार्थ एव भूतोपदेश इति चेत्। नैष दोषः। क्रियार्थत्वेऽपि क्रियानिर्वर्तनशक्तिमद्वस्तूपदिष्टमेव। क्रियार्थत्वं तु प्रयोजनं तस्य। न चैतावता वस्त्वनुपदिष्टं भवति। यदि नामोपदिष्टं किं तव तेन स्यादिति। उच्यते— अनवगतात्मवस्तूपदेशश्च तथैव भवितुमर्हति। तदवगत्या मिथ्याज्ञानस्य संसारहेतोर्निवृत्तिः प्रयोजनं क्रियत इत्यविशिष्टमर्थवत्त्वं क्रियासाधनवस्तूपदेशेन। अपिच 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इति चैवमाद्या निवृत्तिरुपदिश्यते। न च सा क्रिया। नापि क्रियासाधनम्। अक्रियार्थानामुपदेशोऽनर्थकश्चेत् 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिनिवृत्त्युपदेशानामानर्थक्यं प्राप्तम्। तच्चानिष्टम्। न च स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण नञः शक्यमप्राप्तक्रियार्थत्वं कल्पयितुं हननक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण। नञश्चैष स्वभावो यत्स्वसंबन्धिनोऽभावं बोधयतीति। अभावबुद्धिश्चौदासीन्यकारणम्। सा च दग्धेन्धनाग्निवत्स्वयमेवोपशाम्यति। तस्मात्प्रसक्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यमेव 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिषु प्रतिषेधार्थं मन्यामहे, अन्यत्र प्रजापतिव्रतादिभ्यः। तस्मात्पुरुषार्थानुपयोग्युपाख्यानादिभूतार्थवादविषयमानर्थक्याभिधानं द्रष्टव्यम्।

यदप्युक्तं— कर्तव्यविध्यनुप्रवेशमन्तरेण वस्तुमात्रमुच्यमानमनर्थकं स्यात् 'सप्तद्वीपा वसुमती' इत्यादिवदिति, तत्परिहृतम्। 'रज्जुरियं नायं सर्पः' इति वस्तुमात्रकथनेऽपि प्रयोजनस्य दृष्टत्वात्। ननु श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं संसारित्वदर्शनान्न रज्जुस्वरूपकथनवदर्थवत्त्वमित्युक्तम्। अत्रोच्यते— नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वं शक्यं दर्शयितुं, वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मभावविरोधात्। नहि शरीराद्यात्मा-

भिमानिनो दुःखभयादिमत्त्वं दृष्टमिति तस्यैव वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मावगमे तदभिमाननिवृत्तौ तदेव मिथ्याज्ञाननिमित्तं दुःखभयादिमत्त्वं भवतीति शक्यं कल्पयितुम्। नहि धनिनो गृहस्थस्य धनाभिमानिनो धनापहारनिमित्तं दुःखं दृष्टमिति तस्यैव प्रव्रजितस्य धनाभिमानरहितस्य तदेव धनापहारनिमित्तं दुःखं भवति। न च कुण्डलिनः कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं दृष्टमिति तस्यैव कुण्डलवियुक्तस्य कुण्डलित्वाभिमानरहितस्य तदेव कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं भवति। तदुक्तं श्रुत्या—'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छा० ८/१२/१) इति। शरीरे पतितेऽशरीरत्वं स्यात्, न जीवत इति चेन्न, सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्। न ह्यात्मनः शरीरात्माभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वान्यतः सशरीरत्वं शक्यं कल्पयितुम्। नित्यमशरीरत्वमकर्मनिमित्तत्वादित्यवोचाम। तत्कृतधर्माधर्मनिमित्तं सशरीरत्वमिति चेन्न, शरीरसंबन्धस्यासिद्धत्वाद्धर्माधर्मयोरात्मकृतत्वासिद्धेः। शरीरसंबन्धस्य धर्माधर्मयोस्तत्कृतत्वस्य चेतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गादन्धपरम्परैषाऽनादित्वकल्पना। क्रियासमवायाभावाच्चात्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेः। संनिधानमात्रेण राजप्रभृतीनां दृष्टं कर्तृत्वमिति चेन्न, धनदानाद्युपार्जितभृत्यसंबन्धित्वात्तेषां कर्तृत्वोपपत्तेः। न त्वात्मनो धनदानादिवच्छरीरादिभिः स्वस्वामिसंबन्धनिमित्तं किंचिच्छक्यं कल्पयितुम्। मिथ्याभिमानस्तु प्रत्यक्षः संबन्धहेतुः। एतेन यजमानत्वमात्मनो व्याख्यातम्। अत्राहुः—देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मन आत्मीये देहादावभिमानो गौणो न मिथ्येति चेन्न, प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्वमुख्यत्वप्रसिद्धेः। यस्य हि प्रसिद्धो वस्तुभेदः, यथा केसरादिमानाकृतिविशेषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिंहशब्दप्रत्ययभाङ्मुख्योऽन्यः प्रसिद्धः, ततश्चान्यः पुरुषः प्रायिकैः क्रौर्यशौर्यादिभिः सिंहगुणैः संपन्नः सिद्धः, तस्य पुरुषे सिंहशब्दप्रत्ययौ गौणौ भवतः, नाप्रसिद्धवस्तुभेदस्य। तस्य त्वन्यत्रान्यशब्दप्रत्ययौ भ्रान्तिनिमित्तावेव भवतः, न गौणौ। यथा मन्दान्धकारे स्थाणुरयमित्यगृह्यमाणविशेषे पुरुषशब्दप्रत्ययौ स्थाणुविषयौ, यथा वा शुक्तिकायामकस्माद्रजतमिति निश्चितौ शब्दप्रत्ययौ, तद्वद्देहादिसंघातेऽहमिति निरुपचारेण शब्दप्रत्ययावात्मानात्माविवेकेनोत्पद्यमानौ कथं गौणौ शक्यौ वदितुम्। आत्मानात्मविवेकिनामपि पण्डितानामजाविपालानामिवाविविक्तौ शब्दप्रत्ययौ भवतः। तस्माद्देहादिव्यतिरिक्तात्मास्तित्ववादिनां देहादावहंप्रत्ययो मिथ्यैव न गौणः। तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात्सशरीरत्वस्य, सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम्। तथाच ब्रह्मविद्विषया

श्रुतिः—'तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते। अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव' (बृ० ४/४/७) इति। 'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव सवागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव' इति च। स्मृतिरपि च—'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' (गी० २/५४) इत्याद्या स्थितप्रज्ञलक्षणा-न्याचक्षाणा विदुषः सर्वप्रवृत्त्यसंबन्धं दर्शयति। तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वम्। यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वं, नासाववगतब्रह्मात्मभाव इत्यनवद्यम्।

यत्पुनरुक्तं श्रवणात्पराचीनयोर्मनननिदिध्यासनयोर्दर्शनाद्विधिशेषत्वं ब्रह्मणो, न स्वरूपपर्यवसायित्वमिति। न। अवगत्यर्थत्वान्मनननिदिध्यासनयोः। यदि ह्यवगतं ब्रह्मान्यत्र विनियुज्येत, भवेत्तदा विधिशेषत्वम्। नतु तदस्ति, मनननिदिध्यासनयोरपि श्रवणवदवगत्यर्थत्वात्। तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः संभवतीत्यतः स्वतन्त्रमेव ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकं वेदान्तवाक्यसमन्वयादिति सिद्धम्। एवं च सति 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति तद्विषयः पृथक्शास्त्रारम्भ उपपद्यते। प्रति-पत्तिविधिपरत्वे हि 'अथातो धर्मजिज्ञासेत्येवारब्धत्वान्न पृथक्शास्त्रमारभ्येत। आर-भ्यमाणं चैवमारभ्येत—'अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासेति', 'अथातः क्रत्वर्थपुरुषा-र्थयोर्जिज्ञासा' (जै० ४/१/१) इतिवत्। ब्रह्मात्मैक्यावगतिस्त्वप्रतिज्ञातेति तदर्थो युक्तः शास्त्रारम्भः—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १/१/१) इति। तस्मादहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एव सर्वे विधयः सर्वाणि चेतराणि प्रमाणानि। नह्यहेया-नुपादेयाद्वैतात्मावगतौ निर्विषयाण्यप्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितुमर्हन्तीति। अपि चाहुः—'गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात्। सद्ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत्॥ अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः। अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः॥ देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः। लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात्' इति॥४॥

(५) ईक्षत्यधिकरणम् ॥५॥ (सू० ५-११)

एवं तावद्वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मात्मावगतिप्रयोजनानां ब्रह्मात्मनि तात्पर्येण सम-न्वितानामन्तरेणापि कार्यानुप्रवेशं ब्रह्मणि पर्यवसानमुक्तम्। ब्रह्म च सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिनाशकारणमित्युक्तम्। सांख्यादयस्तु परिनिष्ठितं वस्तु प्रमाणान्तरग-म्यमेवेति मन्यमानाः प्रधानादीनि कारणान्तराण्यनुमिमानास्तत्परतयैव वेदान्तवाक्यानि

योजयन्ति। सर्वेष्वेव वेदान्तवाक्येषु सृष्टिविषयेष्वनुमानेनैव कार्येण कारणं लिलक्षयिषितम्। प्रधानपुरुषसंयोगा नित्यानुमेया इति सांख्या मन्यन्ते। काणादास्त्वेतेभ्य एव वाक्येभ्य ईश्वरं निमित्तकारणमनुमिमते अणूंश्च समवायिकारणम्। एवमन्येऽपि तार्किका वाक्याभासयुक्त्याभासावष्टम्भाः पूर्वपक्षवादिन इहोत्तिष्ठन्ते। तत्र पदवाक्यप्रमाणज्ञेनाचार्येण वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मावगतिपरत्वदर्शनाय वाक्याभासयुक्त्याभासविप्रतिपत्तयः पूर्वपक्षीकृत्य निराक्रियन्ते।

तत्र सांख्याः प्रधानं त्रिगुणमचेतनं जगतः कारणमिति मन्यमाना आहुः— यानि वेदान्तवाक्यानि सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं दर्शयन्तीत्यवोचंस्तानि प्रधानकारणपक्षेऽपि योजयितुं शक्यन्ते। सर्वशक्तित्वं तावत्प्रधानस्यापि स्वविकारविषयमुपपद्यते। एवं सर्वज्ञत्वमप्युपपद्यते। कथम्? यत्तु ज्ञानं मन्यसे स सत्त्वधर्मः 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' (गी० १४/१७) इति स्मृतेः। तेन च सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन कार्यकारणवन्तः पुरुषाः सर्वज्ञा योगिनः प्रसिद्धाः। सत्त्वस्य हि निरतिशयोत्कर्षे सर्वज्ञत्वं प्रसिद्धम्। न केवलस्याकार्यकारणस्य पुरुषस्योपलब्धिमात्रस्य सर्वज्ञत्वं किंचिज्ज्ञत्वं वा कल्पयितुं शक्यम्। त्रिगुणत्वात्तु प्रधानस्य सर्वज्ञानकारणभूतं सत्त्वं प्रधानावस्थायामपि विद्यत इति प्रधानस्याचेतनस्यैव सतः सर्वज्ञत्वमुपचर्यते। वेदान्तवाक्येष्ववश्यं च त्वयापि सर्वज्ञं ब्रह्माभ्युपगच्छता सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेनैव सर्वज्ञत्वमुपगन्तव्यम्। नहि सर्वविषयं ज्ञानं कुर्वदेव ब्रह्म वर्तते। तथाहि— ज्ञानस्य नित्यत्वे ज्ञानक्रियां प्रति स्वातन्त्र्यं ब्रह्मणो हीयेत। अथानित्यं तदिति ज्ञानक्रियाया उपरमेतापि ब्रह्म, तदा सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेनैव सर्वज्ञत्वमापतति। अपिच प्रागुत्पत्तेः सर्वकारकशून्यं ब्रह्मेष्यते त्वया। न च ज्ञानसाधनानां शरीरेन्द्रियादीनामभावे ज्ञानोत्पत्तिः कस्यचिदुपपन्ना। अपि च प्रधानस्यानेकात्मकस्य परिणामसंभवात्कारणत्वोपपत्तिर्मृदादिवत्, नासंहतस्यैकात्मकस्य ब्रह्मण इत्येवं प्राप्त इदं सूत्रमारभ्यते—

(५) ईक्षतेर्नाशब्दम्॥ ५॥

न सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानं जगतः कारणं शक्यं वेदान्तेष्वाश्रयितुम्। अशब्दं हि तत्। कथमशब्दत्वम्? ईक्षतेः—ईक्षितृत्वश्रवणात्कारणस्य। कथम्? एवं हि श्रूयते—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६/२/१) इत्यु-

पक्रम्य 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६/२/३) इति। तत्रेदं-शब्दवाच्यं नामरूपव्याकृतं जगत्प्रागुत्पत्तेः सदात्मनावधार्य तस्यैव प्रकृतस्य सच्छब्दवाच्यस्येक्षणपूर्वकं तेजःप्रभृतेः स्रष्टृत्वं दर्शयति। तथान्यत्र—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत' (ऐत० १/१/१) इतीक्षापूर्विकामेव सृष्टिमाचष्टे। क्वचिच्च षोडशकलं पुरुषं प्रस्तुत्याह—'स ईक्षांचक्रे। स प्राणमसृजत' (प्रश्न० ६/३) इति। ईक्षतेरिति च धात्वर्थनिर्देशोऽभिप्रेतः, यजतेरितिवत्। न धातुनिर्देशः। तेन 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते' (मुण्ड० १/१/९) इत्येवमादीन्यपि सर्वज्ञेश्वरकारणपराणि वाक्यान्युदाहर्तव्यानि।

यत्तूक्तं सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन सर्वज्ञं प्रधानं भविष्यतीति, तन्नोपपद्यते। नहि प्रधानावस्थायां गुणसाम्यात्सत्त्वधर्मो ज्ञानं संभवति। ननूक्तं सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेन सर्वज्ञं भविष्यतीति। तदपि नोपपद्यते। यदि गुणसाम्ये सति सत्त्वव्यपाश्रयां ज्ञानशक्तिमाश्रित्य सर्वज्ञं प्रधानमुच्येत, कामं रजस्तमोव्यपाश्रयामपि ज्ञानप्रतिबन्धकशक्तिमाश्रित्य किंचिज्ज्ञमुच्येत। अपिच नासाक्षिका सत्त्ववृत्तिर्जानातिनाऽभिधीयते। न चाचेतनस्य प्रधानस्य साक्षित्वमस्ति। तस्मादनुपपन्नं प्रधानस्य सर्वज्ञत्वम्। योगिनां तु चेतनत्वात्सत्त्वोत्कर्षनिमित्तं सर्वज्ञत्वमुपपन्नमित्यनुदाहरणम्। अथ पुनः साक्षिनिमित्तमीक्षितृत्वं प्रधानस्य कल्प्येत, यथाग्निनिमित्तमयःपिण्डादेर्दग्धृत्वम्। तथासति यन्निमित्तमीक्षितृत्वं प्रधानस्य, तदेव सर्वज्ञं मुख्यं ब्रह्म जगतः कारणमिति युक्तम्। यत्पुनरुक्तं ब्रह्मणोऽपि न मुख्यं सर्वज्ञत्वमुपपद्यते, नित्यज्ञानक्रियत्वे ज्ञानक्रियां प्रति स्वातन्त्र्यासंभवादिति। अत्रोच्यते—इदं तावद्भवान्प्रष्टव्यः, कथं नित्यज्ञानक्रियत्वे सर्वज्ञत्वहानिरिति। यस्य हि सर्वविषयावभासनक्षमं ज्ञानं नित्यमस्ति सोऽसर्वज्ञ इति विप्रतिषिद्धम्। अनित्यत्वे हि ज्ञानस्य कदाचिज्जानाति कदाचिन्न जानातीत्यसर्वज्ञत्वमपि स्यात्। नासौ ज्ञाननित्यत्वे दोषोऽस्ति ज्ञाननित्यत्वे ज्ञानविषयः स्वातन्त्र्यव्यपदेशो नोपपद्यत इति चेन्न, प्रततौष्ण्यप्रकाशेऽपि सवितरि दहति प्रकाशयतीति स्वातन्त्र्यव्यपदेशदर्शनात्। ननु सवितुर्दाह्यप्रकाश्यसंयोगे सति दहति प्रकाशयतीति व्यपदेशः स्यात्, नतु ब्रह्मणः प्रागुत्पत्तेर्ज्ञानकर्मसंयोगोऽस्तीति विषमो दृष्टान्तः। न। असत्यपि कर्मणि सविता प्रकाशत इति कर्तृत्वव्यपदेश-

दर्शनात्। एवमसत्यपि ज्ञानकर्मणि ब्रह्मणः 'तदैक्षत' इति कर्तृत्वव्यपदेशोपपत्तेर्न वैषम्यम्। कर्मापेक्षायां तु ब्रह्मणीक्षितृत्वश्रुतयः सुतरामुपपन्नाः। किं पुनस्तत्कर्म, यत्प्रागुत्पत्तेरीश्वरज्ञानस्य विषयो भवतीति। तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये नामरूपे अव्याकृते व्याचिकीर्षिते इति ब्रूमः। यत्प्रसादाद्धि योगिनामप्यतीतानागतविषयं प्रत्यक्षं ज्ञानमिच्छन्ति योगशास्त्रविदः, किमु वक्तव्यं तस्य नित्यसिद्धस्येश्वरस्य सृष्टिस्थितिसंहृतिविषयं नित्यज्ञानं भवतीति। यदप्युक्तं प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मणः शरीरादिसंबन्धमन्तरेणेक्षितृत्वमनुपपन्नमिति, न तच्चोद्यमवतरति, सवितृप्रकाशवद्ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपनित्यत्वे ज्ञानसाधनापेक्षानुपपत्तेः। अपिचाऽविद्यादिमतः संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिः स्यान्न ज्ञानप्रतिबन्धकारणरहितस्येश्वरस्य। मन्त्रौ चेमावीश्वरस्य शरीराद्यनपेक्षतामनावरणज्ञानतां च दर्शयतः—'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वे० ६/८) इति। 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्' (श्वे० ३/१९) इति च। ननु नास्ति तावज्ज्ञानप्रतिबन्धकारणवानीश्वरादन्यः संसारी, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृ० ३/७/२३) इति श्रुतेः। तत्र किमिदमुच्यते संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिर्नेश्वरस्येति। अत्रोच्यते—सत्यं, नेश्वरादन्यः संसारी। तथापि देहादिसंघातोपाधिसंबन्ध इष्यत एव, घटकरकगिरिगुहाद्युपाधिसंबन्ध इव व्योम्नः। तत्कृतश्च शब्दप्रत्ययव्यवहारो लोकस्य दृष्टो घटच्छिद्रं करकादिच्छिद्रमित्यादिराकाशाव्यतिरेकेऽपि, तत्कृता चाकाशे घटाकाशादिभेदमिथ्याबुद्धिर्दृष्टा। तथेहापि देहादिसंघातोपाधिसंबन्धाविवेककृतेश्वरसंसारिभेदमिथ्याबुद्धिः। दृश्यते चात्मन एव सतो देहादिसंघातेऽनात्मन्यात्मत्वाभिनिवेशो मिथ्याबुद्धिमात्रेण पूर्वपूर्वेण। सति चैवं संसारित्वे देहाद्यपेक्षमीक्षितृत्वमुपपन्नं संसारिणः। यदप्युक्तं प्रधानस्यानेकात्मकत्वान्मृदादिवत्कारणत्वोपपत्तिर्नासंहतस्य ब्रह्मण इति, तत्प्रधानस्याशब्दत्वेनैव प्रत्युक्तम्। यथा तु तर्केणापि ब्रह्मण एव कारणत्वं निर्वोढुं शक्यते, न प्रधानादीनां, तथा प्रपञ्चयिष्यति—'न विलक्षणत्वादस्य—' (ब्र० २/१/४) इत्येवमादिना॥५॥

अत्राह—यदुक्तं नाचेतनं प्रधानं जगत्कारणमीक्षितृत्वश्रवणादिति तदन्यथा-

प्युपपद्यते, अचेतनेऽपि चेतनवदुपचारदर्शनात्। यथा प्रत्यासन्नपतनतां नद्याः कूलस्यालक्ष्य कूलं पिपतिषतीत्यचेतनेऽपि कूले चेतनवदुपचारो दृष्टः, तद्वदचेतनेऽपि प्रधाने प्रत्यासन्नसर्गे चेतनवदुपचारो भविष्यति 'तदैक्षत' इति। यथा लोके कश्चिच्चेतनः स्नात्वा भुक्त्वा चापराह्णे ग्रामं रथेन गमिष्यामीतीक्षित्वानन्तरं तथैव नियमेन प्रवर्तते, तथा प्रधानमपि महदाद्याकारेण नियमेन प्रवर्तते। तस्माच्चेतनवदुपचर्यते। कस्मात्पुनः कारणाद्विहाय मुख्यमीक्षितृत्वमौपचारिकं कल्प्यते, 'तत्तेज ऐक्षत', 'ता आप ऐक्षन्त' (छा० ६/२/३,४) इति चाचेतनयोरप्यप्तेजसोश्चेतनवदुपचारदर्शनात्। तस्मात्सत्कर्तृकमपीक्षणमौपचारिकमिति गम्यते, 'उपचारप्राये वचनात्' इति। एवं प्राप्त इदं सूत्रमारभ्यते—

(६) गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥६॥

यदुक्तं प्रधानमचेतनं सच्छब्दवाच्यं, तस्मिन्नौपचारिक ईक्षतिः, अप्तेजसोरिवेति; तदसत्। कस्मात्? आत्मशब्दात्। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य 'तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६/२/१,३) इति च तेजोऽबन्नानां सृष्टिमुक्त्वा तदेव प्रकृतं सदीक्षितृ, तानि च तेजोऽबन्नानि, देवताशब्देन परामृश्याह—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६/३/२) इति। तत्र यदि प्रधानमचेतनं गुणवृत्त्येक्षितृ कल्प्येत, तदेव प्रकृतत्वात्सेयं देवतेति परामृश्येत। न तदा देवता जीवमात्मशब्देनाभिदध्यात्। जीवो हि नाम चेतनः शरीराध्यक्षः प्राणानां धारयिता, तत्प्रसिद्धेर्निर्वचनाच्च। स कथमचेतनस्य प्रधानस्यात्मा भवेत्। आत्मा हि नाम स्वरूपम्। नाचेतनस्य प्रधानस्य चेतनो जीवः स्वरूपं भवितुमर्हति। अथ तु चेतनं ब्रह्म मुख्यमीक्षितृ परिगृह्यते, तस्य जीवविषय आत्मशब्दप्रयोग उपपद्यते। तथा 'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६/१४/३) इत्यत्र 'स आत्मा' इति प्रकृतं सदणिमानमात्मानमात्मशब्देनोपदिश्य 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति चेतनस्य श्वेतकेतोरात्मत्वेनोपदिशति, अप्तेजसोस्तु विषयत्वादचेतनत्वं, नामरूपव्याकरणादौ च प्रयोज्यत्वेनैव निर्देशात्, न चात्मशब्दवत्किंचिन्मुख्यत्वे कारणमस्तीति युक्तं कूलवद्गौणत्वमीक्षितृत्वस्य। तयोरपि च सदधिष्ठितत्वापेक्षमेवेक्षितृत्वम्। सतस्त्वात्मशब्दान्न गौणमीक्षितृत्वमित्युक्तम् ॥६॥

अथोच्येताचेतनेऽपि प्रधाने भवत्यात्मशब्दः, आत्मनः सर्वार्थकारित्वात्, यथा राज्ञः सर्वार्थकारिणि भृत्ये भवत्यात्मशब्दो ममात्मा भद्रसेन इति। प्रधानं हि पुरुषस्यात्मनो भोगापवर्गौ कुर्वदुपकरोति, राज्ञ इव भृत्यः संधिविग्रहादिषु वर्तमानः। अथवैक एवात्मशब्दश्चेतनाचेतनविषयो भविष्यति, भूतात्मेन्द्रियात्मेति च प्रयोगदर्शनात्। यथैक एव ज्योतिःशब्दः क्रतुज्वलनविषयः। तत्र कुत एतदात्मशब्दादीक्षतेरगौणत्वमित्यत उत्तरं पठति—

(७) तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्॥७॥

न प्रधानमचेतनमात्मशब्दालम्बनं भवितुमर्हति, 'स आत्मा' इति प्रकृतं सदणिमानमादाय 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति चेतनस्य श्वेतकेतोर्मोक्षयितव्यस्य तन्निष्ठामुपदिश्य 'आचार्यवान्पुरुषो वेद', 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६/१४/२) इति मोक्षोपदेशात्। यदि ह्यचेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यं तदसीति ग्राहयेन्मुमुक्षुं चेतनं सन्तमचेतनोऽसीति तदा विपरीतवादि शास्त्रं पुरुषस्यानर्थायेत्यप्रमाणं स्यात्। नतु निर्दोषं शास्त्रमप्रमाणं कल्पयितुं युक्तम्। यदि चाज्ञस्य सतो मुमुक्षोरचेतनमनात्मानमात्मेत्युपदिशेत्प्रमाणभूतं शास्त्रं, स श्रद्दधानतयान्धगोलाङ्गूलन्यायेन तदात्मदृष्टिं न परित्यजेत्, तद्व्यतिरिक्तं चात्मानं न प्रतिपद्येत, तथा सति पुरुषार्थाद्विहन्येतानर्थं च ऋच्छेत्। तस्माद्यथा स्वर्गाद्यर्थिनोऽग्निहोत्रादिसाधनं यथाभूतमुपदिशति तथा मुमुक्षोरपि 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति यथाभूतमेवात्मानमुपदिशतीति युक्तम्। एवं च सति तप्तपरशुग्रहणमोक्षदृष्टान्तेन सत्याभिसंधस्य मोक्षोपदेश उपपद्यते। अन्यथा ह्यमुख्ये सदात्मतत्त्वोपदेशे 'अहमुक्थमस्मीति विद्यात्' (ऐ० आर० २/१/२/६) इतिवत्संपन्मात्रमिदमनित्यफलं स्यात्। तत्र मोक्षोपदेशो नोपपद्येत। तस्मान्न सदणिमन्यात्मशब्दस्य गौणत्वम्। भृत्ये तु स्वामिभृत्यभेदस्य प्रत्यक्षत्वादुपपन्नो गौण आत्मशब्दो ममात्मा भद्रसेन इति। अपिच क्वचिद्गौणः शब्दो दृष्ट इति नैतावता शब्दप्रमाणकेऽर्थे गौणी कल्पना न्याय्या, सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्। यत्तूक्तं चेतनाचेतनयोः साधारण आत्मशब्दः क्रतुज्वलनयोरिव ज्योतिःशब्द इति, तन्न, अनेकार्थत्वस्यान्याय्यत्वात्। तस्माच्चेतनविषय एव मुख्य आत्मशब्दश्चेतनत्वोपचाराद्भूतादिषु प्रयुज्यते भूतात्मेन्द्रियात्मेति च। साधारणत्वेऽप्यात्मशब्दस्य न प्रकरणमुपपदं वा किंचिन्निश्चायकमन्तरेणान्यतरवृत्तिता निर्धारयितुं शक्यते। नचात्राचेतनस्य निश्चायकं किंचित्कारणमस्ति। प्रकृतं

तु सदीक्षितृ, संनिहितश्चेतनः श्वेतकेतुः, नहि चेतनस्य श्वेतकेतोरचेतन आत्मा संभवतीत्यवोचाम। तस्माच्चेतनविषय इहात्मशब्द इति निश्चीयते। ज्योतिःशब्दोऽपि लौकिकेन प्रयोगेण ज्वलन एव रूढोऽर्थवादकल्पितेन तु ज्वलनसादृश्येन क्रतौ प्रवृत्त इत्यदृष्टान्तः। अथवा पूर्वसूत्र एवात्मशब्दं निरस्तसमस्तगौणत्वसाधारणत्व-शङ्कतया व्याख्याय ततः स्वतन्त्र एव प्रधानकारणनिराकरणहेतुर्व्याख्येयः 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' इति। तस्मान्नाचेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यम्॥७॥

कुतश्च न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम्—

(८) हेयत्वावचनाच्च॥८॥

यद्यनात्मैव प्रधानं सच्छब्दवाच्यं 'स आत्मा तत्त्वमसि' इतीहोपदिष्टं स्यात्स तदुपदेशश्रवणादनात्मज्ञतया तन्निष्ठो मा भूदिति मुख्यमात्मानमुपदि-दिक्षुस्तस्य हेयत्वं ब्रूयात्। यथारुन्धतीं दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्थां स्थूलां ताराम-मुख्यां प्रथममरुन्धतीति ग्राहयित्वा तां प्रत्याख्याय पश्चादरुन्धतीमेव ग्राहयति तद्वन्नायमात्मेति ब्रूयात्। नचैवमवोचत्। सन्मात्रात्मावगतिनिष्ठैव हि षष्ठप्रपाठक-परिसमाप्तिर्दृश्यते। चशब्दः प्रतिज्ञाविरोधाभ्युच्चयप्रदर्शनार्थः। सत्यपि हेयत्ववचने प्रतिज्ञाविरोधः प्रसज्येत। कारणविज्ञानाद्धि सर्वं विज्ञातमिति प्रतिज्ञातम्। उत तमा-देशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० ६/१/२-४)। 'एवं सोम्य स आदेशो भवति' (छा० ६/१/१,३) इति वाक्योपक्रमे श्रवणात्। न च सच्छब्दवाच्ये प्रधाने भोग्यवर्गकारणे हेयत्वेनाहेयत्वेन वा विज्ञाते भोक्तृवर्गो विज्ञातो भवति, अप्रधान-विकारत्वाद्भोक्तृवर्गस्य। तस्मान्न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम्॥८॥

कुतश्च न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम्—

(९) स्वाप्ययात्॥९॥

तदेव सच्छब्दवाच्यं कारणं प्रकृत्य श्रूयते—'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति' (छा० ६/८/१) इति। एषा श्रुतिः स्वपितीत्येतत्पुरुषस्य लोकप्रसिद्धं नाम

निर्वक्ति। स्वशब्देनेहात्मोच्यते। यः प्रकृतः सच्छब्दवाच्यस्तमपीतो भवत्यपिगतो भवतीत्यर्थः। अपिपूर्वस्यैतेर्लयार्थत्वं प्रसिद्धं, प्रभवाप्ययावित्युत्पत्तिप्रलययोः प्रयोगदर्शनात्। मनःप्रचारोपाधिविशेषसंबन्धादिन्द्रियार्थान्गृह्णंस्तद्विशेषापन्नो जीवो जागर्ति। तद्वासनाविशिष्टः स्वप्नान्पश्यन्मनःशब्दवाच्यो भवति। स उपाधिद्वयोपरमे सुषुप्तावस्थायामुपाधिकृतविशेषाभावात्स्वात्मनि प्रलीन इवेति 'स्वं ह्यपीतो भवति' इत्युच्यते। यथा हृदयशब्दनिर्वचनं श्रुत्या दर्शितम्—'स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति तस्माद्धृदयम्' (छा० ८/३/३) इति। यथा वाऽशनायोदन्याशब्दप्रवृत्तिमूलं दर्शयति श्रुतिः—'आप एव तदशितं नयन्ते, 'तेज एव तत्पीतं नयते' (छा० ६/८/३,५) इति च। एवं स्वमात्मानं सच्छब्दवाच्यमपीतो भवतीतीममर्थं स्वपितिनामनिर्वचनेन दर्शयति। न च चेतन आत्माऽचेतनं प्रधानं स्वरूपत्वेन प्रतिपद्येत। यदि पुनः प्रधानमेवात्मीयत्वात्स्वशब्देनैवोच्येत, एवमपि चेतनोऽचेतनमप्येतीति विरुद्धमापद्येत। श्रुत्यन्तरं च—'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' (बृ० ४/३/२१) इति सुषुप्तावस्थायां चेतनेऽप्ययं दर्शयति। अतो यस्मिन्नप्ययः सर्वेषां चेतनानां, तच्चेतनं सच्छब्दवाच्यं जगतः कारणं न प्रधानम्॥९॥

कुतश्च न प्रधानं जगतः कारणम्—

(१०) गतिसामान्यात्॥१०॥

यदि तार्किकसमय इव वेदान्तेष्वपि भिन्ना कारणावगतिरभविष्यत्क्वचिच्चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं, क्वचिदचेतनं प्रधानं, क्वचिदन्यदेवेति, ततः कदाचित्प्रधानकारणवादानुरोधेनापीक्षत्यादिश्रवणमकल्पयिष्यत्। नत्वेतदस्ति। समानैव हि सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणावगतिः।' यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' (कौ० ३/३) इति। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २/१) इति। 'आत्मान एवेदं सर्वम्' (छा० ७/२६/१) इति। 'आत्मन एष प्राणो जायते' (प्र० ३/३) इति चात्मनः कारणत्वं दर्शयन्ति सर्वे वेदान्ताः। आत्मशब्दश्च चेतनवचन इत्यवोचाम। महच्च प्रामाण्यकारणमेतद्यद्वेदान्तवाक्यानां चेतनकारणत्वे समानगतित्वं, चक्षुरादीनामिव रूपादिषु। अतो गतिसामान्यात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम्॥१०॥

कुतश्च सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम्—

(११) श्रुतत्वाच्च॥११॥

स्वशब्देनैव च सर्वज्ञ ईश्वरो जगतः कारणमिति श्रूयते श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि सर्वज्ञमीश्वरं प्रकृत्य 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे० ६/९) इति। तस्मात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणं, नाचेतनं प्रधानमन्यद्वेति सिद्धम्॥११॥

विश्रामः॥ २॥

* * * *

(६) *आनन्दमयाधिकरणम्॥ ६॥ (सू० १२-१९)*

'जन्माद्यस्य यतः' इत्यारभ्य 'श्रुतत्वाच्च' इत्येवमन्तैः सूत्रैर्यान्युदाहृतानि वेदान्तवाक्यानि, तेषां सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरो जगतो जन्मस्थितिलयकारणमित्येतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वं न्यायपूर्वकं प्रतिपादितम्। गतिसामान्योपन्यासेन च सर्वे वेदान्ताश्चेतनकारणवादिन इति व्याख्यातम्। अतः परस्य ग्रन्थस्य किमुत्थानमिति। उच्यते—द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्। 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृह० ४/५/१५) 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्' (छा० ७/२४/१) 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' (तै० आ० ३/१२/७) 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्' (श्वे० ६/१९) 'नेति नेति' (बृ० २/३/६) इति 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३/८/८) 'न्यूनमन्यत्स्थानं संपूर्णमन्यत्' इति चैवं सहस्रशो विद्याविद्याविषयभेदेन ब्रह्मणो द्विरूपतां दर्शयन्ति वाक्यानि। तत्राविद्यावस्थायां ब्रह्मण उपास्योपासकादिलक्षणः सर्वो व्यवहारः। तत्र कानिचिद्ब्रह्मण उपासनान्यभ्युदयार्थानि, कानिचित्क्रममुक्त्यर्थानि, कानिचित्कर्मसमृद्ध्यर्थानि। तेषां गुणविशेषोपाधिभेदेन भेदः। एक एव तु परमात्मेश्वरस्तैस्तैर्गुणविशेषैर्विशिष्ट उपास्यो यद्यपि भवति, तथापि यथागुणोपासनमेव फलानि भिद्यन्ते।

'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' (मुद्गलो० ३/३) इति श्रुतेः, 'यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति' (छा० ३/१४/१) इति च। स्मृतेश्च 'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥' (गी० ८/६) इति। यद्यप्येक आत्मा सर्वभूतेषु स्थावरजङ्गमेषु गूढस्तथापि चित्तोपाधिविशेषतारतम्यादात्मनः कूटस्थनित्यस्यैकरूपस्याप्युत्तरोत्तरमाविष्कृतस्य तारतम्यमैश्वर्यशक्तिविशेषैः श्रूयते—'तस्य य आत्मानमाविस्तरां वेद' (ऐ० आ० २/३/२/१) इत्यत्र। स्मृतावपि—'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्।' (गी० १०/४१) इति। यत्र यत्र विभूत्याद्यतिशयः स स ईश्वर इत्युपास्यतया चोद्यते। एवमिहाप्यादित्यमण्डले हिरण्मयः पुरुषः सर्वपाप्मोदयलिङ्गात्पर एवेति वक्ष्यति। एवं 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र० सू० १/१/२२) इत्यादिषु द्रष्टव्यम्। एवं सद्योमुक्तिकारणमप्यात्मज्ञानमुपाधिविशेषद्वारेणोपदिश्यमानमप्यविवक्षितोपाधिसंबन्धविशेषं परापरविषयत्वेन संदिह्यमानं वाक्यगतिपर्यालोचनया निर्णेतव्यं भवति। यथेहैव तावत् 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इति। एवमेकमपि ब्रह्मापेक्षितोपाधिसंबन्धं निरस्तोपाधिसंबन्धं चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूपदिश्यत इति प्रदर्शयितुं परो ग्रन्थ आरभ्यते। यच्च 'गतिसामान्यात्' इत्यचेतनकारणनिराकरणमुक्तं, तदपि वाक्यान्तराणि ब्रह्मविषयाणि व्याचक्षाणेन ब्रह्मविपरीतकारणनिषेधेन प्रपञ्च्यते—

(१२) आनन्दमयोऽभ्यासात्॥१२॥

तैत्तिरीयकेऽन्नमयं, प्राणमयं, मनोमयं. विज्ञानमयं, चानुक्रम्याम्नायते—'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' (तै० २/५) इति। तत्र संशयः—किमिहानन्दमयशब्देन परमेव ब्रह्मोच्यते यत्प्रकृतम् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २/१) इति, किंवाऽन्नमयादिवद्ब्रह्मणोऽर्थान्तरमिति। किं तावत्प्राप्तं, ब्रह्मणोऽर्थान्तरममुख्य आत्मानन्दमयः स्यात्। कस्मात्? अन्नमयाद्यमुख्यात्मप्रवाहपतितत्वात्। अथापि स्यात्सर्वान्तरत्वादानन्दमयो मुख्य एवात्मेति। न स्यात्प्रियाद्यवयवयोगाच्छारीरत्वश्रवणाच्च। मुख्यश्चेदात्मानन्दमयःस्यान्न प्रियादिसंस्पर्शः स्यात्। इह तु 'तस्य प्रियमेव शिरः' इत्यादि श्रूयते। शारीरत्वं च श्रूयते—'तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य' इति। तस्य पूर्वस्य विज्ञानमयस्यैष एव शारीर आत्मा य एष आनन्दमय

इत्यर्थः। नच सशरीरस्य सतः प्रियाप्रियसंस्पर्शो वारयितुं शक्यः। तस्मात्संसार्येवानन्दमय आत्मेत्येवं प्राप्त इदमुच्यते—'आनन्दमयोऽभ्यासात्'। पर एवात्मानान्दमयो भवितुमर्हति। कुतः। अभ्यासात्। परस्मिन्नेव ह्यात्मन्यानन्दशब्दो बहुकृत्वोऽभ्यस्यते। आनन्दमयं प्रस्तुत्य 'रसो वै सः' इति तस्यैव रसत्वमुक्त्वोच्यते—'रसꣳह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इति, 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति' (तै० २/७) 'सैषानन्दस्य मीमाꣳसा भवति,' 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति,' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन' (तै० २/८,९) इति। आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तैत्ति० ३/६) इति च। श्रुत्यन्तरे च 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृ० ३/९/२८) इति ब्रह्मण्येवानन्दशब्दो दृष्टः। एवमानन्दशब्दस्य बहुकृत्वो ब्रह्मण्यभ्यासादानन्दमय आत्मा ब्रह्मेति गम्यते। यत्तूक्तम् —अन्नमयाद्यमुख्यात्मप्रवाहपतितत्वादानन्दमयस्याप्यमुख्यत्वमिति।नासौ दोषः।आनन्दमयस्य सर्वान्तरत्वात्। मुख्यमेव ह्यात्मानमुपदिदिक्षु शास्त्रं लोकबुद्धिमनुसरत्, अन्नमयं शरीरमनात्मानमत्यन्तमूढानामात्मत्वेन प्रसिद्धमनूद्य मूषानिषिक्तद्रुतताम्रादिप्रतिमावत्ततोऽन्तरं ततोऽन्तरमित्येवं पूर्वेण पूर्वेण समानमुत्तरमुत्तरमनात्मानमात्मेति ग्राहयत्, प्रतिपत्तिसौकर्यापेक्षया सर्वान्तरं मुख्यमानन्दमयमात्मानमुपदिदेशेति श्लिष्टतरम्। यथाऽरुन्धतीनिदर्शने बह्वीष्वपि तारास्वमुख्यास्वरुन्धतीषु दर्शितासु याऽन्त्या प्रदर्श्यते, सा मुख्यैवारुन्धती भवति, एवमिहाप्यानन्दमयस्य सर्वान्तरत्वान्मुख्यमात्मत्वम्। यत्तु ब्रूषे—प्रियादीनां शिरस्त्वादिकल्पनानुपपन्ना मुख्यस्यात्मन इति, अतीतानन्तरोपाधिजनिता सा, न स्वाभाविकीत्यदोषः। शारीरत्वमप्यानन्दमयस्यान्नमयादिशरीरपरम्परया प्रदर्श्यमानत्वात्, न पुनः साक्षादेव शारीरत्वं संसारिवत्, तस्मादानन्दमयः पर एवात्मा॥१२॥

(१३) विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्॥१३॥

अत्राह—नानन्दमयः पर आत्मा भवितुमर्हति। कस्मात्, विकारशब्दात्। प्रकृतिवचनादयमन्यः शब्दो विकारवचनः समधिगतः, आनन्दमय इति, मयटो विकारार्थत्वात्। तस्मादन्नमयादिशब्दवद्विकारविषय एवानन्दमयशब्द इति चेत्, न। प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः स्मरणात्। 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (पा० ५/४/२१) इति हि प्रचुरतायामपि मयट् स्मर्यते। यथा 'अन्नमयो यज्ञः' इत्यन्नप्रचुर उच्यते, एवमानन्दप्रचुरं

ब्रह्मानन्दमय उच्यते। आनन्दप्रचुरत्वं च ब्रह्मणो मनुष्यत्वादारभ्योत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्स्थाने शतगुण आनन्द इत्युक्त्वा ब्रह्मानन्दस्य निरतिशयत्वावधारणात्। तस्मात्प्राचुर्यार्थे मयट्॥१३॥

(१४) तद्धेतुव्यपदेशाच्च॥१४॥

इतश्च प्राचुर्यार्थे मयट्। यस्मादानन्दहेतुत्वं ब्रह्मणो व्यपदिशति श्रुतिः—'एष ह्येवानन्दयाति' इति। आनन्दयतीत्यर्थः। यो ह्यन्यानानन्दयति स प्रचुरानन्द इति प्रसिद्धं भवति। यथा लोके योऽन्येषां धनिकत्वमापादयति, स प्रचुरधन इति गम्यते, तद्वत्। तस्मात्प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः संभवादानन्दमयः पर एवात्मा॥१४॥

(१५) मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते॥१५॥

इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा। यस्मात् 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्युपक्रम्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २/१) इत्यस्मिन्मन्त्रे यत्प्रकृतं ब्रह्म सत्यज्ञानानन्तविशेषणैर्निर्धारितं, यस्मादाकाशादिक्रमेण स्थावरजङ्गमानि भूतान्यजायन्त, यच्च भूतानि सृष्ट्वा तान्यनुप्रविश्य गुहायामवस्थितं सर्वान्तरं, यस्य विज्ञानाय 'अन्योऽन्तर आत्माऽन्योऽन्तर आत्मा' इति प्रक्रान्तं तन्मान्त्रवर्णिकमेव ब्रह्मेह गीयते 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' (तै० २/५) इति। मन्त्रब्राह्मणयोश्चैकार्थत्वं युक्तं, अविरोधात्। अन्यथा हि प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये स्याताम्। न चान्नमयादिभ्य इवानन्दमयादन्योऽन्तर आत्माभिधीयते। एतन्निष्ठैव च 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या' (तै० ३/६)। तस्मादानन्दमयः पर एवात्मा॥१५॥

(१६) नेतरोऽनुपपत्तेः॥१६॥

इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा, नेतरः। इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः। न जीव आनन्दमयशब्देनाभिधीयते। कस्मात्? अनुपपत्तेः। आनन्दमयं हि प्रकृत्य श्रूयते—'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदꣳसर्वमसृजत। यदिदं किंच' (तै० २/६) इति। तत्र प्राक्शरीराद्युत्पत्तेरभिध्यानं सृज्यमानानां च विकाराणां स्रष्टुरव्यतिरेकः, सर्वविकारसृष्टिश्च न परस्मादात्मनोऽन्यत्रोपपद्यते॥१६॥

(१७) भेदव्यपदेशाच्च॥१७॥

इतश्च नानन्दमयः संसारी। यस्मादानन्दमयाधिकारे—'रसो वै सः। रसꣳह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' (तै० २/७) इति जीवानन्दमयौ भेदेन व्यपदिशति। नहि लब्धैव लब्धव्यो भवति। कथं तर्हि 'आत्मान्वेष्टव्यः,' (छा० ८/७/१) 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इति श्रुतिस्मृती, यावता न लब्धैव लब्धव्यो भवतीत्युक्तम्। बाढम्। तथाप्यात्मनोऽप्रच्युतात्मभावस्यैव सततस्तत्त्वानवबोधनिमित्तो देहादिष्वनात्मस्वात्मत्वनिश्चयो लौकिको दृष्टः। तेन देहादिभूतस्यात्मनोऽप्यात्मानन्विष्टोऽन्वेष्टव्योऽलब्धो लब्धव्योऽश्रुतः श्रोतव्योऽमतो मन्तव्योऽविज्ञातो विज्ञातव्य इत्यादिभेदव्यपदेश उपपद्यते। प्रतिषिध्यत एव तु परमार्थतः सर्वज्ञात्परमेश्वरादन्यो द्रष्टा श्रोता वा 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३/७/२३) इत्यादिना। परमेश्वरस्त्वविद्याकल्पिताच्छारीरात्कर्तुर्भोक्तुर्विज्ञानात्माख्यादन्यः। यथा मायाविनश्चर्मखड्गधरात्सूत्रेणाकाशमधिरोहतः स एव मायावी परमार्थरूपो भूमिष्ठोऽन्यः। यथा वा घटाकाशादुपाधिपरिच्छिन्नादनुपाधिरपरिच्छिन्न आकाशोऽन्यः। ईदृशं च विज्ञानात्मपरमात्मभेदमाश्रित्य 'नेतरोऽनुपपत्तेः', 'भेदव्यपदेशाच्च' इत्युक्तम्॥१७॥

(१८) कामाच्च नानुमानापेक्षा॥१८॥

आनन्दमयाधिकारे च 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय' (तै० २/६) इति कामयितृत्वनिर्देशान्नानुमानिकमपि सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानमानन्दमयत्वेन कारणत्वेन वापेक्षितव्यम्। 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १/१/५) इति निराकृतमपि प्रधानं पूर्वसूत्रोदाहृतां कामयितृत्वश्रुतिमाश्रित्य प्रसङ्गात्पुनर्निराक्रियते गतिसामान्यप्रपञ्चनाय॥१८॥

(१९) अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति॥१९॥

इतश्च न प्रधाने जीवे वानन्दमयशब्दः। यस्मादस्मिन्नानन्दमये प्रकृत आत्मनि प्रतिबुद्धस्यास्य जीवस्य तद्योगं शास्ति। तदात्मना योगस्तद्योगः, तद्भावापत्तिः। मुक्तिरित्यर्थः। तद्योगं शास्ति शास्त्रम्—'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति' (तै० २/७) इति। एतदुक्तं भवति—यदैतस्मिन्नानन्दमयेऽल्पमप्यन्तरमतादात्म्यरूपं पश्यति, तदा संसारभयान्न

निवर्तते। यदा त्वेतस्मिन्नानन्दमये निरन्तरं तादात्म्येन प्रतितिष्ठति, तदा संसारभयान्निवर्तत इति। तच्च परमात्मपरिग्रहे घटते, न प्रधानपरिग्रहे, जीवपरिग्रहे वा। तस्मादा-नन्दमयः परमात्मेति स्थितम्।

इदं त्विह वक्तव्यम्—'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः'। 'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' 'तस्मात् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' 'तस्मात् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' (तै० २/१,२,३,४) इति च विकारार्थे मयट्प्रवाहे सत्यानन्दमय एवाकस्मादर्धजरतीयन्यायेन कथमिव मयटः प्राचुर्यार्थत्वं ब्रह्मविषयत्वं चाश्रीयत इति। मान्त्रवर्णिकब्रह्माधिकारादिति चेत्, न। अन्नमयादीनामपि तर्हि ब्रह्मत्वप्रसङ्गः। अत्राह—युक्तमन्नमयादीनामब्रह्मत्वं, तस्मात्तस्मादान्तरस्यान्तरस्यान्यस्यान्यस्यात्मन उच्यमानत्वात् आनन्दमयात्तु न कश्चिदन्य आन्तर आत्मोच्यते, तेनानन्दमयस्य ब्रह्मत्वम्, अन्यथा प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गादिति। अत्रोच्यते —यद्यप्यन्नमयादिभ्य इवानन्दमयादन्योऽन्तर आत्मेति न श्रूयते, तथापि नानन्दमयस्य ब्रह्मत्वं, यत आनन्दमयं प्रकृत्य श्रूयते—'तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० २/५) इति। तत्र यद्ब्रह्म मन्त्रवर्णे प्रकृतम्—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति, तदिह 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युच्यते। तद्विजिज्ञापयिषयैवान्नमयादय आनन्दमयपर्यन्ताः पञ्चकोशाः कल्प्यन्ते। तत्र कुतः प्रकृतहानाऽप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गः। नन्वानन्दमयस्यावयवत्वेन 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युच्यते, अन्नमयादीनामिव 'इदं पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यादि। तत्र कथं ब्रह्मणः स्वप्रधानत्वं शक्यं विज्ञातुम्। प्रकृतत्वादिति ब्रूमः। नन्वानन्दमयावयवत्वेनापि ब्रह्मणि विज्ञायमाने न प्रकृतत्वं हीयते, आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वादिति। अत्रोच्यते—तथा सति तदेव ब्रह्मानन्दमय आत्मावयवी, तदेव च ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठावयव इत्यसामञ्जस्यं स्यात्। अन्यतरपरिग्रहे तु युक्तं 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्रैव ब्रह्मनिर्देश आश्रयितुं, ब्रह्मशब्दसंयोगात्। नानन्दमयवाक्ये ब्रह्मशब्दसंयोगाभावादिति। अपि च 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युक्त्वेदमुच्यते—'तदप्येष श्लोको भवति। असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति' (तै० २/६)। अस्मिंश्च श्लोकेऽननुकृष्यानन्दमयं, ब्रह्मण एव भावाभाववेदनयोर्गुणदोषाभिधानाद्गम्यते 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र ब्रह्मण एव स्वप्रधानत्वमिति। न चानन्दमयस्यात्मनो भावाभावशङ्का युक्ता, प्रियमोदा-

दिविशेषस्यानन्दमयस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वात्। कथं पुनः स्वप्रधानं सद्ब्रह्म, आनन्दमयस्य पुच्छत्वेन निर्दिश्यते—'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति। नैष दोषः। पुच्छवत्पुच्छं, प्रतिष्ठा परायणमेकनीडं लौकिकस्यानन्दजातस्य ब्रह्मानन्द इत्येतदनेन विवक्ष्यते, नावयवत्वं, 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृ० ४/३/३२) इति श्रुत्यन्तरात्। अपिच आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वे प्रियाद्यवयवत्वेन सविशेषं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यम्। निर्विशेषं तु ब्रह्म वाक्यशेषे श्रूयते, वाङ्मनसयोरगोचरत्वाभिधानात्—'यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति' (तै० २/९)। अपि च आनन्दप्रचुर इत्युक्ते दुःखास्तित्वमपि गम्यते, प्राचुर्यस्य लोके प्रतियोग्यल्पत्वापेक्षत्वात्। तथाच सति, 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (छा० ७/२४/१) इति भूम्नि ब्रह्मणि तद्व्यतिरिक्ताभावश्रुतिरुपरुध्येत। प्रतिशरीरं च प्रियादिभेदादानन्दमयस्यापि भिन्नत्वम्। ब्रह्म तु न प्रतिशरीरं भिद्यते, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २/१) इत्यानन्त्यश्रुतेः, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे० ६/११) इति च श्रुत्यन्तरात्। न चानन्दमयस्याभ्यासः श्रूयते। प्रातिपदिकार्थमात्रमेव हि सर्वत्राभ्यस्यते—'रसो वै सः, रसꣳह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति, को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्'। 'सैषानन्दस्य मीमाꣳसा भवति'। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चनेति' (तै० २/७,८,९) 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ३/६) इति च। यदि चानन्दमयशब्दस्य ब्रह्मविषयत्वं निश्चितं भवेत्, तत उत्तरेष्वानन्दमात्रप्रयोगेष्वप्यानन्दमयाभ्यासः कल्प्येत। न त्वानन्दमयस्य ब्रह्मत्वमस्ति, प्रियशिरस्त्वादिभिर्हेतुभिरित्यवोचाम। तस्माच्छ्रुत्यन्तरे 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३/९/२८) इत्यानन्दप्रातिपदिकस्य ब्रह्मणि प्रयोगदर्शनात्। 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादिर्ब्रह्मविषयः प्रयोगो न त्वानन्दमयाभ्यास इत्यवगन्तव्यम्। यस्त्वयं मयडन्तस्यैवानन्दशब्दस्याभ्यासः—'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' (तै० २/८) इति, न तस्य ब्रह्मविषयत्वमस्ति, विकारात्मनामेवान्नमयादीनामनात्मनामुपसंक्रमितव्यानां प्रवाहे पठितत्वात्। नन्वानन्दमयस्योपसंक्रमितव्यस्यान्नमयादिवदब्रह्मत्वे सति नैव विदुषो ब्रह्मप्राप्तिफलं निर्दिष्टं भवेत्। नैष दोषः। आनन्दमयोपसंक्रमणनिर्देशेनैव पुच्छप्रतिष्ठाभूतब्रह्मप्राप्तेः फलस्य निर्दिष्टत्वात्। 'तदप्येष श्लोको भवति। यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिना च प्रपञ्च्यमान-

त्वात्। या त्वानन्दमयसंनिधाने 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति' इदं श्रुतिरुदाहृता, सा 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यनेन संनिहिततरेण ब्रह्मणा संबध्यमाना नानन्दमयस्य ब्रह्मतां प्रतिबोधयति। तदपेक्षत्वाच्चोत्तरस्य ग्रन्थस्य 'रसो वै सः' इत्यादेर्नानन्दमयविषयता। ननु 'सोऽकामयत' इति ब्रह्मणि पुंलिङ्गनिर्देशो नोपपद्यते। नायं दोषः। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यत्र पुंल्लिङ्गेनाप्यात्मशब्देन ब्रह्मणः प्रकृतत्वात्। यत्तु भार्गवी वारुणी विद्या 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इति, तस्यां मयडश्रवणात्, प्रियशिरस्त्वाद्यश्रवणाच्च युक्तमानन्दस्य ब्रह्मत्वम्। तस्मादणुमात्रमपि विशेषमनाश्रित्य न स्वत एव प्रियशिरस्त्वादि ब्रह्मण उपपद्यते। न चेह सविशेषं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषितं, वाङ्मनसगोचरातिक्रमश्रुतेः। तस्मादन्नमयादिष्विवानन्दमयेऽपि विकारार्थ एव मयड्विज्ञेयो न प्राचुर्यार्थः।

सूत्राणि त्वेवं व्याख्येयानि—'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र किमानन्दमयावयवत्वेन ब्रह्म विवक्ष्यत, उत स्वप्रधानत्वेनेति। पुच्छशब्दादवयवत्वेनेति प्राप्त उच्यते—'आनन्दमयोऽभ्यासात्' आनन्दमय आत्मेत्यत्र 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति स्वप्रधानमेव ब्रह्मोपदिश्यते, अभ्यासात्। 'असन्नेव स भवति' इत्यस्मिन्निगमनश्लोके ब्रह्मण एव केवलस्याभ्यस्यमानत्वात्। 'विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्'। विकारशब्देनावयवशब्दोऽभिप्रेतः। पुच्छमित्यवयवशब्दान्न स्वप्रधानत्वं ब्रह्मण इति यदुक्तं, तस्य परिहारो वक्तव्यः। अत्रोच्यते—नायं दोषः, प्राचुर्यादप्यवयवशब्दोपपत्तेः। प्राचुर्यं प्रायापत्तिः, अवयवप्राये वचनमित्यर्थः। अन्नमयादीनां हि शिरआदिषु पुच्छान्तेष्ववयवेषूक्तेष्वानन्दमयस्यापि शिरआदीन्यवयवान्तराण्युक्त्वावयवप्रायापत्त्या 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्याह, नावयवविवक्षया। यत्कारणमभ्यासादिति स्वप्रधानत्वं ब्रह्मणः समर्थितम्। 'तद्धेतुव्यपदेशाच्च'। सर्वस्य विकारजातस्य सानन्दमयस्य कारणत्वेन ब्रह्म व्यपदिश्यते—'इदꣳ सर्वमसृजत। यदिदं किंच' (तै० २/६) इति। न च कारणं सत् ब्रह्म स्वविकारस्यानन्दमयस्य मुख्यया वृत्त्यावयव उपपद्यते। अपराण्यपि सूत्राणि यथासंभवं पुच्छवाक्यनिर्दिष्टस्यैव ब्रह्मण उपपादकानि द्रष्टव्यानि॥१९॥

(७) अन्तरधिकरणम् ॥७॥ (सू० २०-२१)

(२०) अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥२०॥

इदमाम्नायते—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते, हिरण्यश्मश्रुर्हि-

रण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः' 'तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद' 'इत्यधिदैवतम्' (छा० १/६/६,७,८)। 'अथाध्यात्मम्' 'अथ य एषोऽन्त-रक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० १/७/१,५) इत्यादि। तत्र संशयः—किं विद्या-कर्मातिशयवशात्प्राप्तोत्कर्षः कश्चित्संसारी सूर्यमण्डले चक्षुषि चोपास्यत्वेन श्रूयते, किंवा नित्यसिद्धः परमेश्वर इति। किं तावत्प्राप्तं? संसारीति। कुतः? रूपवत्त्वश्रव-णात्। आदित्यपुरुषे तावत् 'हिरण्यश्मश्रुः' इत्यादि रूपमुदाहृतम्। अक्षिपुरुषेऽपि तदेवातिदेशेन प्राप्यते—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपम्' इति। नच परमेश्वरस्य रूपवत्त्वं युक्तम्, 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (का० १/३/१५) इति श्रुतेः, आधार-श्रवणाच्च—'य एषोऽन्तरादित्ये', 'य एषोऽन्तरक्षिणि इति। नह्यनाधारस्य स्वमहिम-प्रतिष्ठस्य सर्वव्यापिनः परमेश्वरस्याधार उपदिश्येत। 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७/२४/१) इति। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति च श्रुती भवतः। ऐश्वर्यमर्यादाश्रुतेश्च। 'स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च' (छा० १/६/८) इत्यादित्यपुरुषस्यैश्वर्यमर्यादा। 'स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च' (छा० १/७/६) इत्यक्षिपुरुषस्य। नच परमेश्वरस्य मर्यादावदैश्वर्यं युक्तम्, 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' (बृ० ४/४/२२) इत्यविशेषश्रुतेः। तस्मान्नाक्ष्यादित्ययोरन्तः परमेश्वर इत्येवं प्राप्त ब्रूमः—'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' इति, 'य एषोऽन्तरादित्ये', 'य एषोऽन्तरक्षिणि' इति च श्रूयमाणः पुरुषः परमेश्वर एव, न संसारी। कुतः? तद्धर्मो-पदेशात्। तस्य हि परमेश्वरस्य धर्मा इहोपदिष्टाः। तद्यथा—'तस्योदिति नाम' इति श्रावयित्वा अस्यादित्यपुरुषस्य नाम 'स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' इति सर्वपाप्मा-पगमेन निर्वक्ति। तदेव च कृतनिर्वचनं नामाक्षिपुरुषस्याप्यतिदिशति—'यन्नाम तन्नाम' (छा० १/७/५) इति। सर्वपाप्मापगमश्च परमात्मन एव श्रूयते—'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८/७/१) इत्यादौ। तथा चाक्षुषे पुरुषे 'सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म' इत्यृक्सामाद्यात्मकतां निर्धारयति। सा च परमेश्वरस्योपपद्यते, सर्वकारणत्वात्सर्वात्म-कत्वोपपत्तेः। पृथिव्यग्न्याद्यात्मके चाधिदैवतं ऋक्सामे, वाक्प्राणाद्यात्मके चाध्या-त्ममनुक्रम्याह—'तस्यर्क्च साम च गेष्णौ' इत्यधिदैवतम्। तथाध्यात्ममपि—'यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ' इति। तच्च सर्वात्मकत्वे सत्येवोपपद्यते। 'तद्य इमे वीणायां

गायन्त्येवं ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः' (छा० १/७/६) इति च लौकिकेष्वपि गानेष्वस्यैव गीयमानत्वं दर्शयति। तच्च परमेश्वरपरिग्रहे घटते, 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम्' (गी० १०/४१) इति भगवद्गीतादर्शनात्। लोककामेशितृत्वमपि निरङ्कुशं श्रूयमाणं परमेश्वरं गमयति। यत्तूक्तं — हिरण्यश्मश्रुत्वादिरूपश्रवणं परमेश्वरे नोपपद्यत इति, अत्र ब्रूमः—स्यात्परमेश्वरस्यापीच्छावशान्मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम्। 'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद। सर्वभूतगुणैर्युक्तं मैवं मां ज्ञातुमर्हसि' इति स्मरणात्। अपिच यत्र तु निरस्तसर्वविशेषं पारमेश्वरं रूपमुपदिश्यते, भवति तत्र शास्त्रम्—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादि। सर्वकारणत्वात्तु विकारधर्मैरपि कैश्चिद्विशिष्टः परमेश्वर उपास्यत्वेन निर्दिश्यते—'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्व रसः' (छा० ३/१४/२) इत्यादिना। तथा हिरण्यश्मश्रुत्वादिनिर्देशोऽपि भविष्यति। यदप्याधारश्रवणान्न परमेश्वर इति, अत्रोच्यते—स्वमहिमप्रतिष्ठस्याप्याधारविशेषोपदेश उपासनार्थो भविष्यति, सर्वगतत्वाद्ब्रह्मणो व्योमवत्सर्वान्तरत्वोपपत्तेः। ऐश्वर्यमर्यादाश्रवणमप्यध्यात्माधिदैवतविभागापेक्षमुपासनार्थमेव। तस्मात्परमेश्वर एवाक्ष्यादित्ययोरन्तरुपदिश्यते॥२०॥

(२१) भेदव्यपदेशाच्चान्यः॥२१॥

अस्ति चादित्यादिशरीराभिमानिभ्यो जीवेभ्योऽन्य ईश्वरोऽन्तर्यामी, 'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३/७/९) इति श्रुत्यन्तरे भेदव्यपदेशात्। तत्र हि 'आदित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद' इति वेदितुरादित्याद्विज्ञानात्मनोऽन्योऽन्तर्यामी स्पष्टं निर्दिश्यते। स एवेहाप्यन्तरादित्ये पुरुषो भवितुमर्हति, श्रुतिसामान्यात्। तस्मात्परमेश्वर एवेहोपदिश्यत इति सिद्धम्॥२१॥

(८) आकाशाधिकरणम्॥८॥ (सू० २२)

(२२) आकाशस्तल्लिङ्गात्॥२२॥

इदमामनन्ति—'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' (छा० १/९/१) इति। तत्र संशयःकिमाकाशशब्देन

परं ब्रह्माभिधीयत, उत भूताकाशमिति। कुतः संशयः? उभयत्र प्रयोगदर्शनात्। भूतविशेषे तावत्सुप्रसिद्धो लोकवेदयोराकाशशब्दः। ब्रह्मण्यपि क्वचित्प्रयुज्यमानो दृश्यते। यत्र वाक्यशेषवशादसाधारणगुणश्रवणाद्वा निर्धारितं ब्रह्म भवति, यथा— 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तै० २/७) इति, 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' (छा० ८/१४/१) इति चैवमादौ। अतः संशयः। किं पुनरत्र युक्तम्? भूताकाशमिति। कुतः? तद्धि प्रसिद्धतरेण प्रयोगेण शीघ्रं बुद्धिमारोहति। न चायमाकाशशब्द उभयोः साधारणः शक्यो विज्ञातुं, अनेकार्थत्वप्रसङ्गात्। तस्माद्ब्रह्मणि गौण आकाशशब्दो भवितुमर्हति। विभुत्वादिभिर्हि बहुभिर्धर्मैः सदृशमाकाशेन ब्रह्म भवति। न च मुख्यसंभवे गौणोऽर्थोग्रहणमर्हति। संभवति चेह मुख्यस्यैवाकाशस्य ग्रहणम्। ननु भूताकाशपरिग्रहे वाक्यशेषो नोपपद्यते—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इत्यादिः। नैष दोषः। भूताकाशस्यापि वाय्वादिक्रमेण कारणत्वोपपत्तेः। विज्ञायते हि—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः' (तै० २/१) इत्यादि। ज्यायस्त्वपरायणत्वे अपि भूतान्तरापेक्षयोपपद्येते भूताकाशस्यापि। तस्मादाकाशशब्देन भूताकाशस्य ग्रहणमित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—'आकाशस्तल्लिङ्गात्' आकाशशब्देन ब्रह्मणो ग्रहणं युक्तम्। कुतः? तल्लिङ्गात्। परस्य हि ब्रह्मण इदं लिङ्गम्—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इति। परस्माद्धि ब्रह्मणो भूतानामुत्पत्तिरिति वेदान्तेषु मर्यादा। ननु भूताकाशस्यापि वाय्वादिक्रमेण कारणत्वं दर्शितम्। सत्यं दर्शितम्। तथापि मूलकारणस्य ब्रह्मणोऽपरिग्रहादाकाशादेवेत्यवधारणं, सर्वाणीति च भूतविशेषणं नानुकूलं स्यात्। तथा 'आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' इति ब्रह्मलिङ्गं 'आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' इति च ज्यायस्त्वपरायणत्वे। ज्यायस्त्वं ह्यनापेक्षिकं परमात्मन्येवैकस्मिन्नाम्नातम्—'ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' (छा० ३/१४/३) इति। तथा परायणत्वमपि परमकारणत्वात्परमात्मन्येवोपपन्नतरम्। श्रुतिश्च भवति—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम्' (बृ० ३/९/२८) इति। अपि चान्तवत्त्वदोषेण शालावत्यस्य पक्षं निन्दित्वा, अनन्तं किंचिद्वक्तुकामेन जैवलिना आकाशः परिगृहीतः, तं चाकाशमुद्गीथे संपाद्योपसंहरति—'स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः' (छा० १/९/२) इति। तच्चानन्त्यं ब्रह्मलिङ्गम्। यत्पुनरुक्तम्—भूताकाशं प्रसिद्धिबलेन प्रथमतरं

प्रतीयत इति, अत्र ब्रूमः—प्रथमतरं प्रतीतमपि सत् वाक्यशेषगतान्ब्रह्मगुणान्दृष्ट्वा न परिगृह्यते। दर्शितश्च ब्रह्मण्यप्याकाशशब्दः—'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्यादौ। तथाऽऽकाशपर्यायवाचिनामपि ब्रह्मणि प्रयोगो दृश्यते—'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः' (ऋ० सं० १/१६४/३९) 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन्प्रतिष्ठिता' (तै० ३/६) 'ॐ कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४/१०/५) खं पुराणम्' (बृ० ५/१) इति चैवमादौ। वाक्योपक्रमेऽपि वर्तमानस्याकाशशब्दस्य वाक्यशेषवशाद्युक्ता ब्रह्मविषयत्वावधारणा। 'अग्निरधीतेऽनुवाकम्' इति हि वाक्योपक्रमगतोऽप्यग्निशब्दो माणवकविषयो दृश्यते। तस्मादाकाशशब्दं ब्रह्मेति सिद्धम्॥२२॥

(९) *प्राणाधिकरणम्॥९॥* (सू० २३)

(२३) अत एव प्राणः॥२३॥

उद्गीथे—'प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता' इत्युपक्रम्य श्रूयते—'कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता (छा० १/११/४,५) इति। तत्र संशयनिर्णयौ पूर्ववदेव दृष्टव्यौ। 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छा० ६/८/२) 'प्राणस्य प्राणम्' (बृ० ४/४/१८) इति चैवमादौ ब्रह्मविषयः प्राणशब्दो दृश्यते, वायुविकारे तु प्रसिद्धतरो लोकवेदयोः, अत इह प्राणशब्देन कतरस्योपादानं युक्तमिति भवति संशयः। किं पुनरत्र युक्तम्। वायुविकारस्य पञ्चवृत्तेः प्राणस्योपादानं युक्तम्। तत्र हि प्रसिद्धतरः प्राणशब्द इत्यवोचाम। ननु पूर्ववदिहापि तल्लिङ्गाद्ब्रह्मण एव ग्रहणं युक्तम्। इहापि वाक्यशेषे भूतानां संवेशनोद्गमनं पारमेश्वरं कर्म प्रतीयते। न। मुख्येऽपि प्राणे भूतसंवेशनोद्गमनस्य दर्शनात्। एवं ह्याम्नायते—'यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधिपुनर्जायन्ते' (श० ब्रा० १०/३/३/६) इति। प्रत्यक्षं चैतत्स्वापकाले प्राणवृत्तावपरिलुप्यमानायामिन्द्रियवृत्तयः परिलुप्यन्ते, प्रबोधकाले च प्रादुर्भवन्तीति। इन्द्रियसारत्वाच्च भूतानामविरुद्धो मुख्ये प्राणेऽपि भूतसंवेशनोद्गमनवादी वाक्यशेषः। अपिचादित्योऽन्नं चोद्गीथप्रतिहारयोर्देवते प्रस्तावदेवतायाः प्राणस्यानन्तरं निर्दिश्येते। नच तयोर्ब्रह्मत्वमस्ति, तत्सामान्याच्च प्राणस्यापि न ब्रह्मत्वमित्येवं प्राप्ते

सूत्रकार आह—'अत एव प्राणः' इति। 'तल्लिङ्गात्' इति पूर्वसूत्रे निर्दिष्टम्। अत एव तल्लिङ्गात्प्राणशब्दमपि परं ब्रह्म भवितुमर्हति। प्राणस्यापि हि ब्रह्मलिङ्गसंबन्धः श्रूयते—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते' (छा० १/११/५) इति। प्राणनिमित्तौ सर्वेषां भूतानामुत्पत्तिप्रलयावुच्यमानौ प्राणस्य ब्रह्मतां गमयतः। ननूक्तं मुख्यप्राणपरिग्रहेऽपि संवेशनोद्गमनदर्शनमविरुद्धं, स्वापप्रबोधयोर्दर्शनादिति। अत्रोच्यते—स्वापप्रबोधयोरिन्द्रियाणामेव केवलानां प्राणाश्रयं संवेशनोद्गमनं दृश्यते, न सर्वेषां भूतानाम्। इहतु सेन्द्रियाणां सशरीराणां च जीवाविष्टानां भूतानां, 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' इति श्रुतेः। यदापि भूतश्रुतिर्महाभूतविषया परिगृह्यते, तदापि ब्रह्मलिङ्गत्वमविरुद्धम्। ननु सहापि विषयैरिन्द्रियाणां स्वापप्रबोधयोः प्राणेऽप्ययं प्राणाच्च प्रभवं शृणुमः—'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति' (कौ० ३/३) इति। तत्रापि तल्लिङ्गात्प्राणशब्दं ब्रह्मैव। यत्पुनरन्नादित्यसंनिधानात्प्राणस्याब्रह्मत्वमिति, तदयुक्तम्। वाक्यशेषबलेन प्राणशब्दस्य ब्रह्मविषयतायां प्रतीयमानायां संनिधानस्याकिंचित्करत्वात्। यत्पुनः प्राणशब्दस्य पञ्चवृत्तौ प्रसिद्धतरत्वं, तदाकाशशब्दस्येव प्रतिविधेयम्। तस्मात्सिद्धं प्रस्तावदेवतायाः प्राणस्य ब्रह्मत्वम्।

अत्र केचिदुदाहरन्ति—'प्राणस्य प्राणम्', 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इति च। तदयुक्तम्। शब्दभेदात्प्रकरणाच्च संशयानुपपत्तेः। यथा पितुः पितेति प्रयोगेऽन्यः पिता षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्यः प्रथमानिर्दिष्टः पितुः पितेति गम्यते, तद्वत् 'प्राणस्य प्राणम्' इति शब्दभेदात्प्रसिद्धात्प्राणादन्यः प्राणस्य प्राण इति निश्चीयते। नहि स एव तस्येति भेदनिर्देशार्हो भवति। यस्य च प्रकरणे यो निर्दिश्यते नामान्तरेणापि स एव तत्र प्रकरणी निर्दिष्ट इति गम्यते। यथा ज्योतिष्टोमाधिकारे—'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' इत्यत्र ज्योतिःशब्दो ज्योतिष्टोमविषयो भवति, तथा परस्य ब्रह्मणः प्रकरणे 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इति श्रुतेः प्राणशब्दो वायुविकारमात्रं कथमवगमयेत्। अतः संशयाविषयत्वान्नैतदुदाहरणं युक्तम्। प्रस्तावदेवतायां तु प्राणे संशयपूर्वपक्षनिर्णया उपपादिताः॥२३॥

विश्रामः॥ ३॥

* * * *

(१०) ज्योतिश्चरणाधिकरणम् ॥ १० ॥ (सू० २४-२७)

(२४) ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २४ ॥

इदमामनन्ति—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतःपृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः' (छा० ३/१३/७) इति। तत्र संशयः—किमिह ज्योतिःशब्देनादित्यादि ज्योतिरभिधीयते, किंवा परमात्मेति। अर्थान्तरविषयस्यापि शब्दस्य तल्लिङ्गाद्ब्रह्मविषयत्वमुक्तम्। इह तु तल्लिङ्गमेवास्ति नास्तीति विचार्यते। किं तावत्प्राप्तम्? आदित्यादिकमेव ज्योतिःशब्देन परिगृह्यत इति। कुतः? प्रसिद्धेः। तमो ज्योतिरिति हीमौ शब्दौ परस्परप्रतिद्वन्द्विविषयौ प्रसिद्धौ। चक्षुर्वृत्तेर्निरोधकं शार्वरादिकं तम उच्यते। तस्या एवानुग्राहकमादित्यादिकं ज्योतिः। तथा 'दीप्यते' इतीयमपि श्रुतिरादित्यादिविषया प्रसिद्धा। नहि रूपादिहीनं ब्रह्म 'दीप्यते' इति मुख्यां श्रुतिमर्हति। द्युमर्यादत्वश्रुतेश्च। नहि चराचरबीजस्य ब्रह्मणः सर्वात्मकस्य द्यौर्मर्यादा युक्ता। कार्यस्य तु ज्योतिषः परिच्छिन्नस्य द्यौर्मर्यादा स्यात्। 'परो दिवो ज्योतिः' इति च ब्राह्मणम्। ननु कार्यस्यापि ज्योतिषः सर्वत्र गम्यमानत्वाद् द्युमर्यादावत्त्वमसमञ्जसम्। अस्तु तर्ह्यत्रिवृत्कृतं तेजः प्रथमजम्। न। अत्रिवृत्कृतस्य तेजसः प्रयोजनाभावादिति। इदमेव प्रयोजनं यदुपास्यत्वमिति चेत्। न। प्रयोजनान्तरप्रयुक्तस्यैवादित्यादेरुपास्यत्वदर्शनात्। 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' (छा० ६/३/३) इति चाविशेषश्रुतेः। न चात्रिवृत्कृतस्यापि तेजसो द्युमर्यादत्वं प्रसिद्धम्। अस्तु तर्हि त्रिवृत्कृतमेव तत्तेजो ज्योतिःशब्दम्। ननूक्तमर्वागपि दिवोऽवगम्यतेऽग्न्यादिकं ज्योतिरिति। नैष दोषः। सर्वत्रापि गम्यमानस्य ज्योतिषः 'परो दिवः' इत्युपासनार्थः प्रदेशविशेषपरिग्रहो न विरुध्यते। नतु निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मणः प्रदेशविशेषकल्पना भागिनी। 'सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु' इति चाधारबहुत्वश्रुतिः कार्ये ज्योतिष्युपपद्यतेतराम्। 'इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः' (छा० ३/१३/७) इति च कौक्षेये ज्योतिषि परं ज्योतिरध्यस्यमानं दृश्यते। सारूप्यनिमित्ताश्चाध्यासा भवन्ति। यथा—'तस्य भूरिति शिर एकं शिर एकमेतदक्षरम्' (बृ० ५/५/३) इति। कौक्षेयस्य तु ज्योतिषः प्रसिद्धमब्रह्मत्वम्। 'तस्यैषा दृष्टिः' (छा० ३/१३/७) 'तस्यैषा श्रुतिः' इति चौष्ण्यघोषविशिष्टत्वस्य श्रवणात्। 'तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत' (छा० ३/१३/८) इति च श्रुतेः। 'चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद' (छा० ३/१३/८) इति चाल्पफलश्रवणादब्रह्मत्वम्। महते हि फलाय

ब्रह्मोपासनमिष्यते। न चान्यदपि किंचित्स्ववाक्ये प्राणाकाशवज्ज्योतिषोऽस्ति ब्रह्मलिङ्गम्। नच पूर्वस्मिन्नपि वाक्ये ब्रह्म निर्दिष्टमस्ति, 'गायत्री वा इदꣳ सर्वं भूतम्' (छा० ३/१२/१) इति छन्दोनिर्देशात्। अथापि कथंचित्पूर्वस्मिन्वाक्ये ब्रह्म निर्दिष्टं स्यादेवमपि न तस्येह प्रत्यभिज्ञानमस्ति। तत्र हि 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३/१२/१) इति द्यौरधिकरणत्वेन श्रूयते। अत्र पुनः 'परो दिवो ज्योतिः' इति द्यौर्मर्यादात्वेन। तस्मात्प्राकृतं ज्योतिरिह ग्राह्यमित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—'ज्योतिरिह ब्रह्म ग्राह्यम्। कुतः? चरणाभिधानात्। पादाभिधानादित्यर्थः। पूर्वस्मिन्हि वाक्ये चतुष्पाद्ब्रह्म निर्दिष्टम्—'तावानस्य महिमा ततो ज्यायाꣳश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३/१२/६) इत्यनेन मन्त्रेण। तत्र यच्चतुष्पदो ब्रह्मणस्त्रिपादमृतं द्युसंबन्धिरूपं निर्दिष्टं, तदेवेह द्युसंबन्धान्निर्दिष्टमिति प्रत्यभिज्ञायते। तत्परित्यज्य प्राकृतं ज्योतिः कल्पयतः प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये प्रसज्येयाताम्। न केवलं पूर्ववाक्याज्ज्योतिर्वाक्य एव ब्रह्मानुवृत्तिः, परस्यामपि शाण्डिल्यविद्यायामनुवर्तिष्यते ब्रह्म। तस्मादिह ज्योतिरिति ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम्। यत्तूक्तम्—'ज्योतिर्दीप्यते' इति चैतौ शब्दौ कार्ये ज्योतिषि प्रसिद्धाविति। नायं दोषः। प्रकरणाद्ब्रह्मावगमे सत्यनयोः शब्दयोरविशेषकत्वात्। दीप्यमानकार्यज्योतिरुपलक्षिते ब्रह्मण्यपि प्रयोगसंभवात्। 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३/१२/९/७) इति च मन्त्रवर्णात्। यद्वा नायं ज्योतिःशब्दश्चक्षुर्वृत्तेरेवानुग्राहके तेजसि वर्तते, अन्यत्रापि प्रयोगदर्शनात्। वाचैवायं ज्योतिषास्ते' (बृ० ४/३/५), 'मनो ज्योतिर्जुषताम्' (तै० ब्रा० १/६/३/३) इति च। तस्माद्यद्यत्कस्यचिदवभासकं तत्तज्ज्योतिःशब्देनाभिधीयते। तथा सति ब्रह्मणोऽपि चैतन्यरूपस्य समस्तजगदवभासहेतुत्वादुपपन्नो ज्योतिःशब्दः। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (का० २/५/१५) 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' (ब० ४/४/१६) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। यदप्युक्तं द्युमर्यादत्वं सर्वगतस्य ब्रह्मणो नोपपद्यत इति। अत्रोच्यते—सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपासनार्थः प्रदेशविशेषपरिग्रहो न विरुध्यते। ननूक्तं निष्प्रदेशस्य ब्रह्मणः प्रदेशविशेषकल्पना नोपपद्यत इति। नायं दोषः। निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मण उपाधिविशेषसंबन्धात्प्रदेशविशेषकल्पनोपपत्तेः। तथाहि—आदित्ये, चक्षुषि, हृदये, इति प्रदेशविशेषसंबन्धीनि ब्रह्मण उपासनानि श्रूयन्ते। एतेन 'विश्वतः पृष्ठेषु' इत्याधारबहुत्वमुपपादितम्। यदप्येतदुक्तं, औष्ण्यघोषाभ्यामनुमिते कौक्षेये कार्ये ज्योतिष्यध्यस्यमानत्वात्परमपि दिवः

कार्यज्योतिरेवेति। तदप्ययुक्तम्। परस्यापि ब्रह्मणो नामादिप्रतीकत्ववत्कौक्षेयज्योतिष्प्रतीकत्वोपपत्तेः। 'दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत' (छा० ३/१३/८) इति तु प्रतीकद्वारकं दृष्टत्वं श्रुतत्वं च भविष्यति। यदप्यल्पफलश्रवणान्न ब्रह्मेति, तदप्यनुपपन्नम्। नहीयते फलाय ब्रह्माश्रयणीयं, इयते नेति नियमहेतुरस्ति। यत्र हि निरस्तसर्वविशेषसम्बन्धं परं ब्रह्मात्मत्वेनोपदिश्यते, तत्रैकरूपमेव फलं मोक्ष इत्यवगम्यते। यत्र तु गुणविशेषसंबन्धं प्रतीकविशेषसंबन्धं वा ब्रह्मोपदिश्यते, तत्र संसारगोचराण्येवोच्चावचानि फलानि दृश्यन्ते—'अन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद' (बृ० ४/४/२४) इत्याद्यासु श्रुतिषु। यद्यपि न स्ववाक्ये किंचिज्ज्योतिषो ब्रह्मलिङ्गमस्ति, तथापि पूर्वस्मिन्वाक्ये दृश्यमानं ग्रहीतव्यं भवति। तदुक्तं सूत्रकारेण—'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इति। कथं पुनर्वाक्यान्तरगतेन ब्रह्मसंनिधानेन ज्योतिःश्रुतिः स्वविषयाच्छक्या प्रच्यावयितुम्। नैष दोषः। 'यदतः परो दिवो ज्योतिः' (छा० ३/१३/७) इति प्रथमतरपठितेन यच्छब्देन सर्वनाम्ना द्युसंबन्धात्प्रत्यभिज्ञायमाने पूर्ववाक्यनिर्दिष्टे ब्रह्मणि स्वसामर्थ्येन परामृष्टे सत्यर्थाज्ज्योतिःशब्दस्यापि ब्रह्मविषयत्वोपपत्तेः। तस्मादिह ज्योतिरिति ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम्॥२४॥

(२५) छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम्॥२५॥

अथ यदुक्तं, पूर्वस्मिन्नपि वाक्ये न ब्रह्माभिहितमस्ति, 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किंच' (छा० ३/१२/१) इति गायत्र्याख्यस्य छन्दसोऽभिहितत्वादिति, तत्परिहर्तव्यम्। कथं पुनश्छन्दोऽभिधानान्न ब्रह्माभिहितमिति शक्यते वक्तुं, यावता 'तावानस्य महिमा' इत्येतस्यामृचि चतुष्पाद्ब्रह्म दर्शितम्। नैतदस्ति। 'गायत्री वा इदथं सर्वम्' इति गायत्रीमुपक्रम्य तामेव भूतपृथिवीशरीरहृदयवाक्प्राणप्रभेदैर्व्याख्याय 'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री' तदेतदृचाभ्यनूक्तं 'तावानस्य महिमा' इति तस्यामेव व्याख्यातरूपायां गायत्र्यामुदाहृतो मन्त्रः कथमकस्माद्ब्रह्म चतुष्पादभिदध्यात्। योऽपि तत्र 'यद्वै तद्ब्रह्म' (छा० ३/१२/७) इति ब्रह्मशब्दः सोऽपि छन्दसः प्रकृतत्वाच्छन्दोविषय एव। 'य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद' (छा० ३/११/३) इत्यत्र हि वेदोपनिषदमिति व्याचक्षते, तस्माच्छन्दोऽभिधानान्न ब्रह्मणः प्रकृतत्वमितिचेत्। नैष दोषः। 'तथा चेतोऽर्पणनिगदात्' तथा गायत्र्याख्यच्छन्दोद्वारेण तदनुगते ब्रह्मणि चेतसोऽर्पणं

चित्तसमाधानमनेन ब्राह्मणवाक्येन निगद्यते—'गायत्री वा इदं सर्वम्' इति। नह्यक्षरसंनिवेशमात्राया गायत्र्याः सर्वात्मकत्वं संभवति। तस्माद्यद्गायत्र्याख्यविकारेऽनुगतं जगत्कारणं ब्रह्म निर्दिष्टं, तदिह सर्वमित्युच्यते। यथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३/१४/१) इति। कार्यं च कारणादव्यतिरिक्तमिति वक्ष्यामः—'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २/१/१४) इत्यत्र। तथान्यत्रापि विकारद्वारेण ब्रह्मण उपासनं दृश्यते—'एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यवः, एतं महाव्रते छन्दोगाः' (ऐ० आ० ३/२/३/१२) इति। तस्मादस्ति छन्दोऽभिधानेऽपि पूर्वस्मिन्वाक्ये चतुष्पाद्ब्रह्म निर्दिष्टम्। तदेव ज्योतिर्वाक्येऽपि परामृश्यत उपासनान्तरविधानाय। अपर आह—साक्षादेव गायत्रीशब्देन ब्रह्म प्रतिपाद्यते, संख्यासामान्यात्। यथा गायत्री चतुष्पदा षडक्षरैः पादैस्तथा ब्रह्म चतुष्पात्। तथान्यत्रापि छन्दोभिधायी शब्दोऽर्थान्तरे संख्यासामान्यात्प्रयुज्यमानो दृश्यते। तद्यथा-'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्' इत्युपक्रम्याह 'सैषा विराडन्नादी' (छा० ४/३/८) इति। अस्मिन्पक्षे ब्रह्मैवाभिहितमिति न छन्दोऽभिधानम्। सर्वथाप्यस्ति पूर्वस्मिन्वाक्ये प्रकृतं ब्रह्म॥२५॥

(२६) भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम्॥२६॥

इतश्चैवमभ्युपगन्तव्यमस्ति पूर्वस्मिन्वाक्ये प्रकृतं ब्रह्मेति। यतो भूतादीन्पादान्व्यपदिशति। भूतपृथिवीशरीरहृदयानि हि निर्दिश्याह—'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री' इति। नहि ब्रह्मानाश्रयणे केवलस्य छन्दसो भूतादयः पादा उपपद्यन्ते। अपिच ब्रह्मानाश्रयणे नेयमृक्संबध्येत—'तावानस्य महिमा' इति। अनया हि ऋचा स्वरसेन ब्रह्मैवाभिधीयते, 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३/१२/५) इति सर्वात्मत्वोपपत्तेः। पुरुषसूक्तेऽपीयमृग्ब्रह्मपरतयैव समाम्नायते। स्मृतिश्च ब्रह्मण एवंरूपतां दर्शयति—'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (गी० १०/४२) इति। 'यद्वै तद्ब्रह्म' (छा० ३/१२/७) इति च निर्देश एवं सति मुख्यार्थ उपपद्यते। 'ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः' (छा० ३/१३/६) इति च हृदयसुषिषु ब्रह्मपुरुषश्रुतिर्ब्रह्मसंबन्धितायां विवक्षितायां संभवति। तस्मादस्ति पूर्वस्मिन्वाक्ये ब्रह्म प्रकृतम्। तदेव ब्रह्म ज्योतिर्वाक्ये द्युसंबन्धात्प्रत्यभिज्ञायमानं परामृश्यत इति स्थितम्॥२६॥

(२७) उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥२७॥

यदप्येतदुक्तं पूर्वत्र—'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति सप्तम्या द्यौराधारत्वेनोपदिष्टा, इह पुनः 'अथ यदतः परो दिवः' इति पञ्चम्या मर्यादात्वेन, तस्मादुपदेशभेदान्न तस्येह प्रत्यभिज्ञानमस्तीति, तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—नायं दोषः, उभयस्मिन्नप्यविरोधात्। उभयस्मिन्नपि सप्तम्यन्ते पञ्चम्यन्ते चोपदेशे न प्रत्यभिज्ञानं विरुध्यते। यथा लोके वृक्षाग्रसंबद्धोऽपि श्येन उभयथोपदिश्यमानो दृश्यते, 'वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात्परतः श्येनः' इति च। एवं दिव्येव सद्ब्रह्म दिवः परमित्युपदिश्यते। अपर आह—यथा लोके वृक्षाग्रेणासंबद्धोऽपि श्येन उभयथोपदिश्यमानो दृश्यते, वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात्परतः श्येन इति च। एवंच दिवः परमपि सद्ब्रह्म दिवीत्युपदिश्यते। तस्मादस्ति पूर्वनिर्दिष्टस्य ब्रह्मण इह प्रत्यभिज्ञानम्। अतः परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दमिति सिद्धम् ॥२७॥

(११) प्रतर्दनाधिकरणम् ॥११॥ (सू० २८–३१)

(२८) प्राणस्तथानुगमात् ॥२८॥

अस्ति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदीन्द्रप्रतर्दनाख्यायिका—'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च' इत्यारभ्याम्नाता। तस्यां श्रूयते—'स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इति। तथोत्तरत्रापि 'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' (कौ० ३/१,२,३) इति। तथा 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि। अन्ते च 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः' (कौ० ३/८) इत्यादि। तत्र संशयः—किमिह प्राणशब्देन वायुमात्रमभिधीयत, उत देवतात्मेति, जीवोऽथवा परं ब्रह्मेति। ननु 'अतएव प्राणः' इत्यत्र वर्णितं प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वम्। इहापि च ब्रह्मलिङ्गमस्ति—'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यादि। कथमिह पुनः संशयः संभवति। अनेकलिङ्गदर्शनादिति ब्रूमः। न केवलमिह ब्रह्मलिङ्गमेवोपलभ्यते। सन्ति हीतरलिङ्गान्यपि। 'मामेव विजानीहि' (कौ० ३/१) इतीन्द्रस्य वचनं देवतात्मलिङ्गम्। इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयतीति प्राणलिङ्गम्। 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि जीवलिङ्गम्। अत उपपन्नः संशयः। तत्र प्रसिद्धेर्वायुः प्राण इति प्राप्त उच्यते प्राणशब्दं ब्रह्म विज्ञेयम्। कुतः तथानुगमात्। तथाहि—पौर्वापर्येण पर्यालोच्यमाने वाक्ये पदार्थानां समन्वयो ब्रह्मप्रतिपादनपर उपलभ्यते। उपक्रमे तावत् 'वरं वृणीष्व' इतीन्द्रेणोक्तः प्रतर्दनः

परमं पुरुषार्थं वरमुपचिक्षेप—'त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' इति। तस्मै हिततमत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं परमात्मा न स्यात्। नह्यन्यत्र परमात्मज्ञानाद्‌हिततमप्राप्तिरस्ति। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वेता० ३/८) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तथा 'स यो मां वेद न ह वै तस्य केनचन कर्मणा लोको मीयते न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया' (कौ० ३/१) इत्यादि च ब्रह्मपरिग्रहे घटते। ब्रह्मविज्ञानेन हि सर्वकर्मक्षयः प्रसिद्धः—'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मु० २/२/८) इत्याद्यासु श्रुतिषु। प्रज्ञात्मत्वं च ब्रह्मपक्ष एवोपपद्यते। न ह्यचेतनस्य वायोः प्रज्ञात्मत्वं संभवति। तथोपसंहारेऽपि—'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यानन्दत्वादीनि न ब्रह्मणोऽन्यत्र सम्यक् संभवन्ति। 'स न साधुना कर्मणा भूयान्भवति नो एवासाधुना कर्मणा कनीयानेष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते' इति, 'एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वरः' (कौ० ३/८) इति च। सर्वमेतत्परस्मिन्ब्रह्मण्याश्रीयमाणेऽनुगन्तुं शक्यते, न मुख्ये प्राणे। तस्मात्प्राणो ब्रह्म॥२८॥

(२९) न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन्॥२९॥

यदुक्तं प्राणो ब्रह्मेति, तदाक्षिप्यते। न परं ब्रह्म प्राणशब्दम्। कस्मात्? वक्तुरात्मोपदेशात्। वक्ता हीन्द्रो नाम कश्चिद्विग्रहवान्देवता विशेषः स्वमात्मानं प्रतर्दनायाऽचचक्षे—'मामेव विजानीहि' इत्युपक्रम्य 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्यहंकारवादेन। स एष वक्तुरात्मत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं ब्रह्म स्यात्। नहि ब्रह्मणो वक्तृत्वं संभवति 'अवागमनाः' (बृ० ३/८/८) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तथा विग्रहसंबन्धिभिरेव ब्रह्मण्यसंभवद्भिर्धर्मैरात्मानं तुष्टाव—'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान्यतीञ्शालावृकेभ्यः प्रायच्छम्' इत्येवमादिभिः। प्राणत्वं चेन्द्रस्य बलवत्त्वादुपपद्यते। 'प्राणो वै बलम्' इति हि विज्ञायते। बलस्य चेन्द्रो देवता प्रसिद्धा। 'या च काचिद्बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तदिति हि वदन्ति। प्रज्ञात्मत्वमप्यप्रतिहतज्ञानत्वाद्देवतात्मनः संभवति। अप्रतिहतज्ञाना देवता इति हि वदन्ति। निश्चिते चैवं देवतात्मोपदेशे हिततमत्वादिवचनानि यथासंभवं तद्विषयाण्येव योजयितव्यानि। तस्माद्वक्तुरिन्द्रस्यात्मोपदेशान्न प्राणो ब्रह्मेत्याक्षिप्य प्रतिसमाधीयते—'अध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन्' इति। अध्यात्मसंबन्धः प्रत्यगात्मसंबन्धस्तस्य भूमा बाहुल्यमस्मिन्नध्याय उपलभ्यते। 'यावद्ध्य-

स्मिञ्शरीरे प्राणो वसति तावदायुः' इति प्राणस्यैव प्रज्ञात्मनः प्रत्यग्भूतस्यायुष्प्रदानोपसंहारयोः स्वातन्त्र्यं दर्शयति, न देवताविशेषस्य पराचीनस्य। तथास्तित्वे च प्राणानां निःश्रेयसमित्यध्यात्ममेवेन्द्रियाश्रयं प्राणं दर्शयति। तथा 'प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' (कौ० ३/३) इति, 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इति चोपक्रम्य 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः' (कौ० ३/९) इति विषयेन्द्रियव्यवहारानभिभूतं प्रत्यगात्मानमेवोपसंहरति। 'स म आत्मेति विद्यात्' इति चोपसंहारः प्रत्यगात्मपरिग्रहे साधुर्न पराचीनपरिग्रहे। 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २/५/१९) इति च श्रुत्यन्तरम्। तस्मादध्यात्मसंबन्धबाहुल्याद्ब्रह्मोपदेश एवायं न देवतात्मोपदेशः॥२९॥

कथं तर्हि वक्तुरात्मोपदेशः—

(३०) शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्॥३०॥

इन्द्रो नाम देवतात्मानं स्वमात्मानं परमात्मत्वेनाहमेव परं ब्रह्मेत्यार्षेण दर्शनेन यथाशास्त्रं पश्यन्नुपदिशति स्म—'मामेव विजानीहि' इति। यथा 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' इति, तद्वत्। 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्' (बृ० १/४/१०) इति श्रुतेः। यत्पुनरुक्तं 'मामेव विजानीहि' इत्युक्त्वा विग्रहधर्मैरिन्द्र आत्मानं तुष्टाव त्वाष्ट्रवधादिभिरिति, तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—न त्वाष्ट्रवधादीनां विज्ञेयेन्द्रस्तुत्यर्थत्वेनोपन्यासो यस्मादेवंकर्माहं तस्मान्मां विजानीहीति। कथं तर्हि? विज्ञानस्तुत्यर्थत्वेन। यत्कारणं त्वाष्ट्रवधादीनि साहसान्युपन्यस्य परेण विज्ञानस्तुतिमनुसंदधाति—'तस्य मे तत्र लोम च न मीयते स यो मां वेद न ह वै तस्य केन च कर्मणा लोको मीयते' इत्यादिना। एतदुक्तं भवति—यस्मादीदृशान्यपि क्रूराणि कर्माणि कृतवतो मम ब्रह्मभूतस्य लोमापि न हिंस्यते, स योऽन्योऽपि मां वेद न तस्य केनचिदपि कर्मणा लोको हिंस्यत इति। विज्ञेयं तु ब्रह्मैव 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इति वक्ष्यमाणम्। तस्माद्ब्रह्मवाक्यमेतत्॥३०॥

(३१) जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्॥३१॥

यद्यप्यध्यात्मसंबन्धभूमदर्शनान्न पराचीनस्य देवतात्मन उपदेशः, तथापि न

ब्रह्मवाक्यं भवितुमर्हति। कुतः? जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिङ्गाच्च। जीवस्य तावदस्मिन्वाक्ये विस्पष्टं लिङ्गमुपलभ्यते 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि। अत्र हि वागादिभिः करणैर्व्यापृतस्य कार्यकरणाध्यक्षस्य जीवस्य विज्ञेयत्वमभिधीयते। तथा मुख्यप्राणलिङ्गमपि—'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति। शरीरधारणं च मुख्यप्राणस्य धर्मः, प्राणसंवादे वागादीन्प्राणान्प्रकृत्य—'तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि' (प्र० २/३) इति श्रवणात्। ये तु 'इमं शरीरं परिगृह्य' इति पठन्ति, तेषामिमं जीवमिन्द्रियग्रामं वा परिगृह्य शरीरमुत्थापयतीति व्याख्येयम्। प्रज्ञात्मत्वमपि जीवे तावच्चेतनत्वादुपपन्नम्। मुख्येऽपि प्राणे प्रज्ञासाधनप्राणान्तराश्रयत्वादुपपन्नमेव। जीवमुख्यप्राणपरिग्रहे च प्राणप्रज्ञात्मनोः सहवृत्तित्वेनाभेदनिर्देशः स्वरूपेण च भेदनिर्देश इत्युभयथा निर्देश उपपद्यते—'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः सह ह्येतावस्मिञ्शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' इति। ब्रह्मपरिग्रहे तु किं कस्माद्भिद्येत। तस्मादिह जीवमुख्यप्राणयोरन्यतर उभौ वा प्रतीयेयातां न ब्रह्मेति चेत्, नैतदेवं, उपासात्रैविध्यात्। एवं सति त्रिविधमुपासनं प्रसज्येत—जीवोपासनं, मुख्यप्राणोपासनं, ब्रह्मोपासनं चेति। न चैतदेकस्मिन्वाक्येऽभ्युपगन्तुं युक्तम्। उपक्रमोपसंहाराभ्यां हि वाक्यैकत्वमवगम्यते। 'मामेव विजानीहि' इत्युपक्रम्य 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इत्युक्त्वान्ते 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्येकरूपावुपक्रमोपसंहारौ दृश्येते। तत्रार्थैकत्वं युक्तमाश्रयितुम्। नच ब्रह्मलिङ्गमन्यपरत्वेन परिणेतुं शक्यम्। दशानां भूतमात्राणां प्रज्ञामात्राणां च ब्रह्मणोऽन्यत्रार्पणानुपपत्तेः। आश्रितत्वाच्चान्यत्रापि ब्रह्मलिङ्गवशात्प्राणशब्दस्य ब्रह्मणि वृत्तेः। इहापि च हिततमोपन्यासादिब्रह्मलिङ्गयोगाद्ब्रह्मोपदेश एवायमिति गम्यते। यत्तु मुख्यप्राणलिङ्गं दर्शितम्—'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति, तदसत्। प्राणव्यापारस्यापि परमात्मायत्तत्वात्परमात्मन्युपचरितुं शक्यत्वात्। 'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥' (क० २/२/५) इति श्रुतेः। यदपि 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात् इत्यादि जीवलिङ्गं दर्शितं, तदपि न ब्रह्मपक्षं निवारयति। नहि जीवो नामात्यन्तभिन्नो ब्रह्मणः, 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिश्रुतिभ्यः। बुद्ध्याद्युपाधिकृतं तु विशेषमाश्रित्य ब्रह्मैव सञ्जीवः कर्ता भोक्ता चेत्युच्यते।

तस्योपाधिकृतविशेषपरित्यागेन स्वरूपं ब्रह्म दर्शयितुं 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादिना प्रत्यगात्माभिमुखीकरणार्थमुपदेशो न विरुध्यते। 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥' (के० १/४) इत्यादि च श्रुत्यन्तरं वचनादिक्रियाव्यापृतस्यैवात्मनो ब्रह्मत्वं दर्शयति। यत्पुनरेतदुक्तम्— 'सह ह्येतावस्मिञ्शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' इति प्राणप्रज्ञात्मनोर्भेददर्शनं ब्रह्मवादे नोपपद्यत इति। नैष दोषः। ज्ञानक्रियाशक्तिद्वयाश्रययोर्बुद्धिप्राणयोः प्रत्यगात्मोपाधिभूतयोर्भेदनिर्देशोपपत्तेः उपाधिद्वयोपहितस्य तु प्रत्यगात्मनः स्वरूपेणाभेद इत्यतः प्राण एव प्रज्ञात्मेत्येकीकरणमविरुद्धम्।

अथवा 'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' इत्यस्यायमन्योऽर्थः—न ब्रह्मवाक्येऽपि जीवमुख्यप्राणलिङ्गं विरुध्यते। कथम्? उपासात्रैविध्यात्। त्रिविधमिह ब्रह्मोपासनं विवक्षितं प्राणधर्मेण प्रज्ञाधर्मेण स्वधर्मेण च। तत्र 'आयुरमृतमुपास्स्वायुः प्राणः' इति, 'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति, 'तस्मादेतदेवोक्थमुपासीत' इति च प्राणधर्मः। 'अथ यथास्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकीभवन्ति तद्व्याख्यास्यामः' इत्युपक्रम्य 'वागेवास्या एकमङ्गमदूदुहत्तस्यै नाम परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति' इत्यादिः प्रज्ञाधर्मः। 'ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतम्। यद्धि भूतमात्रा न स्युर्न प्रज्ञामात्राः स्युः। यद्धि प्रज्ञामात्रा न स्युर्न भूतमात्राः स्युः। नह्यन्यतरतो रूपं किंचन सिद्ध्येत्। नो एतन्नाना। 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः। 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा' (कौ० ३/८,९) इत्यादिर्ब्रह्मधर्मः। तस्माद्ब्रह्मण एवैतदुपाधिद्वयधर्मेण स्वधर्मेण चैकमुपासनं त्रिविधं विवक्षितम्। अन्यत्रापि 'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३/१४/२) इत्यादावुपाधिधर्मेण ब्रह्मण उपासनमाश्रितम्। इहापि तद्युज्यते वाक्यस्योपक्रमोपसंहाराभ्यामेकार्थत्वावगमात्प्राणप्रज्ञाब्रह्मलिङ्गावगमाच्च। तस्माद्ब्रह्मवाक्यमेतदिति सिद्धम्॥ ३१ ॥

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीशंकरभगवत्पादकृतौ
प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः॥ १॥

विश्रामः॥ ४॥

* * * *

ॐ

प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः

(अत्रास्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्तश्रुतिवाक्यानामुपास्यब्रह्मविषयाणां विचारः)

(१२) सर्वत्र प्रसिद्ध्यधिकरणम् ॥ १ ॥ (सू० १-८)

प्रथमे पादे 'जन्माद्यस्य यतः' इत्याकाशादेः समस्तस्य जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्मेत्युक्तम्। तस्य समस्तजगत्कारणस्य ब्रह्मणो व्यापित्वं, नित्यत्वं, सर्वज्ञत्वं, सर्वशक्तित्वं, सर्वात्मत्वमित्येवंजातीयका धर्मा उक्ता एव भवन्ति। अर्थान्तरप्रसिद्धानां च केषांचिच्छब्दानां ब्रह्मविषयत्वहेतुप्रतिपादनेन कानिचिद्वाक्यानि स्पष्टब्रह्मलिङ्गानि संदिह्यमानानि ब्रह्मपरतया निर्णीतानि। पुनरप्यन्यानि वाक्यान्यस्पष्टब्रह्मलिङ्गानि संदिह्यन्ते— किं परं ब्रह्म प्रतिपादयन्त्याहोस्विदर्थान्तरं किंचिदिति। तन्निर्णयाय द्वितीय-तृतीयौ पादावारभ्येते।

(३२) सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

इदमाम्नायते—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत, 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३/१४/१,२) इत्यादि। तत्र संशयः— किमिह मनोमयत्वादिभिर्धर्मैः शारीर आत्मोपास्यत्वेनोपदिश्यते, आहोस्वित्परं, ब्रह्मेति। किं तावत्प्राप्तम्? शारीर इति। कुतः? तस्य हि कार्यकरणाधिपतेः प्रसिद्धो मन-आदिभिः संबन्धो, न परस्य ब्रह्मणः, 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मु० २/१/२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। ननु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति स्वशब्देनैव ब्रह्मोपात्तं, कथमिह शारीर आत्मोपास्य इत्याशङ्क्यते? नैष दोषः; नेदं वाक्यं ब्रह्मोपासनाविधिपरं। किं तर्हि? शमविधिपरम्। यत्कारणं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इत्याह। एतदुक्तं भवति—यस्मात्सर्वमिदं विकारजातं ब्रह्मैव, तज्जत्वात्तल्लत्वात्तद-नत्वाच्च। नच सर्वस्यैकात्मत्वेन रागादयः संभवन्ति, तस्माच्छान्त उपासीतेति। नच शमविधिपरत्वे सत्यनेन वाक्येन ब्रह्मोपासनं नियन्तुं शक्यते। उपासनं तु 'स क्रतुं कुर्वीत' इत्यनेन विधीयते। क्रतुः संकल्पो ध्यानमित्यर्थः। तस्य च विषयत्वेन श्रूयते— 'मनोमयः प्राणशरीरः' इति जीवलिङ्गम्। अतो ब्रूमो जीवविषयमेतदुपा-

सनमिति। 'सर्वकर्मा सर्वकामः' इत्याद्यपि श्रूयमाणं पर्यायेण जीवविषयमुपपद्यते। 'एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा' इति च हृदयायतनत्वमणीयस्त्वं चाराग्रमात्रस्य जीवस्यावकल्पते, नापरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणः। ननु 'ज्यायान्पृथिव्या' इत्याद्यपि न परिच्छिन्नेऽवकल्पत इति। अत्र ब्रूमः— न तावदणीयस्त्वं ज्यायस्त्वं चोभयमेकस्मिन्समाश्रयितुं शक्यं; विरोधात्। अन्यतराश्रयणे च प्रथमश्रुतत्वादणीयस्त्वं युक्तमाश्रयितुं, ज्यायस्त्वं तु ब्रह्मभावापेक्षया भविष्यतीति। निश्चिते च जीवविषयत्वे यदन्ते ब्रह्मसंकीर्तनं'एतद्ब्रह्म' (छा० ३/१४/४) इति, तदपि प्रकृतपरामर्शार्थत्वाज्जीवविषयमेव। तस्मान्मनोमयत्वादिभिर्धर्मैर्जीव उपास्य इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः। परमेव ब्रह्म मनोमयत्वादिभिर्धर्मैरुपास्यम्। कुतः? सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्। यत्सर्वेषु वेदान्तेषु प्रसिद्धं ब्रह्मशब्दस्यालम्बनं जगत्कारणम्, इह च 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति वाक्योपक्रमे श्रुतं, तदेव मनोमयत्वादिधर्मैर्विशिष्टमुपदिश्यत इति युक्तम्। एवं च सति प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये न भविष्यतः। ननु वाक्योपक्रमे शमविधिविवक्षया ब्रह्म निर्दिष्टं, न स्वविवक्षयेत्युक्तम्। अत्रोच्यते,—यद्यपि शमविधिविवक्षया ब्रह्म निर्दिष्टं, तथापि मनोमयत्वादिषूपदिश्यमानेषु तदेव ब्रह्म संनिहितं भवति। जीवस्तु न संनिहितो, नच स्वशब्देनोपात्त इति वैषम्यम्॥ १॥

(३३) विवक्षितगुणोपपत्तेश्च॥ २॥

वक्तुमिष्टा विवक्षिताः। यद्यप्यपौरुषेये वेदे वक्तुरभावान्नेच्छार्थः संभवति, तथाप्युपादानेन फलेनोपचर्यते। लोके हि यच्छब्दाभिहितमुपादेयं भवति तद्विवक्षितमित्युच्यते, यदनुपादेयं तदविवक्षितमिति। तद्वद्वेदेऽप्युपादेयत्वेनाभिहितं विवक्षितं भवति, इतरदविवक्षितम्। उपादानानुपादाने तु वेदवाक्यतात्पर्यातात्पर्याभ्यामवगम्येते। तदिह ये विवक्षिता गुणा उपासनायामुपादेयत्वेनोपदिष्टाः सत्यसंकल्पप्रभृतयस्ते परस्मिन्ब्रह्मण्युपपद्यन्ते। सत्यसंकल्पत्वं हि सृष्टिस्थितिसंहारेष्वप्रतिबद्धशक्तित्वात्परमात्मन एवावकल्पते। परमात्मगुणत्वेन च 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८/७/१) इत्यत्र 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इति श्रुतम्।आकाशात्मेत्यादिनाकाशवदात्माऽस्येत्यर्थः। सर्वगतत्वादिभिर्धर्मैः संभवत्याकाशेन साम्यं ब्रह्मणः। 'ज्यायान्पृथिव्याः' इत्यादिना चैतदेव दर्शयति। यदाप्याकाश आत्मा यस्येति व्याख्यायते, तदापि संभवति सर्वजगत्कारणस्य सर्वात्मनो ब्रह्मण आकाशात्मत्वम्। अत एव 'सर्वकर्मा' इत्यादि। एवमिहोपास्यतया विवक्षिता गुणा ब्रह्मण्युपपद्यन्ते। यत्तूक्तं 'मनोमयः प्राणशरीरः'

(छा० ३/१४/२) इति जीवलिङ्गं न तद्ब्रह्मण्युपपद्यत इति; तदपि ब्रह्मण्युपपद्यत इति ब्रूमः। सर्वात्मत्वाद्धि ब्रह्मणो जीवसंबन्धीनि मनोमयत्वादीनि ब्रह्मसंबन्धीनि भवन्ति। तथा च ब्रह्मविषये श्रुतिस्मृती भवतः— 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः' (श्वे० ४/३) इति। 'सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति' (गी० १३/१३) इति च। 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मुण्ड० २/१/२) इति श्रुतिः शुद्धब्रह्मविषया, इयं तु 'मनोमयः प्राणशरीरः' इति सगुणब्रह्मविषयेति विशेषः। अतो विवक्षितगुणोपपत्तेः परमेव ब्रह्मेहोपास्यत्वेनोपदिष्टमिति गम्यते॥ २॥

(३४) अनुपपत्तेस्तु न शारीरः॥ ३॥

पूर्वेण सूत्रेण ब्रह्मणि विवक्षितानां गुणानामुपपत्तिरुक्ता। अनेन तु शारीरे तेषामनुपपत्तिरुच्यते। तुशब्दोऽवधारणार्थः। ब्रह्मैवोक्तेन न्यायेन मनोमयत्वादिगुणं, नतु शारीरो जीवो मनोमयत्वादिगुणः। यत्कारणं 'सत्यसंकल्पः, आकाशात्मा, अवाकी, अनादरः, ज्यायान्पृथिव्या' इति चैवंजातीयका गुणा न शारीर आञ्जस्येनोपपद्यन्ते। शारीर इति शरीरे भव इत्यर्थः। नन्वीश्वरोऽपि शरीरे भवति। सत्यम्। शरीरे भवति, नतु शरीर एव भवति; 'ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्' (छा० ३/१४/३) 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' (गौड० ३/३) इति च व्यापित्वश्रवणात्। जीवस्तु शरीर एव भवति, तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र वृत्त्यभावात्॥ ३॥

(३५) कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च॥ ४॥

इतश्च न शारीरो मनोमयत्वादिगुणः, यस्मात्कर्मकर्तृव्यपदेशो भवति 'एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि' (छा० ३/१४/४) इति। एतमिति प्रकृतं मनोमयत्वादिगुणमुपास्यमात्मानं कर्मत्वेन प्राप्यत्वेन व्यपदिशति। अभिसंभवितास्मीति शारीरमुपासकं कर्तृत्वेन प्रापकत्वेन अभिसंभवितास्मीति। प्राप्तास्मीत्यर्थः। नच सत्यां गतावेकस्य कर्मकर्तृव्यपदेशो युक्तः। तथोपास्योपासकभावोऽपि भेदाधिष्ठान एव। तस्मादपि न शारीरो मनोमयत्वादिविशिष्टः॥ ४॥

(३६) शब्दविशेषात्॥ ५॥

इतश्च शारीरादन्यो मनोमयत्वादिगुणः, यस्माच्छब्दविशेषो भवति समान-

प्रकरणे श्रुत्यन्तरे—'यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वैवमयमन्तरात्मन्पुरुषो हिरण्मयः' (शत० ब्रा १०/६/३/२) इति। शारीरस्यात्मनो यः शब्दोऽभिधायकः सप्तम्यन्तोऽन्तरात्मन्निति, तस्माद्विशिष्टोऽन्यः प्रथमान्तः पुरुष-शब्दो मनोमयत्वादिविशिष्टस्यात्मनोऽभिधायकः। तस्मात्तयोर्भेदोऽधिगम्यते॥५॥

(३७) स्मृतेश्च॥६॥

स्मृतिश्च शारीरपरमात्मनोर्भेदं दर्शयति—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' (गी० १८/६१) इत्याद्या। अत्राह—कः पुनरयं शारीरो नाम परमात्मनोऽन्यः, यः प्रतिषिध्यते 'अनुपपत्तेस्तु न शारीरः' इत्यादिना? श्रुतिस्तु— 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' (बृ० ३/७/२३) इत्येवंजातीयका परमात्मनोऽन्यमात्मानं वारयति। तथा स्मृतिरपि— 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' (गी० १३/२) इत्येवंजातीयकेति। अत्रोच्यते,—सत्यमेवैतत्; पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते। यथा घटकरकाद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपि नभः परिच्छिन्नवदवभासते, तद्वत्। तदपेक्षया च कर्मकर्तृत्वादिभेदव्यवहारो न विरुध्यते; प्राक् 'तत्त्वमसि' इत्यात्मैकत्वोपदेशग्रहणात्। गृहीते त्वात्मैकत्वे बन्धमोक्षादिसर्वव्यवहारपरिसमाप्तिरेव स्यात्॥६॥

(३८) अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च॥७॥

अर्भकमल्पम्, ओको नीडम्, 'एष म आत्माऽन्तर्हृदये' (छा० ३/१४/३) इति परिच्छिन्नायतनत्वात्, स्वशब्देन च 'अणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा' इत्यणीयस्त्वव्यपदेशात्, शारीर एवाराग्रमात्रो जीव इहोपदिश्यते, न सर्वगतः परमात्मेति यदुक्तं तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते,—नायं दोषः; न तावत्परिच्छिन्नदेशस्य सर्वगतत्वव्यपदेशः कथमप्युपपद्यते। सर्वगतस्य तु सर्वदेशेषु विद्यमानत्वात्परिच्छिन्नदेशव्यपदेशोऽपि कयाचिदपेक्षया संभवति। यथा समस्तवसुधाधिपतिरपि हि सन्नयोध्याधिपतिरिति व्यपदिश्यते। कया पुनरपेक्षया सर्वगतः सन्नीश्वरोऽर्भकौका अणीयांश्च व्यपदिश्यत इति। निचाय्यत्वादेवमिति ब्रूमः। एवमणीयस्त्वादिगुणगणोपेत ईश्वरस्तत्र हृदयपुण्डरीके निचाय्यो द्रष्टव्य उपदिश्यते। यथा शालग्रामे हरिः। तत्रास्य बुद्धिविज्ञानं ग्राहकम्। सर्वगतोऽपीश्वरस्तत्रोपास्यमानः प्रसीदति। व्योमवच्चैतद्द्रष्टव्यम्। यथा सर्वगतमपि

सद्व्योम सूचीपाशाद्यपेक्षयार्भकौकोऽणीयश्च व्यपदिश्यते, एवं ब्रह्मापि। तदेवं निचाय्यत्वापेक्षं ब्रह्मणोऽर्भकौकस्त्वमणीयस्त्वं च न पारमार्थिकम्। तत्र यदाशङ्क्यते,—हृदयायतनत्वाद्ब्रह्मणो हृदयायतनानां च प्रतिशरीरं भिन्नत्वाद्भिन्नायतनानां च शुकादीनामनेकत्वसावयवत्वानित्यत्वादिदोषदर्शनाद्ब्रह्मणोऽपि तत्प्रसङ्ग इति, तदपि परिहृतं भवति॥७॥

(३९) संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्॥८॥

व्योमवत्सर्वगतस्य ब्रह्मणः सर्वप्राणिहृदयसंबन्धात्, चिद्रूपतया च शारीरादविशिष्टत्वात्, सुखदुःखादिसंभोगोऽप्यविशिष्टः प्रसज्येत। एकत्वाच्च। नहि परस्मादात्मनोऽन्यः कश्चिदात्मा संसारी विद्यते, 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृ० ३/७/२३) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मात्परस्यैव संसारसंभोगप्राप्तिरिति चेत्,—न; वैशेष्यात्। न तावत्सर्वप्राणिहृदयसंबन्धाच्छारीरवद्ब्रह्मणः संभोगप्रसङ्गः; वैशेष्यात्। विशेषो हि भवति शारीरपरमेश्वरयोः। एकः कर्ता भोक्ता धर्माधर्मादिसाधनः सुखदुःखादिमांश्च। एकस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वादिगुणः। एतस्मादनयोर्विशेषादेकस्य भोगो, नेतरस्य। यदि च संनिधानमात्रेण वस्तुशक्तिमनाश्रित्य कार्यसंबन्धोऽभ्युपगम्येत, आकाशादीनामपि दाहादिप्रसङ्गः। सर्वगतानेकात्मवादिनामपि समावेतौ चोद्यपरिहारौ। यदप्येकत्वाद्ब्रह्मण आत्मान्तराभावाच्छारीरस्य समावेतौ चोद्यपरिहारौ। यदप्येकत्वाद्ब्रह्मण आत्मान्तराभावाच्छारीस्य भोगेन ब्रह्मणो भोगप्रसङ्ग इति। अत्र वदामः—इदं तावद्देवानांप्रियः प्रष्टव्यः। कथमयं त्वयात्मान्तराभावोऽध्यवसित इति। 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' इत्यादिशास्त्रेभ्य इति चेत्, यथाशास्त्रं तर्हि शास्त्रीयोऽर्थः प्रतिपत्तव्यो न तत्रार्धजरतीयं लभ्यम्। शास्त्रं च 'तत्त्वमसि' इत्यपहतपाप्मत्वादिविशेषणं ब्रह्म शारीरस्यात्मत्वेनोपदिशच्छारीरस्यैव तावदुपभोक्तृत्वं वारयति। कुतस्तदुपभोगेन ब्रह्मण उपभोगप्रसङ्गः? अथागृहीतं शारीरस्य ब्रह्मणैकत्वं, तदा मिथ्याज्ञाननिमित्तः शारीरस्योपभोगः, न तेन परमार्थरूपस्य ब्रह्मणः संस्पर्शः। नहि बालैस्तलमलिनतादिभिर्व्योम्नि विकल्प्यमाने तलमलिनतादिविशिष्टमेव परमार्थतो व्योम भवति। तदाह—न, वैशेष्यादिति। नैकत्वेऽपि शारीरस्योपभोगेन ब्रह्मण उपभोगप्रसङ्गः, वैशेष्यात्। विशेषो हि भवति मिथ्याज्ञानसम्यग्ज्ञानयोः। मिथ्याज्ञानकल्पित उपभोगः, सम्यग्ज्ञानदृष्टमेकत्वम्। नच मिथ्याज्ञानकल्पितेनोपभोगेन सम्यग्ज्ञानदृष्टं वस्तु संस्पृश्यते। तस्मान्नोपभोगगन्धोऽपि शक्य ईश्वरस्य कल्पयितुम्॥८॥

(१३) अत्त्रधिकरणम् ॥ २ ॥ सू० ९-१०)

(४०) अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ९ ॥

कठवल्लीषु पठ्यते— 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः' (का० १/२/२४) इति। अत्र कश्चिदोदनोपसेचनसूचितोऽत्ता प्रतीयते। तत्र किमग्निरत्ता स्यात्, उत जीवः, अथवा परमात्मेति संशयः। विशेषानवधारणात्, त्रयाणां चाग्निजीवपरमात्मनामस्मिन्ग्रन्थे प्रश्नोपन्यासोपलब्धेः। किं तावत् प्राप्तम्? अग्निरत्तेति। कुतः? 'अग्निरन्नादः' (बृ० १/४/६) इति श्रुतिप्रसिद्धिभ्याम्। जीवो वाऽत्ता स्यात्, 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति दर्शनात्। न परमात्मा; 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' (मु० ३/१/१) इति दर्शनादित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—अत्ताऽत्र परमात्मा भवितुमर्हति। कुतः? चराचरग्रहणात्। चराचरं हि स्थावरजङ्गमं मृत्यूपसेचनमिहाद्यत्वेन प्रतीयते, तादृशस्य चाद्यस्य न परमात्मनोऽन्यः कार्त्स्न्येनात्ता संभवति। परमात्मा तु विकारजातं संहरन् सर्वमत्तीत्युपपद्यते। नन्विह चराचरग्रहणं नोपलभ्यते, कथं सिद्धवच्चराचरग्रहणं हेतुत्वेनोपादीयते? नैष दोषः; मृत्यूपसेचनत्वेन सर्वस्य प्राणिनिकायस्य प्रतीयमानत्वात्, ब्रह्मक्षत्रयोश्च प्राधान्यात्प्रदर्शनार्थत्वोपपत्तेः। यत्तु परमात्मनोऽपि नात्तृत्वं संभवति; 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इति दर्शनादिति। अत्रोच्यते,—कर्मफलभोगस्य प्रतिषेधकमेतद्दर्शनं; तस्य संनिहितत्वात्। न विकारसंहारस्य प्रतिषेधकं; सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात्। तस्मात्परमात्मैवेहात्ता भवितुमर्हतीति ॥ ९ ॥

(४१) प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

इतश्च परमात्मैवेहाऽत्ता भवितुमर्हति, यत्कारणं प्रकरणमिदं परमात्मनः, 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (काठ० १/२/१८) इत्यादि। प्रकृतग्रहणं च न्याय्यम्। 'क इत्था वेद यत्र सः' इति च दुर्विज्ञानत्वं परमात्मलिङ्गम् ॥ १० ॥

(१४) गुहाप्रविष्टाधिकरणम् ॥ ३ ॥ (सू० ११-१२)

(४२) गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

कठवल्लीष्वेव पठ्यते— 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः' (काठ० १/

३/१) इति। तत्र संशयः,—किमिह बुद्धिजीवौ निर्दिष्टौ, उत जीवपरमात्मानाविति। यदि बुद्धिजीवौ, ततो बुद्धिप्रधानात्कार्यकरणसंघाताद्विलक्षणो जीवः प्रतिपादितो भवति। तदपीह प्रतिपादयितव्यं, 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥' (काठ० १/१/२०) इति पृष्टत्वात्। अथ जीवपरमात्मानौ, ततो जीवाद्विलक्षणः परमात्मा प्रतिपादितो भवति। तदपीह प्रतिपादयितव्यम्; 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥' (काठ० १/२/१४) इति पृष्टत्वात्। अत्राहाक्षेप्ता—उभावप्येतौ पक्षौ न संभवतः। कस्मात्? ऋतपानं कर्मफलोपभोगः; 'सुकृतस्य लोके' इति लिङ्गात्। तच्च चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्य संभवति, नाचेतनाया बुद्धेः। 'पिबन्तौ' इति च द्विवचनेन द्वयोः पानं दर्शयति श्रुतिः। अतो बुद्धिक्षेत्रज्ञपक्षस्तावन्न संभवति। अत एव क्षेत्रज्ञपरमात्मपक्षोऽपि न संभवति; चेतनेऽपि परमात्मनि ऋतपानासंभावात्। 'अनश्नन्न्योऽभिचाकशीति' (मु० ३/१/१) इति मन्त्रवर्णादिति। अत्रोच्यते,—नैष दोषः; छत्रिणो गच्छन्तीत्येकेनापि छत्रिणा बहूनां छत्रित्वोपचारदर्शनात्। एवमेकेनापि पिबता द्वौ पिबन्तावुच्येते। यद्वा, जीवस्तावत्पिबति, ईश्वरस्तु पाययति। पाययन्नपि पिबतीत्युच्यते; पाचयितर्यपि पक्तृत्वप्रसिद्धिदर्शनात्। बुद्धिक्षेत्रज्ञपरिग्रहोऽपि संभवति; करणे कर्तृत्वोपचारात्। एधांसि पचन्तीति प्रयोगदर्शनात्। न चाध्यात्माधिकारेऽन्यौ कौचिद्द्वावृतं पिबन्तौ संभवतः। तस्माद्बुद्धिजीवौ स्यातां, जीवपरमात्मानौ वेति संशयः। किं तावत्प्राप्तं? बुद्धिक्षेत्रज्ञाविति। कुतः? 'गुहां प्रविष्टौ' इति विशेषणात्। यदि शरीरं गुहा, यदि वा हृदयं, उभयथापि बुद्धिक्षेत्रज्ञौ गुहां प्रविष्टावुपपद्येते। नच सति संभवे सर्वगतस्य ब्रह्मणो विशिष्टदेशत्वं युक्तं कल्पयितुम्। 'सुकृतस्य लोके' इति च कर्मगोचरानतिक्रमं दर्शयति। परमात्मा तु न सुकृतस्य वा दुष्टकृतस्य वा गोचरे वर्तते; 'न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' (कौ० ३/९) इति श्रुतेः। 'छायातपौ' इति च चेतनाचेतनयोर्निर्देश उपपद्यते; छायातपवत्परस्परविलक्षणत्वात्। तस्माद्बुद्धिक्षेत्रज्ञाविहोच्येयातामित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—विज्ञानात्मपरमात्मानाविहोच्येयाताम्। कस्मात्? आत्मानौ हि तावुभावपि चेतनौ समानस्वभावौ। संख्याश्रवणे च समानस्वभावेष्वेव लोके प्रतीतिर्दृश्यते। अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्य इत्युक्ते गौरेव द्वितीयोऽन्विष्यते, नाश्वः पुरुषो वा। तदिह ऋतपानेन लिङ्गेन निश्चिते विज्ञानात्मनि द्वितीयान्वेषणायां समानस्वभावश्चेतनः परमात्मैव

प्रतीयते। ननूक्तं गुहाहितत्वदर्शनान्न परमात्मा प्रत्येतव्य इति। गुहाहितत्वदर्शनादेव परमात्मा प्रत्येतव्य इति वदामः। गुहाहितत्वं तु श्रुतिस्मृतिष्वसकृत्परमात्मन एव दृश्यते—'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्' (क० १/२/१२) 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' (तै० २/१) 'आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टम्' इत्याद्यासु। सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थो देशविशेषोपदेशो न विरुध्यत इत्येतदप्युक्तमेव। सुकृतलोकवर्तित्वं तु छत्रित्ववदेकस्मिन्नपि वर्तमानमुभयोरविरुद्धम्। छायातपावित्यप्यविरुद्धम्, छायातपवत्परस्परविलक्षणत्वात्संसारित्वासंसारित्वयोः। अविद्याकृतत्वात्संसारित्वस्य, पारमार्थिकत्वाच्चासंसारित्वस्य। तस्माद्विज्ञानात्मपरमात्मानौ गुहां प्रविष्टौ गृह्येते॥ ११॥

कुतश्च विज्ञानात्मपरमात्मानौ गृह्येते—

(४३) विशेषणाच्च॥१२॥

विशेषणं च विज्ञानात्मपरमात्मनोरेव संभवति। 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु' (का० १/३/३) इत्यादिना परेण ग्रन्थेन रथिरथादिरूपककल्पनया विज्ञानात्मानं रथिनं संसारमोक्षयोर्गन्तारं कल्पयति। 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (का० १/३/९) इति च परमात्मानं गन्तव्यम् कल्पयति। तथा 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (का० १/२/१२) इति पूर्वस्मिन्नपि ग्रन्थे मन्तृमन्तव्यत्वेनैतावेव विशेषितौ प्रकरणं चेदं परमात्मनः। 'ब्रह्मविदो वदन्ति' इति च वक्तृविशेषोपादानं परमात्मपरिग्रहे घटते। तस्मादिह जीवपरमात्मानावुच्येयाताम्। एष एव न्यायः 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु० ३/१/१) इत्येवमादिष्वपि। तत्रापि ह्यध्यात्माधिकारान्न प्राकृतौ सुपर्णावुच्येते। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इत्यदनलिङ्गाद्विज्ञानात्मा भवति। 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यनशनचेतनत्वाभ्यां परमात्मा। अनन्तरे च मन्त्रे तावेव द्रष्टृद्रष्टव्यभावेन विशिनष्टि—'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः' (मु० ३/१/२) इति।

अपर आह— 'द्वा सुपर्णा' इति नेयमृगस्याधिकरणस्य सिद्धान्तं भजते;

पैङ्गिरहस्यब्राह्मणेनान्यथा व्याख्यातत्वात्। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वमनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीत्यनश्नन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ' इति। सत्त्वशब्दो जीवः, क्षेत्रज्ञशब्दः परमात्मेति यदुच्यते,—तन्न; सत्त्वक्षेत्रज्ञशब्दयोरन्तःकरणशारीरपरतया प्रसिद्धत्वात्। तत्रैव च व्याख्यातत्वात्— 'तदेतत्सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यति, अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ' इति। नाप्यस्याधिकरणस्य पूर्वपक्षं भजते। नह्यत्र शारीरः क्षेत्रज्ञः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिना संसारधर्मेणोपेतो विवक्ष्यते। कथं तर्हि ? सर्वसंसारधर्मातीतो ब्रह्मस्वभावश्चैतन्यमात्रस्वरूपः; 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति', 'अनश्नन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञः' इति वचनात्। 'तत्त्वमसि', 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' (गी० १३/२) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च। तावता च विद्योपसंहारदर्शनमेवमेवावकल्पते, 'तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ न ह वा एवंविदि किंचन रज आध्वंसते' इत्यादि। कथं पुनरस्मिन्पक्षे 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वम्' इत्यचेतने सत्त्वे भोक्तृत्ववचनमिति ? उच्यते —नेयं श्रुतिरचेतनस्य सत्त्वस्य भोक्तृत्वं वक्ष्यामीति प्रवृत्ता। किं तर्हि ? चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्याभोक्तृत्वं ब्रह्मस्वभावतां च वक्ष्यामीति। तदर्थं सुखादिविक्रियावति सत्त्वे भोक्तृत्वमध्यारोपयति। इदं हि कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरितरेतरस्वभावाविवेककृतं कल्प्यते। परमार्थतस्तु नान्यतरस्यापि संभवति; अचेतनत्वात्सत्त्वस्य, अविक्रियत्वाच्च क्षेत्रज्ञस्य। अविद्याप्रत्युपस्थापितस्वभावत्वाच्च सत्त्वस्य, सुतरां न संभवति। तथा च श्रुतिः—'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्' (बृ० ४/३/३१) इत्यादिना स्वप्नदृष्टहस्त्यादिव्यवहारवदविद्याविषय एव कर्तृत्वादिव्यवहारं दर्शयति। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४/५/१५) इत्यादिना च विवेकिनः कर्तृत्वादिव्यवहाराभावं दर्शयति॥ १२॥

(१५) अन्तराधिकरणम् ॥४॥ (सू० १३-१७)

(४४) अन्तर उपपत्तेः॥ १३॥

'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति। तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति' (छा० ४/१५/१) इत्यादि श्रूयते। तत्र संशयः,—किमयं प्रतिबिम्बात्माऽक्ष्यधिकरणो निर्दिश्यते, अथवा विज्ञा-

नात्मा, उत देवतात्मेन्द्रियस्याधिष्ठाता, अथवेश्वर इति। किं तावत्प्राप्तम्? छायात्मा पुरुषप्रतिरूप इति। कुतः? तस्य दृश्यमानत्वप्रसिद्धेः। 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इति च प्रसिद्धवदुपदेशात्। विज्ञानात्मनो वाऽयं निर्देश इति युक्तम्। स हि चक्षुषा रूपं पश्यंश्चक्षुषि संनिहितो भवति। आत्मशब्दश्चास्मिन्पक्षेऽनुकूलो भवति। आदित्यपुरुषो वा चक्षुषोऽनुग्राहकः प्रतीयते; 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः' (बृ० ५/५/२) इति श्रुतेः, अमृतत्वादीनां च देवतात्मन्यपि कथंचित्संभवात्। नेश्वरः; स्थानविशेषनिर्देशादित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वर एवाक्षिण्यभ्यन्तरः पुरुष इहोपदिष्ट इति। कस्मात्? उपपत्तेः। उपपद्यते हि परमेश्वरे गुणजातमिहोपदिश्यमानम्। आत्मत्वं तावन्मुख्यया वृत्त्या परमेश्वर उपपद्यते; 'स आत्मा तत्त्वमसि' इति श्रुतेः। अमृतत्वाभयत्वे च तस्मिन्नसकृच्छ्रुतौ श्रूयेते। तथा परमेश्वरानुरूपमेतदक्षिस्थानम्। यथा हि परमेश्वरः सर्वदोषैरलिप्तः; अपहतपाप्मत्वादिश्रवणात्; तथाऽक्षिस्थानं सर्वलेपरहितमुपदिष्टं, 'तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति' इति श्रुतेः। संयद्वामत्वादिगुणोपदेशश्च तस्मिन्नवकल्पते। 'एतं संयद्वाम इत्याचक्षते, एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति'। 'एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति'। 'एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति' (छा० ४/१५/२, ३, ४) इति च। अत उपपत्तेरन्तरः परमेश्वरः॥१३॥

(४५) स्थानादिव्यपदेशाच्च॥१४॥

कथं पुनराकाशवत्सर्वगतस्य ब्रह्मणोऽक्ष्यल्पं स्थानमुपपद्यत इति? अत्रोच्यते,—भवेदेषाऽनवक्लृप्तिः, यद्येतदेवैकं स्थानमस्य निर्दिष्टं भवेत्। सन्ति ह्यन्यान्यपि पृथिव्यादीनि स्थानान्यस्य निर्दिष्टानि—'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' (बृ० ३/७/३) इत्यादिना। तेषु हि चक्षुरपि निर्दिष्टम्—'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' इति। 'स्थानादिव्यपदेशात्' इत्यादिग्रहणेनैतद्दर्शयति—न केवलं स्थानमेवैकमनुचितं ब्रह्मणो निर्दिश्यमानं दृश्यते, किं तर्हि? नामरूपमित्येवंजातीयकमप्यनामरूपस्य ब्रह्मणोऽनुचितं निर्दिश्यमानं दृश्यते—'तस्योदिति नाम', 'हिरण्यश्मश्रुः' (छा० १/६/७, ६) इत्यादि। निर्गुणमपि सद्ब्रह्म नामरूपगतैर्गुणैः सगुणमुपासनार्थं तत्र तत्रोपदिश्यत इत्येतदप्युक्तमेव। सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थं स्थानविशेषो न विरुध्यते, शालग्राम इव विष्णोरित्येतदप्युक्तमेव॥१४॥

(४६) सुखविशिष्टाभिधानादेव च॥१५॥

अपि च नैवात्र विवदितव्यं,— किं ब्रह्मास्मिन्वाक्येऽभिधीयते न वेति। सुखविशिष्टाभिधानादेव ब्रह्मत्वं सिद्धम्। सुखविशिष्टं हि ब्रह्म यद्वाक्योपक्रमे प्रक्रान्तं 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति, तदेवेहाभिहितं; प्रकृतपरिग्रहस्य न्याय्यत्वात्। 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' (छा० ४/१४/१) इति च गतिमात्राभिधानप्रतिज्ञानात्। कथं पुनर्वाक्योपक्रमे सुखविशिष्टं ब्रह्म विज्ञायत इति? उच्यते —'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इत्येतदग्नीनां वचनं श्रुत्वोपकोसल उवाच— 'विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म, कं च तु खं च न विजानामि' इति। तत्रेदं प्रतिवचनम्— 'यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्' (छा० ४/१०/५) इति। तत्र खंशब्दो भूताकाशे निरूढो लोके। यदि तस्य विशेषणत्वेन कंशब्दः सुखवाची नोपादीयेत। तथा सति केवले भूताकाशे ब्रह्मशब्दो नामादिष्विव प्रतीकाभिप्रायेण प्रयुक्त इति प्रतीतिः स्यात्। तथा कंशब्दस्य विषयेन्द्रियसंपर्कजनिते सामये सुखे प्रसिद्धत्वात्, यदि तस्य खंशब्दो विशेषणत्वेन नोपादीयेत, लौकिकं सुखं ब्रह्मेति प्रतीतिः स्यात्। इतरेतरविशेषितौ तु कंखंशब्दौ सुखात्मकं ब्रह्म गमयतः। तत्र द्वितीये ब्रह्मशब्देऽनुपादीयमाने कं खं ब्रह्मेत्येवोच्यमाने कंशब्दस्य विशेषणत्वेनैवोपयुक्तत्वात्सुखस्य गुणस्याध्येयत्वं स्यात्, तन्मा भूदित्युभयोः कंखंशब्दयोर्ब्रह्मशब्दशिरस्त्वं 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति। इष्टं हि सुखस्यापि गुणस्य गुणिवद्ध्येयत्वम्। तदेवं वाक्योपक्रमे सुखविशिष्टं ब्रह्मोपदिष्टम्। प्रत्येकं च गार्हपत्यादयोऽग्नयः स्वं स्वं महिमानमुपदिश्य 'एषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या च' (छा० ४/१४/१) इत्युपसंहरन्तः पूर्वत्र ब्रह्म निर्दिष्टमिति ज्ञापयन्ति। 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' इति च गतिमात्राभिधानप्रतिज्ञानमर्थान्तरविवक्षां वारयति। 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' (छा० ४/१४/३) इति चाक्षिस्थानं पुरुषं विजानतः पापेनानुपघातं ब्रुवन्नक्षिस्थानस्य पुरुषस्य ब्रह्मत्वं दर्शयति। तस्मात्प्रकृतस्यैव ब्रह्मणोऽक्षिस्थानतां संयद्वामत्वादिगुणतां चोक्त्वाऽर्चिरादिकां तद्विदो गतिं वक्ष्यामीत्युपक्रमते—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच' (छा० ४/१५/१) इति॥१५॥

(४७) श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥ १६ ॥

इतश्चाक्षिस्थानः पुरुषः परमेश्वरः, यस्माच्छ्रुतोपनिषत्कस्य श्रुतरहस्यविज्ञानस्य ब्रह्मविदो या गतिर्देवयानाख्या प्रसिद्धा श्रुतौ— 'अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते' (प्र० १/१०) इति। स्मृतावपि— 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः' (गी० ८/२४) इति। सैवेहाक्षिपुरुषविदोऽभिधीयमाना दृश्यते। 'अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्ति' इत्युपक्रम्य, 'आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते (छा० ४/१५/५) इति। तदिह ब्रह्मविद्विषयया प्रसिद्धया गत्याऽक्षिस्थानस्य ब्रह्मत्वं निश्चीयते॥ १६॥

(४८) अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

यत्पुनरुक्तं — छायात्मा, विज्ञानात्मा, देवतात्मा वा स्यादक्षिस्थान इति। अत्रोच्यते,— न छायात्मादिरितर इह ग्रहणमर्हति। कस्मात्? अनवस्थितेः। न तावच्छायात्मनश्चक्षुषि नित्यमवस्थानं संभवति। यदैव हि कश्चित्पुरुषश्चक्षुरासीदति, तदा चक्षुषि पुरुषच्छाया दृश्यते, अपगते तस्मिन्न दृश्यते। 'य एषोऽक्षिणि पुरुषः' इति च श्रुतिः संनिधानात्स्वचक्षुषि दृश्यमानं पुरुषमुपास्यत्वेनोपदिशति। नचोपासनाकाले छायाकरं कंचित्पुरुषं चक्षुःसमीपे संनिधाप्योपास्त इति युक्तं कल्पयितुम्। 'अस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति' (छा० ८/९/१) इति श्रुतिश्छायात्मनोऽप्यनवस्थितत्वं दर्शयति। असंभवाच्च तस्मिन्नमृतत्वादीनां गुणानां न छायात्मनि प्रतीतिः। तथा विज्ञानात्मनोऽपि साधारणे कृत्स्नशरीरेन्द्रियसंबन्धे सति चक्षुष्येवावस्थितत्वं वक्तुं न शक्यम्। ब्रह्मणस्तु व्यापिनोऽपि दृष्ट उपलब्ध्यर्थो हृदयादिदेशविशेषसंबन्धः। समानश्च विज्ञानात्मन्यप्यमृतत्वादीनां गुणानामसंबन्धः। यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽनन्य एव, तथाप्यविद्याकामकर्मकृतं तस्मिन्मर्त्यत्वमध्यारोपितं भयं चेत्यमृतत्वाभयत्वे नोपपद्येते। संयद्वामत्वादयश्चैतस्मिन्ननैश्वर्यादनुपपन्ना एव। देवतात्मनस्तु 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः' (बृ० ५/५/२) इति श्रुतेर्यद्यपि

चक्षुष्यवस्थानं स्यात्तथाप्यात्मत्वं तावन्न संभवति; पराग्रूपत्वात्। अमृतत्वादयोऽपि न संभवन्ति; उत्पत्तिप्रलयश्रवणात्। अमरत्वमपि देवानां चिरकालावस्थानापेक्षम्। ऐश्वर्यमपि परमेश्वरायत्तं, न स्वाभाविकम्; 'भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' (तै० २/८) इति मन्त्रवर्णात्। तस्मात्परमेश्वर एवायमक्षिस्थानः प्रत्येतव्यः। अस्मिंश्च पक्षे दृश्यत इति प्रसिद्धवदुपादानं शास्त्राद्यपेक्षं विद्वद्विषयं प्ररोचनार्थमिति व्याख्येयम्॥ १७॥

(१६) अन्तर्याम्यधिकरणम्॥ ५॥ (सू० १८-२०)

(४९) अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्॥ १८॥

'य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयति' इत्युपक्रम्य श्रूयते— 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृह० ३/७/ १,२) इत्यादि। अत्राधिदैवतमधिलोकमधिवेदमधियज्ञमधिभूतमध्यात्मं च कश्चिदन्तरवस्थितो यमयिताऽन्तर्यामीति श्रूयते। स किमधिदैवाद्यभिमानी देवतात्मा कश्चित्, किंवा प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्यः कश्चिद्योगी, किंवा परमात्मा, किंवाऽर्थान्तरं किंचिदित्यपूर्वसंज्ञादर्शनात्संशयः। किं तावन्नः प्रतिभाति? संज्ञाया अप्रसिद्धत्वात्संज्ञिनाप्यप्रसिद्धेनार्थान्तरेण केनचिद्भवितव्यमिति। अथवा नानिरूपितरूपमर्थान्तरं शक्यमस्तीत्यभ्युपगन्तुम्। अन्तर्यामिशब्दश्चान्तर्यमनयोगेन प्रवृत्तो नात्यन्तमप्रसिद्धः। तस्मात्पृथिव्याद्यभिमानी कश्चिद्देवोऽन्तर्यामी स्यात्। तथा च श्रूयते— 'पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनो ज्योतिः' (बृ० ३/९/१०) इत्यादि। स च कार्यकरणवत्त्वात्पृथिव्यादीनन्तस्तिष्ठन्यमयतीति युक्तं देवतात्मनो यमयितृत्वम्। योगिनो वा कस्यचित्सिद्धस्य सर्वानुप्रवेशेन यमयितृत्वं स्यात्, न तु परमात्मा प्रतीयते, अकार्यकरणत्वादित्येवं प्राप्त इदमुच्यते—योऽन्तर्याम्यधिदैवादिषु श्रूयते, स परमात्मैव स्यान्नान्य इति। कुतः? तद्धर्मव्यपदेशात्। तस्य हि परमात्मनो धर्मा इह निर्दिश्यमाना दृश्यन्ते। पृथिव्यादि तावदधिदैवादिभेदभिन्नं समस्तं विकारजातमन्तस्तिष्ठन्यमयतीति परमात्मनो यमयितृत्वं धर्म उपपद्यते; सर्वविकारकारणत्वे सति सर्वशक्त्युपपत्तेः। 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इति चात्मत्वामृतत्वे मुख्ये परमात्मन उपपद्येते।

'यं पृथिवी न वेद' इति च पृथिवीदेवताया अविज्ञेयमन्तर्यामिणं ब्रुवन्देवतात्मनोऽन्यमन्तर्यामिणं दर्शयति। 'पृथिवी देवता ह्यहमस्मि पृथिवीत्यात्मानं विजानीयात्'। तथा 'अदृष्टोऽश्रुतः' इत्यादिव्यपदेशो रूपादिविहीनत्वात्परमात्मन उपपद्यत इति। यत्त्वकार्यकरणस्य परमात्मनो यमयितृत्वं नोपपद्यत इति। नैष दोषः। यन्नियच्छति तत्कार्यकरणैरेव तस्य कार्यकरणत्वोपपत्तेः। तस्याप्यन्यो नियन्तेत्यनवस्थादोषश्च न संभवति; भेदाभावात्। भेदे हि सत्यनवस्थादोषोपपत्तिः। तस्मात्परमात्मैवान्तर्यामी॥१८॥

(५०) नच स्मार्तमतद्धर्माभिलापात्॥१९॥

स्यादेतत् अदृष्टत्वादयो धर्माः सांख्यस्मृतिकल्पितस्य प्रधानस्याप्युपपद्यन्ते; रूपादिहीनतया तस्य तैरभ्युपगमात्। 'अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः' (मनु० १/५) इति हि स्मरन्ति, तस्यापि नियन्तृत्वं सर्वविकारकारणत्वादुपपद्यते। तस्मात्प्रधानमन्तर्यामिशब्दं स्यात्। 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० १/१/५) इत्यत्र निराकृतमपि सत्प्रधानमिहादृष्टत्वादिव्यपदेशसंभवेन पुनराशङ्क्यते। अत उत्तरमुच्यते—नच स्मार्तं प्रधानमन्तर्यामिशब्दं भवितुमर्हति। कस्मात्? अतद्धर्माभिलापात्। यद्यप्यदृष्टत्वादिव्यपदेशः प्रधानस्य संभवति, तथापि न द्रष्टृत्वादिव्यपदेशः संभवति; प्रधानस्याचेतनत्वेन तैरभ्युपगमात्। 'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता' (बृह० ३/७/२३) इति हि वाक्यशेष इह भवति। आत्मत्वमपि न प्रधानस्योपपद्यते॥१९॥

यदि प्रधानमात्मत्वद्रष्टृत्वाद्यसंभवान्नान्तर्याम्यभ्युपगम्यते, शारीरस्तर्ह्यन्तर्यामी भवतु। शारीरो हि चेतनत्वाद्द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता च भवति; आत्मा च, प्रत्यक्त्वात्। अमृतश्च, धर्माधर्मफलोपभोगोपपत्तेः। अदृष्टत्वादयश्च धर्माः शारीरे प्रसिद्धाः; दर्शनादिक्रियायाः कर्तरि प्रवृत्तिविरोधात्। 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' (बृ० ३/४/२) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। तस्य च कार्यकरणसंघातमन्तर्यमयितुं शीलं; भोक्तृत्वात्। तस्माच्छारीरोऽन्तर्यामीत्यत उत्तरं पठति—

(५१) शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते॥२०॥

नेति पूर्वसूत्रादनुवर्तते। शारीरश्च नान्तर्यामीष्यते। कस्मात्? यद्यपि द्रष्टृत्वादयो

धर्मास्तस्य संभवन्ति, तथापि घटाकाशवदुपाधिपरिच्छिन्नत्वान्न कार्त्स्न्येन पृथिव्यादिष्वन्तरवस्थातुं नियन्तुं च शक्नोति। अपि चोभयेऽपि हि शाखिनः काण्वा माध्यंदिनाश्चान्तर्यामिणो भेदेनैनं शारीरं पृथिव्यादिवदधिष्ठानत्वेन नियम्यत्वेन चाधीयते — 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' (बृ० ३/७/२२) इति काण्वाः। 'य आत्मनि तिष्ठन्' इति माध्यंदिनाः। 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यस्मिंस्तावत्पाठे भवत्यात्मशब्दः शारीरस्य वाचकः। 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' इत्यस्मिन्नपि पाठे विज्ञानशब्देन शारीर उच्यते। विज्ञानमयो हि शारीरः। तस्माच्छारीरादन्य ईश्वरोऽन्तर्यामीति सिद्धम्। कथं पुनरेकस्मिन्देहे द्वौ द्रष्टारावुपपद्येते ? यश्चायमीश्वरोऽन्तर्यामी, यश्चायमितरः शारीरः। का पुनरिहानुपपत्तिः ? 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिवचनं विरुध्येत। अत्र हि प्रकृतादन्तर्यामिणोऽन्यं द्रष्टारं, श्रोतारं, मन्तारं, विज्ञातारं चात्मानं प्रतिषेधति। नियन्त्रन्तरप्रतिषेधार्थमेतद्वचनमिति चेत्। न; नियन्त्रन्तराप्रसङ्गादविशेषश्रवणाच्च। अत्रोच्यते—अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकरणोपाधिनिमित्तोऽयं शारीरान्तर्यामिणोर्भेदव्यपदेशो न पारमार्थिकः। एको हि प्रत्यगात्मा भवति, न द्वौ प्रत्यगात्मानौ संभवतः। एकस्यैव तु भेदव्यवहार उपाधिकृतः, यथा घटाकाशो महाकाश इति। ततश्च ज्ञातृज्ञेयादिभेदश्रुतयः प्रत्यक्षादीनि च प्रमाणानि संसारानुभवो विधिप्रतिषेधशास्त्रं चेति सर्वमेतदुपपद्यते। तथा च श्रुतिः — 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' इत्यविद्याविषये सर्वं व्यवहारं दर्शयति। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इति विद्याविषये सर्वं व्यवहारं वारयति॥ २०॥

विश्रामः ॥ ५ ॥

* * * *

(१७) अदृश्यत्वाधिकरणम् ॥ ६ ॥ (सू० २१-२३)

(५२) अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥ २१ ॥

'अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते', 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्। तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' (मु० १/१/५,६) इति श्रूयते। तत्र संशयः—किमयमद्रेश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः प्रधानं स्यात्, उत शारीरः, आहोस्वित्परमेश्वर इति। तत्र प्रधानमचेतनं भूतयोनिरिति युक्तम्; अचेतनानामेव तद्दृष्टान्तत्वेनोपादानात्। 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम्' (मु० १/१/७) इति। ननूर्णनाभिः पुरुषश्च चेतनाविह दृष्टान्तत्वेनोपात्तौ। नेति ब्रूमः। नहि केवलस्य चेतनस्य तत्र सूत्रयोनित्वं केशलोमयोनित्वं चास्ति। चेतनाधिष्ठितं ह्यचेतनमूर्णनाभिशरीरं सूत्रस्य योनिः, पुरुषशरीरं च केशलोम्नामिति प्रसिद्धम्। अपि च पूर्वत्राद‍ृष्टत्वाद्यभिलापसंभवेऽपि द्रष्टृत्वाद्यभिलापासंभवान्न प्रधानमभ्युपगतम्। इह त्वदृश्यत्वादयो धर्माः प्रधाने संभवन्ति। न चात्र विरुध्यमानो धर्मः कश्चिदभिलप्यते। ननु 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु० १/१/९) इत्ययं वाक्यशेषोऽचेतने प्रधाने न संभवति, कथं प्रधानं भूतयोनिः प्रतिज्ञायत इति। अत्रोच्यते— 'यया तदक्षरमधिगम्यते', 'यत्तदद्रेश्यम्' इत्यक्षरशब्देनादृश्यत्वादिगुणकं भूतयोनिं श्रावयित्वा पुनरन्तेश्रावयिष्यति— 'अक्षरात्परतः परः' (मु० २/१/२) इति। तत्र यः परोऽक्षराच्छ्रुतः, स सर्वज्ञः सर्ववित्संभविष्यति। प्रधानमेव त्वक्षरशब्दनिर्दिष्टं भूतयोनिः। यदा तु योनिशब्दो निमित्तवाची, तदा शारीरोऽपि भूतयोनिः स्यात्, धर्माधर्माभ्यां भूतजातस्योपार्जनादिति। एवं प्राप्तेऽभिधीयते— योऽयमदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः स परमेश्वर एव स्यान्नान्य इति। कथमेतदवगम्यते? धर्मोक्तेः। परमेश्वरस्य हि धर्म इहोच्यमानो दृश्यते— 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इति। नहि प्रधानस्याचेतनस्य शारीरस्य वोपाधिपरिच्छिन्नदृष्टेः सर्वज्ञत्वं सर्ववित्त्वं वा संभवति। नन्वक्षरशब्दनिर्दिष्टाद्भूतयोनेः परस्यैवैतत्सर्वज्ञत्वं सर्ववित्त्वं च न भूतयोनिविषयमित्युक्तम्। अत्रोच्यते,—नैवं संभवति। यत्कारणं 'अक्षरात्संभवतीह विश्वम्' इति प्रकृतं भूतयोनिमिह जायमानप्रकृतित्वेन निर्दिश्यानन्तरमपि जायमानप्रकृतित्वेनैव सर्वज्ञं निर्दिशति—'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं

च जायते' इति। तस्मान्निर्देशसाम्येन प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्प्रकृतस्यैवाक्षरस्य भूतयोनेः सर्वज्ञत्वं सर्ववित्त्वं च धर्म उच्यत इति गम्यते। 'अक्षरात्परतः परः' इत्यत्रापि न प्रकृताद्भूतयोनेरक्षरात्परः कश्चिदभिधीयते। कथमेतदवगम्यते? 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' (मु० १/२/१३) इति प्रकृत्य तस्यैवाक्षरस्य भूतयोनेरदृश्यत्वादिगुणकस्य वक्तव्यत्वेन प्रतिज्ञातत्वात्। कथं तर्हि 'अक्षरात्परतः परः' इति व्यपदिश्यत इति। उत्तरसूत्रे तद्वक्ष्यामः। अपि चात्र द्वे विद्ये वेदितव्ये उक्ते— 'परा चैवापरा च' इति। तत्रापरामृग्वेदादिलक्षणां विद्यामुक्त्वा ब्रवीति— 'अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते' इत्यादि। तत्र परस्या विद्याया विषयत्वेनाक्षरं श्रुतम्। यदि पुनः परमेश्वरादन्यददृश्यत्वादिगुणकमक्षरं परिकल्प्येत, नेयं परा विद्या स्यात्। परापरविभागो ह्ययं विद्ययोरभ्युदयनिःश्रेयसफलतया परिकल्प्यते। नच प्रधानविद्या निःश्रेयसफला केनचिदभ्युपगम्यते। तिस्रश्च विद्याः प्रतिज्ञायेरन्; त्वत्पक्षेऽक्षराद्भूतयोनेः परस्य परमात्मानः प्रतिपाद्यमानत्वात्। द्वे एव तु विद्ये वेदितव्ये इह निर्दिष्टे। 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु० १/१/३) इति चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानापेक्षणं सर्वात्मके ब्रह्मणि विवक्ष्यमाणेऽवकल्प्यते, नाचेतनमात्रैकायतने प्रधाने, भोग्यव्यतिरिक्ते वा भोक्तरि। अपि च 'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह' (मु० १/१/१) इति ब्रह्मविद्यां प्राधान्येनोपक्रम्य परापरविभागेन परां विद्यामक्षराधिगमनीं दर्शयंस्तस्या ब्रह्मविद्यात्वं दर्शयति। सा च ब्रह्मविद्यासमाख्या तदधिगम्यस्याक्षरस्याब्रह्मत्वे बाधिता स्यात्। अपरर्ग्वेदादिलक्षणा कर्मविद्या ब्रह्मविद्योपक्रम उपन्यस्यते ब्रह्मविद्याप्रशंसायै। 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति' (मु० १/२/७) इत्येवमादिनिन्दावचनात्। निन्दित्वा चापरां विद्यां ततो विरक्तस्य परविद्याधिकारं दर्शयति—'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मु० १/२/१२) इति। यत्तूक्तमचेतनानां पृथिव्यादीनां दृष्टान्तत्वेनोपादानाद्दार्ष्टान्तिकेनाप्यचेतनेन भूतयोनिना भवितव्यमिति,—तदयुक्तम्; नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरत्यन्तसाम्येन भवितव्यमिति नियमोऽस्ति। अपि च स्थूलाः पृथिव्यादयो दृष्टान्तत्वेनोपात्ता इति न स्थूल एव दार्ष्टान्तिको भूतयोनिरभ्युपगम्यते। तस्माददृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः परमेश्वर एव॥२१॥

(५३) विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ॥ २२॥

इतश्च परमेश्वर एव भूतयोनिर्नेतरौ—शारीरः प्रधानं वा। कस्मात्? विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम्। विशिनष्टि हि प्रकृतं भूतयोनिं शारीराद्विलक्षणत्वेन—'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मु० २/१/२) इति। नह्येतद्दिव्यत्वादिविशेषणमविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपपरिच्छेदाभिमानिनस्तद्धर्मान्स्वात्मनि कल्पयतः शारीरस्योपपद्यते। तस्मात्साक्षादौपनिषदः पुरुष इहोच्यते। तथा प्रधानादपि प्रकृतं भूतयोनिं भेदेन व्यपदिशति— 'अक्षरात्परतः परः' इति। अक्षरमव्याकृतं नामरूपबीजशक्तिरूपं भूतसूक्ष्ममीश्वराश्रयं तस्यैवोपाधिभूतं सर्वस्माद्विकारात्परो योऽविकारस्तस्मात्परतः पर इति भेदेन व्यपदेशात्परमात्मानमिह विवक्षितं दर्शयति। नात्र प्रधानं नाम किंचित्स्वतन्त्रं तत्त्वमभ्युपगम्य तस्माद्भेदव्यदेश उच्यते। किं तर्हि? यदि प्रधानमपि कल्प्यमानं श्रुत्यविरोधेनाव्याकृतादिशब्दवाच्यं भूतसूक्ष्मं परिकल्प्येत, परिकल्प्यताम्। तस्माद्भेदव्यपदेशात्परमेश्वरो भूतयोनिरित्येतदिह प्रतिपाद्यते॥ २२॥

कुतश्च परमेश्वरो भूतयोनिः—

(५४) रूपोपन्यासाच्च॥ २३॥

अपि च 'अक्षरात्परतः परः' इत्यस्यानन्तरम् 'एतस्माज्जायते प्राणः' इति प्राणप्रभृतीनां पृथिवीपर्यन्तानां तत्त्वानां सर्गमुक्त्वा तस्यैव भूतयोनेः सर्वविकारात्मकं रूपमुपन्यस्यमानं पश्यामः— 'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा' (मु० २/१/४) इति तच्च परमेश्वरस्यैवोचितं; सर्वविकारकारणत्वात्। न शारीरस्य तनुमहिम्नः। नापि प्रधानस्यायं रूपोपन्यासः संभवति; सर्वभूतान्तरात्मत्वासंभवात्। तस्मात्परमेश्वर एव भूतयोनिर्नेतराविति गम्यते। कथं पुनर्भूतयोनेरयं रूपोपन्यास इति गम्यते? प्रकरणात्, 'एषः' इति च प्रकृतानुकर्षणात्। भूतयोनिं हि प्रकृत्य 'एतस्माज्जायते प्राणः', 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' इति वचनं भूतयोनिविषयमेव भवति। यथोपाध्यायं प्रकृत्यैतस्मादधीष्वैष वेदवेदाङ्गपारग इति वचनमुपाध्यायविषयं भवति, तद्वत्। कथं पुनरदृश्यत्वादिगुणकस्य भूतयोनेर्विग्रहवद्रूपं संभवति? सर्वात्मत्वविवक्षयेदमुच्यते, नतु विग्रहवत्त्वविवक्षयेत्यदोषः। 'अहमन्नमहमन्नादः' (तै० ३/१०/६) इत्यादिवत्।

अन्ये पुनर्मन्यन्ते—नायं भूतयोने रूपोपन्यासः; जायमानत्वेनोपन्यासात्। 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' (मु० २/१/३) इति हि पूर्वत्र प्राणादि पृथिव्यन्तं तत्त्वजातं जायमानत्वेन निरदिक्षत्। उत्तरत्रापि च 'तस्मादग्निः समिधो यश्च सूर्यः' (मु० २/१/५) इत्येवमादि 'अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च' (मु० २/१/९) इत्येवमन्तं जायमानत्वेनैव निर्देक्ष्यति। इहैव कथमकस्मादन्तराले भूतयोने रूपमुपन्यसेत्? सर्वात्मत्वमपि सृष्टिं परिसमाप्योपदेक्ष्यति— 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' (मु० २/१/१०) इत्यादिना। श्रुतिस्मृत्योश्च त्रैलोक्यशरीरस्य प्रजापतेर्जन्मादि निर्दिश्यमानमुपलभामहे— 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम' (ऋ० सं० १०/१२१/१) इति। समवर्ततेत्यजायतेत्यर्थः। तथा 'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते। आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तते' इति च। विकारपुरुषस्यापि सर्वभूतान्तरात्मत्वं संभवति; प्राणात्मना सर्वभूतानामध्यात्ममवस्थानात्। अस्मिन्पक्षे 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' इत्यादिसर्वरूपोपन्यासः परमेश्वरप्रतिपत्तिहेतुरिति व्याख्येयम्॥ २३॥

(१८) वैश्वानराधिकरणम्॥ ७॥ (सू० २४-३२)

(५५) वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्॥ २४॥

'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति, 'आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहि' (छा० ५/११/१, ६) इति चोपक्रम्य द्युसूर्यवाय्वाकाशवारिपृथिवीनां सुतेजस्त्वादिगुणयोगमेकैकोपासननिन्दया च वैश्वानरं प्रत्येषां मूर्धादिभावमुपदिश्याम्नायते—'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति। तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः' (छा० ५/१८/२) इत्यादि। तत्र संशयः—किं वैश्वानरशब्देन जाठरोऽग्निरुपदिश्यते, उत भूताग्निः, अथ तदभिमानिनी देवता, अथवा शारीरः, आहोस्वित् परमेश्वर इति। किं पुनरत्र संशयकारणम्? वैश्वानर इति जाठरभूताग्निदेवतानां साधारणशब्दप्रयोगादात्मेति च शारीरपरमेश्वरयोः। तत्र कस्योपादानं न्याय्यं, कस्य वा हानमिति

भवति संशयः। किं तावत्प्राप्तम्? जाठरोऽग्निरिति। कुतः? तत्र हि विशेषेण क्वचित्प्रयोगो दृश्यते— 'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते' (बृ० ५/९/१) इत्यादौ। अग्निमात्रं वा स्यात्; सामान्येनापि प्रयोगदर्शनात्; 'विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्' (ऋ० सं० १०/८८/१२) इत्यादौ। अग्निशरीरा वा देवता स्यात्; तस्यामपि प्रयोगदर्शनात्। 'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः' (ऋ० सं० १/९८/१) इत्येवमाद्यायाः श्रुतेर्देवतायामैश्वर्याद्युपेतायां संभवात्। अथात्मशब्दसामानाधिकरण्यादुपक्रमे च 'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति केवलात्मशब्दप्रयोगादात्मशब्दवशेन च वैश्वानरशब्दः परिणेय इत्युच्यते। तथापि शारीर आत्मा स्यात्; तस्य भोक्तृत्वेन वैश्वानरसंनिकर्षात्। प्रादेशमात्रमिति च विशेषणस्य तस्मिन्नुपाधिपरिच्छिन्ने संभवात्। तस्मान्नेश्वरो वैश्वानर इत्येवं प्राप्ते तत इदमुच्यते—वैश्वानरः परमात्मा भवितुमर्हतीति। कुतः? साधारणशब्दविशेषात्। साधारणशब्दयोर्विशेषः साधारणशब्दविशेषः। यद्यप्येतावुभावप्यात्मवैश्वानरशब्दौ साधारणशब्दौ, वैश्वानरशब्दस्तु त्रयाणां साधारणः, आत्मशब्दश्च द्वयोः, तथापि विशेषो दृश्यते, येन परमेश्वरपरत्वं तयोरभ्युपगम्यते, 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः' इत्यादि। अत्र हि परमेश्वर एव द्युमूर्धत्वादिविशिष्टोऽवस्थान्तरगतः प्रत्यगात्मत्वेनोपन्यस्त आध्यानायेति गम्यते; कारणत्वात्। कारणस्य हि सर्वाभिः कार्यगताभिरवस्थाभिरवस्थावत्त्वाद्द्युलोकाद्यवयवत्वमुपपद्यते। 'स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति' इति च सर्वलोकाद्याश्रयं फलं श्रूयमाणं परमकारणपरिग्रहे संभवति। 'एवं हाऽस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा० ५/२४/३) इति च तद्विदः सर्वपाप्मप्रदाहश्रवणम्। 'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति चात्मब्रह्मशब्दाभ्यामुपक्रम इत्येवमेतानि लिङ्गानि परमेश्वरमेवावगमयन्ति। तस्मात्परमेश्वर एव वैश्वानरः॥२४॥

(५६) स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति॥ २५॥

इतश्च परमेश्वर एव वैश्वानरः, यस्मात्परमेश्वरस्यैव 'अग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा इतीदृशं त्रैलोक्यात्मकं रूपं स्मर्यते— 'यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः। सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः॥' (महा० शा० ३७/६८) इति। एतत्स्मर्यमाणं रूपं मूलभूतां श्रुतिमनुमापयदस्य वैश्वानरशब्दस्य परमेश्वरपरत्वेऽनुमानं लिङ्गं गमकं

स्यादित्यर्थः। इतिशब्दो हेत्वर्थः। यस्मादिदं गमकं तस्मादपि वैश्वानरः परमात्मैवेत्यर्थः। यद्यपि स्तुतिरियं 'तस्मै लोकात्मने नमः' इति। स्तुतित्वमपि नासति मूलभूते वेदवाक्ये सम्यगीदृशेन रूपेण संभवति। 'द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे। दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता॥' इत्येवंजातीयका च स्मृतिरिहोदाहर्तव्या॥ २५॥

(५७) शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न, तथादृष्ट्युपदेशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते॥ २६॥

अत्राह— न परमेश्वरो वैश्वानरो भवितुमर्हति। कुतः? शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च। शब्दस्तावद्वैश्वानरशब्दो न परमेश्वरे संभवति; अर्थान्तरे रूढत्वात्। तथाऽग्निशब्दः 'स एषोऽग्निर्वैश्वानरः' इति। आदिशब्दात् 'हृदयं गार्हपत्यः' (छा० ५/१८/२) इत्याद्यग्नित्रेताप्रकल्पनम्। 'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्' (छा० ५/१९/१) इत्यादिना च प्राणाहुत्यधिकरणतासंकीर्तनम्। एतेभ्यो हेतुभ्यो जाठरो वैश्वानरः प्रत्येतव्यः। तथाऽन्तःप्रतिष्ठानमपि श्रूयते— 'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति। तच्च जाठरे संभवति। यदप्युक्तं—मूर्धैव सुतेजा इत्यादेर्विशेषात्कारणात्परमात्मा वैश्वानर इति,—अत्र ब्रूमः—कुतो ह्येष निर्णयः? यदुभयथापि विशेषप्रतिभाने सति परमेश्वरविषय एव विशेष आश्रयणीयो न जाठरविषय इति। अथवाभूताग्नेरन्तर्बहिश्चावतिष्ठमानस्यैष निर्देशो भविष्यति। तस्यापि हि द्युलोकादिसंबन्धो मन्त्रवर्णादवगम्यते— 'यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम्' (ऋ० सं० १०/८८/३) इत्यादौ। अथवा तच्छरीराया देवताया ऐश्वर्ययोगाद्द्युलोकाद्यवयवत्वं भविष्यति। तस्मान्न परमेश्वरो वैश्वानर इति।

अत्रोच्यते—न, तथादृष्ट्युपदेशादिति। न शब्दादिभ्यः कारणेभ्यः परमेश्वरस्य प्रत्याख्यानं युक्तम्। कुतः? तथा जाठरापरित्यागेन दृष्ट्युपदेशात्। परमेश्वरदृष्टिर्हि जाठरे वैश्वानर इहोपदिश्यते, 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छा० ३/१८/१) इत्यादिवत्। अथवा जाठरवैश्वानरोपाधिः परमेश्वर इह द्रष्टव्यत्वेनोपदिश्यते, 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३/१४/२) इत्यादिवत्। यदि चेह परमेश्वरो न विवक्ष्येत, केवल एव जाठरोऽग्निर्विवक्ष्येत, ततो मूर्धैव सुतेजा इत्यादेर्विशेषस्यासंभव एव स्यात्। यथा

तु देवताभूताग्निव्यपाश्रयेणाप्ययं विशेष उपपादयितुं न शक्यते, तथोत्तरसूत्रे वक्ष्यामः। यदि च केवल एव जाठरो विवक्ष्येत, पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं केवलं तस्य स्यान्न तु पुरुषत्वम्। पुरुषमपि चैनमधीयते वाजसनेयिनः— 'स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' (श० ब्रा० १०/६/१/११) इति। परमेश्वरस्य तु सर्वात्मत्वात्पुरुषत्वं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं चोभयमुपपद्यते। ये तु 'पुरुषविधमपि चैनमधीयते' इति सूत्रावयवं पठन्ति, तेषामेषोऽर्थः — केवलजाठरपरिग्रहे पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं केवलं स्यान्न पुरुषविधत्वम्। पुरुषविधमपि चैनमधीयते वाजसनेयिनः— 'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति। पुरुषविधत्वं च प्रकरणाद्यदधिदैवतं द्युमूर्धत्वादि पृथिवीप्रतिष्ठितत्वान्तं, यच्चाध्यात्मं प्रसिद्धं मूर्धत्वादि चुबुकप्रतिष्ठितत्वान्तं, तत्परिगृह्यते॥ २६॥

(५८) अत एव न देवता भूतं च॥ २७॥

यत्पुनरुक्तं भूताग्नेरपि मन्त्रवर्णे द्युलोकादिसंबन्धदर्शनान्मूर्धैव सुतेजा इत्याद्यवयवकल्पनं तस्यैव भविष्यतीति, तच्छारीराया देवताया वैश्वर्ययोगादिति, तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—अत एवोक्तेभ्यो हेतुभ्यो न देवता वैश्वानरः, तथा भूताग्निरपि न वैश्वानरः। नहि भूताग्नेरौष्ण्यप्रकाशमात्रात्मकस्य द्युमूर्धत्वादिकल्पनोपपद्यते; विकारस्य विकारान्तरात्मत्वासंभवात्। तथा देवतायाः सत्यप्यैश्वर्ययोगे न द्युमूर्धत्वादिकल्पना संभवति। अकारणत्वात्परमेश्वराधीनैश्वर्यत्वाच्च। आत्मशब्दासंभवश्च सर्वेष्वेषु पक्षेषु स्थित एव॥ २७॥

(५९) साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः॥ २८॥

पूर्वं जाठराग्निप्रतीको जाठराग्न्युपाधिको वा परमेश्वर उपास्य इत्युक्तमन्तःप्रतिष्ठितत्वाद्यनुरोधेन, इदानीं तु विनैव प्रतीकोपाधिकल्पनाभ्यां साक्षादपि परमेश्वरोपासनपरिग्रहे न कश्चिद्विरोध इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। ननु जाठराग्न्यपरिग्रहेऽन्तःप्रतिष्ठितत्ववचनं शब्दादीनि च कारणानि विरुध्येरन्निति। अत्रोच्यते— अन्तःप्रतिष्ठितत्ववचनं तावन्न विरुध्यते। न हीह पुरुषविधं 'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति जाठराग्न्यभिप्रायेणेदमुच्यते; तस्याप्रकृतत्वादसंशब्दितत्वाच्च। कथं तर्हि? यत्प्रकृतं मूर्धादिचुबुकान्तेषु पुरुषावयवेषु पुरुषविधत्वं कल्पितं, तदभिप्रायेणेद-

मुच्यते— 'पुरुषेविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति। यथा वृक्षे शाखां प्रतिष्ठितां पश्यतीति तद्वत्। अथवा यः प्रकृतः परमात्माऽध्यात्ममधिदैवतं च पुरुषविधत्वोपाधिस्तस्य यत्केवलं साक्षिरूपं तदभिप्रायेणेदमुच्यते— 'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति। निश्चिते च पूर्वापरालोचनवशेन परमात्मपरिग्रहे तद्विषय एव वैश्वानरशब्दः केनचिद्योगेन वर्तिष्यते। विश्वश्चायं नरश्चेति, विश्वेषां वाऽयं नरः, विश्वे वा नरा अस्येति विश्वानरः परमात्मा; सर्वात्मत्वात्। विश्वानर एव वैश्वानरः। तद्धितोऽनन्यार्थः, राक्षसवायसादिवत्। अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयणेन परमात्मविषय एव भविष्यति। गार्हपत्यादिकल्पनं प्राणाहुत्यधिकरणत्वं च परमात्मनोऽपि सर्वात्मत्वादुपपद्यते॥ २८॥

कथं पुनः परमेश्वरपरिग्रहे प्रादेशमात्रश्रुतिरुपपद्यत इति तां व्याख्यातुमारभते—

(६०) अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥२९॥

अतिमात्रस्यापि परमेश्वरस्य प्रादेशमात्रत्वमभिव्यक्तिनिमित्तं स्यात्। अभिव्यज्यते किल प्रादेशमात्रपरिमाणः परमेश्वर उपासकानां कृते। प्रदेशेषु वा हृदयादिषूपलब्धिस्थानेषु विशेषेणाभिव्यज्यते। अतः परमेश्वरेऽपि प्रादेशमात्रश्रुतिरभिव्यक्तेरुपपद्यत इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते॥ २९ ॥

(६१) अनुस्मृतेर्बादरिः ॥३०॥

प्रादेशमात्रहृदयप्रतिष्ठेन वाऽयं मनसाऽनुस्मर्यते, तेन प्रादेशमात्र इत्युच्यते। यथा प्रस्थमिता यवाः प्रस्था इत्युच्यन्ते, तद्वत्। यद्यपि च यवेषु स्वगतमेव परिमाणं प्रस्थसंबन्धाद्व्यज्यते। नचेह परमेश्वरगतं किंचित्परिमाणमस्ति, यद्धृदयसंबन्धाद्व्यज्यते। तथापि प्रयुक्तायाः प्रादेशमात्रश्रुतेः संभवति यथाकथंचिदनुस्मरणमालम्बनमित्युच्यते। प्रादेशमात्रत्वेन वायमप्रादेशमात्रोऽप्यनुस्मरणीयः प्रादेशमात्रश्रुत्यर्थवत्तायै। एवमनुस्मृतिनिमित्ता परमेश्वरे प्रादेशमात्रश्रुतिरिति बादरिराचार्यो मन्यते॥ ३०॥

(६२) संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति॥ ३१॥

संपत्तिनिमित्ता वा स्यात्प्रादेशमात्रश्रुतिः। कुतः? तथा हि—समानप्रकरणं वाजसनेयिब्राह्मणं द्युप्रभृतीन्पृथिवीपर्यन्तांस्त्रैलोक्यात्मनो वैश्वानरस्यावयवानध्या-

त्ममूर्धप्रभृतिषु चुबुकपर्यन्तेषु देहावयवेषु संपादयत्प्रादेशमात्रसंपत्तिं परमेश्वरस्य दर्शयति— 'प्रादेशमात्रमिव ह वै देवाः सुविदिता अभिसंपन्नास्तथा नु व एतान्वक्ष्यामि, यथा प्रादेशमात्रमेवाभिसंपादयिष्यामीति। स होवाच मूर्धानमुपदिशन्नुवाचैष वा अतिष्ठा वैश्वानर इति। चक्षुषी उपदिशन्नुवाचैष वै सुतेजा वैश्वानर इति। नासिके उपदिशन्नुवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानर इति। मुख्यमाकाशमुपदिशन्नुवाचैष वै बहुलो वैश्वानर इति। मुख्या अप उपदिशन्नुवाचैष वै रयिर्वैश्वानर इति। चुबुकमुपदिशन्नुवाचैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इति'। चुबुकमित्यधरं मुखफलकमुच्यते। यद्यपि वाजसनेयके द्यौरतिष्ठात्वगुणा समाम्नायत आदित्यश्च सुतेजस्त्वगुणः। छान्दोग्ये पुनर्द्यौः सुतेजस्त्वगुणा समाम्नायत आदित्यश्च विश्वरूपत्वगुणः। तथापि नैतावता विशेषेण किंचिद्धीयते; प्रादेशमात्रश्रुतेरविशेषात्। सर्वशाखाप्रत्ययत्वाच्च। संपत्तिनिमित्तां प्रादेशमात्रश्रुतिं युक्ततरां जैमिनिराचार्यो मन्यते॥३१॥

(६३) आमनन्ति चैनमस्मिन्॥ ३२॥

आमनन्ति चैनं परमेश्वरमस्मिन् मूर्धचुबुकान्तराले जाबालाः— 'य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति। सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति। का वै वरणा का च नासीति' (जाबाल. १) तत्र चेमामेव नासिकां वरणा नासीति निरुच्य या सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि वारयतीति सा वरणा, सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि नाशयतीति सा नासीति। पुनरामनन्ति— 'कतमच्चास्य स्थानं भवतीति। भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः संधिः स एष द्युलोकस्य परस्य च संधिर्भवतीति' (जाबा० १)। तस्मादुपपन्ना परमेश्वरे प्रादेशमात्रश्रुतिः। अभिविमानश्रुतिः प्रत्यगात्मत्वाभिप्राया। प्रत्यगात्मतया सर्वैः प्राणिभिरभिविमीयत इत्यभिविमानः। अभिगतो वाऽयं प्रत्यगात्मत्वाद्विमानश्च मानवियोगादित्यभिविमानः। अभिविमिमीते वा सर्वं जगत्कारणत्वादित्यभिविमानः। तस्मात्परमेश्वरो वैश्वानर इति सिद्धम्॥ ३२॥

इति श्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये
प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥ २॥



ॐ

प्रथमाध्याये तृतीयः पादः

(अत्रपादेऽस्पष्टब्रह्मलिङ्गानां प्रायो ज्ञेयब्रह्मविषयाणां विचारः)

(११) द्युभ्वाद्यधिकरणम् ॥ १ ॥ (सू० १-७)

(६४) द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ १ ॥

इदं श्रूयते— 'यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः' (मु० २/२/५) इति अत्र यदेतद्द्युप्रभृतीनामोतत्ववचनादायतनं किंचिदवगम्यते, तत्किं परं ब्रह्म स्यात्, आहोस्विदर्थान्तरमिति संदिह्यते। तत्रार्थान्तरं किमप्यायतनं स्यादिति प्राप्तम्। कस्मात्? 'अमृतस्यैष सेतुः' इति श्रवणात्। पारवान्हि लोके सेतुः प्रख्यातः। नच परस्य ब्रह्मणः पारवत्त्वं शक्यमभ्युपगन्तुं, 'अनन्तमपारम्' (बृ० २/४/१२) इति श्रवणात्। अर्थान्तरे चायतने परिगृह्यमाणे स्मृतिप्रसिद्धं प्रधानं परिग्रहीतव्यं; तस्य कारणत्वादायतनत्वोपपत्तेः। श्रुतिप्रसिद्धो वा वायुः स्यात्, 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति' (बृ० ३/७/२) इति वायोरपि विधारणत्वश्रवणात्। शारीरो वा स्यात्। तस्यापि भोक्तृत्वाद्भोग्यं प्रपञ्चं प्रत्यायतनत्वोपपत्तेरित्येवं प्राप्त इदमाह—द्युभ्वाद्यायतनमिति द्यौश्च भूश्च द्युभुवौ, द्युभुवावादी यस्य तदिदं द्युभ्वादि। यदेतदस्मिन्वाक्ये द्यौः पृथिव्यन्तरिक्षं मनः प्राणा इत्येवमात्मकं जगदोतत्वेन निर्दिष्टं, तस्यायतनं परं ब्रह्म भवितुमर्हति। कुतः? स्वशब्दात्, आत्मशब्दादित्यर्थः। आत्मशब्दो हीह भवति— 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति। आत्मशब्दश्च परमात्मपरिग्रहे सम्यगवकल्पते, नार्थान्तरपरिग्रहे। क्वचिच्च स्वशब्देनैव ब्रह्मण आयतनत्वं श्रूयते— 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (छा० ६/८/४) इति। स्वशब्देनैव चेह पुरस्तादुपरिष्टाच्च ब्रह्म संकीर्त्यते— 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्' इति। 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण' (मु० २/२/११) इति च। तत्र त्वायतनायतनवद्भावश्रवणात्। सर्वं ब्रह्मेति च सामानाधिकरण्यात्। यथानेकात्मको वृक्षः शाखा स्कन्धो मूलं चेत्येवं नानारसो विचित्र आत्मेत्याशङ्का संभवति,

तां निवर्तयितुं सावधारणमाह— 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति। एतदुक्तं भवति— न कार्यप्रपञ्चविशिष्टो विचित्र आत्मा विज्ञेयः। किं तर्हि? अविद्याकृतं कार्यप्रपञ्चं विद्यया प्रविलापयन्तस्तमेवैकमायतनभूतमात्मानं जानथैकरसमिति। यथा यस्मिन्नास्ते देवदत्तस्तदानयेत्युक्त आसनमेवानयति न देवदत्तम्, तद्वदायतनभूतस्यैवैकरसस्यात्मनो विज्ञेयत्वमुपदिश्यते। विकारानृताभिसन्धस्य चापवादः श्रूयते—'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति (का० २।४/११) इति। सर्वं ब्रह्मेति तु सामानाधिकरण्यं प्रपञ्चविलापनार्थं, नानेकरसताप्रतिपादनार्थम्।' 'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४/५/१३) इत्येकरसताश्रवणात्। तस्माद्द्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्म। यत्तूक्तं, सेतुश्रुतेः सेतोश्च पारवत्त्वोपपत्तेर्ब्रह्मणोऽर्थान्तरेण द्युभ्वाद्यायतनेन भवितव्यमिति। अत्रोच्यते,—विधारणत्वमात्रमत्र सेतुश्रुत्या विवक्ष्यते, न पारवत्त्वादि। नहि मृद्दारुमयो लोके सेतुर्दृष्ट इत्यत्रापि मृद्दारुमय एव सेतुरभ्युपगम्यते। सेतुशब्दार्थोऽपि विधारणत्वमात्रमेव न पारवत्त्वादि; षिञो बन्धनकर्मणः सेतुशब्दव्युत्पत्तेः। अपर आह— 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति यदेतत्संकीर्तितमात्मज्ञानं, यच्चैतत् 'अन्या वाचो विमुञ्चथ' इति वाग्विमोचनं, तदत्रामृतत्वसाधनत्वात् 'अमृतस्यैष सेतुः' इति सेतुश्रुत्या संकीर्त्यते, न तु द्युभ्वाद्यायतनम्। तत्र यदुक्तं सेतुश्रुतेर्ब्रह्मणोऽर्थान्तरेण द्युभ्वाद्यायतनेन भाव्यमित्येतदयुक्तम्॥ १॥

(६५) मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्॥ २॥

इतश्च परमेव ब्रह्म द्युभ्वाद्यायतनम्। यस्मान्मुक्तोपसृप्यताऽस्य व्यपदिश्यमाना दृश्यते। मुक्तैरुपसृप्यं मुक्तोपसृप्यम्। देहादिष्वनात्मस्वहमस्मीत्यात्मबुद्धिरविद्या, ततस्तत्पूजनादौ रागस्तत्परिभवादौ च द्वेषस्तदुच्छेददर्शनाद्भयं मोहश्चेत्येवमयमनन्तभेदोऽनर्थव्रातः संततः सर्वेषां नः प्रत्यक्षः। तद्विपर्ययेणाविद्यारागद्वेषादिदोषमुक्तैरुपसृप्यं गम्यमेतदिति द्युभ्वाद्यायतनं प्रकृत्य व्यपदेशो भवति। कथम्? 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मु० २/२/८) इत्युक्त्वा ब्रवीति— 'तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मु० ३/२/८) इति। ब्रह्मणश्च मुक्तोपसृप्यत्वं प्रसिद्धं शास्त्रे— 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' (बृ० ४/

४/७) इत्येवमादौ। प्रधानादीनां तु न क्वचिन्मुक्तोपसृप्यत्वमस्ति प्रसिद्धम्। अपि च 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः' इति वाग्विमोकपूर्वकं विज्ञेयत्वमिह द्युभ्वाद्यायतनस्योच्यते। तच्च श्रुत्यन्तरे ब्रह्मणो दृष्टम्—'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्'। (बृ० ४/४/२१) इति। तस्मादपि द्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्म॥ २॥

(६६) नानुमानमतच्छब्दात्॥ ३॥

यथा ब्रह्मणः प्रतिपादको वैशेषिको हेतुरुक्तो, नैवमर्थान्तरस्य वैशेषिको हेतुः प्रतिपादकोऽस्तीत्याह। नानुमानिकं सांख्यस्मृतिपरिकल्पितं प्रधानमिह द्युभ्वाद्यायतनत्वेन प्रतिपत्तव्यम्। कस्मात्? अतच्छब्दात्। तस्याचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः शब्दस्तच्छब्दः, न तच्छब्दोऽतच्छब्दः। न ह्यत्राचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति, येनाचेतनं प्रधानं कारणत्वेनायतनत्वेन वाऽवगम्येत। तद्विपरीतस्य चेतनस्य प्रतिपादकशब्दोऽत्रास्ति—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु० १/१/९) इत्यादिः। अत एव न वायुरपीह द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रीयते॥ ३॥

(६७) प्राणभृच्च॥ ४॥

यदपि प्राणभृतो विज्ञानात्मन आत्मत्वं चेतनत्वं च संभवति, तथाप्युपाधिपरिच्छिन्नज्ञानस्य सर्वज्ञत्वाद्यसंभवे सत्यस्मादेवातच्छब्दात्प्राणभृदपि न द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः। नचोपाधिपरिच्छिन्नस्याविभोः प्राणभृतो द्युभ्वाद्यायतनत्वमपि सम्यक्संभवति। पृथग्योगकरणमुत्तरार्थम्॥ ४॥

कुतश्च न प्राणभृद्द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः—

(६८) भेदव्यपदेशात्॥ ५॥

भेदव्यपदेशश्चेह भवति— 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति ज्ञेयज्ञातृभावेन। तत्र प्राणभृत्तावन्मुमुक्षुत्वाज्ज्ञाता, परिशेषादात्मशब्दवाच्यं ब्रह्म ज्ञेयं द्युभ्वाद्यायतनमिति गम्यते, न प्राणभृत्॥ ५॥

कुतश्च न प्राणभृद्द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः—

(६९) प्रकरणात्॥ ६॥

प्रकरणं चेदं परमात्मनः; 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'

(मु० १/१/३) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानापेक्षणात्। परमात्मनि हि सर्वात्मके विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं स्यान्न केवले प्राणभृति॥६॥

कुतश्च न प्राणभृद्द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः—

(७०) स्थित्यदनाभ्यां च॥७॥

द्युभ्वाद्यायतनं च प्रकृत्य 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु० ३/१/१) इत्यत्र स्थित्यदने निर्दिश्येते। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति कर्मफलाशनम्, 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यौदासीन्येनावस्थानं च। ताभ्यां च स्थित्यदनाभ्यामीश्वरक्षेत्रज्ञौ तत्र गृह्येते। यदि चेश्वरो द्युभ्वाद्यायतनत्वेन विवक्षितस्ततस्तस्य प्रकृतस्येश्वरस्य क्षेत्रज्ञात्पृथग्वचनमवकल्पते। अन्यथा ह्यप्रकृतवचनमाकस्मिकमसंबद्धं स्यात्। ननु तवापि क्षेत्रज्ञस्येश्वरात्पृथग्वचनमाकस्मिकमेव प्रसज्येत। न; तस्याविवक्षितत्वात्। क्षेत्रज्ञो हि कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च प्रतिशरीरं बुद्ध्याद्युपाधिसंबद्धो लोकत एव प्रसिद्धो, नासौ श्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यते। ईश्वरस्तु लोकतोऽप्रसिद्धत्वाच्छ्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यत इति न तस्याकस्मिकं वचनं युक्तम्। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि' (ब्र० १/२/११) इत्यत्राप्येतद्दर्शितं 'द्वा सुपर्णा' इत्यस्यामृचीश्वरक्षेत्रज्ञावुच्येते इति। यदापि पैङ्ग्युपनिषत्कृतेन व्याख्यानेनास्यामृचि सत्त्वक्षेत्रज्ञावुच्येते, तदापि न विरोधः कश्चित्। कथम्? प्राणभृद्धीह घटादिच्छिद्रवत्सत्त्वाद्युपाध्यभिमानित्वेन प्रतिशरीरं गृह्यमाणो द्युभ्वाद्यायतनं न भवतीति निषिध्यते। यस्तु सर्वशरीरेषूपाधिभिर्विनोपलक्ष्यते, परमात्मैव स भवति। यथा घटादिच्छिद्राणि घटादिभिरुपाधिभिर्विनोपलक्ष्यमाणानि महाकाश एव भवन्ति, तद्वत् प्राणभृतः परस्मादन्यत्वानुपपत्तेः प्रतिषेधो नोपपद्यते। तस्मात्सत्त्वाद्युपाध्यभिमानिन एव द्युभ्वाद्यायतनत्वप्रतिषेधः। तस्मात्परमेव ब्रह्म द्युभ्वाद्यायतनम्। तदेतत् 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः' (ब्र० १/२/२१) इत्यनेनैव सिद्धम्। तस्यैव हि भूतयोनिवाक्यस्य मध्य इदं पठितम् 'यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षम्' इति। प्रपञ्चार्थं तु पुनरुपन्यस्तम्॥७॥

विश्रामः॥६॥

* * * *

(२०) भूमाधिकरणम्॥२॥ (सू० ८-९)

(७१) भूमा संप्रसादादध्युपदेशात्॥८॥

इदं समामनन्ति—'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास'

(छा० ७/२३/१) इति। 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्' (छा० ७/२४/१) इत्यादि। तत्र संशयः— किं प्राणो भूमा स्यात्, आहोस्वित्परमात्मेति। कुतः संशयः? भूमेति तावद्बहुत्वमभिधीयते; 'बहोर्लोपो भू च बहोः' (पा० ६/४/१५८) इति भूम-शब्दस्य भावप्रत्ययान्ततास्मरणात्। किमात्मकं पुनस्तद्बहुत्वमिति विशेषाकाङ्क्षायां 'प्राणो वा आशाया भूयान्' (छा० ७/१५/१) इति संनिधानात्प्राणो भूमेति प्रति-भाति। तथा 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति। सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्शोकस्य पारं तारयतु' (छा० ७/१/३) इति प्रकरणोत्थानात्-परमात्मा भूमेत्यपि प्रतिभाति। तत्र कस्योपादानं न्याय्यं, कस्य वा हानमिति भवति संशयः। किं तावत्प्राप्तम्? प्राणो भूमेति। कस्मात्? भूयःप्रश्नप्रति-वचनपरम्पराऽदर्शनात्। यथा हि 'अस्ति भगवो नाम्नो भूयः' इति, 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' इति। तथा 'अस्ति भगवो वाचो भूयः' इति, 'मनो वाव वाचो भूयः' इति च नामादिभ्यो ह्याप्राणाद्भूयःप्रश्नप्रतिवचनप्रवाहः प्रवृत्तः। नैवं प्राणात्परं भूयःप्रश्नप्रतिवचनं दृश्यते—अस्ति भगवः प्राणाद्भूय इति, अदो वाव प्राणाद्भूयः इति। प्राणमेव तु नामादिभ्य आशान्तेभ्यो भूयांसं 'प्राणो वा आशाया भूयान्' इत्यादिना सप्रपञ्चमुक्त्वा प्राणदर्शिनश्चातिवादित्वम्— 'अतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत' इत्यभ्यनुज्ञाय 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति प्राणव्रतमतिवादित्वमनुकृष्यापरित्यज्यैव प्राणं सत्यादिपरम्परया भूमानमवतारयन्-प्राणमेव भूमानं मन्यत इति गम्यते। कथं पुनः प्राणे भूमनि व्याख्यामाने 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्येतद्भूम्नो लक्षणपरं वचनं व्याख्यायेतेति? उच्यते,— सुषुप्त्यव-स्थायां प्राणग्रस्तेषु करणेषु दर्शनादिव्यवहारनिवृत्तिदर्शनात्संभवति प्राणस्यापि 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्येतल्लक्षणम्। तथा च श्रुतिः 'न शृणोति न पश्यति' इत्यादिना सर्वकरणव्यापारप्रत्यस्तमयरूपां सुषुप्त्यवस्थामुक्त्वा 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति' (प्र० ४/२/३) इति तस्यामेवावस्थायां पञ्चवृत्तेः प्राणस्य जागरणं ब्रुवती प्राण-प्रधानां सुषुप्त्यवस्थां दर्शयति। यच्चैतद्भूम्नः सुखत्वं श्रुतम्—'यो वै भूमा तत्सुखम्' (छा० ७/२३/१) इति, तदप्यविरुद्धम्; 'अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ यदेतस्मिञ्-शरीरे एतत्सुखं भवति' (प्र० ४/६) इति सुषुप्त्यवस्थायामेव सुखश्रवणात्। यच्च 'यो वै भूमा तदमृतम् (छा० ७/२४/१) इति, तदपि प्राणस्याविरुद्धं; 'प्राणो

वा अमृतम्' (कौ० ३/२) इति श्रुतेः। कथं पुनः प्राणं भूमानं मन्यमानस्य 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यात्मविविदिषया प्रकरणस्योत्थानमुपपद्यते? प्राण एवेहात्मा विवक्षित इति ब्रूमः। तथा हि— 'प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः' (छा० ७/१५/१) इति प्राणमेव सर्वात्मानं करोति। 'यथा वा अरा नाभौ समर्पिता, एवमस्मिन्प्राणे सर्वं समर्पितम्' इति च सर्वात्मत्वारनाभिनिदर्शनाभ्यां च संभवति वैपुल्यात्मिका भूमरूपता प्राणस्य। तस्मात्प्राणो भूमेत्येवं प्राप्तम्।

तत इदमुच्यते,—परमात्मैवेह भूमा भवितुमर्हति, न प्राणः। कस्मात्? संप्रसादादध्युपदेशात्। संप्रसाद इति सुषुप्तं स्थानमुच्यते; सम्यक्प्रसीदत्यस्मिन्निति निर्वचनात्। बृहदारण्यके च स्वप्नजागरितस्थानाभ्यां सह पाठात्, तस्यां च संप्रसादावस्थायां प्राणो जागर्तीति प्राणोऽत्र संप्रसादोऽभिप्रेयते। प्राणादूर्ध्वं भूम्न उपदिश्यमानत्वादित्यर्थः। प्राण एव चेद्भूमा स्यात्स एव तस्मादूर्ध्वमुपदिश्येतेत्यश्लिष्टमेवैतत्स्यात्। नहि नामैव नाम्नो भूय इति नाम्न ऊर्ध्वमुपदिष्टम्। किं तर्हि? नाम्नोऽन्यदर्थान्तरमुपदिष्टं वागाख्यम्—'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' इति। तथा वागादिभ्योऽप्याप्राणादर्थान्तरमेव तत्र तत्रोर्ध्वमुपदिष्टम्, तद्वत्प्राणादूर्ध्वमुपदिश्यमानो भूमा प्राणादर्थान्तरभूतो भवितुमर्हति। नन्विह नास्ति प्रश्नः,—'अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः' इति, नापि प्रतिवचनमस्ति प्राणाद्वाव भूयोऽस्तीति, कथं प्राणादधि भूमोपदिश्यत इत्युच्यते? प्राणविषयमेव चातिवादित्वमुत्तरत्रानुकृष्यमाणं पश्यामः—'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति। तस्मान्नास्ति प्राणादध्युपदेश इति। अत्रोच्यते,—न तावत्प्राणविषयस्यैवातिवादित्वस्यैतदनुकर्षणमिति शक्यं वक्तुं; विशेषवादात् 'यः सत्येनातिवदति' इति। ननु विशेषवादोऽप्ययं प्राणविषय एव भविष्यति। कथम्? यथैषोऽग्निहोत्री यः सत्यं वदतीत्युक्ते न सत्यवदनेनाग्निहोत्रित्वं, केन तर्हि? अग्निहोत्रेणैव, तत्सत्यवदनं त्वग्निहोत्रिणो विशेष उच्यते। तथा 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इत्युक्ते न सत्यवदनेनातिवादित्वम्। केन तर्हि? प्रकृतेन प्राणविज्ञानेनैव। सत्यवदनं तु प्राणविदो विशेषो विवक्ष्यत इति। नेति ब्रूमः। श्रुत्यर्थपरित्यागप्रसङ्गात्। श्रुत्या ह्यत्र सत्यवदनेनातिवादित्वं प्रतीयते—'यः सत्येनातिवदति सोऽतिवदति' इति। नात्र प्राणविज्ञानस्य संकीर्तनमस्ति। प्रकरणात्तु प्राणविज्ञानं संबध्येत। तत्र प्रकरणानुरोधेन

श्रुतिः परित्यक्ता स्यात्। प्रकृतव्यावृत्त्यर्थश्च तुशब्दो न संगच्छते 'एष तु वा अतिवदति' इति। 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्' (छा० ७/१६/१) इति च प्रयत्नान्तर-करणमर्थान्तरविवक्षां सूचयति। तस्माद्यथैकवेदप्रशंसायां प्रकृतायामेष तु महाब्राह्मणो यश्चतुरो वेदानधीत इत्येकवेदेभ्योऽर्थान्तरभूतश्चतुर्वेदः प्रशस्यते, तादृगेतद्द्रष्टव्यम्। नच प्रश्नप्रतिवचनरूपयैवार्थान्तरविवक्षया भवितव्यमिति नियमोऽस्ति। प्रकृतसंबन्धा-संभवकारितत्वादर्थान्तरविवक्षायाः। तत्र प्राणान्तमनुशासनं श्रुत्वा तूष्णीभूतं नारदं स्वयमेव सनत्कुमारो व्युत्पादयति। यत्प्राणविज्ञानेन विकारानृतविषयेणातिवा-दित्वमनतिवादित्वमेव तत् 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति। तत्र सत्यमिति परं ब्रह्मोच्यते, परमार्थरूपत्वात्। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २/१) इति च श्रुत्यन्तरात्। तथा — व्युत्पादिताय नारदाय 'सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानि' इत्येवं प्रवृत्ताय विज्ञानादिसाधनपरम्परया भूमानमुपदिशति। तत्र यत्प्राणादधि सत्यं वक्तव्यं प्रतिज्ञातं, तदेवेह भूमेत्युच्यत इति गम्यते। तस्मादस्ति प्राणादधि भूम्न उपदेश इत्यतः प्राणादन्यः परमात्मा भूमा भवितुमर्हति। एवं चेहात्मविविदिषया प्रकरणस्यो-त्थानमुपपन्नं भविष्यति। प्राण एवेहात्मा विवक्षित इत्येतदपि नोपपद्यते। नहि प्राणस्य मुख्यया वृत्त्यात्मत्वमस्ति। नचान्यत्र परमात्मज्ञानाच्छोकविनिवृत्तिरस्ति, 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ६/१५) इति श्रुत्यन्तरात्। 'तं मा भगवाञ्शोकस्य पारं तारयतु' (छा० ७/१/३) इति चोपक्रम्योपसंहरति—'तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः' (छा० ७/२६/२) इति। तम इति शोकादिकारणम-विद्योच्यते। प्राणान्ते चानुशासने न प्राणस्यान्यायत्ततोच्येत। 'आत्मतः प्राणः' (छा० ७/२६/१) इति च ब्राह्मणम्। प्रकरणान्ते परमात्मविवक्षा भविष्यति, भूमा तु प्राण एवेति चेत्, न। 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७/२४/१) इत्यादिना भूम्न एवाप्रकरणसमाप्तेरनुकर्षणात्। वैपुल्यात्मिका च भूमरूपता सर्वकारणत्वात्परमात्मनः सुतरामुपपद्यते॥ ८॥

(७२) धर्मोपपत्तेश्च॥ ९॥

अपि च ये भूम्नि श्रूयन्ते धर्मास्ते परमात्मन्युपपद्यन्ते। 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्य-च्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' इति दर्शनादिव्यवहाराभावं भूमन्यवगमयति। परमात्मनि चायं दर्शनादिव्यवहाराभावोऽवगतः। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन

कं पश्येत्' (बृ० ४/५/१५) इत्यादिश्रुत्यन्तरात्। योऽप्यसौ सुषुप्तावस्थायां दर्शनादिव्यवहाराभाव उक्तः, सोऽप्यात्मन एवासङ्गत्वविवक्षयोक्तो, न प्राणस्वभाव-विवक्षया, परमात्मप्रकरणात्। यदपि तस्यामवस्थायां सुखमुक्तं, तदप्यात्मन एव सुखरूपत्वविवक्षयोक्तम्। यत आह—'एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृ० ४/३/३२) इति। इहापि 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्' इति सामयसुखनिराकरणेन ब्रह्मैव सुखं भूमानं दर्शयति। 'यो वै भूमा तदमृतम्' इत्यमृतत्वमपीह श्रूयमाणं परमकारणं गमयति। विकाराणाममृतत्वस्यापेक्षिकत्वात्, 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३/४/२) इति च श्रुत्य-न्तरात्। तथाच सत्यत्वं स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वं सर्वगतत्वं सर्वात्मत्वमिति चैते धर्माः श्रूयमाणाः परमात्मन्येवोपपद्यन्ते, नान्यत्र। तस्माद्भूमा परमात्मेति सिद्धम्॥ ९॥

(२१) अक्षराधिकरणम्॥ ३॥ (सू० १०-१२)

(७३) अक्षरमम्बरान्तधृतेः॥ १०॥

'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति। स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु' (बृ० ३/८/७, ८) इत्यादि श्रूयते। तत्र संशयः— किमक्षरशब्देन वर्ण उच्यते, किंवा परमेश्वर इति। तत्राक्षरसमाम्नाय इत्यादा-वक्षरशब्दस्य वर्णे प्रसिद्धत्वात्, प्रसिद्ध्यतिक्रमस्य चायुक्तत्वात्, 'ॐकार एवेदं सर्वम्' (छा० २/२३/३) इत्यादौ च श्रुत्यन्तरे वर्णस्याप्युपास्यत्वेन सर्वात्मकत्वा-वधारणात्, वर्ण एवाक्षरशब्द इति, एवं प्राप्त उच्यते—पर एवात्माऽक्षरशब्दवाच्यः। कस्मात्? अम्बरान्तधृतेः पृथिव्यादेराकाशान्तस्य विकारजातस्य धारणात्। तत्र हि पृथिव्यादेः समस्तविकारजातस्य कालत्रयविभक्तस्य 'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' इत्याकाशे प्रतिष्ठितत्वमुक्त्वा 'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च' इत्यनेन प्रश्नेनेदमक्षरमवतारितम्। तथाचोपसंहृतम्—'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' इति। नचेयमम्बरान्तधृतिर्ब्रह्मणोऽन्यत्र संभवति। यदपि 'ॐकार एवेदं सर्वम्' इति, तदपि ब्रह्मप्रतिपत्तिसाधनत्वात्स्तुत्यर्थं द्रष्टव्यम्। तस्मान्न क्षरत्यश्नुते चेति नित्यत्वव्यापित्वाभ्यामक्षरं परमेव ब्रह्म॥ १०॥

'स्यादेतत् कार्यस्य चेत्कारणाधीनत्वमम्बरान्तधृतिरभ्युपगम्यते, प्रधानकारण-वादिनोऽपीयमुपपद्यते। कथमम्बरान्तधृतेर्ब्रह्मत्वप्रतिपत्तिरिति? अत उत्तरं पठति—

(७४) सा च प्रशासनात्॥११॥

सा चाम्बरान्तधृतिः परमेश्वरस्यैव कर्म। कस्मात्? प्रशासनात्। प्रशासनं हीह श्रूयते—'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (बृ० ३/८/९) इत्यादि। प्रशासनं च पारमेश्वरं कर्म। नाचेतनस्य प्रधानस्य प्रशासनं भवति। न ह्यचेतनानां घटादिकारणानां मृदादीनां घटादिविषयं प्रशासनमस्ति॥११॥

(७५) अन्यभावव्यावृत्तेश्च॥१२॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च कारणाद्ब्रह्मैवाक्षरशब्दवाच्यम्। तस्यैवाम्बरान्तधृतिः कर्म, नान्यस्य कस्यचित्। किमिदमन्यभावव्यावृत्तेरिति। अन्यस्य भावोऽन्यभावस्तस्माद्व्यावृत्तिरन्यभावव्यावृत्तिरिति। एतदुक्तं भवति—यदन्यद्ब्रह्मणोऽक्षरशब्दवाच्यमिहाशङ्क्यते तद्भावादिदमम्बरान्तविधारणमक्षरं व्यावर्तयति श्रुतिः—'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ' (बृ० ३/८/११) इति। तत्रादृष्टत्वादिव्यपदेशः प्रधानस्यापि संभवति। द्रष्टृत्वादिव्यपदेशस्तु न संभवत्यचेतनत्वात्। तथा 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ' इत्यात्मभेदप्रतिषेधात्' न शारीरस्याप्युपाधिमतोऽक्षरशब्दवाच्यत्वम्। 'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' (बृ० ३/८/८) इति चोपाधिमत्ताप्रतिषेधात्। नहि निरुपाधिकः शारीरो नाम भवति। तस्मात्परमेव ब्रह्माक्षरमिति निश्चयः॥१२॥

(२२) ईक्षतिकर्मव्यपदेशाधिकरणम्॥४॥ (सू० १३)

(७६) ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः॥१३॥

'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति' इति प्रकृत्य श्रूयते—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' (प्र० ५/२, ५) इति। किमस्मिन्वाक्ये परं ब्रह्माभिध्यातव्यमुपदिश्यत, आहोस्विदपरमिति। एतेनैवायतनेन परमपरं चैकतरमन्वेतीति प्रकृतत्वात्संशयः। तत्रापरमिदं ब्रह्मेति प्राप्तम्। कस्मात्। 'स तेजसि सूर्ये संपन्नः' 'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्' इति च तद्विदो देशपरिच्छिन्नस्य फलस्योच्यमानत्वात्। नहि परब्रह्मविद्देशपरिच्छिन्नं फलमश्नुवीतेति युक्तम्, सर्वगतत्वात्परस्य ब्रह्मणः। नन्वपरब्रह्मपरिग्रहे परं पुरुषमिति विशेषणं नोपपद्यते। नैष दोषः। पिण्डापेक्षया प्राणस्य परत्वोपपत्तेः। इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते—परमेव ब्रह्मेहाभिध्यातव्यमुपदिश्यते। कस्मात्?

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्। ईक्षतिर्दर्शनम्। दर्शनव्याप्यमीक्षतिकर्म। ईक्षतिकर्मत्वेनास्याभिध्यातव्यस्य पुरुषस्य वाक्यशेषे व्यपदेशो भवति—'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इति। तत्राभिध्यायतेरतथाभूतमपि वस्तु कर्म भवति। मनोरथकल्पितस्याप्यभिध्यायतिकर्मत्वात्। ईक्षतेस्तु तथाभूतमेव वस्तु लोके कर्म दृष्टमित्यतः परमात्मैवायं सम्यग्दर्शनविषयभूत ईक्षतिकर्मत्वेन व्यपदिष्ट इति गम्यते। स एव चेह परपुरुषशब्दाभ्यामभिध्यातव्यः प्रत्यभिज्ञायते। नन्वभिध्याने परः पुरुष उक्तः, ईक्षणे तु परात्परः, कथमितर इतरत्र प्रत्यभिज्ञायत इति। अत्रोच्यते—परपुरुषशब्दौ तावदुभयत्र साधारणौ। नचात्र जीवघनशब्देन प्रकृतोऽभिध्यातव्यः परः पुरुषः परामृश्यते, येन तस्मात्परात्परोऽयमीक्षितव्यः पुरुषोऽन्यः स्यात्। कस्तर्हि जीवघन इति। उच्यते—घनो मूर्तिः। जीवलक्षणो घनो जीवघनः। सैन्धवखिल्यवद्यः परमात्मनो जीवरूपः खिल्यभाव उपाधिकृतः परश्च विषयेन्द्रियेभ्यः सोऽत्र जीवघन इति। अपर आह—'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्' इत्यतीतानन्तरवाक्यनिर्दिष्टो यो ब्रह्मलोकः परश्च लोकान्तरेभ्यः सोऽत्र जीवघन इत्युच्यते। जीवानां हि सर्वेषां करणपरिवृतानां सर्वकरणात्मनि हिरण्यगर्भे ब्रह्मलोकनिवासिनि संघातोपपत्तेर्भवति ब्रह्मलोको जीवघनः। तस्मात्परो यः परमात्मेक्षणकर्मभूतः स एवाभिध्यानेऽपि कर्मभूत इति गम्यते। परं पुरुषमिति च विशेषणं परमात्मपरिग्रह एवावकल्पते। परो हि पुरुषः परमात्मैव भवति, यस्मात्परं किंचिदन्यन्नास्ति, 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' इति च श्रुत्यन्तरात्। 'परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' इति च विभज्यानन्तरमोंकारेण परं पुरुषमभिध्यातव्यं ब्रुवन्परमेव ब्रह्म परं पुरुषं गमयति। 'यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुच्यते' इति पाप्मविनिर्मोकफलवचनं परमात्मानमिहाभिध्यातव्यं सूचयति। अथ यदुक्तं परमात्माभिध्यायिनो न देशपरिच्छिन्नफलं युज्यत इति। अत्रोच्यते—त्रिमात्रेणोंकारेणालम्बनेन परमात्मानमभिध्यायतः फलं ब्रह्मलोकप्राप्तिः क्रमेण च सम्यग्दर्शनोत्पत्तिरिति क्रममुक्त्यभिप्रायमेतद्भविष्यतीत्यदोषः ॥ १३ ॥

(२३) दहराधिकरणम् ॥ ५ ॥ (सू० १४-२१)

(७७) दहर उत्तरेभ्यः ॥ १४ ॥

'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्य-

दन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' (छा० ८/१/१) इत्यादिवाक्यं समाम्नायते। तत्र योऽयं दहरे हृदयपुण्डरीके दहर आकाशः श्रुतः, स किं भूताकाशोऽथवा विज्ञानात्माऽऽथवा परमात्मेति संशय्यते। कुतः संशयः ? आकाशब्रह्मपुरशब्दाभ्याम्। आकाशशब्दो ह्ययं भूताकाशे परस्मिंश्च ब्रह्मणि प्रयुज्यमानो दृश्यते। तत्र किं भूताकाश एव दहरः स्यात्किंवा पर इति संशयः। तथा ब्रह्मपुरमिति किं जीवोऽत्र ब्रह्मनामा, तस्येदं पुरं शरीरं ब्रह्मपुरम्, अथवा परस्यैव ब्रह्मणः पुरं ब्रह्मपुरमिति। तत्र जीवस्य परस्य वान्यतरस्य पुरस्वामिनो दहराकाशत्वे संशयः। तत्राकाशशब्दस्य भूताकाशे रूढत्वाद्भूताकाश एव दहरशब्द इति प्राप्तम्। तस्य च दहरायतनापेक्षया दहरत्वम्। 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इति च बाह्याभ्यन्तरभावकृतभेदस्योपमानोपमेयभावः, द्यावापृथिव्यादि च तस्मिन्नन्तः समाहितं, अवकाशात्मनाकाशस्यैकत्वात्, अथवा जीवो दहर इति प्राप्तम्, ब्रह्मपुरशब्दात्। जीवस्य हीदं पुरं सच्छरीरं ब्रह्मपुरमित्युच्यते। तस्य स्वकर्मणोपार्जितत्वात्। भक्त्या च तस्य ब्रह्मशब्दवाच्यत्वम्। नहि परस्य ब्रह्मणः शरीरेण स्वस्वामिभावः संबन्धोऽस्ति। तत्र पुरस्वामिनः पुरैकदेशेऽवस्थानं दृष्टं यथा राज्ञः। मनउपाधिकश्च जीवः, मनश्च प्रायेण हृदये प्रतिष्ठितमित्यतो जीवस्यैवेदं हृदयेऽन्तरवस्थानं स्यात्। दहरत्वमपि तस्यैव आराग्रोपमितत्वादवकल्पते। आकाशोपमितत्वादि च ब्रह्माभेदविवक्षया भविष्यति। नचात्र दहरस्याकाशस्यान्वेष्यत्वं विजिज्ञासितव्यत्वं च श्रूयते। 'तस्मिन्यदन्तः' इति परविशेषणत्वेनोपादानादिति।

अत उत्तरं ब्रूमः—परमेश्वर एवात्र दहराकाशो भवितुमर्हति न भूताकाशो जीवो वा। कस्मात्? उत्तरेभ्यो वाक्यशेषगतेभ्यो हेतुभ्यः। तथाहि—अन्वेष्टव्यतयाविहितस्य दहरस्याकाशस्य 'तं चेद्ब्रूयुः' इत्युपक्रम्य 'किं तदत्र विद्यते, यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' इत्येवमाक्षेपपूर्वकं प्रतिसमाधानवचनं भवति। 'स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (छा० ८/१/३) इत्यादि। तत्र पुण्डरीकदहरत्वेन प्राप्तदहरत्वस्याकाशस्य प्रसिद्धाकाशौपम्येन दहरत्वं निवर्तयन्भूताकाशत्वं दहरस्याकाशस्य निवर्तयतीति गम्यते। यद्यप्याकाशशब्दो भूताकाशे रूढस्तथापि तेनैव तस्योपमा नोपपद्यत इति भूताकाशशङ्का निवर्तिता भवति। नन्वेकस्याप्याकाशस्य बाह्याभ्यन्तरत्वकल्पितेन

भेदेनोपमानोपमेयभावः संभवतीत्युक्तम्। नैवं संभवति। अगतिका हीयं गतिः, यत्काल्पनिकभेदाश्रयणम्। अपिच कल्पयित्वापि भेदमुपमानोपमेयभावं वर्णयतः परिच्छिन्नत्वादाभ्यन्तराकाशस्य न बाह्याकाशपरिमाणत्वमुपपद्येत। ननु परमेश्वरस्यापि 'ज्यायानाकाशात्' (शत० ब्रा० १०/६/३/२) इति श्रुत्यन्तरान्नैवाकाशपरिमाणत्वमुपपद्यते। नैष दोषः। पुण्डरीकवेष्टनप्राप्तदहरत्वनिवृत्तिपरत्वाद्वाक्यस्य, न तावत्त्वप्रतिपादनपरत्वम्। उभयप्रतिपादने हि वाक्यं भिद्येत। नच कल्पितभेदे पुण्डरीकवेष्टित आकाशैकदेशे द्यावापृथिव्यादीनामन्तःसमाधानमुपपद्यते। 'एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इति चात्मत्वापहतपाप्मत्वादयश्च गुणा न भूताकाशे संभवन्ति। यद्यप्यात्मशब्दो जीवे संभवति, तथापीतरेभ्यः कारणेभ्यो जीवाशङ्कापि निवर्तिता भवति। नह्युपाधिपरिच्छिन्नस्याराग्रोपमितस्य जीवस्य पुण्डरीकवेष्टनकृतं दहरत्वं शक्यं निवर्तयितुम्। ब्रह्माभेदविवक्षया जीवस्य सर्वगतत्वादि विवक्ष्येतेति चेत्। यदात्मतया जीवस्य सर्वगतत्वादि विवक्ष्येत, तस्यैव ब्रह्मणः साक्षात्सर्वगतत्वादि विवक्ष्यतामिति युक्तम्। यदप्युक्तं ब्रह्मपुरमिति जीवेन परस्योपलक्षितत्वाद्राज्ञ इव जीवस्यैवेदं पुरस्वामिनः पुरैकदेशवर्तित्वमस्त्विति। अत्र ब्रूमः—परस्यैवेदं ब्रह्मणः पुरं सच्छरीरं ब्रह्मपुरमित्युच्यते, ब्रह्मशब्दस्य तस्मिन्मुख्यत्वात्। तस्याप्यस्ति पुरेणानेन संबन्धः, उपलब्ध्यधिष्ठानत्वात्। 'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' (प्र० ५/५) 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः' (बृ० २/५/१८) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अथवा जीवपुर एवास्मिन्ब्रह्म संनिहितमुपलक्ष्यते। यथा शालग्रामे विष्णुः संनिहित इति, तद्वत्। 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छा० ८/१/६) इति च कर्मणामन्तवत्फलत्वमुक्त्वा 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इति प्रकृतदहराकाशविज्ञानस्यानन्तफलत्वं वदन्परमात्मत्वमस्य सूचयति। यदप्येतदुक्तं, न दहरस्याकाशस्यान्वेष्टव्यत्वं विजिज्ञासितव्यत्वं च श्रुतं, परविशेषणत्वेनोपादानादिति, अत्र ब्रूमः—यद्याकाशो नान्वेष्टव्यव्यत्वेनोक्तः स्यात्, 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इत्याद्याकाशस्वरूपप्रदर्शनं नोपयुज्येत। नन्वेतदप्यन्तर्वर्तिवस्तुसद्भावप्रदर्शनायैव प्रदर्श्यते। 'तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' इत्या-

क्षिप्य परिहारावसर आकाशौपम्योपक्रमेण द्यावापृथिव्यादीनामन्तःसमाहितत्व-दर्शनात्। नैतदेवम्। एवं हि सति यदन्तःसमाहितं द्यावापृथिव्यादि तदन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं चोक्तं स्यात्। तत्र वाक्यशेषो नोपपद्येत। 'अस्मिन्कामाः समाहिताः' 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' इति हि प्रकृतं द्यावापृथिव्यादिसमाधानाधारमाकाशमा-कृष्य 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामान्' इति समुच्चयार्थेन चशब्देनात्मानं कामाधारमाश्रितांश्च कामान्विज्ञेयान्वाक्यशेषो दर्शयति। तस्माद्वाक्योपक्रमेऽपि दहर एवाकाशो हृदयपुण्डरीकाधिष्ठानः सहान्तःस्थैः समाहितैः पृथिव्या-दिभिः सत्यैश्च कामैर्विज्ञेय उक्त इति गम्यते। स चोक्तेभ्यो हेतुभ्यः परमेश्वर इति॥१४॥

(७८) गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च॥१५॥

दहरः परमेश्वर उत्तरेभ्यो हेतुभ्य इत्युक्तम्। त एवोत्तरे हेतव इदानीं प्रपञ्च्यन्ते। इतश्च परमेश्वर एव दहरः, यस्माद्दहरवाक्यशेषे परमेश्वरस्यैव प्रतिपादकौ गतिशब्दौ भवतः—'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' (छा० ८/३/२) इति। तत्र प्रकृतं दहरं ब्रह्मलोकशब्देनाभिधाय तद्विषया गतिः प्रजाशब्द-वाच्यानां जीवानामभिधीयमाना दहरस्य ब्रह्मतां गमयति। तथा ह्यहरहर्जीवानां सुषुप्ता-वस्थायां ब्रह्मविषयं गमनं दृष्टं श्रुत्यन्तरे—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६/८/१) इत्येवमादौ। लोकेऽपि किल गाढं सुषुप्तमाचक्षते ब्रह्मीभूतो ब्रह्मतां गत इति। तथा ब्रह्मलोकशब्दोऽपि प्रकृते दहरे प्रयुज्यमानो जीवभूताकाशशङ्कां निवर्तय-न्ब्रह्मतामस्य गमयति। ननु कमलासनलोकमपि ब्रह्मलोकशब्दो गमयेत्। गमयेद्यदि ब्रह्मणो लोक इति षष्ठीसमासवृत्त्या व्युत्पाद्येत। सामानाधिकरण्यवृत्त्या तु व्युत्पाद्य-मानो ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इति परमेव ब्रह्म गमयिष्यति। एतदेव चाहरहर्ब्रह्म-लोकगमनं दृष्टं ब्रह्मलोकशब्दस्य सामानाधिकरण्यवृत्तिपरिग्रहे लिङ्गम्। न ह्यहरहरिमाः प्रजाः कार्यब्रह्मलोकं सत्यलोकाख्यं गच्छन्तीति शक्यं कल्पयितुम्॥१५॥

(७९) धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः॥१६॥

धृतेश्च हेतोः परमेश्वर एवायं दहरः। कथम्? 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति हि प्रकृत्याकाशौपम्यपूर्वकं तस्मिन्सर्वसमाधानमुक्त्वा तस्मिन्नैव चात्मशब्दं प्रयुज्या-पहतपाप्मत्वादिगुणयोगं चोपदिश्य तमेवानतिवृत्तप्रकरणं निर्दिशति—'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय' (छा० ८/४/१) इति। विधृतिरित्यात्म-

शब्दसामानाधिकरण्याद्विधारयितोच्यते, क्तिचः कर्तरि स्मरणात्। यथोदकसंतानस्य विधारयिता लोके सेतुः क्षेत्रसंपदामसंभेदाय, एवमयमात्मैषामध्यात्मादिभेदभिन्नानां लोकानां वर्णाश्रमादीनां च विधारयिता सेतुरसंभेदायासंकरायेति। एवमिह प्रकृते दहरे विधारणलक्षणं महिमानं दर्शयति। अयं च महिमा परमेश्वर एव श्रुत्यन्तरादुपलभ्यते 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इत्यादेः। तथान्यत्रापि निश्चिते परमेश्वरवाक्ये श्रूयते—'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' इति। एवं धृतेश्च हेतोः परमेश्वर एवायं दहरः॥ १६॥

(८०) प्रसिद्धेश्च॥ १७॥

इतश्च परमेश्वर एव 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्युच्यते। यत्कारणमाकाशशब्दः परमेश्वरे प्रसिद्धः। 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' (छा० ८/१४/१), 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' (छा० १/९/१) इत्यादिप्रयोगदर्शनात्। जीवे तु न क्वचिदाकाशशब्दः प्रयुज्यमानो दृश्यते। भूताकाशस्तु सत्यामप्याकाशशब्दप्रसिद्धावुपमानोपमेयभावाद्यसंभवान्न ग्रहीतव्य इत्युक्तम्॥ १७॥

(८१) इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात्॥ १८॥

यदि वाक्यशेषबलेन दहर इति परमेश्वरः परिगृह्येतास्तीतरस्यापि जीवस्य वाक्यशेषे परामर्शः—'अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाच' (छा० ८/३/४) इति। अत्र हि संप्रसादशब्दः श्रुत्यन्तरे सुषुप्तावस्थायां दृष्टत्वात्तदवस्थावन्तं जीवं शक्नोत्युपस्थापयितुं नार्थान्तरम्। तथा शरीरव्यपाश्रयस्यैव जीवस्य शरीरात्समुत्थानं संभवति। यथाकाशव्यपाश्रयाणां वाय्वादीनामाकाशात्समुत्थानं, तद्वत्। यथा चादृष्टोऽपि लोके परमेश्वरविषय आकाशशब्दः परमेश्वरधर्मसमभिव्याहारात् 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्येवमादौ परमेश्वरविषयोऽभ्युपगतः। एवं जीवविषयोऽपि भविष्यति। तस्मादितरपरामर्शात् 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्यत्र स एव जीव उच्यत इति चेत्। नैतदेवं स्यात्। कस्मात्? असंभवात्। नहि जीवो बुद्ध्याद्युपाधिपरिच्छेदाभिमानी सन्नाकाशेनोपमीयेत। नचोपाधिधर्मानभिमन्यमानस्यापहतपाप्मत्वादयो धर्माः संभवन्ति।

प्रपञ्चितं चैतत्प्रथमसूत्रे। अतिरेकाशङ्कापरिहारायात्र तु पुनरुपन्यस्तम्। पठिष्यति चोपरिष्टात् 'अन्यार्थश्च परामर्शः' (ब्र० सू० १/३/२०) इति॥ १८॥

(८२) उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु॥ १९॥

इतरपरामर्शाद्या जीवाशङ्का जाता, साऽसंभवान्निराकृता। अथेदानीं मृतस्येवामृतसेकात्पुनः समुत्थानं जीवाशङ्कायाः क्रियते उत्तरस्मात्प्राजापत्याद्वाक्यात्। तत्रहि 'य आत्मापहतपाप्मा' इत्यपहतपाप्मत्वादिगुणकमात्मानमन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं च प्रतिज्ञाय 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा' (छा० ८/७/४) इति ब्रुवन्नक्षिस्थं द्रष्टारं जीवमात्मानं निर्दिशति। 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८/९/३) इति च तमेव पुनः पुनः परामृश्य 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मा' (छा० ८/१०/१) इति 'तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मा' इति च जीवमेवावस्थान्तरगतं व्याचष्टे। तस्यैव चापहतपाप्मत्वादि दर्शयति—'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इति। नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति, नो एवेमानि भूतानि' (छा० ८/११/१, २) इति च सुषुप्तावस्थायां दोषमुपलभ्य 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात्' इति चोपक्रम्य शरीरसंबन्धनिन्दापूर्वकं 'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, स उत्तमः पुरुषः' इति जीवमेव शरीरात्समुत्थितमुत्तमपुरुषं दर्शयति। तस्मादस्ति संभवो जीवे पारमेश्वराणां धर्माणाम्। अतः 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति जीव एवोक्त इति चेत्कश्चिद्ब्रूयात्, तं प्रति ब्रूयात्—'आविर्भूतस्वरूपस्तु' इति। तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। नोत्तरस्मादपि वाक्यादिह जीवस्याशङ्का संभवतीत्यर्थः। कस्मात्? यतस्तत्राप्याविर्भूतस्वरूपो जीवो विवक्ष्यते। आविर्भूतं स्वरूपमस्येत्याविर्भूतस्वरूपः। भूतपूर्वगत्या जीववचनम्। एतदुक्तं भवति—'य एषोऽक्षिणि' इत्यक्षिलक्षितं द्रष्टारं निर्दिश्योदशरावब्राह्मणेनैनं शरीरात्मताया व्युत्थाप्य 'एतं त्वेव ते' इति पुनःपुनस्तमेव व्याख्येयत्वेनाकृष्य स्वप्नसुषुप्तोपन्यासक्रमेण 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति यदस्य पारमार्थिकं स्वरूपं परं ब्रह्म, तद्रूपतयैनं जीवं व्याचष्टे, न जैवेन रूपेण। यत्परं ज्योतिरुपसंपत्तव्यं श्रुतं तत्परं ब्रह्म। तच्चापहतपाप्मत्वादिधर्मकं, तदेव च जीवस्य पारमार्थिकं स्वरूपं 'तत्त्वमसि' इत्यादिशास्त्रेभ्यः, नेतरदुपाधिकल्पितम्। यावदेव हि स्थाणाविव पुरुषबुद्धिं द्वैतलक्षणामविद्यां निवर्तय-

न्कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानमहं ब्रह्मास्मीति न प्रतिपद्यते, तावज्जीवस्य जीवत्वम्। यदा तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघाताद्व्युत्थाप्य श्रुत्या प्रतिबोध्यते, नासि त्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघातः, नासि संसारी, किं तर्हि तद्यत्सत्यं स आत्मा चैतन्यमात्रस्वरूपस्तत्त्वमसीति, तदा कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानं प्रतिबुध्यास्माच्छरीराद्यभिमानात्समुत्तिष्ठन्स एव कूटस्थनित्यदृक्स्वरूप आत्मा भवति। 'स यो ह वैतत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३/२/९) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तदेव चास्य पारमार्थिकं स्वरूपं, येन शरीरात्समुत्थाय स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। कथं पुनः स्वं च रूपं स्वेनैव च निष्पद्यत इति संभवति कूटस्थनित्यस्य। सुवर्णादीनां तु द्रव्यान्तरसंपर्कादभिभूतस्वरूपाणामनभिव्यक्तासाधारणविशेषाणां क्षारप्रक्षेपादिभिः शोध्यमानानां स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात्। तथा नक्षत्रादीनामहन्यभिभूतप्रकाशानामभिभावकवियोगे रात्रौ स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात्। नतु तथात्मचैतन्यज्योतिषो नित्यस्य केनचिदभिभवः संभवत्यसंसर्गित्वाद्व्योम्न इव, दृष्टविरोधाच्च। दृष्टिश्रुतिमतिविज्ञातयो हि जीवस्य स्वरूपम्। तच्च शरीरादसमुत्थितस्यापि जीवस्य सदा निष्पन्नमेव दृश्यते। सर्वो हि जीवः पश्यञ्शृण्वन्मन्वानो विज्ञानन्व्यवहरत्यन्यथा व्यवहारानुपपत्तेः। तच्चेच्छरीरात्समुत्थितस्य निष्पद्येत प्राक्समुत्थानाद्दृष्टो व्यवहारो विरुध्येत। अतः किमात्मकमिदं शरीरात्समुत्थानं, किमात्मिका वा स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिरिति। अत्रोच्यते—प्राग्विवेकविज्ञानोत्पत्तेः शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनोपाधिभिरविविक्तमिव जीवस्य दृष्ट्यादिर्ज्योतिःस्वरूपं भवति। यथा शुद्धस्य स्फटिकस्य स्वाच्छ्यं शौक्ल्यं च स्वरूपं प्राग्विवेकग्रहणाद्रक्तनीलाद्युपाधिभिरविविक्तमिव भवति। प्रमाणजनितविवेकग्रहणात्तु पराचीनः स्फटिकः स्वाच्छ्येन शौक्ल्येन च स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्युच्यते, प्रागपि तथैव सन्। तथा देहाद्युपाध्यविविक्तस्यैव सतो जीवस्य श्रुतिकृतं विवेकविज्ञानं शरीरात्समुत्थानं, विवेकविज्ञानफलं स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः केवलात्मस्वरूपावगतिः। तथा विवेकाविवेकमात्रेणैवात्मनोऽशरीरत्वं सशरीरत्वं च, मन्त्रवर्णात् 'अशरीरं शरीरेषु' (का० १/२/२२) इति, 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (गी० १३/३१) इति च सशरीरत्वाशरीरत्वविशेषाभावस्मरणात्। तस्माद्विवेकविज्ञानाभावादनाविर्भूतस्वरूपः सन्विवेकविज्ञानादाविर्भूतस्वरूप इत्युच्यते। नत्वन्यादृशावाविर्भावानाविर्भावौ स्वरूपस्य संभवतः, स्वरूपत्वादेव। एवं मिथ्याज्ञानकृत एव जीवपरमेश्वरयोर्भेदो न वस्तुकृतः, व्योमवदसङ्गत्वाविशेषात्। कुत-

श्चैतदेवं प्रतिपत्तव्यम्। यतो 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्युपदिश्य 'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इत्युपदिशति। योऽक्षिणि प्रसिद्धो द्रष्टा द्रष्टृत्वेन विभाव्यते सोऽमृताभयलक्षणाद्ब्रह्मणोऽन्यश्चेत्स्यात्ततोऽमृताभयब्रह्मसामानाधिकरण्यं न स्यात्। नापि प्रतिच्छायात्मायमक्षिलक्षितो निर्दिश्यते, प्रजापतेर्मृषावादित्वप्रसङ्गात्। तथा द्वितीयेऽपि पर्याये 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति' इति न प्रथमपर्यायनिर्दिष्टादक्षिपुरुषाद्द्रष्टुरन्यो निर्दिष्टः, 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इत्युपक्रमात्। किंचाहमद्य स्वप्ने हस्तिनमद्राक्षं नेदानीं तं पश्यामीति दृष्टमेव प्रतिबुद्धः प्रत्याचष्टे। द्रष्टारं तु तमेव प्रत्यभिजानाति य एवाहं स्वप्नमद्राक्षं स एवाहं जागरितं पश्यामीति। तथा तृतीयेऽपि पर्याये 'नहि खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि' इति सुषुप्तावस्थायां विशेषविज्ञानाभावमेव दर्शयति, न विज्ञातारं प्रतिषेधति। यत्तु तत्र 'विनाशमेवापीतो भवति' इति तदपि विशेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेव न विज्ञातृविनाशाभिप्रायम्। 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' (बृ० ४/३/३०) इति श्रुत्यन्तरात्। तथा चतुर्थेऽपि पर्याये 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात्' इत्युपक्रम्य 'मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरम्' इत्यादिना प्रपञ्चेन शरीराद्युपाधिसंबन्धप्रत्याख्यानेन संप्रसादशब्दोदितं जीवं 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति ब्रह्मस्वरूपापन्नं दर्शयन्न परस्माद्ब्रह्मणोऽमृताभयस्वरूपादन्यं जीवं दर्शयति।

केचित्तु परमात्मविवक्षायां 'एतं त्वेव ते' इति जीवाकर्षणमन्याय्यं मन्यमाना एतमेव वाक्योपक्रमसूचितमपहतपाप्मत्वादिगुणकमात्मानं ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामीति कल्पयन्ति। तेषामेतमिति संनिहितावलम्बिनी सर्वनामश्रुतिर्विप्रकृष्येत। भूयश्रुतिश्चोपरुध्येत, पर्यायान्तराभिहितस्य पर्यायान्तरेऽनभिधीयमानत्वात्। 'एतं त्वेव ते' इति च प्रतिज्ञाय प्राक्चतुर्थात्पर्यायादन्यमन्यं व्याचक्षाणस्य प्रजापतेः प्रतारकत्वं प्रसज्येत। तस्माद्यदविद्याप्रत्युपस्थापितमपारमार्थिकं जैवं रूपं कर्तृभोक्तृरागद्वेषादिदोषकलुषितमनेकानर्थयोगि तद्विलयनेन तद्विपरीतमपहतपाप्मत्वादिगुणकं पारमेश्वरं स्वरूपं विद्यया प्रतिपाद्यते, सर्पादि-विलयनेनेव रज्ज्वादीन्।

अपरे तु वादिनः पारमार्थिकमेव जैवं रूपमिति मन्यन्तेऽस्मदीयाश्च केचित्। तेषां सर्वेषामात्मैकत्वसम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानां प्रतिषेधायेदं शारीरकमारब्धम्।

एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते नान्यो विज्ञानधातुरस्तीति। यत्त्विदं परमेश्वरवाक्ये जीवमाशङ्क्य प्रतिषेधति सूत्रकारः—'नासंभवात्' (ब्र० सू० १/३/१८) इत्यादिना। तत्राय-मभिप्रायः—नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे कूटस्थनित्ये एकस्मिन्नसङ्गे परमात्मनि तद्विपरीतं जैवं रूपं व्योम्नीव तलमलादि परिकल्पितम्। तदात्मैकत्वप्रतिपादन-परैर्वाक्यैर्न्यायोपेतैर्द्वैतवादप्रतिषेधैश्चापनेष्यामीति परमात्मनो जीवादन्यत्वं द्रढयति। जीवस्य तु न परस्मादन्यत्वं प्रतिपिपादयिषति, किं त्वनुवदत्येवाविद्याकल्पितं लोक-प्रसिद्धं जीवभेदम्। एवं हि स्वाभाविककर्तृत्वभोक्तृत्वानुवादेन प्रवृत्ताः कर्मविधयो न विरुध्यन्त इति मन्यते। प्रतिपाद्यं तु शास्त्रार्थमात्मैकत्वमेव दर्शयति—'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' (ब्र० सू० १/१/३०) इत्यादिना। वर्णितश्चास्माभिर्विद्वद-विद्वद्भेदेन कर्मविधिविरोधपरिहारः॥१९॥

(८३) अन्यार्थश्च परामर्शः॥२०॥

अथ यो दहरवाक्यशेषे जीवपरामर्शो दर्शितः—'अथ य एष संप्रसादः' (छा० ८/३/४) इत्यादिः, स दहरे परमेश्वरे व्याख्यायमाने न जीवोपास-नोपदेशो न प्रकृतविशेषोपदेश इत्यनर्थकत्वं प्राप्नोतीति। अत आह—अन्यार्थोऽयं जीवपरामर्शो न जीवस्वरूपपर्यवसायी, किं तर्हि? परमेश्वरस्वरूपपर्यवसायी। कथम्? संप्रसादशब्दोदितो जीवो जागरितव्यवहारे देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षो भूत्वा तद्वासना-निर्मितांश्च स्वप्नान्नाडीचरोऽनुभूय श्रान्तः शरणं प्रेप्सुरुभयरूपादपि शरीराभिमा-नात्समुत्थाय सुषुप्तावस्थायां परं ज्योतिराकाशशब्दितं परं ब्रह्मोपसंपद्य विशेषविज्ञा-नवत्त्वं च परित्यज्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। यदस्योपसंपत्तव्यं परं ज्योतिर्येन स्वेन रूपेणायमभिनिष्पद्यते स एष आत्माऽपहतपाप्मत्वादिगुण उपास्य इत्येवमर्थोऽयं जीवपरामर्शः परमेश्वरवादिनोऽप्युपपद्यते॥२०॥

(८४) अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम्॥२१॥

यदप्युक्तम्, 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्याकाशस्याल्पत्वं श्रूयमाणं परमेश्वरे नोपपद्यते, जीवस्य त्वाराग्रोपमितस्याल्पत्वमवकल्पत इति; तस्य परिहारो वक्तव्यः। उक्तो ह्यस्य परिहारः परमेश्वरस्यापेक्षिकमल्पत्वमवकल्पत इति 'अर्भकौकस्त्वात्तद्-

व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च' (ब्र० सू० १/२/७) इत्यत्र। स एवेह परिहारोऽनुसंधातव्य इति सूचयति। श्रुत्यैव चेदमल्पत्वं प्रत्युक्तं प्रसिद्धेनाकाशेनोपमिमानया 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इति॥ २१॥

विश्रामः॥ ७॥

* * * *

(२४) अनुकृत्यधिकरणम्॥ ६॥ (सू० २२-२३)

(८५) अनुकृतेस्तस्य च॥ २२॥

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मु० २/२/१०) इति समामनन्ति। यत्र यं भान्तमनुभाति सर्वं यस्य च भासा सर्वमिदं विभाति स किं तेजोधातुः कश्चिदुत प्राज्ञ आत्मेति विचिकित्सायां तेजोधातुरिति तावत्प्राप्तम्। कुतः? तेजोधातूनामेव सूर्यादीनां भानप्रतिषेधात्। तेजःस्वभावकं हि चन्द्रतारकादि तेजःस्वभावक एव सूर्ये भासमानेऽहनि न भासत इति प्रसिद्धम्। तथा सह सूर्येण सर्वमिदं चन्द्रतारकादि यस्मिन्न भासते सोऽपि तेजःस्वभाव एव कश्चिदित्यवगम्यते। अनुभानमपि तेजःस्वभावक एवोपपद्यते, समानस्वभावकेष्वनुकारदर्शनात्। गच्छन्तमनुगच्छतीतिवत्। तस्मात्तेजोधातुः कश्चिदित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—प्राज्ञ एवायमात्मा भवितुमर्हति। कस्मात्? अनुकृतेः। अनुकरणमनुकृतिः। यदेतत् 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इत्यनुभानं, तत्प्राज्ञपरिग्रहेऽवकल्पते। 'भारूपः सत्यसंकल्पः' (छा० ३/१४/२) इति हि प्राज्ञमात्मानमामनन्ति। न तु तेजोधातुं कंचित्सूर्यादयोऽनुभान्तीति प्रसिद्धम्। समत्वाच्च तेजोधातूनां सूर्यादीनां न तेजोधातुमन्यं प्रत्यपेक्षास्ति यं भान्तमनुभायुः। नहि प्रदीपः प्रदीपान्तरमनुभाति। यदप्युक्तं समानस्वभावकेष्वनुकारो दृश्यत इति। नायमेकान्तो नियमः। भिन्नस्वभावकेष्वपि ह्यनुकारो दृश्यते। यथा सुतप्तोऽयःपिण्डोऽग्न्यनुकृतिरग्निं दहन्तमनुदहति, भौमं वा रजो वायुं वहन्तमनुवहतीति। अनुकृतेरित्यनुभानमसूसुचत्। तस्य चेति चतुर्थं पादमस्य श्लोकस्य सूचयति। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति, तद्धेतुकं भानं सूर्यादेरुच्यमानं प्राज्ञमात्मानं गमयति। 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' (बृ० ४/४/१६)

इति हि प्राज्ञमात्मानमामनन्ति। तेजोऽन्तरेण सूर्यादितेजो विभातीत्यप्रसिद्धं विरुद्धं च, तेजोऽन्तरेण तेजोऽन्तरस्य प्रतिघातात्। अथवा न सूर्यादीनामेव श्लोकपरिपठितानामिदं तद्धेतुकं विभानमुच्यते। किं तर्हि? 'सर्वमिदम्' इत्यविशेषश्रुतेः सर्वस्यैवास्य नामरूपक्रियाकारकफलजातस्य याऽभिव्यक्तिः सा ब्रह्मज्योतिःसत्तानिमित्ता। यथा सूर्यादिज्योतिःसत्तानिमित्ता सर्वस्य रूपजातस्याभिव्यक्तिस्तद्वत्। 'न तत्र सूर्यो भाति' इति च तत्रशब्दमाहरत्प्रकृतग्रहणं दर्शयति। प्रकृतं च ब्रह्म 'यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्' (मु० २/२/५) इत्यादिना। अनन्तरं च 'हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः' इति। कथं तज्ज्योतिषां ज्योतिरित्यत इदमुत्थितम्—'न तत्र सूर्यो भाति' इति। यदप्युक्तं सूर्यादीनां तेजसां भानप्रतिषेधस्तेजोधातावेवान्यस्मिन्नवकल्पते सूर्य इवेतरेषामिति। तत्र तु स एव तेजोधातुरन्यो न संभवतीत्युपपादितम्। ब्रह्मण्यपि चैषां भानप्रतिषेधोऽवकल्पते। यतो यदुपलभ्यते तत्सर्वं ब्रह्मणैव ज्योतिषोपलभ्यते, ब्रह्म तु नान्येन ज्योतिषोपलभ्यते स्वयं ज्योतिःस्वरूपत्वात्, येन सूर्यादयस्तस्मिन्भायुः। ब्रह्म ह्यन्यद्व्यनक्ति नतु ब्रह्मान्येन व्यज्यते। 'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते' (बृ० ४/३/६), 'अगृह्यो नहि गृह्यते' (बृ० ४/२/४) इत्यादिश्रुतिभ्यः॥२२॥

(८६) अपिच स्मर्यते॥२३॥

अपिचेदृग्रूपत्वं प्राज्ञस्यैवात्मनः स्मर्यते भगवद्गीतासु—'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' (गी० १५/६) इति, 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्' (गी० १५/१२) इति च॥२३॥

(२५) प्रमिताधिकरणम्॥७॥ (सू० २४-२५)

(८७) शब्दादेव प्रमितः॥२४॥

'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' इति श्रूयते। तथा 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व एतद्वै तत्' (का० २/४/१३) इति च। तत्र योऽयमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः श्रूयते, स किं विज्ञानात्मा, किंवा परमात्मेति संशयः। तत्र परिमाणोपदेशात्तावद्विज्ञानात्मेति प्राप्तम्। नह्यनन्ता-

यामविस्तारस्य परमात्मनोऽङ्गुष्ठपरिमाणमुपपद्यते। विज्ञानात्मनस्तूपाधिमत्त्वात्संभवति कयाचित्कल्पनयाङ्गुष्ठमात्रत्वम्। स्मृतेश्च—'अथ सत्यवतः कायात्पाशबद्धं वशं गतम्। अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्॥' (म० भा० ३/२९७/१७) इति। नहि परमेश्वरो बलाद्यमेन निष्क्रष्टुं शक्यस्तेन तत्र संसार्यङ्गुष्ठमात्रो निश्चितः, स एवेहापीत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—परमात्मैवायमङ्गुष्ठमात्रपरिमितः पुरुषो भवितुमर्हति। कस्मात्? शब्दात्, 'ईशानो भूतभव्यस्य' इति। नह्यन्यः परमेश्वराद्भूतभव्यस्य निरङ्कुशमीशिता। 'एतद्वै तत्' इति च प्रकृतं पृष्टमिहानुसंदधाति। एतद्वै तद्यत्पृष्टं ब्रह्मेत्यर्थः। पृष्टं चेह ब्रह्म 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद' (का० १/२/१४) इति शब्दादेवेत्यभिधानश्रुतेरेवेशान इति परमेश्वरोऽयं गम्यत इत्यर्थः॥ २४॥

कथं पुनः सर्वगतस्य परमात्मनः परिमाणोपदेश इत्यत्र ब्रूमः—

(८८) हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्॥ २५॥

सर्वगतस्यापि परमात्मनो हृदयेऽवस्थानमपेक्ष्याङ्गुष्ठमात्रत्वमिदमुच्यते। आकाशस्येव वंशपर्वापेक्षमरत्निमात्रत्वम्। न ह्यञ्जसातिमात्रस्यैव परमात्मनोऽङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपद्यते। न चान्यः परमात्मन इह ग्रहणमर्हतीशानशब्दादिभ्य इत्युक्तम्। ननु प्रतिप्राणिभेदं हृदयानामनवस्थितत्वात्तदपेक्षमप्यङ्गुष्ठमात्रत्वं नोपपद्यत इत्यत उत्तरमुच्यते—मनुष्याधिकारत्वादिति। शास्त्रं ह्यविशेषप्रवृत्तमपि मनुष्यानेवाधिकरोति, शक्तत्वादर्थित्वादपर्युदस्तत्वादुपनयनादिशास्त्राच्चेति वर्णितमेतदधिकारलक्षणे (जै० ६/ १)। मनुष्याणां च नियतपरिमाणः कायः। औचित्येन नियतपरिमाणमेव चैषामङ्गुष्ठमात्रं हृदयम्। अतो मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य मनुष्यहृदयावस्थानापेक्षमङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपन्नं परमात्मनः। यदप्युक्तं परिमाणोपदेशात्स्मृतेश्च संसार्येवायमङ्गुष्ठमात्रः प्रत्येतव्य इति, तत्प्रत्युच्यते—'स आत्मा तत्त्वमसि' इत्यादिवत्संसारिण एव सतोऽङ्गुष्ठमात्रस्य ब्रह्मत्वमिदमुपदिश्यत इति। द्विरूपा हि वेदान्तवाक्यानां प्रवृत्तिः, क्वचित्परमात्मस्वरूपनिरूपणपरा क्वचिद्विज्ञानात्मनः परमात्मैकत्वोपदेशपरा। तदत्र विज्ञानात्मनः परमात्मनैकत्वमुपदिश्यते, नाङ्गुष्ठमात्रत्वं कस्यचित्। एवमेवार्थं परेण स्फुटीकरिष्यति—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषिकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतम्' (का० २/६/१७) इति॥ २५॥

(२६) देवताधिकरणम् ॥ ८ ॥ (सू० २६-३३)

(८९) तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् ॥ २६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रश्रुतिर्मनुष्यहृदयापेक्षया मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्येत्युक्तं, तत्प्रसङ्गेनेदमुच्यते। बाढं मनुष्यानधिकरोति शास्त्रम्। नतु मनुष्यानेवेतीह ब्रह्मज्ञाने नियमोऽस्ति। तेषां मनुष्याणामुपरिष्टाद्ये देवादयस्तानप्यधिकरोति शास्त्रमिति बादरायण आचार्यो मन्यते। कस्मात्? संभवात्। संभवति हि तेषामप्यर्थित्वाद्यधिकारकारणम्। तत्रार्थित्वं तावन्मोक्षविषयं देवादीनामपि संभवति विकारविषयविभूत्यनित्यत्वालोचनादिनिमित्तम्। तथा सामर्थ्यमपि तेषां संभवति, मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमात्। नच तेषां कश्चित्प्रतिषेधोऽस्ति। नचोपनयनशास्त्रेणैषामधिकारो निवर्त्येत, उपनयनस्य वेदाध्ययनार्थत्वात्। तेषां च स्वयंप्रतिभातवेदत्वात्। अपि चैषां विद्याग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यादि दर्शयति—'एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास' (छा० ८/११/३), 'भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्म' (तै० ३/१) इत्यादि। यदपि कर्मस्वनधिकारकारणमुक्तम्—'न देवानां देवतान्तराभावात्' इति, 'न ऋषीणामार्षेयान्तराभावात्' (जै० ६/१/६, ७) इति। न तद्विद्यास्वस्ति। नहीन्द्रादीनां विद्यास्वधिक्रियमाणानामिन्द्राद्युद्देशेन किंचित्कृत्यमस्ति। नच भृग्वादीनां भृग्वादिसगोत्रतया। तस्माद्देवादीनामपि विद्यास्वधिकारः केन वार्यते। देवाद्यधिकारेऽप्यङ्गुष्ठमात्रश्रुतिः स्वाङ्गुष्ठापेक्षया न विरुध्यते॥ २६ ॥

(९०) विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ २७ ॥

स्यादेतत्, यदि विग्रहवत्त्वाद्यभ्युपगमेन देवादीनां विद्यास्वधिकारो वर्ण्येत, विग्रहवत्त्वादृत्विगादिवदिन्द्रादीनामपि स्वरूपसंनिधानेन कर्माङ्गभावोऽभ्युपगम्येत। तदा च विरोधः कर्मणि स्यात्। नहीन्द्रादीनां स्वरूपसंनिधानेन यागेऽङ्गभावो दृश्यते। नच संभवति, बहुषु यागेषु युगपदेकस्येन्द्रस्य स्वरूपसंनिधानतानुपपत्तेरिति चेत्। नायमस्ति विरोधः। कस्मात्? अनेकप्रतिपत्तेः। एकस्यापि देवतात्मनो युगपदनेकस्वरूपप्रतिपत्तिः संभवति। कथमेतदवगम्यते? दर्शनात्। तथा हि—'कति देवाः' इत्युपक्रम्य 'त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा' इति निरुच्य 'कतमे ते' इत्यस्यां पृच्छायाम् 'महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाः' (बृ० ३/९/

१,२) इति निर्ब्रुवती श्रुतिरेकैकस्य देवतात्मनो युगपदनेकरूपतां दर्शयति। तथा त्रयस्त्रिंशतोऽपि षडाद्यन्तर्भावक्रमेण 'कतम एको देव इति प्राणः' इति प्राणैकरूपतां देवानां दर्शयन्ती तस्यैवेकस्य प्राणस्य युगपदनेकरूपतां दर्शयति। तथा स्मृतिरपि—'आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ॥ योगी कुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्॥ प्राप्नुयाद्विषयान्कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्॥ संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव॥' (वायु० पु० ५/१४८,१४९) इत्येवंजातीयका प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां योगिनामपि युगपदेनकशरीरयोगं दर्शयति। किमु वक्तव्यमाजानसिद्धानां देवानाम्। अनेकरूपप्रतिपत्तिसंभवाच्चैकैका देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु यागेषु युगपदङ्गभावं गच्छतीति। परैश्च न दृश्यतेऽन्तर्धानादिक्रियायोगादित्युपपद्यते। अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनादित्यस्यापरा व्याख्या—विग्रहवतामपि कर्माङ्गभावचोदनास्वनेका प्रतिपत्तिर्दृश्यते। क्वचिदेकोऽपि विग्रहवाननेकत्र युगपदङ्गभावं न गच्छति, यथा बहुभिर्भोजयद्भिर्नैको ब्राह्मणो युगपद्भोज्यते। क्वचिच्चैकोऽपि विग्रहवाननेकत्र युगपदङ्गभावं गच्छति, यथा बहुभिर्नमस्कुर्वाणैरेको ब्राह्मणो युगपन्नमस्क्रियते। तद्वदिहोद्देश्यपरित्यागात्मकत्वाद्यागस्य विग्रहवतीमप्येकां देवतामुद्दिश्य बहवः स्वं स्वं द्रव्यं युगपत्परित्यक्ष्यन्तीति विग्रहवत्त्वेऽपि देवानां न किंचित्कर्मणि विरुध्यते॥२७॥

(९१) शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्॥२८॥

मा नाम विग्रहवत्त्वे देवादीनामभ्युपगम्यमाने कर्मणि कश्चिद्विरोधः प्रसञ्जि। शब्दे तु विरोधः प्रसज्येत। कथम्? औत्पत्तिकं हि शब्दस्यार्थेन संबन्धमाश्रित्य 'अनपेक्षत्वात्' इति वेदस्य प्रामाण्यं स्थापितम्। इदानीं तु विग्रहवती देवताऽभ्युपगम्यमाना यद्यप्यैश्वर्ययोगाद्युगपदनेककर्मसंबन्धीनि हवींषि भुञ्जीत, तथापि विग्रहयोगादस्मदादिवज्जननमरणवती सेति नित्यस्य शब्दस्य नित्येनार्थेन नित्ये संबन्धे प्रतीयमाने यद्वैदिके शब्दे प्रामाण्यं स्थितं, तस्य विरोधः स्यादिति चेत्, नायमप्यस्ति विरोधः। कस्मात्? अतः प्रभवात्। अत एव हि वैदिकाच्छब्दाद्देवादिकं जगत्प्रभवति।

ननु 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १/१/२) इत्यत्र ब्रह्मप्रभवत्वं जगतोऽवधारितं, कथमिह शब्दप्रभवत्वमुच्यते। अपि च यदि नाम वैदिकाच्छब्दादस्य प्रभवोऽभ्युपगतः, कथमेतावता विरोधः शब्दे परिहृतः, यावता वसवो, रुद्रा, आदित्या, विश्वेदेवा, मरुत इत्येतेऽर्था अनित्या एवोत्पत्तिमत्त्वात्। तदनित्यत्वे च तद्वाचिनां

वैदिकानां वस्वादिशब्दानामनित्यत्वं केन निवार्यते? प्रसिद्धं हि लोके देवदत्तस्य पुत्र उत्पन्ने यज्ञदत्त इति तस्य नाम क्रियत इति। तस्माद्विरोध एव शब्द इति चेत्, न; गवादिशब्दार्थसंबन्धनित्यत्वदर्शनात्। न हि गवादिव्यक्तीनामुत्पत्तिमत्त्वे तदाकृतीनामप्युत्पत्तिमत्त्वं स्यात्। द्रव्यगुणकर्मणां हि व्यक्तय एवोत्पद्यन्ते, नाकृतयः। आकृतिभिश्च शब्दानां संबन्धः, न व्यक्तिभिः, व्यक्तीनामानन्त्यात्संबन्धग्रहणानुपपत्तेः। व्यक्तिषूत्पद्यमानास्वप्याकृतीनां नित्यत्वान्न गवादिशब्देषु कश्चिद्विरोधो दृश्यते। तथा देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपगमेऽप्याकृतिनित्यत्वान्न कश्चिद्वस्वादिशब्देषु विरोध इति द्रष्टव्यम्। आकृतिविशेषस्तु देवादीनां मन्त्रार्थवादादिभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमादवगन्तव्यः। स्थानविशेषसंबन्धनिमित्ताश्चेन्द्रादिशब्दाः सेनापत्यादिशब्दवत्। ततश्च यो यस्तत्तत्स्थानमधिरोहति स स इन्द्रादिशब्दैरभिधीयत इति न दोषो भवति। न चेदं शब्दप्रभवत्वं ब्रह्मप्रभवत्ववदुपादानकारणाभिप्रायेणोच्यते। कथं तर्हि? स्थिते वाचकात्मना नित्ये शब्दे नित्यार्थसंबन्धिनि शब्दव्यवहारयोग्यार्थव्यक्तिनिष्पत्तिः। 'अतः प्रभवः' इत्युच्यते। कथं पुनरवगम्यते शब्दात्प्रभवति जगदिति? प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। प्रत्यक्षं श्रुतिः, प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात्। अनुमानं स्मृतिः, प्रामाण्यं प्रति सापेक्षत्वात्। ते हि शब्दपूर्वां सृष्टिं दर्शयतः। 'एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄँस्तिरःपवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः' इति श्रुतिः। तथाऽन्यत्रापि 'स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्' (बृ० १/२/४) इत्यादिना तत्र तत्र शब्दपूर्विका सृष्टिः श्राव्यते। स्मृतिरपि— 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥' इति। उत्सर्गोऽप्ययं वाचः संप्रदायप्रवर्तनात्मको द्रष्टव्यः; अनादिनिधनाया अन्यादृशस्योत्सर्गस्यासंभवात्। तथा 'नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः॥' (मनु० १/२१) इति। 'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥' इति च। अपिच चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठंस्तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात्तमर्थमनुतिष्ठतीति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत्। तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दा मनसि प्रादुर्बभूवुः, पश्चात्तदनुगतानर्थान्ससर्जेति गम्यते। तथा च श्रुतिः— 'स भूरिति व्याहरन्स भूमिमसृजत' (तै० ब्रा० २/२/४/२) इत्येवमादिका भूरादिशब्देभ्य एव मनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूरादिलोकान्सृष्टान्दर्शयति।

किमात्मकं पुनः शब्दमभिप्रेत्येदं शब्दप्रभवत्वमुच्यते? स्फोटमित्याह। वर्णपक्षे हि तेषामुत्पन्नप्रध्वंसित्वान्नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यनुपपन्नं स्यात्। उत्पन्नध्वंसिनश्च वर्णाः, प्रत्युच्चारणमन्यथा चान्यथा च प्रतीयमानत्वात्। तथा हि—अदृश्यमानोऽपि पुरुषविशेषोऽध्ययनध्वनिश्रवणादेव विशेषतो निर्धार्यते—देवदत्तोऽयमधीते यज्ञदत्तोऽयमधीते इति। न चायं वर्णविषयोऽन्यथात्वप्रत्ययो मिथ्याज्ञानं; बाधकप्रत्ययाभावात्। नच वर्णेभ्योऽर्थावगतिर्युक्ता। न ह्येकैको वर्णोऽर्थं प्रत्याययेत्; व्यभिचारात्। नच वर्णसमुदायप्रत्ययोऽस्ति, क्रमवत्त्वाद्वर्णानाम्। पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णोऽर्थं प्रत्याययिष्यतीति यद्युच्येत। तन्न। संबन्धग्रहणापेक्षो हि शब्दः स्वयं प्रतीयमानोऽर्थं प्रत्याययेत्, धूमादिवत्। नच पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितस्यान्त्यवर्णस्य प्रतीतिरस्ति; अप्रत्यक्षत्वात्संस्काराणाम्। कार्यप्रत्यायितैः संस्कारैः सहितोऽन्त्यो वर्णोऽर्थं प्रत्याययिष्यतीति चेत्,। न; संस्कारकार्यस्यापि स्मरणस्य क्रमवर्तित्वात्। तस्मात्स्फोट एव शब्दः। स चैकैकवर्णप्रत्ययाहितसंस्कारबीजेऽन्त्यवर्णप्रत्ययजनितपरिपाके प्रत्ययिन्येकप्रत्ययविषयतया झटिति प्रत्यवभासते। न चायमेकप्रत्ययो वर्णविषया स्मृतिः; वर्णानामनेकत्वादेकप्रत्ययविषयत्वानुपपत्तेः। तस्य च प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्नित्यत्वम्; भेदप्रत्ययस्य वर्णविषयत्वात्। तस्मान्नित्याच्छब्दात्स्फोटरूपादभिधायकात्क्रियाकारकफललक्षणं जगदभिधेयभूतं प्रभवतीति।

'वर्णा एव तु शब्दः' इति भगवानुपवर्षः। ननूत्पन्नप्रध्वंसित्वं वर्णानामुक्तं, तन्न; त एवेति प्रत्यभिज्ञानात्। सादृश्यात्प्रत्यभिज्ञानं केशादिष्विवेति चेत्,। न; प्रत्यभिज्ञानस्य प्रमाणान्तरेण बाधानुपपत्तेः। प्रत्यभिज्ञानमाकृतिनिमित्तमिति चेत्,। न; व्यक्तिप्रत्यभिज्ञानात्। यदि हि प्रत्युच्चारणं गवादिव्यक्तिवदन्या अन्या वर्णव्यक्तयः प्रतीयेरंस्तत आकृतिनिमित्तं प्रत्यभिज्ञानं स्यात्, नत्वेतदस्ति; वर्णव्यक्तय एव हि प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायन्ते। द्विर्गोशब्द उच्चारित इति हि प्रतिपत्तिर्न तु द्वौ गोशब्दाविति। ननु वर्णा अप्युच्चारणभेदेन भिन्नाः प्रतीयन्ते, देवदत्तयज्ञदत्तयोरध्ययनध्वनिश्रवणादेव भेदप्रतीतेरित्युक्तम्। अत्राभिधीयते,—सति वर्णविषये निश्चिते प्रत्यभिज्ञाने संयोगविभागाभिव्यङ्ग्यत्वाद्वर्णानामभिव्यञ्जकवैचित्र्यनिमित्तोऽयं वर्णविषयो विचित्रः प्रत्ययो न स्वरूपनिमित्तः। अपि च वर्णव्यक्तिभेदवादिनापि प्रत्यभिज्ञानसिद्धये वर्णाकृतयः कल्पयितव्याः। तासु च परोपाधिको भेदप्रत्यय इत्यभ्युपगन्तव्यम्। तद्वरं वर्णव्यक्तिष्वेव परोपाधिको भेदप्रत्ययः स्वरूपनिमित्तं च प्रत्य-

भिज्ञानमिति कल्पनालाघवम्। एष एव च वर्णविषयस्य भेदप्रत्ययस्य बाधकः प्रत्ययो यत्प्रत्यभिज्ञानम्। कथं तर्ह्येकस्मिन्काले बहूनामुच्चारयतामेक एव सन्गकारो युगपदनेकरूपः स्यात्। उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च सानुनासिकश्च निरनुनासिकश्चेति। अथवा,—ध्वनिकृतोऽयं प्रत्ययभेदो, न वर्णकृत इत्यदोषः। कः पुनरयं ध्वनिर्नाम? यो दूरादाकर्णयतो वर्णविवेकमप्रतिपद्यमानस्य कर्णपथमवतरति। प्रत्यासीदतश्च पटुमृदुत्वादिभेदं वर्णेष्वासञ्जयति। तन्निबन्धनाश्चोदात्तादयो विशेषा न वर्णस्वरूपनिबन्धनाः; वर्णानां प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। एवं च सति सालम्बना उदात्तादिप्रत्यया भविष्यन्ति। इतरथा हि वर्णानां प्रत्यभिज्ञायमानानां निर्भेदत्वात्संयोगविभागकृता उदात्तादिविशेषाः कल्प्येरन्। संयोगविभागानां चाप्रत्यक्षत्वान्न तदाश्रया विशेषा वर्णेष्वध्यवसातुं शक्यन्त इत्यतो निरालम्बना एवैत उदात्तादिप्रत्ययाः स्युः। अपि च नैवेतदभिनिवेष्टव्यमुदात्तादिभेदेन वर्णानां प्रत्यभिज्ञायमानानां भेदो भवेदिति। न ह्यन्यस्य भेदेनान्यस्याभिद्यमानस्य भेदो भवितुमर्हति। नहि व्यक्तिभेदेन जातिं भिन्नां मन्यन्ते। वर्णेभ्यश्चार्थप्रतीतेः संभवात्स्फोटकल्पनाऽनर्थिका। न कल्पयाम्यहं स्फोटम्, प्रत्यक्षमेव त्वेनमवगच्छामि। एकैकवर्णग्रहणाहितसंस्कारायां बुद्धौ झटिति प्रत्यवभासनादिति चेत्। न; अस्या अपि बुद्धेर्वर्णविषयत्वात्। एकैकवर्णग्रहणोत्तरकाला हीयमेका बुद्धिर्गौरिति समस्तवर्णविषया, नार्थान्तरविषया। कथमेतदवगम्यते? यतोऽस्यामपि बुद्धौ गकारादयो वर्णा अनुवर्तन्ते, नतु दकारादयः। यदि ह्यस्या बुद्धेर्गकारादिभ्योऽर्थान्तरं स्फोटो विषयः स्यात्ततो दकारादय इव गकारादयोऽप्यस्या बुद्धेर्व्यावर्तेरन्; न तु तथास्ति। तस्मादियमेकबुद्धिर्वर्णविषयैव स्मृतिः। नन्वनेकत्वाद्वर्णानां नैकबुद्धिविषयतोपपद्यत इत्युक्तं, तत्प्रतिब्रूमः—संभवत्यनेकस्याप्येकबुद्धिविषयत्वम्; पङ्क्तिर्वनं सेना दश शतं सहस्रमित्यादिदर्शनात्। या तु गौरित्येकोऽयं शब्द इति बुद्धिः, सा बहुष्वेव वर्णेष्वेकार्थावच्छेदनिबन्धनौपचारिकी वनसेनादिबुद्धिवदेव। अत्राह—यदि वर्णा एव सामस्त्येनैकबुद्धिविषयतामापद्यमानाः पदं स्युस्ततो जारा राजा कपिः पिक इत्यादिषु पदविशेषप्रतिपत्तिर्न स्यात्। त एव हि वर्णा इतरत्र चेतरत्र च प्रत्यवभासन्त इति। अत्र वदामः—सत्यपि समस्तवर्णप्रत्यवमर्शे यथा क्रमानुरोधिन्य एव पिपीलिकाः पङ्क्तिबुद्धिमारोहन्ति, एवं क्रमानुरोधिन एव वर्णाः पदबुद्धिमारोक्ष्यन्ति। तत्र वर्णानामविशेषेऽपि क्रमविशेषकृता पदविशेषप्रतिपत्तिर्न विरुध्यते। वृद्धव्यवहारे चेमे वर्णाः क्रमाद्यनुगृहीता

गृहीतार्थविशेषसंबन्धाः सन्तः स्वव्यवहारेऽप्येकैकवर्णग्रहणानन्तरं समस्तप्रत्यवमर्शिन्यां बुद्धौ तादृशा एव प्रत्यवभासमानास्तं तमर्थमव्यभिचारेण प्रत्याययिष्यन्तीति वर्णवादिनो लघीयसी कल्पना; स्फोटवादिनस्तु दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च, वर्णाश्चेमे क्रमेण गृह्यमाणाः स्फोटं व्यञ्जयन्ति, स स्फोटोऽर्थं व्यनक्तीति गरीयसी कल्पना स्यात्।

अथापि नाम प्रत्युच्चारणमन्येऽन्ये वर्णाः स्युः, तथापि प्रत्यभिज्ञालम्बनभावेन वर्णसामान्यानामवश्याभ्युपगन्तव्यत्वाद्या वर्णेष्वर्थप्रतिपादनप्रक्रिया रचिता, सा सामान्येषु संचारयितव्या। ततश्च नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यविरुद्धम्॥२८॥

(९२) अत एव च नित्यत्वम्॥२९॥

स्वतन्त्रस्य कर्तुरस्मरणादिभिः स्थिते वेदस्य नित्यत्वे देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपगमेन तस्य विरोधमाशङ्क्य 'अतः प्रभवात्' इति परिहृत्येदानीं तदेव वेदनित्यत्वं स्थितं द्रढयति—अत एव च नित्यत्वमिति। अत एव नियताकृतेर्देवादेर्जगतो वेदशब्दप्रभवत्वाद्वेदशब्दे नित्यत्वमपि प्रत्येतव्यम्। तथा च मन्त्रवर्णः—'यज्ञेन वाचः पदवीयमायंस्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्' (ऋ० सं० १०/७१/३) इति स्थितामेव वाचमनुविन्नां दर्शयति। वेदव्यासश्चैवमेव स्मरति—'युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा' (महा० शा० २१०/१०) इति॥२९॥

(९३) समाननामरूपत्वाच्च वृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च॥३०॥

अथापि स्यात्,—यदि पश्वादिव्यक्तिवद्देवादिव्यक्तयोऽपि संतत्यैवोत्पद्येरन्निरुध्येरंश्च, ततोऽभिधानाभिधेयाभिधातृव्यवहाराविच्छेदात्संबन्धनित्यत्वेन विरोधः शब्दे परिह्रियेत। यदा तु खलु सकलं त्रैलोक्यं परित्यक्तनामरूपं निर्लेपं प्रलीयते, प्रभवति चाभिनवमिति श्रुतिस्मृतिवादा वदन्ति, तदा कथमविरोध इति।

तत्रेमभिधीयते—समाननामरूपत्वादिति। तदापि संसारस्यानादित्वं तावदभ्युपगन्तव्यम्। प्रतिपादयिष्यति चाचार्यः संसारस्यानादित्वम्—'उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च' (ब्र० २/१/३६) इति। अनादौ च संसारे यथा स्वापप्रबोधयोः प्रलयप्रभवश्रवणेऽपि पूर्वप्रबोधवदुत्तरप्रबोधेऽपि व्यवहारान्न कश्चिद्विरोधः, एवं कल्पान्तरप्रभव-

प्रलययोरपीति द्रष्टव्यम्। स्वापप्रबोधयोश्च प्रलयप्रभवौ श्रूयेते—'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति, तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति, चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति, श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति, मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति, स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राण यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' (कौ० ३/३) इति।

स्यादेतत्—स्वापे पुरुषान्तरव्यवहाराविच्छेदात्स्वयं च सुप्तप्रबुद्धस्य पूर्वप्रबोधव्यवहारानुसंधानसंभवादविरुद्धम्। महाप्रलये तु सर्वव्यवहारोच्छेदाज्जन्मान्तरव्यवहारवच्च कल्पान्तरव्यवहारस्यानुसंधातुमशक्यत्वाद्वैषम्यमिति। नैष दोषः; सत्यपि सर्वव्यवहारोच्छेदिनि महाप्रलये परमेश्वरानुग्रहादीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां कल्पान्तरव्यवहारानुसंधानोपपत्तेः। यद्यपि प्राकृताः प्राणिनो न जन्मान्तरव्यवहारमनुसंदधाना दृश्यन्त इति, तथापि न प्राकृतवदीश्वराणां भवितव्यम्। यथा हि प्राणित्वाविशेषेऽपि मनुष्यादिस्तम्बपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्यादिप्रतिबन्धः परेण परेण भूयान्भवन्दृश्यते, तथा मनुष्यादिष्वेव हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याद्यभिव्यक्तिरपि परेण परेण भूयसी भवतीत्येतच्छ्रुतिस्मृतिवादेष्वसकृदनुश्रूयमाणं न शक्यं नास्तीति वदितुम्। ततश्चातीतकल्पानुष्ठितप्रकृष्टज्ञानकर्मणामीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां वर्तमानकल्पादौ प्रादुर्भवतां परमेश्वरानुगृहीतानां सुप्तप्रतिबुद्धवत्कल्पान्तरव्यवहारानुसंधानोपपत्तिः। तथा च श्रुतिः—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (श्वे० ६/१८) इति। स्मरन्ति च शौनकादयः 'मधुच्छन्दःप्रभृतिभिर्ऋषिभिर्दाशतय्यो दृष्टाः' इति। प्रतिवेदं चैवमेव काण्डर्ष्यादयः स्मर्यन्ते। श्रुतिरप्यृषिज्ञानपूर्वकमेव मन्त्रेणानुष्ठानं दर्शयति—'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा प्रतिपद्यते' (सर्वानु० परि०) इत्युपक्रम्य 'तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्' इति। प्राणिनां च सुखप्राप्तये धर्मो विधीयते। दुःखपरिहाराय चाधर्मः प्रतिषिध्यते। दृष्टानुश्रविकसुखदुःखविषयौ च रागद्वेषौ भवतः, न विलक्षणविषयावित्यतो धर्माधर्मफलभूतोत्तरा सृष्टिर्निष्पद्यमाना पूर्वसृष्टिः सदृश्येव निष्पद्यते। स्मृतिश्च भवति—'तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे। तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः

पुनः॥ हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते। तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते॥' (वि० पु० १/५/६०,६१) इति। प्रलीयमानमपि चेदं जगच्छक्त्यवशेषमेव प्रलीयते। शक्तिमूलमेव च प्रभवति; इतरथाऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्गात्। न चानेकाकाराः शक्तयः शक्याः कल्पयितुम्। ततश्च विच्छिद्य विच्छिद्याप्युद्भवतां भूरादिलोकप्रवाहाणां, च देवतिर्यङ्मनुष्यलक्षणानां प्राणिनिकायप्रवाहाणां, वर्णाश्रमधर्मफलव्यवस्थानां चानादौ संसारे नियतत्वमिन्द्रियविषयसंबन्धनियतत्ववत्प्रत्येतव्यम्। न हीन्द्रियविषयसंबन्धादेर्व्यवहारस्य प्रतिसर्गमन्यथात्वं षष्ठेन्द्रियविषयकल्पं शक्यमुत्प्रेक्षितुम्। अतश्च सर्वकल्पानां तुल्यव्यवहारत्वात्कल्पान्तरव्यवहारानुसंधानक्षमत्वाच्चेश्वराणां समाननामरूपा एव प्रतिसर्गं विशेषाः प्रादुर्भवन्ति। समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावपि महासर्गमहाप्रलयलक्षणायां जगतोऽभ्युपगम्यमानायां न कश्चिच्छब्दप्रामाण्यादिविरोधः। समाननामरूपतां च श्रुतिस्मृती दर्शयतः—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वकमल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' (ऋ० सं० १०/१९०/३) इति। यथा पूर्वस्मिन्कल्पे सूर्याचन्द्रमःप्रभृति जगत्क्लृप्तं, तथास्मिन्नपि कल्पे परमेश्वरोऽकल्पयदित्यर्थः। तथा 'अग्निर्वा अकामयत। अन्नादो देवानाꣳ स्यामिति। स एतमग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निरवपत्' (तै० ब्रा० ३/१/४/१) इति नक्षत्रेष्टिविधौ योऽग्निर्निरवपद्यस्मै वाऽग्नये निरवपत्तयोः समाननामरूपतां दर्शयतीत्येवंजातीयका श्रुतिरिहोदाहर्तव्या। स्मृतिरपि—'ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः। शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥ (महा० शा० १३२/१५) यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये। दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु॥ (महा० शा० २९०/१७) यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते सांप्रतैरिह। देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च॥' इत्येवंजातीयका द्रष्टव्या॥३०॥

विश्रामः॥ ८॥

* * * *

(९४) मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः॥३१॥

इह देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामस्त्यधिकार इति यत्प्रतिज्ञातं तत्पर्यावर्त्यते। देवादीनामनधिकारं जैमिनिराचार्यो मन्यते। कस्मात्? मध्वादिष्वसंभवात्। ब्रह्म-

विद्यायामधिकाराभ्युपगमे हि विद्यात्वाविशेषान्मध्वादिविद्यास्वप्यधिकारोऽभ्युपगम्येत। न चैवं संभवति। कथम्? 'असौ वा आदित्यो देवमधु' (छा० ३/१/१) इत्यत्र मनुष्या आदित्यं मध्वध्यासेनोपासीरन्। देवादिषु ह्युपासकेष्वभ्युपगम्यमानेष्वादित्यः कमन्यमादित्यमुपासीत? पुनश्चादित्यव्यपाश्रयाणि पञ्च रोहितादीन्यमृतान्युपक्रम्य 'वसवो रुद्रा आदित्या मरुतः साध्याश्च पञ्च देवगणाः क्रमेण तत्तदमृतमुपजीवन्ती' त्युपदिश्य 'स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति' इत्यादिना वस्वाद्युपजीव्यान्यमृतानि विजानतां वस्वादिमहिमप्राप्तिं दर्शयति। वस्वादयस्तु कानन्यान्वस्वादीनमृतोपजीविनो विजानीयुः कं वाऽन्यं वस्वादि महिमानं प्रेप्सेयुः? तथा अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पादः' (छा० ३/१८/२), 'वायुर्वाव संवर्गः' (छा० ४/३/१) 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३/११/१) इत्यादिषु देवतात्मोपासनेषु न तेषामेव देवतात्मनामधिकारः संभवति। तथा 'इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजः' (बृ० २/२/४) इत्यादिष्वप्यृषिसंबन्धेषूपासनेषु न तेषामेवर्षीणामधिकारः संभवति॥३१॥

(१५) ज्योतिषि भावाच्च॥३२॥

कुतश्च देवादीनामनधिकारः—

यदिदं ज्योतिर्मण्डलं द्युस्थानमहोरात्राभ्यां बम्भ्रमज्जगदवभासयति, तस्मिन्नादित्यादयो देवतावचनाः शब्दाः प्रयुज्यन्ते। लोकप्रसिद्धेर्वाक्यशेषप्रसिद्धेश्च। न च ज्योतिर्मण्डलस्य हृदयादिना विग्रहेण चेतनतयाऽर्थित्वादिना वा योगोऽवगन्तुं शक्यते; मृदादिवदचेतनत्वावगमात्। एतेनाग्न्यादयो व्याख्याताः।

स्यादेतत्, मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वाद्यवगमादयमदोष इति, नेत्युच्यते; नहि तावल्लोको नाम किंचित्स्वतन्त्रं प्रमाणमस्ति। प्रत्यक्षादिभ्य एव ह्यविचारितविशेषेभ्यः प्रमाणेभ्यः प्रसिद्ध्यन्नर्थो लोकात्प्रसिध्यतीत्युच्यते। न चात्र प्रत्यक्षादीनामन्यतमं प्रमाणमस्ति। इतिहासपुराणमपि पौरुषेयत्वात्प्रमाणान्तरमूलतामाकाङ्क्षति। अर्थवादा अपि विधिनैकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थाः सन्तो न पार्थगर्थ्येन देवादीनां विग्रहादिसद्भावे कारणभावं प्रतिपद्यन्ते। मन्त्रा अपि श्रुत्यादिविनियुक्ताः प्रयोगसमवायिनोऽभिधानार्था न कस्यचिदर्थस्य प्रमाणमित्याचक्षते। तस्मादभावो देवादीनामधिकारस्य॥३२॥

(९६) भावं तु बादरायणोऽस्ति हि॥३३॥

तुशब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति। बादरायणस्त्वाचार्यो भावमधिकारस्य देवादीनामपि मन्यते। यद्यपि मध्वादिविद्यासु देवतादिव्यामिश्रास्वसंभवोऽधिकारस्य; तथाप्यस्ति हि शुद्धायां ब्रह्मविद्यायां संभवः। अर्थित्वसामर्थ्याप्रतिषेधाद्यपेक्षत्वादधिकारस्य। न च क्वचिदसंभव इत्येतावता यत्र संभवस्तत्राप्यधिकारोऽपोद्येत। मनुष्याणामपि न सर्वेषां ब्राह्मणादीनां सर्वेषु राजसूयादिष्वधिकारः संभवति। तत्र यो न्यायः सोऽत्रापि भविष्यति। ब्रह्मविद्यां च प्रकृत्य भवति दर्शनं श्रौतं देवाद्यधिकारस्य सूचकम्—'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ० १/४/१०) इति। 'ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्' इति। 'इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम्' (छा० ८/७/२) इत्यादि च। स्मार्तमपि गन्धर्वयाज्ञवल्क्यसंवादादि। यदप्युक्तंज्योतिषि भावाच्चेति। अत्र ब्रूमः—ज्योतिरादिविषया अपि आदित्यादयो देवतावचनाः शब्दाश्चेतनावन्तमैश्वर्याद्युपेतं तं तं देवतात्मानं समर्पयन्ति; मन्त्रार्थवादादिषु तथा व्यवहारात्। अस्ति ह्यैश्वर्ययोगाद्देवतानां ज्योतिराद्यात्मभिश्चावस्थातुं, यथेष्टं च तं तं विग्रहं ग्रहीतुं सामर्थ्यम्। तथा हि श्रूयते सुब्रह्मण्यार्थवादे—मेधातिथेर्मेषेति। 'मेधातिथिं ह काण्वायनमिन्द्रो मेषो भूत्वा जहार' (षड्विं० ब्रा० १/१) इति। स्मर्यते च—'आदित्यः पुरुषो भूत्वा कुन्तीमुपजगाम ह' इति। मृदादिष्वपि चेतना अधिष्ठातारोऽभ्युपगम्यन्ते; 'मृदब्रवीदापोऽब्रुवन्' इत्यादिदर्शनात्। ज्योतिरादेस्तु भूतधातोरादित्यादिष्वचेतनत्वमभ्युपगम्यते। चेतनास्त्वधिष्ठातारो देवतात्मानो मन्त्रार्थवादादिषु व्यवहारादित्युक्तम्। यदप्युक्तं मन्त्रार्थवादयोरन्यायार्थत्वान्न देवताविग्रहादिप्रकाशनसामर्थ्यमिति। अत्र ब्रूमः—प्रत्ययाप्रत्ययौ हि सद्भावासद्भावयोः कारणं, नान्यार्थत्वमनन्यार्थत्वं वा। तथाह्यन्यार्थमपि प्रस्थितः पथि पतितं तृणपर्णाद्यस्तीत्येवं प्रतिपद्यते। अत्राह—विषम उपन्यासः। तत्र हि तृणपर्णादिविषयं प्रत्यक्षं प्रवृत्तमस्ति, येन तदस्तित्वं प्रतिपद्यते। अत्र पुनर्विध्युद्देशैकवाक्यभावेन स्तुत्यर्थेऽर्थवादे न पार्थगर्थ्येन वृत्तान्तविषया प्रवृत्तिः शक्याऽध्यवसातुम्। नहि महावाक्येऽर्थप्रत्यायकेऽवान्तरवाक्यस्य पृथक्प्रत्यायकत्वमस्ति; यथा 'न सुरां पिबेत्' इति नञ्वति वाक्ये पदत्रयसंबन्धात्सुरापानप्रतिषेध एवैकोऽर्थोऽवगम्यते, न

पुनः सुरां पिबेदिति पदद्वयसंबन्धात्सुरापानविधिरपीति। अत्रोच्यते,—विषम उपन्यासः। युक्तं यत्सुरापानप्रतिषेधे पदान्वयस्यैकत्वादवान्तरवाक्यार्थस्याग्रहणम्। विध्युद्देशार्थवादयोस्त्वर्थवादस्थानि पदानि पृथगन्वयं वृत्तान्तविषयं प्रतिपद्यानन्तरं कैमर्थ्यवशेन कामं विधेः स्तावकत्वं प्रतिपद्यन्ते। यथा हि—'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इत्यत्र विध्युद्देशवर्तिनां वायव्यादिपदानां विधिना संबन्धः, नैवं 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति' इत्येषामर्थवादगतानां पदानाम्। न हि भवति वायुर्वा आलभेतेति क्षेपिष्ठा देवता वा आलभेतेत्यादि। वायुस्वभावसंकीर्तनेन त्ववान्तरमन्वयं प्रतिपद्यैवं विशिष्टदैवत्यमिदं कर्मेति विधिं स्तुवन्ति। तद्यत्र सोऽवान्तरवाक्यार्थः प्रमाणान्तरगोचरो भवति, तत्र तदनुवादेनार्थवादः प्रवर्तते। यत्र प्रमाणान्तरविरुद्धस्तत्र गुणवादेन। यत्र तु तदुभयं नास्ति, तत्र किं प्रमाणान्तराभावाद्गुणवादः स्यात्, आहोस्वित्प्रमाणान्तराविरोधाद्विद्यमानार्थवाद इति प्रतीतिशरणैर्विद्यमानार्थवाद आश्रयणीयो न गुणवादः। एतेन मन्त्रो व्याख्यातः। अपि च विधिभिरेवेन्द्रादिदैवत्यानि हवींषि चोदयद्भिरपेक्षितमिन्द्रादीनां स्वरूपम्। न हि स्वरूपरहिता इन्द्रादयश्चेतस्यारोपयितुं शक्यन्ते। नच चेतस्यनारूढायै तस्यै तस्यै देवतायै हविः प्रदातुं शक्यते। श्रावयति च—'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद्वषट्करिष्यन्'(ऐ० ब्रा० ३/८/१) इति। नच शब्दमात्रमर्थस्वरूपं संभवति; शब्दार्थयोर्भेदात्। तत्र यादृशं मन्त्रार्थवादयोरिन्द्रादीनां स्वरूपमवगतं न तत्तादृशं शब्दप्रमाणकेन प्रत्याख्यातुं युक्तम्। इतिहासपुराणमपि व्याख्यातेन मार्गेण संभवन्मन्त्रार्थवादमूलत्वात्प्रभवति देवताविग्रहादि साधयितुम्। प्रत्यक्षादिमूलमपि संभवति। भवति ह्यस्माकमप्रत्यक्षमपि चिरंतनानां प्रत्यक्षम्। तथा च व्यासादयो देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्तीति स्मर्यते। यस्तु ब्रूयादिदानीन्तनानामिव पूर्वेषामपि नास्ति देवादिभिर्व्यवहर्तुं सामर्थ्यमिति, स जगद्वैचित्र्यं प्रतिषेधेत्। इदानीमिव च नान्यदापि सार्वभौमः क्षत्रियोऽस्तीति ब्रूयात्। ततश्च राजसूयादिचोदनोपरुन्ध्यात्। इदानीमिव च कालान्तरेऽप्यव्यवस्थितप्रायान्वर्णाश्रमधर्मान्प्रतिजानीत। ततश्च व्यवस्थाविधायि शास्त्रमनर्थकं स्यात्। तस्माद्धर्मोत्कर्षवशाच्चिरंतना देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवजह्रुरिति श्लिष्यते। अपि च स्मरन्ति—'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः' (यो० सू० २/४४) इत्यादि। योगोऽप्यणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलः स्मर्यमाणो न शक्यते साह-

समात्रेण प्रत्याख्यातुम्। श्रुतिश्च योगमाहात्म्यं प्रख्यापयति—'पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते। न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्' (श्वे० २/१२) इति। ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं नास्मदीयेन सामर्थ्येनोपमातुं युक्तम्। तस्मात्समूलमितिहासपुराणम्। लोकप्रसिद्धिरपि न सति संभवे निरालम्बनाऽध्यवसातुं युक्ता। तस्मादुपपन्नो मन्त्रादिभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वाद्यवगमः। ततश्चार्थित्वादिसंभवादुपपन्नो देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारः क्रममुक्तिदर्शनान्यप्येवमेवोपपद्यन्ते॥३३॥

(२७) अपशूद्राधिकरणम्॥९॥ (सू० ३४-३८)

(९७) शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि॥३४॥

यथा मनुष्याधिकारनियमपोद्य देवादीनामपि विद्यास्वधिकार उक्तस्तथैव द्विजात्यधिकारनियमापवादेन शूद्रस्याप्यधिकारः स्यादित्येतामाशङ्कां निवर्तयितुमिदमधिकरणमारभ्यते। तत्र शूद्रस्याप्यधिकारः स्यादिति तावत्प्राप्तम्। अर्थित्वसामर्थ्ययोः संभवात्, 'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' (तै० सं० ७/१/१/६) इतिवत् 'शूद्रो विद्यायामनवक्लृप्तः' इति च निषेधाश्रवणात्। यच्च कर्मस्वनधिकारकारणं शूद्रस्यानग्नित्वं, न तद्विद्यास्वधिकारस्यापवादकं लिङ्गम्। न ह्याहवनीयादिरहितेन विद्या वेदितुं न शक्यते। भवति च लिङ्गं शूद्राधिकारस्योपोद्बलकम्। संवर्गविद्यायां हि जानश्रुतिं पौत्रायणं शुश्रूषुं शूद्रशब्देन परामृशति—'अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु' (छा० ४/२/३) इति। विदुरप्रभृतयश्च शूद्रयोनिप्रभवा अपि विशिष्टविज्ञानसंपन्नाः स्मर्यन्ते। तस्मादधिक्रियते शूद्रो विद्यास्विति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—न शूद्रस्याधिकारः; वेदाध्ययनाभावात्। अधीतवेदो हि विदितवेदार्थो वेदार्थेष्वधिक्रियते। नच शूद्रस्य वेदाध्ययनमस्ति; उपनयनपूर्वकत्वाद्वेदाध्ययनस्य। उपनयनस्य च वर्णत्रयविषयत्वात्। यत्त्वर्थित्वं, न तदसति सामर्थ्येऽधिकारकारणं भवति। सामर्थ्यमपि न लौकिकं केवलमधिकारकारणं भवति; शास्त्रीयेऽर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्यापेक्षितत्वात्। शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्याध्ययननिराकरणेन निराकृतत्वात्। यच्चेदं 'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' इति, तन्न्यायपूर्वकत्वाद्विद्यायामप्यनवक्लृप्तत्वं द्योतयति; न्यायस्य साधारणत्वात्। यत्पुनः संवर्गविद्यायां शूद्रशब्दश्रवणं लिङ्गं मन्यसे, न तल्लिङ्गं; न्याया-

भावात्। न्यायोक्ते हि लिङ्गदर्शनं द्योतकं भवति। न चात्र न्यायोऽस्ति। कामं चायं शूद्रशब्दः संवर्गविद्यायामेवैकस्यां शूद्रमधिकुर्यात्, तद्विषयत्वात्, न सर्वासु विद्यासु। अर्थवादस्थत्वात्तु न क्वचिदप्ययं शूद्रमधिकर्तुमुत्सहते। शक्यते चायं शूद्रशब्दोऽधिकृतविषयो योजयितुम्। कथमित्युच्यते? 'कम्वर एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्वमात्थ' (छा० ४/१/३) इत्यस्माद्धंसवाक्यादात्मनोऽनादरं श्रुतवतो जानश्रुतेः पौत्रायणस्य शुगुत्पेदे, तामृषी रैक्कः शूद्रशब्देनानेन सूचयांबभूवात्मनः-परोक्षज्ञानताख्यापनायेति गम्यते; जातिशूद्रस्यानधिकारात्। कथं पुनः शूद्रशब्देन शुगुत्पन्ना सूच्यत इति? उच्यते—तदाद्रवणात्। शुचमभिदुद्राव, शुचा वाऽभिदुद्रुवे, शुचा वा रैक्वमभिदुद्रावेति शूद्रः। अवयवार्थसंभवाद्रूढ्यर्थस्य चासंभवात्। दृश्यते चायमर्थोऽस्यामाख्यायिकायाम्॥३४॥

(९८) क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्॥३५॥

इतश्च न जातिशूद्रो जानश्रुतिः। यत्कारणं प्रकरणनिरूपणेन क्षत्रियत्वमस्योत्तरत्र चैत्ररथेनाभिप्रतारिणा क्षत्रियेण समभिव्याहाराल्लिङ्गाद्गम्यते। उत्तरत्र हि संवर्गविद्यावाक्यशेषे चैत्ररथिरभिप्रतारी क्षत्रियःसंकीर्त्यते—'अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे' (छा० ४/३/५) इति। चैत्ररथित्वं चाभिप्रतारिणः कापेययोगादवगन्तव्यम्। कापेययोगो हि चित्ररथस्यावगतः 'एतेन वै चित्ररथं कापेया अयाजयन्' (ताण्ड्य ब्रा० २०/१२/५) इति। समानान्वयानां च प्रायेण समानान्वया याजका भवन्ति। 'तस्माच्चैत्ररथिर्नामैकः क्षत्रपतिरजायत' इति च क्षत्रपतित्वावगमात्क्षत्रियत्वमस्यावगन्तव्यम्। तेन क्षत्रियेणाभिप्रतारिणा सह समानायां विद्यायां संकीर्तनं जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वं सूचयति। समानानामेव हि प्रायेण समभिव्याहारा भवन्ति। क्षत्तृप्रेषणाद्यैश्वर्ययोगाच्च जानश्रुतेः क्षत्रियत्वावगतिः। अतो ना जाति शूद्रस्याधिकारः॥३५॥

(९९) संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च॥३६॥

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः, यद्विद्याप्रदेशेषूपनयनादयः संस्काराः परामृश्यन्ते—'तं होपनिन्ये' (श० ब्रा० ११/५/३/१३)। 'अधीहि भगव इति होपससाद' (छा० ७/१/१) 'ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति

ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः' (प्र० १/१) इति च। 'तान्हानुपनीयैव' (छा० ५/११/७) इत्यपि प्रदर्शितैवोपनयनप्राप्तिर्भवति। शूद्रस्य संस्काराभावोऽभिलप्यते, 'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः' (मनु० १०/४) इत्येकजातित्वस्मरणात्। 'न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हति' (मनु० १०/१२/६) इत्यादिभिश्च॥३६॥

(१००) तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः॥३७॥

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः। यत्सत्यवचनेन शूद्रत्वाभावे निर्धारिते जाबालं गौतम उपनेतुमनुशासितुं च प्रववृत्ते; 'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगाः' (छा० ४/४/५) इति श्रुतिलिङ्गात्॥३७॥

(१०१) श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च॥३८॥

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः। यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधो भवति। वेदश्रवणप्रतिषेधो वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते। श्रवणप्रतिषेधस्तावत् 'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्' इति। 'पद्यु ह वा एतच्श्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' इति च। अत एवाध्ययनप्रतिषेधः। यस्य हि समीपेऽपि नाध्येतव्यं भवति, स कथमश्रुतमधीयीत? भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति। अत एव चार्थादर्थज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भवति—'न शूद्राय मतिं दद्यात्' इति, द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्' इति च। येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कारवशाद्विदुरधर्मव्याधप्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्तिस्तेषां न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिषेद्धुं; ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वात्। 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इति चेतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याधिकारस्मरणात्। वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितम्॥३८॥

(२८) कम्पनाधिकरणम्॥१०॥ (सू० ३९)

(१०२) कम्पनात्॥३९॥

अवसितः प्रासङ्गिकोऽधिकारविचारः। प्रकृतामेवेदानीं वाक्यार्थविचारणां प्रवर्तयिष्यामः। 'यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' (का० २/६/२) इति। एतद्वाक्यं 'एजृ कम्पने' इति

धात्वर्थानुगमाल्लक्षितम्। अस्मिन्वाक्ये सर्वमिदं जगत्प्राणाश्रयं स्पन्दते, महच्च किंचिद्भयकारणं वज्रशब्दितमुद्यतं, तद्विज्ञानाच्चामृतत्वप्राप्तिरिति श्रूयते। तत्र कोऽसौ प्राणः, किं तद्भयानकं वज्रमित्यप्रतिपत्तेर्विचारे क्रियमाणे प्राप्तं तावत्प्रसिद्धेः पञ्च-वृत्तिर्वायुः प्राण इति। प्रसिद्धेरेव चाशनिर्वज्रं स्यात्। वायोश्चेदं माहात्म्यं संकीर्त्यते। कथम्? सर्वमिदं जगत्पञ्चवृत्तौ वायौ प्राणशब्दिते प्रतिष्ठायैजति। वायुनिमित्तमेव च महद्भयानकं वज्रमुद्यम्यते। वायौ हि पर्जन्यभावेन विवर्तमाने विद्युत्स्तनयित्नु-वृष्ट्यशनयो विवर्तन्त इत्याचक्षते। वायुविज्ञानादेव चेदममृतत्वम्। तथा हि श्रुत्यन्तरम्—'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद' इति। तस्माद्वायुरयमिह प्रतिपत्तव्य इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मैवेदमिह प्रतिपत्तव्यम्। कुतः? पूर्वोत्तरालोचनात्। पूर्वोत्तरयोर्हि ग्रन्थभागयोर्ब्रह्मैव निर्दिश्यमानमुपलभामहे। इहैव कथमकस्मा-दन्तराले वायुं निर्दिश्यमानं प्रतिपद्येमहि? पूर्वत्र तावत् 'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवा-मृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन' (का० २/६/१) इति ब्रह्म निर्दिष्टं, तदेवेहापि, संनिधानात्, जगत्सर्वं प्राण एजतीति च लोकाश्रयत्व-प्रत्यभिज्ञानान्निर्दिष्टमिति गम्यते। प्राणशब्दोऽप्ययं परमात्मन्येव प्रयुक्तः, 'प्राणस्य प्राणम्' (बृ० ४/४/१८) इति दर्शनात्। एजयितृत्वमपीदं परमात्मन एवोपपद्यते, न वायुमात्रस्य। तथा चोक्तम्—'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ' (का० २/५/५) इति। उत्तरत्रापि 'भयादस्याग्नि-स्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥' (का० २/६/३) इति ब्रह्मैव निर्देक्ष्यते, न वायुः। सवायुकस्य जगतो भयहेतुत्वाभिधानात्। तदेवेहापि संनिधानात् 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' इति च भयहेतुत्वप्रत्यभिज्ञानान्निर्दिष्ट-मिति गम्यते। वज्रशब्दोऽप्ययं भयहेतुत्वसामान्यात्प्रयुक्तः। यथा हि वज्रमुद्यतं ममैव शिरसि निपतेद्यद्यहमस्य शासनं न कुर्यामित्यनेन भयेन जनो नियमेन राजादि-शासने प्रवर्तत, एवमिदमग्निवायुसूर्यादिकं जगदस्मादेव ब्रह्मणो बिभ्यन्नियमेन स्व-व्यापारे प्रवर्तत इति भयानकं वज्रोपमितं ब्रह्म। तथा च ब्रह्मविषयं श्रुत्यन्तरम्—'भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः' (तै० २/८/१) इति। अमृतत्वफलश्रवणादपि ब्रह्मैवेदमिति गम्यते। ब्रह्मज्ञानाद्ध्य-मृतत्वप्राप्तिः। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ६/

१५) इति मन्त्रवर्णात्। यत्तु वायुविज्ञानात्क्वचिदमृतत्वमभिहितं, तदापेक्षिकम्। तत्रैव प्रकरणान्तरकरणेन परमात्मानमभिधाय 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३/४) इति वाय्वादेरार्तत्वाभिधानात्। प्रकरणादप्यत्र परमात्मनिश्चयः, 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद' (का० १/२/१४) इति परमात्मनः पृष्टत्वात्॥३९॥

(२९) ज्योतिरधिकरणम्॥११॥ (सू० ४०)

(१०३) ज्योतिर्दर्शनात्॥४०॥

'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छा० ८/१२/३) इति श्रूयते। तत्र संशय्यते—किं ज्योतिःशब्दं चक्षुर्विषयतमोऽपहं तेजः, किंवा परं ब्रह्मेति। किं तावत्प्राप्तम्? प्रसिद्धमेव तेजो ज्योतिःशब्दमिति। कुतः? तत्र ज्योतिःशब्दस्य रूढत्वात्। 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' (ब्र० सू० १/१/२४) इत्यत्र हि प्रकरणाज्ज्योतिःशब्दः स्वार्थं परित्यज्य ब्रह्मणि वर्तते। न चेह तद्वत्किंचित्स्वार्थपरित्यागे कारणं दृश्यते। तथा च नाडीखण्डे—'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' (छा० ८/६/५) इति मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहिता। तस्मात्प्रसिद्धमेव तेजो ज्योतिःशब्दमिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दम्। कस्मात्? दर्शनात्। तस्य हीह प्रकरणे वक्तव्यत्वेनानुवृत्तिर्दृश्यते, 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८/७/१) इत्यपहतपाप्मत्वादिगुणकस्यात्मनः प्रकरणादावन्वेष्टव्यत्वेन विजिज्ञासितव्यत्वेन च प्रतिज्ञानात्। 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८/९/३) इति चानुसंधानात्। 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छा० ८/१२/१) इति चाशरीरतायै ज्योतिःसंपत्तेरस्याभिधानात्, ब्रह्मभावाच्चान्यत्राशरीरतानुपपत्तेः, 'परं ज्योतिः', 'स उत्तमः पुरुषः' (छा० ८/१२/३) इति च विशेषणात्। यत्तूक्तं मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहितेति। नासावात्यन्तिको मोक्षो, गत्युत्क्रान्तिसंबन्धात्। न ह्यात्यन्तिके मोक्षे गत्युत्क्रान्ती स्त इति वक्ष्यामः॥४०॥

(३०) अर्थान्तरत्वव्यपदेशाधिकरणम्॥१२॥ (सू० ४१)

(१०४) आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्॥४१॥

'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा'

(छा० ८/१४/१) इति श्रूयते। तत्किमाकाशशब्दं परं ब्रह्म, किंवा प्रसिद्धमेव भूताकाशमिति विचारे भूतपरिग्रहो युक्तः; आकाशशब्दस्य तस्मिन्रूढत्वात्, नामरूपनिर्वहणस्य चावकाशदानद्वारेण तस्मिन्योजयितुं शक्यत्वात्, स्रष्टृत्वादेश्च स्पष्टस्य ब्रह्मलिङ्गस्याश्रवणादिति।

एवं प्राप्त इदमुच्यते—परमेव ब्रह्मेहाकाशशब्दं भवितुमर्हति। कस्मात्? अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्। 'ते यदन्तरा तद्ब्रह्म इति हि नामरूपाभ्यामर्थान्तरभूतमाकाशं व्यपदिशति। न च ब्रह्मणोऽन्यन्नामरूपाभ्यामर्थान्तरं संभवति; सर्वस्य विकारजातस्य नामरूपाभ्यामेव व्याकृतत्वात्। नामरूपयोरपि निर्वहणं निरङ्कुशं न ब्रह्मणोऽन्यत्र संभवति। 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६/३/२) इत्यादिब्रह्मकर्तृकत्वश्रवणात्। ननु जीवस्यापि प्रत्यक्षं नामरूपविषयं निर्वोढृत्वमस्ति। बाढमस्ति। अभेदस्त्विह विवक्षितः। नामरूपनिर्वहणाभिधानादेव च स्रष्टृत्वादि ब्रह्मलिङ्गमभिहितं भवति। 'तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (छा० ८/१४/१) इति च ब्रह्मवादस्य लिङ्गानि। 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र० १/१/२२) इत्यस्यैवायं प्रपञ्चः॥४१॥

(३१) सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणम्॥१३॥ (सू० ४२-४३)

(१०५) सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन॥४२॥

व्यपदेशादित्यनुवर्तते। बृहदारण्यके षष्ठे प्रपाठके 'कतम आत्मेति, योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४/३/७) इत्युपक्रम्य भूयाना-त्मविषयः प्रपञ्चः कृतः। तत्किं संसारिस्वरूपमात्रान्वाख्यानपरं वाक्यम्, उतासंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमिति संशयः। किं तावत्प्राप्तम्? संसारिस्वरूपमात्रविषयमेवेति। कुतः? उपक्रमोपसंहाराभ्याम्। उपक्रमे 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति शारीरलिङ्गात्। उपसंहारे च 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४/४/२२) इति तदपरित्यागात्, मध्येऽपि बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासेन तस्यैव प्रपञ्चनादिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—परमेश्वरोपदेशपरमेवेदं वाक्यं न शारीरमात्रान्वाख्यानपरम्। कस्मात्? सुषुप्तावुत्क्रान्तौ च शारीराद्भेदेन परमेश्वरस्य व्यपदेशात्। सुषुप्तौ तावत् 'अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' (बृ० ४/३/२१) इति शारीराद्भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति। तत्र पुरुषः शारीरः स्यात्तस्य वेदितृत्वात्। बाह्याभ्यन्तरवेदनप्रसङ्गे सति तत्प्रतिषेधसंभवात्। प्राज्ञः परमेश्वरः, सर्वज्ञत्वलक्षणया

प्रज्ञया नित्यमवियोगात्। तथोत्क्रान्तावपि 'अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन्याति' (बृ० ४/३/३५) इति जीवाद्भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति। तत्रापि शारीरो जीवः स्यात्; शरीरस्वामित्वात्। प्राज्ञस्तु स एव परमेश्वरः। तस्मात्सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन व्यपदेशात्परमेश्वर एवात्र विवक्षित इति गम्यते। यदुक्तमाद्यन्तमध्येषु शारीरलिङ्गात्तत्परत्वमस्य वाक्यस्येति। अत्र ब्रूमः—उपक्रमे तावत् 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति न संसारिस्वरूपं विवक्षितं, किं तर्हि? अनूद्य संसारिस्वरूपं परेण ब्रह्मणाऽस्यैकतां विवक्षति। यतो 'ध्यायतीव लेलायतीव' इत्येवमाद्युत्तरग्रन्थप्रवृत्तिः संसारिधर्मनिराकरणपरा लक्ष्यते। तथोपसंहारेऽपि यथोपक्रममेवोपसंहरति—'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति। योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु संसारी लक्ष्यते, स वा एष महानज आत्मा परमेश्वर एवास्माभिः प्रतिपादित इत्यर्थः। यस्तु मध्ये बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासात्संसारिस्वरूपविवक्षां मन्यते, स प्राचीमपि दिशं प्रस्थापितः प्रतीचीमपि दिशं प्रतिष्ठेत। यतो न बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासेनावस्थावत्त्वं संसारित्वं वा विवक्षति, किं तर्हि? अवस्थारहितत्वमसंसारित्वं च। कथमेतदवगम्यते? यत् 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' इति पदे पदे पृच्छति। यच्च 'अनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः (बृ० ४/३/१४,१५) इति पदे पदे प्रतिवक्ति। 'अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्शोकान्हृदयस्य भवति' (बृ० ४/३/२२) इति च। तस्मादसंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमेवैतद्वाक्यमित्यवगन्तव्यम्॥४२॥

(१०६) पत्यादिशब्देभ्यः॥४३॥

इतश्चासंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमेवैतद्वाक्यमित्यवगन्तव्यम्। यदस्मिन्वाक्ये पत्यादयः शब्दा असंसारिस्वरूपप्रतिपादनपराः संसारिस्वभावप्रतिषेधनाश्च भवन्ति। 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः' इत्येवजातीयका असंसारिस्वभावप्रतिपादनपराः। 'स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्' इत्येवंजातीयकाः संसारिस्वभावप्रतिषेधनाः। तस्मादसंसारी परमेश्वर इहोक्त इत्यवगम्यते॥४३॥

विश्रामः॥ ९॥

* * * *

इति श्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये
प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः॥३॥



ॐ

॥ प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः ॥

[अत्र प्रधानविषयत्वेन संदिह्यमानानामव्यक्ताजादिपदानां चिन्तनम्।]

(३२) आनुमानिकाधिकरणम् ॥ १ ॥ (सू० १-७)

(१०७) आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च॥१॥

ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय ब्रह्मणो लक्षणमुक्तम्—'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० १/१/२) इति। तल्लक्षणं प्रधानस्यापि समानमित्याशङ्क्य तदशब्दत्वेन निराकृतम्—'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० १/१/५) इति। गतिसामान्यं च वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मकारणवादं प्रति विद्यते, न प्रधानकारणवादं प्रतीति प्रपञ्चितं गतेन ग्रन्थेन। इदं त्विदानीमवशिष्टमाशङ्क्यते—यदुक्तं प्रधानस्याशब्दत्वं, तदसिद्धं, कासुचिच्छाखासु प्रधानसमर्पणाभासानां शब्दानां श्रूयमाणत्वात्। अतः प्रधानस्य कारणत्वं वेदसिद्धमेव महद्भिः परमर्षिभिः कपिलप्रभृतिभिः परिगृहीतमिति प्रसज्यते। तद्यावत्तेषां शब्दानामन्यपरत्वं न प्रतिपाद्यते, तावत्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणमिति प्रतिपादितमप्याकुलीभवेत्। अतस्तेषामन्यपरत्वं दर्शयितुं परः संदर्भः प्रवर्तते। आनुमानिकमप्यनुमाननिरूपितमपि प्रधानमेकेषां शाखिनां शब्दवदुपलभ्यते। काठके हि पठ्यते—'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः' (१/३/११) इति। तत्र य एव यन्नामानो यत्क्रमाश्च महदव्यक्तपुरुषाः स्मृतिप्रसिद्धास्त एवेह प्रत्यभिज्ञायन्ते। तत्राव्यक्तमिति स्मृतिप्रसिद्धेः, शब्दादिहीनत्वाच्च न व्यक्तमव्यक्तमिति व्युत्पत्तिसंभवात्, स्मृतिप्रसिद्धं प्रधानमभिधीयते। तस्य शब्दवत्त्वादशब्दत्वमनुपपन्नम्। तदेव च जगतः कारणं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धिभ्य इति चेत्।

नैतदेवम्। नह्येतत्काठकं वाक्यं स्मृतिप्रसिद्धयोर्महदव्यक्तयोरस्तित्वपरम्। नह्यत्र यादृशं स्मृतिप्रसिद्धं स्वतन्त्रं कारणं त्रिगुणं प्रधानं, तादृशं प्रत्यभिज्ञायते। शब्दमात्रं ह्यत्राव्यक्तमिति प्रत्यभिज्ञायते। स च शब्दो न व्यक्तमव्यक्तमिति यौगिकत्वादन्यस्मिन्नपि सूक्ष्मे सुदुर्लक्ष्ये च प्रयुज्यते। नचायं कस्मिंश्चिद्रूढः। या तु प्रधान-

वादिनां रूढिः, सा तेषामेव पारिभाषिकी सती न वेदार्थनिरूपणे कारणभावं प्रतिपद्यते। नच क्रममात्रसामान्यात्समानार्थप्रतिपत्तिर्भवत्यसति तद्रूपप्रत्यभिज्ञाने। नह्यश्वस्थाने गां पश्यन्नश्वोऽयमित्यमूढोध्यवस्यति। प्रकरणनिरूपणायां चात्र न परपरिकल्पितं प्रधानं प्रतीयते। शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः। शरीरं ह्यत्र रथरूपकविन्यस्तमव्यक्तशब्देन परिगृह्यते। कुतः। प्रकरणात्परिशेषाच्च। तथाह्यनन्तरातीतो ग्रन्थ आत्मशरीरादीनां रथिरथादिरूपकक्लृप्तिं दर्शयति—'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥' (का० १/३/३,४) इति। तैश्चेन्द्रियादिभिरसंयतैः संसारमधिगच्छति। संयतैस्त्वध्वनः पारं तद्विष्णोः परमं पदमाप्नोतीति दर्शयित्वा, किं तदध्वनः पारं विष्णोः परमं पदमित्यस्यामाकाङ्क्षायां, तेभ्य एव प्रकृतेभ्य इन्द्रियादिभ्यः परत्वेन परमात्मानमध्वनः पारं विष्णोः परमं पदं दर्शयति—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥' (का० १/३/१०,११) इति। तत्र य एवेन्द्रियादयः पूर्वस्यां रथरूपककल्पनायामश्वादिभावेन प्रकृतास्त एवेह परिगृह्यन्ते प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियापरिहाराय। तत्रेन्द्रियमनोबुद्धयस्तावत्पूर्वत्रेह च समानशब्दा एव। अर्थास्तु ये शब्दादयो विषया इन्द्रियहयगोचरत्वेन निर्दिष्टास्तेषां चेन्द्रियेभ्यः परत्वम्। 'इन्द्रियाणां ग्रहत्वं विषयाणामतिग्रहत्वम्' (बृ० ३/२) इति श्रुतिप्रसिद्धेः। विषयेभ्यश्च मनसः परत्वं, मनोमूलत्वाद्विषयेन्द्रियव्यवहारस्य। मनसस्तु परा बुद्धिः। बुद्धिं ह्यारुह्य भोग्यजातं भोक्तारमुपसर्पति। 'बुद्धेरात्मा महान्परः', यः स 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इति रथित्वेनोपक्षिप्तः। कुतः? आत्मशब्दात्। भोक्तुश्च भोगोपकरणात्परत्वोपपत्तेः। महत्त्वं चास्य स्वामित्वादुपपन्नम्। अथवा 'मनो महान्मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः। प्रज्ञा संविच्चितिश्चैव स्मृतिश्च परिपठ्यते॥' इति स्मृतेः, 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वे० ६/१/८) इति च श्रुतेर्या प्रथमजस्य हिरण्यगर्भस्य बुद्धिः सा सर्वासां बुद्धीनां परा प्रतिष्ठा। सेह महानात्मेत्युच्यते। सा च पूर्वत्र बुद्धिग्रहणेनैव गृहीता सती हिरुगिहोपदिश्यते। तस्या अप्यस्मदीयाभ्यो बुद्धिभ्यः परत्वोपपत्तेः। एतस्मिंस्तु पक्षे परमात्मविषयेणैव परेण पुरुषग्रहणेन रथिन आत्मनो ग्रहणं द्रष्टव्यम्। परमार्थतः परमात्मविज्ञानात्मनोर्भेदाभावात्। तदेवं शरीरमेवैकं

परिशिष्यते। इतराणीन्द्रियादीनि प्रकृतान्येव परमपददिदर्शयिषया समनुक्रामन्परिशिष्यमाणेनेहान्त्येनाव्यक्तशब्देन परिशिष्यमाणं प्रकृतं शरीरं दर्शयतीति गम्यते। शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनासंयुक्तस्य ह्यविद्यावतो भोक्तुः शरीरादीनां रथादिरूपककल्पनया संसारमोक्षगतिनिरूपणेन प्रत्यगात्मब्रह्मावगतिरिह विवक्षिता। तथाच 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥' (का० १/३/१२) इति वैष्णवस्य परमपदस्य दुरवगमत्वमुक्त्वा तदवगमार्थं योगं दर्शयति—'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥' (का० १/३/१३) इति। एतदुक्तं भवति—वाचं मनसि संयच्छेत् वागादिबाह्येन्द्रियव्यापारमुत्सृज्य मनोमात्रेणावतिष्ठेत। मनोऽपि विषयविकल्पाभिमुखं विकल्पदोषदर्शनेन ज्ञानशब्दोदितायां बुद्धावध्यवसायस्वभावायां धारयेत्। तामपि बुद्धिं महत्यात्मनि भोक्तर्यग्र्यायां वा बुद्धौ सूक्ष्मतापादनेन नियच्छेत्। महान्तं त्वात्मानं शान्त आत्मनि प्रकरणवति परस्मिन्पुरुषे परस्यां काष्ठायां प्रतिष्ठापयेदिति च। तदेवं पूर्वापरालोचनायां नास्त्यत्र परपरिकल्पितस्य प्रधानस्यावकाशः॥१॥

(१०८) सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्॥२॥

उक्तमेतत्प्रकरणपरिशेषाभ्यां शरीरमव्यक्तशब्दं न प्रधानमिति। इदमिदानीमाशङ्क्यते—कथमव्यक्तशब्दार्हत्वं शरीरस्य, यावता स्थूलत्वात्स्पष्टतरमिदं शरीरं व्यक्तशब्दार्हमस्पष्टवचनस्त्वव्यक्तशब्द इति।

अत उत्तरमुच्यते—सूक्ष्मं त्विह कारणात्मना शरीरं विवक्ष्यते, सूक्ष्मस्याव्यक्तशब्दार्हत्वात्। यद्यपि स्थूलमिदं शरीरं न स्वयमव्यक्तशब्दमर्हति, तथापि तस्य त्वारम्भकं भूतसूक्ष्ममव्यक्तशब्दमर्हति। प्रकृतिशब्दश्च विकारे दृष्टः। यथा 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० सं० ९/४६/४) इति। श्रुतिश्च—तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् (बृ० १/४/७) इतीदमेव व्याकृतनामरूपविभिन्नं जगत्प्रागवस्थायां परित्यक्तव्याकृतनामरूपं बीजशक्त्यवस्थमव्यक्तशब्दयोग्यं दर्शयति॥२॥

(१०९) तदधीनत्वादर्थवत्॥३॥

अत्राह—यदि जगदिदमनभिव्यक्तनामरूपं बीजात्मकं प्रागवस्थमव्यक्तशब्दा-

र्हमभ्युपगम्येत, तदात्मना च शरीरस्याप्यव्यक्तशब्दार्हत्वं प्रतिज्ञायेत, स एव तर्हि प्रधानकारणवाद एवं सत्यापद्येत। अस्यैव जगतः प्रागवस्थायाः प्रधानत्वेनाभ्युपगमादिति।

अत्रोच्यते—यदि वयं स्वतन्त्रां, कांचित्प्रागवस्थां जगतः कारणत्वेनाभ्युपगच्छेम, प्रसञ्जयेम तदा प्रधानकारणवादम्। परमेश्वराधीना त्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते, न स्वतन्त्रा। सा चावश्याभ्युपगन्तव्या। अर्थवती हि सा। नहि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिद्ध्यति। शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। मुक्तानां च पुनरनुत्पत्तिः। कुतः। विद्याया तस्या बीजशक्तेर्दाहात्। अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः, यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः। तदेतदव्यक्तं क्वचिदाकाशशब्दनिर्दिष्टम्—'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' (बृ० ३/८/११) इति श्रुतेः। क्वचिदक्षरशब्दोदितम्—'अक्षरात्परतः परः' (मु० २/१/२) इति श्रुतेः। क्वचिन्मायेति सूचितम्—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे० ४/१०) इति मन्त्रवर्णात्। अव्यक्ता हि सा माया, तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्याशक्यत्वात्। तदिदं 'महतः परमव्यक्तम्' इत्युक्तमव्यक्तप्रभवत्वान्महतः, यदा हैरण्यगर्भी बुद्धिर्महान्। यदा तु जीवो महांस्तदाप्यव्यक्ताधीनत्वाज्जीवभावस्य महतः परमव्यक्तमित्युक्तम्। अविद्या ह्यव्यक्तम्। अविद्यावत्त्वेनैव जीवस्य सर्वः संव्यवहारः संततो वर्तते। महतः परत्वमभेदोपचारात्तद्विकारे शरीरे परिकल्प्यते। सत्यपि शरीरवदिन्द्रियादीनां तद्विकारत्वाविशेषे शरीरस्यैवाभेदोपचारादव्यक्तशब्देन ग्रहणं, इन्द्रियादीनां स्वशब्दैरेव गृहीतत्वात्परिशिष्टत्वाच्च शरीरस्य।

अन्ये तु वर्णयन्ति—द्विविधं हि शरीरं स्थूलं सूक्ष्मं च। स्थूलं यदिदमुपलभ्यते। सूक्ष्मं यदुत्तरत्र वक्ष्यते—'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' (बृ० ३/१/१) इति। तच्चोभयमपि शरीरमविशेषात्पूर्वत्र रथत्वेन संकीर्तितम्। इह तु सूक्ष्ममव्यक्तशब्देन परिगृह्यते। सूक्ष्मस्याव्यक्तशब्दार्हत्वात्। तदधीनत्वाच्च बन्धमोक्षव्यवहारस्य जीवात्तस्य परत्वम्। यथार्थाधीनत्वादिन्द्रियव्यापारस्येन्द्रियेभ्यः परत्वमर्थानामिति।

तैस्त्वेतद्वक्तव्यं, अविशेषेण शरीरद्वयस्य पूर्वत्र रथत्वेन संकीर्तितत्वात्समानयोः

प्रकृतत्वपरिशिष्टत्वयोः कथं सूक्ष्ममेव शरीरमिह गृह्यते न पुनः स्थूलमपीति। आम्नातस्यार्थं प्रतिपत्तुं प्रभवामो नाम्नातं पर्यनुयोक्तुम्। आम्नातं चाव्यक्तपदं सूक्ष्ममेव प्रतिपादयितुं शक्नोति नेतरद्व्यक्तत्वात्तस्येति चेत्। न। एकवाक्यताधीनत्वादर्थप्रतिपत्तेः। नहीमे पूर्वोत्तरे आम्नाते एकवाक्यतामनापद्य कंचिदर्थं प्रतिपादयतः, प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गात्। नचाकाङ्क्षामन्तरेणैकवाक्यताप्रतिपत्तिरस्ति। तत्राविशिष्टायां शरीरद्वयस्य ग्राह्यत्वाकाङ्क्षायां यथाकाङ्क्षं संबन्धेऽनभ्युपगम्यमान एकवाक्यतैव बाधिता भवति, कुत आम्नातस्यार्थप्रतिपत्तिः। नचैवं मन्तव्यं दुःशोधत्वात्सूक्ष्मस्यैव शरीरस्येह ग्रहणं, स्थूलस्य तु दृष्टबीभत्सतया सुशोधत्वादग्रहणमिति। यतो नैवेह शोधनं कस्यचिद्विवक्ष्यते। नह्यत्र शोधनविधायि किंचिदाख्यातमस्ति। अनन्तरनिर्दिष्टत्वात्तु किं तद्विष्णोः परमं पदमितीदमिह विवक्ष्यते। तथाहीदमस्मात्परमिदमस्मात्परमित्युक्त्वा 'पुरुषान्न परं किंचित्' इत्याह। सर्वथापि त्वानुमानिकनिराकरणोपपत्तेस्तथा नामास्तु, न नः किंचिच्छिद्यते॥३॥

(११०) ज्ञेयत्वावचनाच्च॥४॥

ज्ञेयत्वेन च सांख्यैः प्रधानं स्मर्यते गुणपुरुषान्तरज्ञानात्कैवल्यमिति वदद्भिः। नहि गुणस्वरूपमज्ञात्वा गुणेभ्यः पुरुषस्यान्तरं शक्यं ज्ञातुमिति। क्वचिच्च विभूतिविशेषप्राप्तये प्रधानं ज्ञेयमिति स्मरन्ति। नचेदमिहाव्यक्तं ज्ञेयत्वेनोच्यते। पदमात्रं ह्यव्यक्तशब्दः। नेहाव्यक्तं ज्ञातव्यमुपासितव्यं चेति वाक्यमस्ति। नचानुपदिष्टं पदार्थज्ञानं पुरुषार्थमिति शक्यं प्रतिपत्तुम्। तस्मादपि नाव्यक्तशब्देन प्रधानमभिधीयते। अस्माकं तु रथरूपकक्लृप्तशरीराद्यनुसरणेन विष्णोरेव परमं पदं दर्शयितुमयमुपन्यास इत्यनवद्यम्॥४॥

(१११) वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात्॥५॥

अत्राह सांख्यः—'ज्ञेयत्वावचनात्' इत्यसिद्धम्। कथम्? श्रूयते ह्युत्तरत्राव्यक्तशब्दोदितस्य प्रधानस्य ज्ञेयत्ववचनम्—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥' (का० २/३/१५) इति। अत्र हि यादृशं शब्दादिहीनं प्रधानं महतः परं स्मृतौ निरूपितं, तादृशमेव निचाय्यत्वेन निर्दिष्टं, तस्मात्प्रधानमेवेदं, तदेव चाव्यक्तशब्दनिर्दिष्टमिति। अत्र ब्रूमः—नेह प्रधानं निचाय्यत्वेन निर्दिष्टम्। प्राज्ञो हीह परमात्मा निचाय्यत्वेन

निर्दिष्ट इति गम्यते। कुतः? प्रकरणात्। प्राज्ञस्य हि प्रकरणं विततं वर्तते। 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' इत्यादिनिर्देशात्, 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते' इति च दुर्ज्ञातत्ववचनेन तस्यैव ज्ञेयत्वाकाङ्क्षणात्। 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' इति च तज्ज्ञानायैव वागादिसंयमस्य विहितत्वात्। मृत्युमुखप्रमोक्षणफलत्वाच्च। नहि प्रधानमात्रं निचाय्य मृत्युमुखात्प्रमुच्यत इति सांख्यैरिष्यते। चेतनात्मविज्ञानाद्धि मृत्युमुखात्प्रमुच्यते इति तेषामभ्युपगमः। सर्वेषु वेदान्तेषु प्राज्ञस्यैवात्मनोऽशब्दादिधर्मत्वमभिलप्यते। तस्मान्न प्रधानस्यात्र ज्ञेयत्वमव्यक्तशब्दनिर्दिष्टत्वं वा॥५॥

(११२) त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च॥६॥

इतश्च न प्रधानस्याव्यक्तशब्दवाच्यत्वं ज्ञेयत्वं वा। यस्मात्त्रयाणामेव पदार्थानामग्निजीवपरमात्मनामस्मिन्ग्रन्थे कठवल्लीषु वरप्रदानसामर्थ्याद्वक्तव्यतयोपन्यासो दृश्यते। तद्विषय एव च प्रश्नः नातोऽन्यस्य प्रश्न उपन्यासो वास्ति। तत्र तावत् 'स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्' (का० १/१/१३) इत्यग्निविषयः प्रश्नः। 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥' (का० १/१/२०) इति जीवविषयः प्रश्नः। 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥' (का० १/२/१४) इति परमात्मविषयः। प्रतिवचनमपि 'लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा' (का० १/१/१५) इत्यग्निविषयम्। 'हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्। यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम। योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्' (का० २/५/६,७) इति। व्यवहितं जीवविषयम्। 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (का० १/२/१८) इत्यादिबहुप्रपञ्चं परमात्मविषयम्। नैवं प्रधानविषयः प्रश्नोऽस्ति। अपृष्टत्वाच्चानुपन्यसनीयत्वं तस्येति।

अत्राह—योऽयमात्मविषयः प्रश्नो "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीति," किं स एवायम् 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' इति पुनरनुकृष्यते, किंवा ततोऽन्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्यत इति। किंचातः स एवायं प्रश्नः पुनरनुकृष्यत इति यद्युच्येत, तदाद्वयोरात्मविषययोः प्रश्नयोरेकतापत्तेरग्निविषय आत्मविषयश्च द्वावेव प्रश्नावित्यतो न

वक्तव्यं त्रयाणां प्रश्नोपन्यासाविति। अथान्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्यत इत्युच्येत, ततो यथैव वरप्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नकल्पनायामदोष एवं प्रश्नव्यतिरेकेणापि प्रधानोपन्यासकल्पनायामदोषः स्यादिति।

अत्रोच्यते—नैवं वयमिह वरप्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नं कंचित्कल्पयामो वाक्योपक्रमसामर्थ्यात्। वरप्रदानोपक्रमा हि मृत्युनचिकेतःसंवादरूपा वाक्यप्रवृत्तिरासमाप्तेः कठवल्लीनां लक्ष्यते। मृत्युः किल नचिकेतसे पित्रा प्रहिताय त्रीन्वरान्प्रददौ। नचिकेताः किल तेषां प्रथमेन वरेण पितुः सौमनस्यं वव्रे, द्वितीयेनाग्निविद्याम्, तृतीयेनात्मविद्याम्, 'येयं प्रेते' इति 'वराणामेष वरस्तृतीयः' (का० १/१/२०) इति लिङ्गात्। तत्र यद्यन्यत्र धर्मादित्यन्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्येत, ततो वरप्रदानव्यतिरेकेणापि प्रश्नकल्पनाद्वाक्यं बाध्येत। ननु प्रष्टव्यभेदादपूर्वोऽयं प्रश्नो भवितुमर्हति। पूर्वो हि प्रश्नो जीवविषयः। येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्ति नास्तीति विचिकित्साभिधानात्। जीवश्च धर्मादिगोचरत्वान्नान्यत्र धर्मादिति प्रश्नमर्हति। प्राज्ञस्तु धर्माद्यतीतत्वादन्यत्र धर्मादिति प्रश्नमर्हतीति। प्रश्नच्छाया च न समाना लक्ष्यते। पूर्वस्यास्तित्वनास्तित्वविषयत्वादुत्तरस्य धर्माद्यतीतवस्तुविषयत्वात्। तस्मात्प्रत्यभिज्ञानाभावात्प्रश्नभेदः। न पूर्वस्यैवोत्तरत्रानुकर्षणमिति चेत्। न। जीवप्राज्ञयोरेकत्वाभ्युपगमात्। भवेत्प्रष्टव्यभेदात्प्रश्नभेदो, यद्यन्यो जीवः प्राज्ञात्स्यात्। न त्वन्यत्वमस्ति। 'तत्त्वमसीत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यः। इह चान्यत्र धर्मादित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इति जन्ममरणप्रतिषेधेन प्रतिपाद्यमानं शारीरपरमेश्वरयोरभेदं दर्शयति। सति हि प्रसङ्गे प्रतिषेधो भागी भवति। प्रसङ्गश्च जन्ममरणयोः शरीरसंस्पर्शाच्छारीरस्य भवति, न परमेश्वरस्य। तथा—'स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥' (का० २/४/४) इति स्वप्नजागरितदृशो जीवस्यैव महत्त्वविभुत्वविशेषणस्य मननेन शोकविच्छेदं दर्शयन्न प्राज्ञादन्यो जीव इति दर्शयति प्राज्ञविज्ञानाद्धि शोकविच्छेद इति वेदान्तसिद्धान्तः। तथाग्रे—'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥' (का० २/४/१०) इति जीवप्राज्ञभेददृष्टिमपवदति। तथा जीवविषयस्यास्तित्वनास्तित्वप्रश्नस्यानन्तरम्। 'अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व' इत्यारभ्य मृत्युना तैस्तैः कामैः प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता यदा न चचाल, तदैनं मृत्युरभ्युदयनिःश्रेयसविभागप्रदर्शनेन विद्याविद्याविभागप्रदर्शनेन च

'विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त' (का० १/२/४) इति प्रशस्य प्रश्नमपि तदीयं प्रशंसन्यदुवाच—'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥' (का० १/२/१२) इति, तेनापि जीवप्राज्ञयोरभेद एवेह विवक्षित इति गम्यते। यत्प्रश्ननिमित्तां च प्रशंसां महतीं मृत्योः प्रत्यपद्यत नचिकेता, यदि तं विहाय प्रशंसानन्तरमन्यमेव प्रश्नमुपक्षिपेदस्थान एव सा सर्वा प्रशंसा प्रसारिता स्यात्। तस्मात् 'येयं प्रेते' इत्यस्यैव प्रश्नस्यैतदनुकर्षणम् 'अन्यत्र धर्मात्' इति।

यत्तु प्रश्नच्छायावैलक्षण्यमुक्तं तददूषणम्। तदीयस्यैव विशेषस्य पुनः पृच्छ्यमानत्वात्। पूर्वत्र हि देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वं पृष्टमुत्तरत्र तु तस्यैवासंसारित्वं पृच्छ्यत इति। यावद्ध्यविद्या न निवर्तते, तावद्धर्मादिगोचरत्वं जीवस्य जीवत्वं च न निवर्तते। तन्निवृत्तौ तु प्राज्ञ एव तत्त्वमसीति श्रुत्या प्रत्याय्यते। नचाविद्यावत्त्वे तदपगमे च वस्तुनः कश्चिद्विशेषोऽस्ति। यथा कश्चित्संतमसे पतितां कांचिद्रज्जुमहिं मन्यमानो भीतो वेपमानः पलायते, तं चापरो ब्रूयान्मा भैषीर्नायमही रज्जुरेवेति। स च तदुपश्रुत्याहिकृतं भयमुत्सृजेद्वेपथुं पलायनं च। नत्वहिबुद्धिकाले तदपगमकाले च वस्तुनः कश्चिद्विशेषः स्यात्। तथैवैतदपि द्रष्टव्यम्। ततश्च 'न जायते म्रियते वा' इत्येवमाद्यपि भवत्यस्तित्वप्रश्नस्य प्रतिवचनम्। सूत्रं त्वविद्याकल्पितजीवप्राज्ञभेदापेक्षया योजयितव्यम्। एकत्वेऽपि ह्यात्मविषयस्य प्रश्नस्य प्रायणावस्थायां देहव्यतिरिक्तास्तित्वमात्रविचिकित्सनात्कर्तृत्वादिसंसारस्वभावानपोहनाच्च पूर्वस्य पर्यायस्य जीवविषयत्वमुत्प्रेक्ष्यते। उत्तरस्य तु धर्माद्यत्ययसंकीर्तनात्प्राज्ञविषयत्वमिति। ततश्च युक्ताग्निजीवपरमात्मकल्पना। प्रधानकल्पनायां तु न वरप्रदानं, न प्रश्नो, न प्रतिवचनमिति वैषम्यम्॥६॥

(११३) महद्वच्च॥७॥

यथा महच्छब्दः सांख्यैः सत्तामात्रेऽपि प्रथमजे प्रयुक्तो न तमेव वैदिकेऽपि प्रयोगेऽभिधत्ते। 'बुद्धेरात्मा महान्परः' (का० १/३/१०), 'महान्तं विभुमात्मानम्' (का० १/२/२२), 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' (श्वे० ३/८) इत्येवमादावात्मशब्दप्रयोगादिभ्यो हेतुभ्यः। तथाव्यक्तशब्दोऽपि न वैदिके प्रयोगे प्रधानमभिधातुमर्हति। अतश्च नास्त्यानुमानिकस्य शब्दवत्त्वम्॥७॥

(३३) चमसाधिकरणम् ॥ २ ॥ (सू० ८-१०)

(११४) चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

पुनरपि प्रधानवाद्यशब्दत्वं प्रधानस्यासिद्धमित्याह। कस्मात्? मन्त्रवर्णात्— 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' (श्वे० ४/५) इति। अत्र हि मन्त्रे लोहितशुक्लकृष्णशब्दै रजःसत्त्वतमांस्यभिधीयन्ते। लोहितं रजो रञ्जनात्मकत्वात्। शुक्लं सत्त्वं प्रकाशात्मकत्वात्। कृष्णं तम आवरणात्मकत्वात्। तेषां साम्यावस्थाऽवयवधर्मैर्व्यपदिश्यते लोहितशुक्लकृष्णेति। न जायत इति चाजा स्यात्, 'मूलप्रकृतिरविकृतिः' इत्यभ्युपगमात्। नन्वजाशब्दश्छागायां रूढः। बाढम्। सा तु रूढिरिह नाश्रयितुं शक्या, विद्याप्रकरणात्। सा च बह्वीः प्रजास्त्रैगुण्यान्विता जनयति। तां प्रकृतिमज एकः पुरुषो जुषमाणः प्रीयमाणः सेवमानो वानुऽशेते। तामेवाविद्ययात्मत्वेनोपगम्य सुखी दुःखी मूढोऽहमित्यविवेकतया संसरति। अन्यः पुनरजः पुरुष उत्पन्नविवेकज्ञानो विरक्तो जहात्येनां प्रकृतिं भुक्तभोगां कृतभोगापवर्गां परित्यजति। मुच्यत इत्यर्थः। तस्माच्छ्रुतिमूलैव प्रधानादिकल्पना कापिलानामिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नानेन मन्त्रेण श्रुतिमत्त्वं सांख्यवादस्य शक्यमाश्रयितुम्। नह्ययं मन्त्रः स्वातन्त्र्येण कंचिदपि वादं समर्थयितुमुत्सहते। सर्वत्रापि यया कयाचित्कल्पनयाऽजात्वादिसंपादनोपपत्तेः। सांख्यवाद एवेहाभिप्रेत इति विशेषावधारणकारणाभावात्। चमसवत्। यथाहि 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' (बृ० २/२/३) इत्यस्मिन्मन्त्रे स्वातन्त्र्येणायं नामासौ चमसोऽभिप्रेत इति न शक्यते निरूपयितुम्। सर्वत्रापि यथाकथंचिदर्वाग्बिलत्वादिकल्पनोपपत्तेः। एवमिहाप्यविशेषोऽजामेकामित्यस्य मन्त्रस्य। नास्मिन्मन्त्रे प्रधानमेवाजाभिप्रेतेति शक्यते नियन्तुम् ॥ ८ ॥

तत्र तु 'इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इति वाक्यशेषाच्चमसविशेषप्रतिपत्तिर्भवति। इह पुनः केयमजा प्रतिपत्तव्येति। अत्र ब्रूमः—

(११५) ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥ ९ ॥

परमेश्वरादुत्पन्ना ज्योतिःप्रमुखा तेजोबन्नलक्षणा चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य प्रकृतिभूतेयमजा प्रतिपत्तव्या। तुशब्दोऽवधारणार्थः। भूतत्रयलक्षणैवेयमजा विज्ञेया, न

गुणत्रयलक्षणा। कस्मात्? तथाह्येके शाखिनस्तेजोबन्नानां परमेश्वरादुत्पत्तिमाम्नाय तेषामेव रोहितादिरूपतामामनन्ति—'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य इति। तान्येवेह तेजोऽबन्नानि प्रत्यभिज्ञायन्ते, रोहितादिशब्द-सामान्यात्। रोहितादीनां च शब्दानां रूपविशेषेषु मुख्यत्वाद्भाक्तत्वाच्च गुणविषय-त्वस्य। असंदिग्धेन च संदिग्धस्य निगमनं न्याय्यं मन्यन्ते। तथेहापि 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति। किंकारणं ब्रह्म' (श्वे० १/१) इत्युपक्रम्य 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्दे-वात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वे० १/३) इति पारमेश्वर्याः शक्तेः समस्तजगद्विधा-यिन्या वाक्योपक्रमेऽवगमात्। वाक्यशेषेऽपि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति 'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः' (श्वे० ४/१०,११) इति च तस्या एवावगमान्न स्वतन्त्रा काचित्प्रकृतिः प्रधानं नामाजामन्त्रेणाम्नायत इति शक्यते वक्तुम्। प्रकरणात्तु सैव दैवी शक्तिरव्याकृतनामरूपा नामरूपयोः प्रागवस्थानेनापि मन्त्रेणाम्नायत इत्युच्यते। तस्याश्च स्वविकारविषयेण त्रैरूप्येण त्रैरूप्यमुक्तम्॥९॥

(११६) कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः॥१०॥

कथं पुनस्तेजोबन्नात्मना त्रैरूप्येण त्रिरूपाजा प्रतिपत्तुं शक्यते। यावता न तावत्तेजोबन्नेष्वजाकृतिरस्ति। नच तेजोऽबन्नानां जातिश्रवणादजातिनिमित्तोऽप्यजा-शब्दः संभवतीति। अत उत्तरं पठति—

नायमजाकृतिनिमित्तोऽजाशब्दः। नापि यौगिकः। किं तर्हि कल्पनोपदेशोऽयम्। अजारूपकक्लृप्तिस्तेजोऽबन्नलक्षणायाश्चराचरयोनेरुपदिश्यते। यथाहि लोके यदृच्छया काचिदजा लोहितशुक्लकृष्णवर्णा स्याद्बहुबर्करा सरूपबर्करा च, तां च कश्चिदजो जुषमाणोऽनुशयीत, कश्चिच्चैनां भुक्तभोगां जह्यात्, एवमियमपि तेजोऽबन्नलक्षणा भूतप्रकृतिस्त्रिवर्णा बहु सरूपं चराचरलक्षणं विकारजातं जनयति, अविदुषा च क्षेत्रज्ञेनोपभुज्यते, विदुषा च परित्यज्यत इति। नचेदमाशङ्कितव्यमेकः क्षेत्रज्ञोऽनुशेतेऽ-न्यो जहातीत्यतः क्षेत्रज्ञभेदः पारमार्थिकः परेषामिष्टः प्राप्नोतीति। न हीयं क्षेत्र-ज्ञभेदप्रतिपिपादयिषा, किंतु बन्धमोक्षव्यवस्थाप्रतिपिपादयिषा त्वेषा। प्रसिद्धं तु भेद-मनूद्य बन्धमोक्षव्यवस्था प्रतिपाद्यते। भेदस्तूपाधिनिमित्तो मिथ्याज्ञानकल्पितो न पार-मार्थिकः। 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' इत्यादिश्रुतिभ्यः। मध्वादिवत्। यथा आदित्यस्यामधुनो मधुत्वम् (छा० ३/१), वाचश्चाधेनोर्धे-

नुत्वम् (बृ० ५/८) द्युलोकादीनां चानग्नीनामग्नित्वम् (बृ० ८/२/९) इत्येवंजातीयकं कल्प्यते, एवमिदमनजाया अजात्वं कल्प्यत इत्यर्थः। तस्मादविरोधस्तेजोऽबन्नेष्वजाशब्दप्रयोगस्य॥ १०॥

(३४) संख्योपसंग्रहाधिकरणम्॥ ३॥ (सू० ११-१३)

(११७) न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च॥११॥

एवं परिहृतेऽप्यजामन्त्रे पुनरन्यस्मान्मन्त्रात्सांख्यः प्रत्यवतिष्ठते। 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्' (बृ० ४/४/१७) इति। अस्मिन्मन्त्रे पञ्च पञ्चजना इति पञ्चसंख्याविषयाऽपरा पञ्चसंख्या श्रूयते, पञ्चशब्दद्वयदर्शनात्। त एते पञ्चपञ्चकाः पञ्चविंशतिः संपद्यन्ते। तथा पञ्चविंशतिसंख्यया यावन्तः संख्येया आकाङ्क्ष्यन्ते, तावन्त्येव च तत्त्वानि सांख्यैः संख्यायन्ते—'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' (सांख्य० का० ३) इति। तया श्रुतिप्रसिद्धया पञ्चविंशतिसंख्यया तेषां स्मृतिप्रसिद्धानां पञ्चविंशतितत्त्वानामुपसंग्रहात्प्राप्तं पुनः श्रुतिमत्त्वमेव प्रधानादीनाम्। ततो ब्रूमः—न संख्योपसंग्रहादपि प्रधानादीनां श्रुतिमत्त्वं प्रत्याशा कर्तव्या। कस्मात्? नानाभावात्। नाना ह्येतानि पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि। नैषां पञ्चशः पञ्चशः साधारणो धर्मोऽस्ति, येन पञ्चविंशतेरन्तराले पराः पञ्च पञ्चसंख्या निविशेरन्। नह्येकनिबन्धनमन्तरेण नानाभूतेषु द्वित्वादिकाः संख्या निविशन्ते। अथोच्येत पञ्चविंशतिसंख्यैवेयमवयवद्वारेण लक्ष्यते, यथा 'पञ्च सप्त च वर्षाणि न ववर्ष शतक्रतुः' इति द्वादशवार्षिकीमनावृष्टिं कथयन्ति, तद्वदिति। तदपि नोपपद्यते। अयमेवास्मिन्पक्षे दोषो, यल्लक्षणाऽश्रयणीया स्यात्। परश्चात्र पञ्चशब्दो जनशब्देन समस्तः पञ्चजना इति, पारिभाषिकेण स्वरेणैकपदत्वनिश्चयात्। प्रयोगान्तरे च 'पञ्चानां त्वा पञ्चजनानाम्' (तै० १/६/२/२) इत्येकपद्यैकस्वर्यैकविभक्तिकत्वावगमात्। समस्तत्वाच्च न वीप्सा पञ्च पञ्चेति। नच पञ्चकद्वयग्रहणं पञ्च पञ्चेति। नच पञ्चसंख्याया एकस्याः पञ्चसंख्यया परया विशेषणं पञ्च पञ्चका इति। उपसर्जनस्य विशेषणेनासंयोगात्। नन्वापन्नपञ्चसंख्याका जना एव पुनः पञ्चसंख्यया विशेष्यमाणाः पञ्चविंशतिः प्रत्येष्यन्ते। यथा पञ्च पञ्चपूल्य इति पञ्चविंशतिपूलाः प्रतीयन्ते तद्वत्। नेति ब्रूमः। युक्तं यत्पञ्चपूलीशब्दस्य समाहाराभिप्रायत्वात्कतीति

सत्यां भेदाकाङ्क्षायां पञ्च पञ्चपूल्य इति विशेषणम्। इह तु पञ्च जना इत्यादित एव भेदोपादानात्कतीत्यसत्यां भेदाकाङ्क्षायां न पञ्च पञ्चजना इति विशेषणं भवेत्। भवदपीदं विशेषणं पञ्चसंख्याया एव भवेत्, तत्र चोक्तो दोषः। तस्मात्पञ्च पञ्चजना इति न पञ्चविंशतितत्त्वाभिप्रायम्। अतिरेकाच्च न पञ्चविंशतितत्त्वाभिप्रायम्। अतिरेको हि भवत्यात्माकाशाभ्यां पञ्चविंशतिसंख्यायाः। आत्मा तावदिह प्रतिष्ठां प्रत्याधारत्वेन निर्दिष्टः। यस्मिन्निति सप्तमीसूचितस्य 'तमेव मन्य आत्मानम्' इत्यात्मत्वेनानुकर्षणात्। आत्मा च चेतनः पुरुषः। स च पञ्चविंशतावन्तर्गत एवेति न तस्यैवाधारत्वमाधेयत्वं च युज्यते। अर्थान्तरपरिग्रहे च तत्त्वसंख्यातिरेकः सिद्धान्तविरुद्धः प्रसज्येत। तथा 'आकाशश्च प्रतिष्ठितः' इत्याकाशस्यापि पञ्चविंशतावन्तर्गतस्य न पृथगुपादानं न्याय्यम्। अर्थान्तरपरिग्रहे चोक्तं दूषणम्। कथं च संख्यामात्रश्रवणे सत्यश्रुतानां पञ्चविंशतितत्त्वानामुपसंग्रहः प्रतीयते। जनशब्दस्य तत्त्वेष्वरूढत्वात्। अर्थान्तरोपसंग्रहेऽपि संख्योपपत्तेः।

कथं तर्हि पञ्च पञ्चजना इति। उच्यते—'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' (पा० सू० २/१/५०) इति विशेषणस्मरणात्संज्ञायामेवपञ्चशब्दस्य जनशब्देन समासः। ततश्च रूढत्वाभिप्रायेणैव केचित्पञ्चजना नाम विवक्ष्यन्ते, न सांख्यतत्त्वाभिप्रायेण। ते कतीत्यस्यामाकाङ्क्षायां पुनः पञ्चेति प्रयुज्यते। पञ्चजना नाम ये केचित्ते च पञ्चैवेत्यर्थः। सप्तर्षयः सप्तेति यथा॥११॥

के पुनस्ते पञ्चजना नामेति, तदुच्यते—

(११८) प्राणादयो वाक्यशेषात्॥१२॥

'यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः' इत्यत उत्तरस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मस्वरूपनिरूपणाय प्राणादयः पञ्च निर्दिष्टाः—'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः' इति। तेऽत्र वाक्यशेषगताः संनिधानात्पञ्चजना विवक्ष्यन्ते। कथं पुनः प्राणादिषु जनशब्दप्रयोगः? तत्त्वेषु वा कथं जनशब्दप्रयोगः। समाने तु प्रसिद्ध्यतिक्रमे वाक्यशेषवशात्प्राणादय एव ग्रहीतव्या भवन्ति। जनसंबन्धाश्च प्राणादयो जनशब्दभाजो भवन्ति। जनवचनश्च पुरुषशब्दः प्राणेषु प्रयुक्तः 'ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः' (छा० ३/१३/६) इत्यत्र। 'प्राणो ह पिता प्राणो ह माता' (छा० ७/१५/१) इत्यादि च ब्राह्मणम्। समासबलाच्च समुदायस्य रूढत्वमविरुद्धम्। कथं

पुनरसति प्रथमप्रयोगे रूढिः शक्याऽऽश्रयितुम्। शक्योद्भिदादिवदित्याह। प्रसिद्धार्थसंनिधाने ह्यप्रसिद्धार्थः शब्दः प्रयुज्यमानः समभिव्याहारात्तद्विषयो नियम्यते, यथा 'उद्भिदा यजेत' 'यूपं छिनत्ति' 'वेदिं करोति' इति। तथायमपि पञ्चजनशब्दः समासान्वाख्यानादवगतसंज्ञाभावः संज्ञयाकाङ्क्षी वाक्यशेषसमभिव्याहृतेषु प्राणादिषु वर्तिष्यते। कैश्चित्तु देवाः पितरो गन्धर्वा असुरा रक्षांसि च पञ्च पञ्चजना व्याख्याताः। अन्यैश्च चत्वारो वर्णा निषादपञ्चमाः परिगृहीताः। क्वचिच्च 'यत्पाञ्चजन्यया विशा' (ऋ० सं० ८/५३/७) इति प्रजापरः प्रयोगः पञ्चजनशब्दस्य दृश्यते। तत्परिग्रहेऽपीह न कश्चिद्विरोधः। आचार्यस्तु न पञ्चविंशतेस्तत्त्वानामिह प्रतीतिरस्तीत्येवंपरतया 'प्राणादयो वाक्यशेषात्' इति जगाद॥१२॥

भवेयुस्तावत्प्राणादयः पञ्चजना माध्यंदिनानां येऽन्नं प्राणादिष्वामनन्ति। काण्वानां तु कथं प्राणादयः पञ्चजना भवेयुर्येऽन्नं प्राणादिषु नामनन्तीति। अत उत्तरं पठति—

(११९) ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने॥१३॥

असत्यपि काण्वानामन्ने ज्योतिषा तेषां पञ्चसंख्या पूर्येत। तेऽपि हि 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः' इत्यतः पूर्वस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मस्वरूपनिरूपणायैव ज्योति-रधीयते—'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' इति। कथं पुनरुभयेषामपि तुल्यवदिदं ज्योतिः पठ्यमानं समानमन्त्रगतया पञ्चसंख्यया केषांचिद्गृह्यते केषांचिन्नेति। अपेक्षाभेदादित्याह। माध्यंदिनानां हि समानमन्त्रपठितप्राणादिपञ्चजनलाभान्नास्मिन्मन्त्रान्तरपठिते ज्योतिष्यपेक्षा भवति। तदलाभात्तु काण्वानां भवत्यपेक्षा। अपेक्षाभेदाच्च समानेऽपि मन्त्रे ज्योतिषो ग्रहणाग्रहणे। यथा समानेऽप्यतिरात्रे वचनभेदात्षोडशिनो ग्रहणाग्रहणे तद्वत्। तदेवं न तावच्छ्रुतिप्रसिद्धिः काचित्प्रधानविषयास्ति। स्मृतिन्यायप्रसिद्धी तु परिहरिष्येते॥१३॥

विश्रामः॥ १०॥

* * * *

(३४) कारणत्वाधिकरणम्॥४॥ (सू० १४-१५)

(१२०) कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः॥१४॥

प्रतिपादितं ब्रह्मणो लक्षणम्। प्रतिपादितं च ब्रह्मविषयं गतिसामान्यं

वेदान्तवाक्यानाम्। प्रतिपादितं च प्रधानस्याशब्दत्वम्। तत्रेदमपरमाशङ्क्यते—न जन्मादिकारणत्वं ब्रह्मणो, ब्रह्मविषयं वा गतिसामान्यं वेदान्तवाक्यानां प्रतिपत्तुं शक्यम्। कस्मात्? विगानदर्शनात्। प्रतिवेदान्तं ह्यन्यान्या सृष्टिरुपलभ्यते, क्रमादिवैचित्र्यात्। तथाहि—क्वचित् 'आत्मन आकाशः संभूतः' (तै० २/१) इत्याकाशादिका सृष्टिराम्नायते। क्वचित्तेजआदिका—'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६/२/३) इति। क्वचित्प्राणादिका—'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' (प्र० ६/४) इति। क्वचिदक्रमेणैव लोकानामुत्पत्तिराम्नायते—'स इमाँल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापः' (ऐ० ४/१/२) इति। तथा क्वचिदसत्पूर्विका सृष्टिः पठ्यते—'असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत' (तै० २/७) इति। 'असदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीत्तत्समभवत्' (छा० ३/१९/१) इति च। क्वचिदसद्वादनिराकरणेन सत्पूर्विका प्रक्रिया प्रतिज्ञायते—'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६/२/१,२) इति। क्वचित्स्वयंकर्तृकैव व्याक्रिया जगतो निगद्यते—'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' (बृ० १/४/७) इति। एवमनेकधा विप्रतिपत्तेः, वस्तुनि च विकल्पस्यानुपपत्तेर्न वेदान्तवाक्यानां जगत्कारणावधारणपरता न्याय्या। स्मृतिन्यायप्रसिद्धिभ्यां तु कारणान्तरपरिग्रहो न्याय्य इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—सत्यपि प्रतिवेदान्तं सृज्यमानेष्वाकाशादिषु क्रमादिद्वारके विगानेन स्रष्टरि किंचिद्विगानमस्ति। कुतः? यथाव्यपदिष्टोक्तेः। यथाभूतो ह्येकस्मिन्वेदान्ते सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वात्मैकोऽद्वितीयः कारणत्वेन व्यपदिष्टस्तथाभूत एव वेदान्तान्तरेष्वपि व्यपदिश्यते। तद्यथा—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २/१) इति। अत्र तावज्ज्ञानशब्देन परेण च तद्विषयेण कामयितृत्ववचनेन चेतनं ब्रह्म न्यरूपयदपरप्रयोज्यत्वेनेश्वरं कारणमब्रवीत्। तद्विषयेणैव परेणात्मशब्देन शरीरादिकोशपरंपरया चान्तरनुप्रवेशनेन सर्वेषामन्तःप्रत्यगात्मानं निरधारयत्। 'बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २/६) इति चात्मविषयेण बहुभवनानुशंसनेन सृज्यमानानां विकाराणां स्रष्टुरभेदमभाषत। तथा 'इदं सर्वमसृजत। यदिदं किंच' (तै० २/६) इति समस्तजगत्सृष्टिनिर्देशेन प्राक्सृष्टेरद्वितीयं स्रष्टारमाचष्टे। तदत्र यल्लक्षणं ब्रह्म कारणत्वेन विज्ञातं, तल्लक्षणमेवान्यत्रापि विज्ञायते—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' 'तदैक्षत

बहु स्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६/२/१,३) इति। तथा 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजै' (ऐ० ४/१/१,२) इति च। एवंजातीयकस्य कारणस्वरूपनिरूपणपरस्य वाक्यजातस्य प्रतिवेदान्तमविगीतार्थत्वात्। कार्यविषयं तु विगानं दृश्यते, क्वचिदाकाशादिका सृष्टिः क्वचित्तेजआदिकेत्येवंजातीयकम्। नच कार्यविषयेण विगानेन कारणमपि ब्रह्म सर्ववेदान्तेष्वविगीतमधिगम्यमानमविवक्षितंभवितुमर्हतीति शक्यते वक्तुम्। अतिप्रसङ्गात्। समाधास्यति चाचार्यः कार्यविषयमपि विगानं 'न वियदश्रुतेः' (ब्र० सू० २/३/१) इत्यारभ्य भवेदपि कार्यस्य विगीतत्वमप्रतिपाद्यत्वात्। नह्ययं सृष्ट्यादिप्रपञ्चः प्रतिपिपादयिषितः। नहि तत्प्रतिबद्धः कश्चित्पुरुषार्थो दृश्यते श्रूयते वा। नच कल्पयितुं शक्यते, उपक्रमोपसंहाराभ्यां तत्र तत्र ब्रह्मविषयैर्वाक्यैः साकमेकवाक्यताया गम्यमानत्वात्। दर्शयति च सृष्ट्यादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थताम्—'अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ' (छा० ६/८/४) इति। मृदादिदृष्टान्तैश्च कार्यस्य कारणेनाभेदं वदितुं सृष्ट्यादिप्रपञ्चः श्राव्यत इति गम्यते। तथाच संप्रदायविदो वदन्ति—'मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा। उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन॥' (मा० ३/१५) इति। ब्रह्मप्रतिपत्तिप्रतिबद्धं तु फलं श्रूयते—'ब्रह्मविदाप्नोति परम् (तै० २/१)' 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७/१/३) 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' (श्वे० ३/८) इति। प्रत्यक्षावगमं चेदं फलम्। 'तत्त्वमसि' इत्यसंसार्यात्मत्वप्रतिपत्तौ सत्यां संसार्यात्मत्वव्यावृत्तेः॥१४॥

यत्पुनः कारणविषयं विगानं दर्शितम्—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि, तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—

(१२१) समाकर्षात्॥१५॥

'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तै० २/७) इति नात्रासन्निरात्मकं कारणत्वेन श्राव्यते। यतः 'असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुः' इत्यसद्वादापवादेनास्तित्वलक्षणं ब्रह्मान्नमयादिकोशपरम्परया प्रत्यगात्मानं निर्धार्य 'सोऽकामयत' इति तमेव प्रकृतं समाकृष्य सप्रपञ्चां सृष्टिं तस्माच्छ्रावयित्वा 'तत्सत्यमित्याचक्षते' इति चोपसंहृत्य 'तदप्येषः श्लोको भवति'

इति तस्मिन्नेव प्रकृतेऽर्थे श्लोकमिममुदाहरति—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इति। यदि त्वसन्निरात्मकमस्मिञ्छ्लोकेऽभिप्रेयेत ततोऽन्यसमाकर्षणेऽन्यस्योदाहरणादसंबद्धं वाक्यमापद्येत। तस्मान्नामरूपव्याकृतवस्तुविषयः प्रायेण सच्छब्दः प्रसिद्ध इति तद्व्याकरणाभावापेक्षया प्रागुत्पत्तेः सदेव ब्रह्मासदिवासीदित्युपचर्यते। एषैव 'असदेवेदमग्र आसीत्' (छा० ३/१९/१) इत्यत्रापि योजना। 'तत्सदासीत्' इति समाकर्षणात्। अत्यन्ताभावाभ्युपगमे हि तत्सदासीदिति किं समाकृष्येत। 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' (छा० ६/२/१) इत्यत्रापि न श्रुत्यन्तराभिप्रायेणायमेकीयमतोपन्यासः। क्रियायामिव वस्तुनि विकल्पस्यासंभवात्। तस्माच्छ्रुतिपरिगृहीतसत्पक्षदार्ढ्यायैवायं मन्दमतिपरिकल्पितस्यासत्पक्षस्योपन्यस्य निरास इति द्रष्टव्यम्।

'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (बृ० १/४/७) इत्यत्रापि न निरध्यक्षस्य जगतो व्याकरणं कथ्यते, 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' इत्यध्यक्षस्य व्याकृतकार्यानुप्रवेशित्वेन समाकर्षात्। निरध्यक्षे व्याकरणाभ्युपगमे ह्यनन्तरेण प्रकृतावलम्बिना स इत्यनेन सर्वनाम्ना कः कार्यानुप्रवेशित्वेन समाकृष्येत। चेतनस्य चायमात्मनः शरीरेऽनुप्रवेशः श्रूयते। अनुप्रविष्टस्य चेतनत्वश्रवणात् 'पश्यंश्चक्षुः शृण्वञ्श्रोत्रं मन्वानो मनः' इति। अपिच यादृशमिदमद्यत्वे नामरूपाभ्यां व्याक्रियमाणं जगत्साध्यक्षं व्याक्रियत, एवमादिसर्गेऽपीति गम्यते। दृष्टविपरीतकल्पनानुपपत्तेः। श्रुत्यन्तरमपि 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६/३/२) इति साध्यक्षामेव जगतो व्याक्रियां दर्शयति। व्याक्रियत इत्यपि कर्मकर्तरि लकारः सत्येव परमेश्वरे व्याकर्तरि सौकर्यमपेक्ष्य द्रष्टव्यः। यथा लूयते केदारः स्वयमेवेति पूर्वके लवितरि। यद्वा कर्मण्येवैष लकारोऽर्थाक्षिप्तं कर्तारमपेक्ष्य द्रष्टव्यः। यथा गम्यते ग्राम इति॥१५॥

(३६) बालाक्यधिकरणम् ॥५॥ (सू० १६-१८)

(१२२) जगद्वाचित्वात् ॥१६॥

कौषीतकिब्राह्मणे बालाक्यजातशत्रुसंवादे श्रूयते—'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्यः' (कौ० ब्रा० ४/१८) इति। तत्र किं जीवो वेदितव्यत्वेनोपदिश्यत, उत मुख्यः प्राण, उत परमात्मेति विशयः। किं तावत्प्राप्तम्? प्राण इति। कुतः? 'यस्य वैतत्कर्म' इति श्रवणात्। परिस्पन्द-

लक्षणस्य च कर्मणः प्राणाश्रयत्वात्। वाक्यशेषे च 'अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' इति प्राणशब्ददर्शनात्। प्राणशब्दस्य च मुख्ये प्राणे प्रसिद्धत्वात्। ये चैते पुरस्ताद्बालाकिना 'आदित्ये पुरुषश्चन्द्रमसि पुरुषः' इत्येवमादयः पुरुषा निर्दिष्टास्तेषामपि भवति प्राणः कर्ता प्राणावस्थाविशेषत्वादादित्यादिदेवतात्मनाम्। 'कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते' (बृ० ३/९/९) इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः।

जीवो वायमिह वेदितव्यतयोपदिश्यते। तस्यापि धर्माधर्मलक्षणं कर्म शक्यते श्रावयितुम् 'यस्य वैतत्कर्म' इति। सोऽपि भोक्तृत्वाद्भोगोपकरणभूतानामेतेषां पुरुषाणां कर्तोपपद्यते। वाक्यशेषे च जीवलिङ्गमवगम्यते। यत्कारणं वेदितव्यतयोपन्यस्तस्य पुरुषाणां कर्तुर्वेदनायोपेतं बालाकिं प्रति बुबोधयिषुरजातशत्रुः सुप्तं पुरुषमामन्त्र्यामन्त्रणशब्दाश्रवणात्प्राणादीनामभोक्तृत्वं प्रतिबोध्य यष्टिघातोत्थापनात्प्राणादिव्यतिरिक्तं जीवं भोक्तारं प्रतिबोधयति। तथा परस्तादपि जीवलिङ्गमवगम्यते —'तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्त्येवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते एवमेवैत आत्मान एतमात्मानं भुञ्जन्ति' (कौ० ब्रा० ४/२०) इति। प्राणभृत्त्वाच्च जीवस्योपपन्नं प्राणशब्दत्वम्। तस्माज्जीवमुख्यप्राणयोरन्यतर इह ग्रहणीयो न परमेश्वरः, तल्लिङ्गानवगमादिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वर एवायमेतेषां पुरुषाणां कर्ता स्यात्। कस्मात्? उपक्रमसामर्थ्यात् इह हि बालाकिरजातशत्रुणा सह 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इति संवदितुमुपचक्रमे। स च कतिचिदादित्याद्यधिकरणान्पुरुषानमुख्यब्रह्मदृष्टिभाज उक्त्वा तूष्णीं बभूव। तमजातशत्रुः 'मृषा वै खलु मा संवदिष्ठा ब्रह्म ते ब्रवाणि' इत्यमुख्यब्रह्मवादितयापोद्य तत्कर्तारमन्यं वेदितव्यतयोपचिक्षेप। यदि सोऽप्यमुख्यब्रह्मदृष्टिभाक् स्यादुपक्रमो बाध्येत। तस्मात्परमेश्वर एवायं भवितुमर्हति। कर्तृत्वं चैतेषां पुरुषाणां न परमेश्वरादन्यस्य स्वातन्त्र्येणावकल्पते। 'यस्य वैतत्कर्म' इत्यपि नायं परिस्पन्दलक्षणस्य धर्माधर्मलक्षणस्य वा कर्मणो निर्देशः। तयोरन्यतरस्याप्यप्रकृतत्वात्। असंशब्दितत्वाच्च। नापि पुरुषाणामयं निर्देशः। एतेषां पुरुषाणां कर्तेत्येव तेषां निर्दिष्टत्वात्। लिङ्गवचनविगानाच्च नापि पुरुषविषयस्य करोत्यर्थस्य क्रियाफलस्य वायं निर्देशः, कर्तृशब्देनैव तयोरुपात्तत्वात्। पारिशेष्यात्प्रत्यक्षसंनिहितं जगत्सर्वनाम्नैतच्छब्देन निर्दिश्यते। क्रियत इति च तदेव जगत्कर्म।

ननु जगदप्यप्रकृतमसंशब्दितं च? सत्यमेतत्। तथाप्यसति विशेषोपादाने साधारणेनार्थेन संनिधानेन संनिहितवस्तुमात्रस्यायं निर्देश इति गम्यते न विशिष्टस्य कस्यचित्। विशेषसंनिधानाभावात्। पूर्वत्र च जगदेकदेशभूतानां पुरुषाणां विशेषोपादानादविशेषितं जगदेवेहोपादीयत इति गम्यते। एतदुक्तं भवति—य एतेषां पुरुषाणां जगदेकदेशभूतानां कर्ता, किमनेन विशेषेण, यस्य कृत्स्नमेव जगदविशेषितं कर्मेति। वाशब्द एकदेशावच्छिन्नकर्तृत्वव्यावृत्त्यर्थः। ये बालाकिना ब्रह्मत्वाभिमताः पुरुषाः कीर्तितास्तेषामब्रह्मत्वख्यापनाय विशेषोपादानम्। एवं ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन सामान्यविशेषाभ्यां जगतः कर्ता वेदितव्यतयोपदिश्यते। परमेश्वरश्च सर्वजगतः कर्ता सर्ववेदान्तेष्ववधारितः॥१६॥

(१२३) जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम्॥१७॥

अथ यदुक्तं वाक्यशेषगताज्जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिङ्गाच्च तयोरेवान्यतरस्येह ग्रहणं न्याय्यं, न परमेश्वरस्येति। तत्परिहर्तव्यम्। यत्रोच्यते—परिहृतं चैतत् 'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' (ब्र० सू० १/१/३१) इत्यत्र। त्रिविधं ह्यत्रोपासनमेवं सति प्रसज्येत जीवोपासनं, मुख्यप्राणोपासनं, ब्रह्मोपासनं चेति। न चैतन्न्याय्यम्। उपक्रमोपसंहाराभ्यां हि ब्रह्मविषयत्वमस्य वाक्यस्यावगम्यते। तत्रोपक्रमस्य तावद्ब्रह्मविषयत्वं दर्शितम्। उपसंहारस्यापि निरतिशयफलश्रवणाद्ब्रह्मविषयत्वं दृश्यते —'सर्वान्पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद' इति।

नन्वेवं सति प्रतर्दनवाक्यनिर्णयेनैवेदमपि वाक्यं निर्णीयेत। न निर्णीयते। 'यस्य वैतत्कर्म' इत्यस्य ब्रह्मविषयत्वेन तत्रानिर्धारितत्वात्। तस्मादत्र जीवमुख्यप्राणशङ्का पुनरुत्पद्यमाना निवर्त्यते। प्राणशब्दोऽपि ब्रह्मविषयो दृष्टः 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छा० ६/८/२) इत्यत्र। जीवलिङ्गमप्युपक्रमोपसंहारयोर्ब्रह्मविषयत्वादभेदाभिप्रायेण योजयितव्यम्॥१७॥

(१२४) अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके॥१८॥

अपिच नैवात्र विवदितव्यं जीवप्रधानं वेदं वाक्यं स्याद्ब्रह्मप्रधानं वेति। यतोऽ-

न्यार्थं जीवपरामर्शं ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थमस्मिन्वाक्ये जैमिनिराचार्यो मन्यते। कस्मात्? प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्। प्रश्नस्तावत्सुप्तपुरुषप्रतिबोधनेन प्राणादिव्यतिरिक्ते जीवे प्रतिबोधिते पुनर्जीवव्यतिरिक्तविषयो दृश्यते—'क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत्कुत एतदागात्'? (कौ० ब्रा० ४/१९) इति। प्रतिवचनमपि 'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' इत्यादि 'एतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' (कौ० ब्रा० ४/२०) इति च। सुषुप्तिकाले च परेण ब्रह्मणा जीव एकतां गच्छति। परस्माच्च ब्रह्मणः प्राणादिकं जगज्जायत इति वेदान्तमर्यादा। तस्माद्यत्रास्य जीवस्य निःसंबोधतास्वच्छतारूपः स्वाप उपाधिजनितविशेषविज्ञानरहितं स्वरूपं, यतस्तद्भ्रंशरूपमागमनं, सोऽत्र परमात्मा वेदितव्यतया श्रावित इति गम्यते। अपिचैवमेके शाखिनो वाजसनेयिनोऽस्मिन्नेव बालाक्यजातशत्रुसंवादे स्पष्टं विज्ञानमयशब्देन जीवमाम्नाय तद्व्यतिरिक्तं परमात्मानमामनन्ति—'य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्कुत एतदागात्' (बृ० २/१/१६) इति प्रश्ने। प्रतिवचनेऽपि 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते' इति आकाशशब्दश्च परमात्मनि प्रयुक्तः 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छा० ८/१/१) इत्यत्र। 'सर्व एत आत्मनो व्युच्चरन्ति' इति चोपाधिमतामात्मनामन्यतो व्युच्चरणमामनन्तः परमात्मानमेव कारणत्वेनामनन्तीति गम्यते। प्राणनिराकरणस्यापि सुषुप्तपुरुषोत्थापनेन प्राणादिव्यतिरिक्तोपदेशोऽभ्युच्चयः ॥१८॥

(३७) वाक्यान्वयाधिकरणम् ॥६॥ (सू० १९-२२)

(१२४) वाक्यान्वयात् ॥१९॥

बृहदारण्यके मैत्रेयीब्राह्मणेऽधीयते—'न वा अरे पत्युः कामाय—' इत्युपक्रम्य 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रैय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' (बृ० ४/५/६) इति। तत्रैतद्विचिकित्स्यते —किं विज्ञानात्मैवायं द्रष्टव्यश्रोतव्यत्वादिरूपेणोपदिश्यत, आहोस्वित्परमात्मेति। कुतः पुनरेषा विचिकित्सा? प्रियसंसूचितेनात्मना भोक्त्रोपक्रमाद्विज्ञानात्मोपदेश इति प्रतिभाति। तथात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपदेशात्परमात्मोपदेश इति। किं तावत्प्राप्तम्।

विज्ञानात्मोपदेश इति। कस्मात्? उपक्रमसामर्थ्यात्। पतिजायापुत्रवित्तादिकं हि भोग्यभूतं सर्वं जगदात्मार्थतया प्रियं भवतीति प्रियसंसूचितं भोक्तारमात्मानमुपक्रम्यानन्तरमिदमात्मनो दर्शनाद्युपदिश्यमानं कस्यान्यस्यात्मनः स्यात्। मध्येऽपि 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति प्रकृतस्यैव महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन ब्रुवन्विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यत्वं दर्शयति। तथा 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति कर्तृवचनेन शब्देनोपसंहरन्विज्ञानात्मानमेवेहोपदिष्टं दर्शयति। तस्मादात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानवचनं भोक्त्रर्थत्वाद्भोग्यजातस्यौपचारिकं द्रष्टव्यमिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमात्मोपदेश एवायम्। कस्मात्? वाक्यान्वयात्। वाक्यं हीदं पौर्वापर्येणावेक्ष्यमाणं परमात्मानं प्रति अन्वितावयवं लक्ष्यते। कथमिति, तदुपपाद्यते—'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन' इति याज्ञवल्क्यादुपश्रुत्य 'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहि' इत्यमृतत्वमाशासानाया मैत्रेय्या याज्ञवल्क्य आत्मविज्ञानमिदमुपदिशति। नचान्यत्र परमात्मविज्ञानादमृतत्वमस्तीति श्रुतिस्मृतिवादा वदन्ति। तथा चात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुच्यमानं नान्यत्र परमकारणविज्ञानान्मुख्यमवकल्पते। नचैतदौपचारिकमाश्रयितुं शक्यं, यत्कारणमात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञायानन्तरेण ग्रन्थेन तदेवोपपादयति—'ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद' इत्यादिना। यो हि ब्रह्मक्षत्रादिकं जगदात्मनोऽन्यत्र स्वातन्त्र्येण लब्धसद्भावं पश्यति, तं मिथ्यादर्शिनं तदेव मिथ्यादृष्टं ब्रह्मक्षत्रादिकं जगत्पराकरोतीति भेददृष्टिमपोद्य 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति सर्वस्य वस्तुजातस्यात्माव्यतिरेकमवतारयति। दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्च (बृ० ४/५/८) तमेवाव्यतिरेकं द्रढयति। 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृ० ४/५/११) इत्यादिना च प्रकृतस्यात्मनो नामरूपकर्मप्रपञ्चकारणतां व्याचक्षाणः परमात्मानमेनं गमयति। तथैवैकायनप्रक्रियायामपि (बृ० ४/५/१२) सविषयस्य सेन्द्रियस्य सान्तःकरणस्य प्रपञ्चस्यैकायनमनन्तरमबाह्यं कृत्स्नं प्रज्ञानघनं व्याचक्षाणः परमात्मानमेनं गमयति। तस्मात्परमात्मन एवायं दर्शनाद्युपदेश इति गम्यते॥१९॥

यत्पुनरुक्तं प्रियसंसूचितोपक्रमाद्विज्ञानात्मन एवायं दर्शनाद्युपदेश इति, अत्र ब्रूमः—

(१२५) प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥२०॥

अस्त्यत्र प्रतिज्ञा 'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति', 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति च। तस्याः प्रतिज्ञायाः सिद्धं सूचयत्येतल्लिङ्गं यत्प्रियसंसूचितस्यात्मनो द्रष्टव्यत्वादिसंकीर्तनम्। यदि हि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽन्यः स्यात्ततः परमात्मविज्ञानेऽपि विज्ञानात्मा न विज्ञात इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं यत्प्रतिज्ञातं तद्धीयेत। तस्मात्प्रतिज्ञासिद्ध्यर्थं विज्ञानात्मपरमात्मनोरभेदांशेनोपक्रमणमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते॥२०॥

(१२६) उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः॥२१॥

विज्ञानात्मन एव देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघातोपाधिसंपर्कात्कलुषीभूतस्य ज्ञानध्यानादिसाधनानुष्ठानात्संप्रसन्नस्य देहादिसंघातादुत्क्रमिष्यतः परमात्मैक्योपपत्तेरिदमभेदेनोपक्रमणमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते। श्रुतिश्चैवं भवति—'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छा० ८/१२/३) इति। क्वचिच्च जीवाश्रयमपि नामरूपं नदीनिदर्शनेन ज्ञापयति—'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मुण्ड० ३/२/८) इति। यथा लोके नद्यः स्वाश्रयमेव नामरूपं विहाय समुद्रमुपयन्त्येवं जीवोऽपि स्वाश्रयमेव नामरूपं विहाय परं पुरुषमुपैतीति हि तत्रार्थः प्रतीयते दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्तुल्यतायै॥२१॥

(१२८) अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः॥२२॥

अस्यैव परमात्मनोऽनेनापि विज्ञानात्मभावेनावस्थानादुपपन्नमिदमभेदेनोपक्रमणमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते। तथाच ब्राह्मणम्—'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६/३/२) इत्येवंजातीयकं परस्यैवात्मनो जीवभावेनावस्थानं दर्शयति। मन्त्रवर्णश्च—'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन्यदास्ते' (तै० आ० ३/१२/७) इत्येवंजातीयकः। नच तेजःप्रभृतीनां सृष्टौ जीवस्य पृथक्सृष्टिः श्रुता, येन परस्मादात्मनोऽन्यस्तद्विकारो जीवः स्यात्। काशकृत्स्नस्याचार्यस्याविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम्। आश्मरथ्यस्य तु यद्यपि जीवस्य परस्मादनन्यत्वमभिप्रेतं, तथापि प्रतिज्ञासिद्धेरिति सापेक्षत्वाभिधाना-

त्कार्यकारणभावः कियानप्यभिप्रेत इति गम्यते। औडुलोमिपक्षे पुनः स्पष्टमेवावस्थान्तरापेक्षौ भेदाभेदौ गम्येते तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते, प्रतिपिपादयिषितार्थानुसारात् 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुतिभ्यः। एवं च सति तज्ज्ञानादमृतत्वमवकल्पते। विकारात्मकत्वे हि जीवस्याभ्युपगम्यमाने विकारस्य प्रकृतिसंबन्धे प्रलयप्रसङ्गान्न तज्ज्ञानादमृतत्वमवकल्पेत। अतश्च स्वाश्रयस्य नामरूपस्यासंभवादुपाध्याश्रयं नामरूपं जीव उपचर्यते। अतएवोत्पत्तिरपि जीवस्य क्वचिदग्निविस्फुलिङ्गोदाहरणेन श्राव्यमाणोपाध्याश्रयैव वेदितव्या।

यदप्युक्तं प्रकृतस्यैव महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन दर्शयन्विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यत्वं दर्शयतीति, तत्रापीयमेव त्रिसूत्री योजयितव्या। 'प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः'। इदमत्र प्रतिज्ञातम्—'आत्मनि विदिते सर्वं विदितं भवति' 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २/४/६) इति च। उपपादितं च, सर्वस्य नामरूपकर्मप्रपञ्चस्यैकप्रसवत्वादेकप्रलयत्वाच्च दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्च कार्यकारणयोरव्यतिरेकप्रतिपादनात्। तस्या एव प्रतिज्ञायाः सिद्धिं सूचयत्येतल्लिङ्गं, यन्महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन कथितमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते। अभेदे हि सत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातमवकल्पत इति। 'उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः'। उत्क्रमिष्यतो विज्ञानात्मनो ज्ञानध्यानादिसामर्थ्यात्संप्रसन्नस्य परेणात्मनैक्यसंभवादिदमभेदाभिधानमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते। 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः'। अस्यैव परमात्मनोऽनेनापि विज्ञानात्मभावेनावस्थानादुपपन्नमिदमभेदाभिधानमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते।

ननूच्छेदाभिधानमेतत् 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति' (बृह० २/४/१२) इति, कथमेतदभेदाभिधानम्। नैष दोषः। विशेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेतद्विनाशाभिधानं नात्मोच्छेदाभिप्रायम्। 'अत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति पर्यनुयुज्य स्वयमेव श्रुत्यार्थान्तरस्य दर्शितत्वात्—'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति' इति। एतदुक्तं भवति—कूटस्थनित्य एवायं विज्ञानघन आत्मा नास्योच्छेदप्रसङ्गोऽस्ति। मात्राभिस्त्वस्य भूतेन्द्रियलक्षणाभिरविद्याकृताभिरसंसर्गो विद्यया भवति। संसर्गाभावे च तत्कृतस्य विशेषविज्ञानस्याभावान्न प्रेत्य संज्ञास्तीत्युक्तमिति।

यदप्युक्तम्—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति कर्तृवचनेन शब्देनोपसंहाराद्विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यमिति, तदपि काशकृत्स्नीयेनैव दर्शनेन परिहरणीयम्। अपिच 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० २/४/१३) इत्यारभ्याविद्याविषये तस्यैव दर्शनादिलक्षणं विशेषविज्ञानं प्रपञ्च्य 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादिना विद्याविषये तस्यैव दर्शनादिलक्षणस्य विशेषविज्ञानस्याभावमभिदधाति। पुनश्च विषयाभावेऽपि आत्मानं विजानीयात् इत्याशङ्क्य 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इत्याह। ततश्च विशेषविज्ञानाभावोपपादनपरत्वाद्वाक्यस्य विज्ञानधातुरेव केवलः सन्भूतपूर्वगत्या कर्तृवचनेन तृचा निर्दिष्ट इति गम्यते। दर्शितं तु पुरस्तात्काशकृत्स्नीयस्य पक्षस्य श्रुतिमत्त्वम्। अतश्च विज्ञानात्मपरमात्मनोरविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपरचितदेहाद्युपाधिनिमित्तो भेदो न पारमार्थिक इत्येषोऽर्थः सर्वैर्वेदान्तवादिभिरभ्युपगन्तव्यः। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६/२/१) 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७/२५/२), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (मु० २/२/११), 'इदं सर्वं यदयमात्मा,' (बृ० २/४/६), 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३/७/२३), 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' (बृ० ३/८/११) इत्येवंरूपाभ्यः श्रुतिभ्यः। स्मृतिभ्यश्च 'वासुदेवः सर्वमिति' (गी० ७/१९), 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' (गी० १३/२), 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' (गी० १३/२७) इत्येवंरूपाभ्यः। भेददर्शनापवादाच्च 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः' (बृ० १/४/१०), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४/४/१९) इत्येवंजातीयकात्। 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४/४/२५) इति चात्मनि सर्वविक्रियाप्रतिषेधात्। अन्यथा च मुमुक्षूणां निरपवादविज्ञानानुपपत्तेः, सुनिश्चितार्थत्वानुपपत्तेश्च। निरपवादं हि विज्ञानं सर्वाकाङ्क्षानिवर्तकमात्मविषयमिष्यते, 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' (मु० ३/२/६) इति च श्रुतेः। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईशा० ७) इति च। स्थितप्रज्ञलक्षणस्मृतेश्च (गी० २/५४)। स्थिते च क्षेत्रज्ञपरमात्मैकत्वविषये सम्यग्दर्शने क्षेत्रज्ञः परमात्मेति नाममात्रभेदात्, क्षेत्रज्ञोऽयं परमात्मनो भिन्नः परमात्मायं क्षेत्रज्ञाद्भिन्न इत्येवंजातीयक आत्मभेदविषयो निर्बन्धो निरर्थकः। एको ह्ययमात्मा नाममात्रभेदेन बहुधाऽभिधीयत इति। नहि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायाम्' (तै० २/१) इति कांचिदेवैकां गुहामधिकृत्यैतदुक्तम्। नच ब्रह्मणोऽन्यो

गुहायां निहितोऽस्ति, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २/६) इति स्रष्टुरेव प्रवेशश्रवणात्। ये तु निर्बन्धं कुर्वन्ति ते वेदान्तार्थं बाधमानाः श्रेयोद्वारं सम्यग्दर्शनमेव बाधन्ते। कृतकमनित्यं च मोक्षं कल्पयन्ति। न्यायेन च न संगच्छन्त इति॥२२॥

(३८) *प्रकृत्यधिकरणम्* ॥ ७ ॥ (सू० २३-२७)

(१२९) प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्॥२३॥

यथाभ्युदयहेतुत्वाद्धर्मो जिज्ञास्य, एवं निःश्रेयसहेतुत्वाद्ब्रह्म जिज्ञास्यमित्युक्तम्। ब्रह्म च 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० १/१/२) इति लक्षितम्। तच्च लक्षणं घटरुचकादीनां मृत्सुवर्णादिवत्प्रकृतित्वे कुलालसुवर्णकारादिवन्निमित्तत्वे च समानमित्यतो भवति विमर्शः, किमात्मकं पुनर्ब्रह्मणः कारणत्वं स्यादिति। तत्र निमित्तकारणमेव तावत्केवलं स्यादिति प्रतिभाति। कस्मात्? ईक्षापूर्वककर्तृत्वश्रवणात्। ईक्षापूर्वकं हि ब्रह्मणः कर्तृत्वमवगम्यते—'स ईक्षांचक्रे' (प्र० ६/३) 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६/४) इत्यादिश्रुतिभ्यः। ईक्षापूर्वकं च कर्तृत्वं निमित्तकारणेष्वेव कुलालादिषु दृष्टम्। अनेककारकपूर्विका च क्रियाफलसिद्धिर्लोके दृष्टा। स च न्याय आदिकर्तर्यपि युक्तः संक्रमयितुम्। ईश्वरत्वप्रसिद्धेश्च। ईश्वराणां हि राजवैवस्वतादीनां निमित्तकारणत्वमेव केवलं प्रतीयते, तद्वत्परमेश्वरस्यापि निमित्तकारणत्वमेव युक्तं प्रतिपत्तुम्। कार्यं चेदं जगत्सावयवमचेतनमशुद्धं च दृश्यते, कारणेनापि तस्य तादृशेनैव भवितव्यं, कार्यकारणयोः सारूप्यदर्शनात्। ब्रह्म च नैवंलक्षणमवगम्यते 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६/१९) इत्यादिश्रुतिभ्यः। पारिशेष्याद्ब्रह्मणोऽन्यदुपादानकारणमशुद्ध्यादिगुणकं स्मृतिप्रसिद्धमभ्युपगन्तव्यम्। ब्रह्मकारणत्वश्रुतेर्निमित्तत्वमात्रे पर्यवसानादिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च। न केवलं निमित्तकारणमेव। कस्मात्? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। एवं प्रतिज्ञादृष्टान्तौ श्रौतौ नोपरुध्येते। प्रतिज्ञा तावत्—'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६/१/२) इति। तत्र चैकेन विज्ञातेन सर्वमन्यदविज्ञातमपि विज्ञातं भवतीति प्रतीयते। तच्चोपादानकारणविज्ञाने सर्वविज्ञानं संभवत्युपादानकारणाव्यतिरेकात्कार्यस्य। निमित्तकारणाव्यतिरेकस्तु कार्यस्य नास्ति, लोके तक्ष्णः प्रासादव्यतिरेकदर्शनात्। दृष्टान्तोऽपि—'यथा सोम्यैकेन

मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्युपादानकारणगोचर एवाम्नायते। तथा 'एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्' 'एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात्' (छा० ६/१/४,५,६) इति च। तथान्यत्रापि 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु० १/१/२) इति प्रतिज्ञा। 'यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति' (मु० १/१/७) इति दृष्टान्तः। तथा 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्' इति प्रतिज्ञा। 'स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः' (बृ० ४/५/६, ८) इति दृष्टान्तः। एवं यथासंभवं प्रतिवेदान्तं प्रतिज्ञादृष्टान्तौ प्रकृतित्वसाधनौ प्रत्येतव्यौ। यत इतीयं पञ्चमी 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यत्र 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (पा० सू० १/४/३०) इति विशेषस्मरणात्प्रकृतिलक्षण एवापादाने द्रष्टव्या। निमित्तत्वं त्वधिष्ठात्रन्तराभावादधिगन्तव्यम्। यथा हि लोके मृत्सुवर्णादिकमुपादानकारणं कुलालसुवर्णकारादीनधिष्ठातॄनपेक्ष्य प्रवर्तते, नैव ब्रह्मण उपादानकारणस्य सतोऽन्योऽधिष्ठातापेक्ष्योऽस्ति, प्रागुत्पत्तेरेकमेवाद्वितीयमित्यवधारणात्। अधिष्ठात्रन्तराभावोऽपि प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादेवोदितो वेदितव्यः। अधिष्ठातरि ह्युपादानादन्यस्मिन्नभ्युपगम्यमाने पुनरप्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्यासंभवात्प्रतिज्ञादृष्टान्तोपरोध एव स्यात्। तस्मादधिष्ठात्रन्तराभावादात्मनः कर्तृत्वमुपादानान्तराभावाच्च प्रकृतित्वम्॥२३॥

(१३०) अभिध्योपदेशाच्च॥२४॥

कुतश्चात्मनः कर्तृत्वप्रकृतित्वे—

अभिध्योपदेशश्चात्मनः कर्तृत्वप्रकृतित्वे गमयति 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति', 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति च। तत्राभिध्यानपूर्विकायाः स्वातन्त्र्यप्रवृत्तेः कर्तेति गम्यते। बहुस्यामिति प्रत्यगात्मविषयत्वाद्बहुभवनाभिध्यानस्य प्रकृतिरित्यपि गम्यते॥२४॥

(१३१) साक्षाच्चोभयाम्नानात्॥२५॥

प्रकृतित्वस्यायमभ्युच्चयः। इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं साक्षाद्ब्रह्मैव कारणमुपादायोभौ प्रभवप्रलयावाम्नायेते—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समु-

त्पद्यन्ते। आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' (छा० १/९/१) इति। यद्धि यस्मात्प्रभवति यस्मिंश्च प्रलीयते तत्तस्योपादानं प्रसिद्धम्। यथा व्रीहियवादीनां पृथिवी। साक्षादिति चोपादानान्तरानुपादानं दर्शयत्याकाशादेवेति। प्रत्यस्तमयश्च नोपादानादन्यत्र कार्यस्य दृष्टः॥२५॥

(१३२) आत्मकृतेः परिणामात्॥२६॥

इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्मप्रक्रियायाम् 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २/७) इत्यात्मनः कर्मत्वं कर्तृत्वं च दर्शयति। आत्मानमिति कर्मत्वं, स्वयमकुरुतेति कर्तृत्वम्। कथं पुनः पूर्वसिद्धस्य सतः कर्तृत्वेन व्यवस्थितस्य क्रियमाणत्वं शक्यं संपादयितुम्। परिणामादिति ब्रूमः। पूर्वसिद्धोऽपि हि सन्नात्मा विशेषेण विकारात्मना परिणमयामासात्मानमिति। विकारात्मना च परिणामो मृदाद्यासु प्रकृतिषूपलब्धः। स्वयमिति च विशेषणान्निमित्तान्तरानपेक्षत्वमपि प्रतीयते।

परिणामादिति वा पृथक्सूत्रम्। तस्यैषोऽर्थः—इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्मण एव विकारात्मना परिणामः सामानाधिकरण्येनाम्नायते 'सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च' (तै० २/६) इत्यादिनेति॥२६॥

(१३३) योनिश्च हि गीयते॥२७॥

इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्म योनिरित्यपि पठ्यते वेदान्तेषु 'कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्म योनिम्' (मुण्ड० ३/१/३) इति, 'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' (मु० १/१/६) इति च। योनिशब्दश्च प्रकृतिवचनः समधिगतो लोके 'पृथिवी योनि-रोषधिवनस्पतीनाम्' इति। स्त्रीयोनेरप्यस्त्येवावयवद्वारेण गर्भं प्रत्युपादानकारणत्वम्।

क्वचित्स्थानवचनोऽपि योनिशब्दो दृष्टः—'योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि' (ऋ० सं० १/१०४/१) इति। वाक्यशेषात्त्वत्र प्रकृतिवचनता परिगृह्यते 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' (मु० १/१/७) इत्येवंजातीयकात्। तदेवं प्रकृतित्वं ब्रह्मणः प्रसिद्धम्। यत्पुनरिदमुक्तमीक्षापूर्वकं कर्तृत्वं निमित्तकारणेष्वेव कुलालादिषु लोके दृष्टं नोपा-दानेष्वित्यादि, तत्प्रत्युच्यते—न लोकवदिह भवितव्यम्। नह्ययमनुमानगम्योऽर्थः। शब्दगम्यत्वात्त्वस्यार्थस्य, यथाशब्दमिह भवितव्यम्। शब्दश्चेक्षितुरीश्वरस्य प्रकृतित्वं प्रतिपादयतीत्यवोचाम। पुनश्चैतत्सर्वं विस्तरेण प्रतिवक्ष्यामः॥२७॥

(३९) सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ॥८॥ (सू० २८)

(१३४) एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥२८॥

'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १/१/५) इत्यारभ्य प्रधानकारणवादः सूत्रैरेव पुनः पुनराशङ्क्य निराकृतः, तस्य हि पक्षस्योपोद्बलकानि कानिचिल्लिङ्गाभासानि वेदान्तेष्वापातेन मन्दमतीन्प्रतिभान्तीति। स च कार्यकारणानन्यत्वाभ्युपगमात्प्रत्यासन्नो वेदान्तवादस्य। देवलप्रभृतिभिश्च कैश्चिद्धर्मसूत्रकारैः स्वग्रन्थेष्वाश्रितः, तेन तत्प्रतिषेधे यत्नोऽतीव कृतो नाण्वादिकारणवादप्रतिषेधे। तेऽपि तु ब्रह्मकारणवादपक्षस्य प्रतिपक्षत्वात्प्रतिषेद्धव्याः। तेषामप्युपोद्बलकं वैदिकं किंचिल्लिङ्गमापातेन मन्दमतीन्प्रतिभायादिति। अतः प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेनातिदिशति—एतेन प्रधानकारणवादप्रतिषेधन्यायकलापेन सर्वेऽण्वादिकारणवादा अपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता वैदितव्याः। तेषामपि प्रधानवदशब्दत्वाच्छब्दविरोधित्वाच्चेति। व्याख्याता व्याख्याता इति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति॥२८॥

विश्रामः ॥११॥

****

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥४॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये समन्वयाख्यः प्रथमोऽध्यायः ॥१॥



प्रथमाध्यायस्य पादशोऽधिकरणसूत्राणां सङ्ग्रहः

पादः	अधिकरणानि	सूत्राणि
प्रथमः	११	३१
द्वितीयः	७	३२
तृतीयः	१३	४३
चतुर्थः	८	२८
योगः	३९	१३४

ॐ

॥ अथाविरोधाख्यो द्वितीयोऽध्यायः ॥

प्रथमः पादः

(द्वितीये अविरोधाख्याध्याये प्रथमपादे सांख्ययोगकाणादादिस्मृतिभिः सांख्यादिप्रयुक्ततर्कैश्च वेदान्तसमन्वयविरोधपरिहारः)

(४०) स्मृत्यधिकरणम् ॥१॥ (सू० १-२)

प्रथमेऽध्याये सर्वज्ञः सर्वेश्वरो जगत उत्पत्तिकारणं, मृत्सुवर्णादय इव घटरुचकादीनाम्। उत्पन्नस्य जगतो नियन्तृत्वेन स्थितिकारणं, मायावीव मायायाः। प्रसारितस्य च जगतः पुनः स्वात्मन्येवोपसंहारकारणं, अवनिरिव चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य। स एव च सर्वेषां न आत्मेत्येतद्वेदान्तवाक्यसमन्वयप्रतिपादनेन प्रतिपादितम्। प्रधानादिकारणवादाश्चाशब्दत्वेन निराकृताः। इदानीं स्वपक्षे स्मृतिन्यायविरोधपरिहारः, प्रधानादिवादानां च न्यायाभासोपबृंहितत्वं, प्रतिवेदान्तं च सृष्ट्यादिप्रक्रियाया अविगीतत्वमित्यस्यार्थजातस्य प्रतिपादनाय द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते। तत्र प्रथमं तावत्स्मृतिविरोधमुपन्यस्य परिहरति—

(१३५) स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥१॥

यदुक्तं ब्रह्मैव सर्वज्ञं जगतः कारणमिति, तदयुक्तम्। कुतः ? स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्। स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता शिष्टपरिगृहीता, अन्याश्च तदनुसारिण्यः स्मृतयः, एवं सत्यनवकाशाः प्रसज्येरन्। तासु ह्यचेतनं प्रधानं स्वतन्त्रं जगतः कारणमुपनिबध्यते। मन्वादिस्मृतयस्तावच्चोदनालक्षणेनाग्निहोत्रादिना धर्मजातेनापेक्षितमर्थं समर्पयन्त्यः सावकाशा भवन्ति। अस्य वर्णस्यास्मिन्कालेऽनेन विधानेनोपनयनं, ईदृशश्चाचारः, इत्थं वेदाध्ययनं, इत्थं समावर्तनं, इत्थं सहधर्मचारिणीसंयोग इति। तथा पुरुषार्थाश्च वर्णाश्रमधर्मान्नानाविधान्विदधति। नैवं कपिलादिस्मृतीनामनुष्ठेये विषयेऽवकाशोऽस्ति। मोक्षसाधनमेव हि सम्यग्दर्शनमधिकृत्य ताः प्रणीताः। यदि तत्राप्यनवकाशाः स्युरानर्थक्यमेवासां प्रसज्येत। तस्मात्तदविरोधेन वेदान्ता व्याख्यातव्याः।

कथं पुनरीक्षत्यादिभ्यो हेतुभ्यो ब्रह्मैव सर्वज्ञं जगतः कारणमित्यवधारितः श्रुत्यर्थः स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गेन पुनराक्षिप्यते। भवेदयमनाक्षेपः स्वतन्त्रप्रज्ञानाम्। परतन्त्रप्रज्ञास्तु प्रायेण जनाः स्वातन्त्र्येण श्रुत्यर्थमवधारयितुमशक्नुवन्तः प्रख्यातप्रणेतृकाः स्मृतीरवलम्बेरन्। तद्बलेन च श्रुत्यर्थं प्रतिपित्सेरन्। अस्मत्कृते च व्याख्याने न विश्वस्युर्बहुमानात्स्मृतीनां प्रणेतृषु। कपिलप्रभृतीनां चार्षं ज्ञानमप्रतिहतं स्मर्यते। श्रुतिश्च भवति—'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्' (श्वे० ५/२) इति। तस्मान्नैषां मतमयथार्थं शक्यं संभावयितुम्। तर्कावष्टम्भेन चैतेऽर्थं प्रतिष्ठापयन्ति। तस्मादपि स्मृतिबलेन वेदान्ता व्याख्येया इति पुनराक्षेपः।

तस्य समाधिः नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गादिति। यदि स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गेनेश्वरकारणवाद आक्षिप्येत, एवमप्यन्या ईश्वरकारणवादिन्यः स्मृतयोऽनवकाशाः प्रसज्येरन्। ता उदाहरिष्यामः—'यत्तत्सूक्ष्ममविज्ञेयम्' इति परं ब्रह्म प्रकृत्य 'स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते' इति चोक्त्वा 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम' इत्याह। तथान्यत्रापि 'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निर्गुणे संप्रलीयते' इत्याह। 'अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः। स सर्गकाले च करोति सर्वं संहारकाले च तदत्ति भूयः॥' इति पुराणे। भगवद्गीतासु च 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' (गी० ७/६) इति। परमात्मानमेव च प्रकृत्यापस्तम्बः पठति—'तस्मात्काद्याः प्रभवन्ति सर्वे स मूलं शाश्वतिकः स नित्यः' (ध० सू० १/८/२३/२) इति। एवमनेकशः स्मृतिष्वपीश्वरः कारणत्वेनोपादानत्वेन च प्रकाश्यते। स्मृतिबलेन प्रत्यवतिष्ठमानस्य स्मृतिबलेनैवोत्तरं वक्ष्यामीत्यतोऽयमन्यस्मृत्यनवकाशदोषोपन्यासः। दर्शितं तु श्रुतीनामीश्वरकारणवादं प्रति तात्पर्यम्। विप्रतिपत्तौ च स्मृतीनामवश्यकर्तव्येऽन्यतरपरिग्रहेऽन्यतरपरित्यागे च श्रुत्यनुसारिण्यः स्मृतयः प्रमाणमनपेक्ष्या इतराः। तदुक्तं प्रमाणलक्षणे—'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' (जै० १/३/३) इति। नचातीन्द्रियानर्थाञ्श्रुतिमन्तरेण कश्चिदुपलभत इति शक्यं संभावयितुं, निमित्ताभावात्। शक्यं कपिलादीनां सिद्धानामप्रतिहतज्ञानत्वादिति चेत्। न। सिद्धेरपि सापेक्षत्वात्। धर्मानुष्ठानापेक्षा हि सिद्धिः। स च धर्मश्चोदनालक्षणः। ततश्च पूर्वसिद्धायाश्चोदनाया अर्थो न पश्चिमसिद्धपुरुषवचनवशेनातिशङ्कितुं शक्यते। सिद्धव्यपाश्रयकल्पनायामपि बहुत्वात्सिद्धानां प्रदर्शितेन प्रकारेण स्मृतिविप्रतिपत्तौ सत्यां न श्रुतिव्यपाश्रयादन्यन्निर्णयकारणमस्ति।

परतन्त्रप्रज्ञस्यापि नाकस्मात्स्मृतिविशेषविषयः पक्षपातो युक्तः। कस्यचित्क्वचित्पक्षपाते सति पुरुषमतिवैश्वरूप्येण तत्त्वाव्यवस्थानप्रसङ्गात्। तस्मात्तस्यापि स्मृतिविप्रतिपत्त्युपन्यासेन श्रुत्यनुसाराननुसारविषयविवेचनेन च सन्मार्गे प्रज्ञा संग्रहणीया।

या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता, न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यं, कापिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्। अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्। अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्यासाधकत्वात्। भवति चान्या मनोर्माहात्म्यं प्रख्यापयन्ती श्रुतिः—'यद्वै किंच मनुरवदत्तद्भेषजम्' (तै० सं० २/२/१०/२) इति। मनुना च 'सर्वभूतेषु चात्मानं। सर्वभूतानि चात्मनि। संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति॥' (१२/ ९१) इति सर्वात्मत्वदर्शनं प्रशंसता कापिलं मतं निन्द्यत इति गम्यते। कपिलो हि न सर्वात्मत्वदर्शनमनुमन्यते, आत्मभेदाभ्युपगमात्। महाभारतेऽपि च 'बहवः पुरुषा ब्रह्मन्नुताहो एक एव तु' इति विचार्य 'बहवः पुरुषा राजन्सांख्ययोगविचारिणाम्' इति परपक्षमुपन्यस्य तद्व्युदासेन—'बहूनां पुरुषाणां हि यथैका योनिरुच्यते। तथा तं पुरुषं विश्वमाख्यास्यामि गुणाधिकम्॥' इत्युपक्रम्य 'ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहसंस्थिताः। सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित्क्वचित्॥' विश्वमूर्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनासिकः। एकश्चरति भूतेषु स्वैरचारी यथासुखम्॥' इति सर्वात्मतैव निर्धारिता। श्रुतिश्च सर्वात्मतायां भवति—'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ई० ७) इत्येवंविधा। अतश्च सिद्धमात्मभेदकल्पनयापि कपिलस्य तन्त्रं वेदविरुद्धं वेदानुसारिमनुवचनविरुद्धं च, न केवलं स्वतन्त्रप्रकृतिकल्पनयैवेति। वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूपविषये। पुरुषवचसां तु मूलान्तरापेक्षं वक्तृस्मृतिव्यवहितं चेति विप्रकर्षः। तस्माद्वेदविरुद्धे विषये स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो न दोषः॥ १॥

कुतश्च स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो न दोषः—

(१३६) इतरेषां चानुपलब्धेः॥ २॥

प्रधानादितराणि यानि प्रधानपरिणामत्वेन स्मृतौ कल्पितानि महदादीनि, न तानि वेदे लोके वोपलभ्यन्ते। भूतेन्द्रियाणि तावल्लोकवेदप्रसिद्धत्वाच्छक्यन्ते

स्मर्तुम्। अलोकवेदप्रसिद्धत्वात्तु महदादीनां षष्ठस्येवेन्द्रियार्थस्य न स्मृतिरवकल्पते। यदपि क्वचित्तत्परमिव श्रवणमवभासते, तदप्यतत्परं व्याख्यातम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' (ब्र० १/४/१) इत्यत्र। कार्यस्मृतेरप्रामाण्यात्कारणस्मृतेरप्यप्रामाण्यं युक्तमित्यभिप्रायः। तस्मादपि न स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो दोषः। तर्कावष्टम्भं तु 'न विलक्षणत्वात्' (ब्र० २/१/४) इत्यारभ्योन्मथिष्यति॥ २॥

(४१) योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् ॥ २ ॥ (सू० ३)

(१३७) एतेन योगः प्रत्युक्तः॥ ३॥

एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता द्रष्टव्येत्यतिदिशति। तत्रापि श्रुतिविरोधेन प्रधानं स्वतन्त्रमेव कारणं, महदादीनि च कार्याण्यलोकवेदप्रसिद्धानि कल्प्यन्ते। नन्वेवं सति समानन्यायत्वात्पूर्वेणैवैतद्गतं, किमर्थं पुनरतिदिश्यते। अस्ति ह्यत्राभ्यधिकाशङ्का। सम्यग्दर्शनाभ्युपायो हि योगो वेदे विहितः 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २/४/५) इति। 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्' (श्वे० २/८) इत्यादिना चासनादिकल्पनापुरःसरं बहुप्रपञ्चं योगविधानं श्वेताश्वतरोपनिषदि दृश्यते। लिङ्गानि च वैदिकानि योगविषयाणि सहस्रश उपलभ्यन्ते 'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्' (का० २/६/११) इति 'विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्' (का० २/६/१८) इति चैवमादीनि। योगशास्त्रेऽपि 'अथ तत्त्वदर्शनोपायो योगः' इति सम्यग्दर्शनाभ्युपायत्वेनैव योगोऽङ्गीक्रियते। अतः संप्रतिपन्नार्थैकदेशत्वादष्टकादिस्मृतिवद्योगस्मृतिरप्यनपवदनीया भविष्यतीति। इयमप्यधिकाशङ्काऽतिदेशेन निवर्त्यते। अर्थैकदेशसंप्रतिपत्तावप्यर्थैकदेशविप्रतिपत्तेः पूर्वोक्ताया दर्शनात्। सतीष्वप्यध्यात्मविषयासु बह्वीषु स्मृतिषु सांख्ययोगस्मृत्योरेव निराकरणे यत्नः कृतः। सांख्ययोगौ हि परमपुरुषार्थसाधनत्वेन लोके प्रख्यातौ, शिष्टैश्च परिगृहीतौ, लिङ्गेन च श्रौतेनोपबृंहितौ। 'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' (श्वे० ६/१३) इति। निराकरणं तु न सांख्यज्ञानेन वेदनिरपेक्षेण योगमार्गेण वा निःश्रेयसमधिगम्यत इति। श्रुतिर्हि वैदिकादात्मैकत्वविज्ञानादन्यन्निःश्रेयससाधनं वारयति 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३/८) इति। द्वैतिनो हि ते सांख्या योगाश्च, नात्मैकत्वदर्शिनः। यत्तु दर्शनमुक्तं तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नम्' इति, वैदिकमेव तत्र

ज्ञानं ध्यानं च सांख्ययोगशब्दाभ्यामभिलप्यते प्रत्यासत्तेरित्यवगन्तव्यम्। येन त्वंशेन न विरुध्येते तेनेष्टमेव सांख्ययोगस्मृत्योः सावकाशत्वम्। तद्यथा—'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४/३/१६) इत्येवमादिश्रुतिप्रसिद्धमेव पुरुषस्य विशुद्धत्वं निर्गुण-पुरुषनिरूपणेन सांख्यैरभ्युपगम्यते। तथाच योगैरपि 'अथ परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः' (जाबा० ५) इत्येवमादि श्रुतिप्रसिद्धमेव निवृत्तिनिष्ठत्वं प्रव्रज्याद्यु-पदेशेनानुगम्यते। एतेन सर्वाणि तर्कस्मरणानि प्रतिवक्तव्यानि। तान्यपि तर्कोप-पत्तिभ्यां तत्त्वज्ञानायोपकुर्वन्तीति चेदुपकुर्वन्तु नाम। तत्त्वज्ञानं तु वेदान्तवाक्येभ्य एव भवति 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३/१२/९/७) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० ३/९/२६) इत्येवमादिश्रुतिभ्यः॥३॥

(१४२) विलक्षणत्वाधिकरणम्॥३॥ (सू० ४-१२)

(१३८) न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्॥४॥

ब्रह्मास्य जगतो निमित्तकारणं प्रकृतिश्चेत्यस्य पक्षस्याक्षेपः स्मृतिनिमित्तः परिहृतः। तर्कनिमित्त इदानीमाक्षेपः परिह्रियते। कुतः पुनरस्मिन्नवधारित आगमार्थे तर्कनिमित्तस्याक्षेपस्यावकाशः। ननु धर्म इव ब्रह्मण्यप्यनपेक्ष आगमो भवितुमर्हति। भवेदयमवष्टम्भो यदि प्रमाणान्तरानवगाह्य आगममात्रप्रमेयोऽयमर्थः स्यादनुष्ठेयरूप इव धर्मः। परिनिष्पन्नरूपं तु ब्रह्मावगम्यते। परिनिष्पन्ने च वस्तुनि प्रमाणान्तराणामस्त्य-वकाशो, यथा पृथिव्यादिषु। यथाच श्रुतीनां परस्परविरोधे सत्येकवशेनेतरा नीयन्ते, एवं प्रमाणान्तरविरोधेऽपि तद्वशेनैव श्रुतिर्नीयेत। दृष्टसाम्येन चादृष्टमर्थं समर्थयन्ती युक्तिरनुभवस्य संनिकृष्यते। विप्रकृष्यते तु श्रुतिरैतिह्यमात्रेण स्वार्थाभिधानात्। अनु-भवावसानं च ब्रह्मविज्ञानमविद्याया निवर्तकं मोक्षसाधनं च दृष्टफलतयेष्यते। श्रुतिरपि—'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इति श्रवणव्यतिरेकेण मननं विदधती तर्कमप्यत्रा-दर्तव्यं दर्शयति। अतस्तर्कनिमित्तः पुनराक्षेपः क्रियते 'न विलक्षणत्वादस्य' इति। यदुक्तं चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिरिति तन्नोपपद्यते। कस्मात्। विल-क्षणत्वादस्य विकारस्य प्रकृत्याः। इदं हि ब्रह्मकार्यत्वेनाभिप्रेयमाणं जगत् ब्रह्म-विलक्षणमचेतनमशुद्धं च दृश्यते। ब्रह्म च जगद्विलक्षणं चेतनं शुद्धं च श्रूयते। नच विलक्षणत्वे प्रकृतिविकारभावो दृष्टः। नहि रुचकादयो विकारा मृत्प्रकृतिका भवन्ति, शरावादयो वा सुवर्णप्रकृतिकाः। मृदैव तु मृदन्विता विकाराः क्रियन्ते,

सुवर्णेन च सुवर्णान्विताः। तथेदमपि जगदचेतनं सुखदुःखमोहान्वितं सदचेतनस्यैव सुखदुःखमोहात्मकस्य कारणस्य कार्यं भवितुमर्हतीति न विलक्षणस्य ब्रह्मणः। ब्रह्मविलक्षणत्वं चास्य जगतोऽशुद्ध्यचेतनत्वदर्शनादवगन्तव्यम्। अशुद्धं हि जगत्सुखदुःखमोहात्मकतया प्रीतिपरितापविषादादिहेतुत्वात्स्वर्गनरकाद्युच्चावचप्रपञ्चत्वाच्च। अचेतनं चेदं जगच्चेतनं प्रति कार्यकारणभावेनोपकरणभावोपगमात्। नहि साम्ये सत्युपकार्योपकारकभावो भवति। नहि प्रदीपौ परस्परस्योपकुरुतः।

ननु चेतनमपि कार्यकारणं स्वामिभृत्यन्यायेन भोक्तुरुपकरिष्यति। न। स्वामिभृत्ययोरप्यचेतनांशस्यैव चेतनं प्रत्युपकारकत्वात्। यो ह्येकस्य चेतनस्य परिग्रहो बुद्ध्यादिरचेतनभागः, स एवान्यस्य चेतनस्योपकरोति, नतु स्वयमेव चेतनश्चेतनान्तरस्योपकरोत्यपकरोति वा। निरतिशया ह्यकर्तारश्चेतना इति सांख्या मन्यन्ते। तस्मादचेतनं कार्यकारणम्। नच काष्ठलोष्टादीनां चेतनत्वे किंचित्प्रमाणमस्ति। प्रसिद्धश्चायं चेतनाचेतनविभागो लोके। तस्माद्ब्रह्मविलक्षणत्वान्नेदं जगत्तत्प्रकृतिकम्।

योऽपि कश्चिदाचक्षीत श्रुत्वा जगतश्चेतनप्रकृतिकतां तद्बलेनैव समस्तं जगच्चेतनमवगमयिष्यामि। प्रकृतिरूपस्य विकारेऽन्वयदर्शनात्। अविभावनं तु चैतन्यस्य परिणामविशेषाद्भविष्यति। यथा स्पष्टचैतन्यानामप्यात्मनां स्वापमूर्च्छाद्यवस्थासु चैतन्यं न विभाव्यत, एवं काष्ठलोष्टादीनामपि चैतन्यं न विभावयिष्यते। एतस्मादेव च विभाविताविभावितत्वकृताद्विशेषाद्रूपादिभावाभावाभ्यां च कार्यकारणानामात्मनां च चेतनत्वाविशेषेऽपि गुणप्रधानभावो न विरोत्स्यते। यथा च पार्थिवत्वाविशेषेऽपि मांससूपौदनादीनां प्रत्यात्मवर्तिनो विशेषात्परस्परोपकारित्वं भवत्येवमिहापि भविष्यति। प्रविभागप्रसिद्धिरप्यत एव न विरोत्स्यत इति। तेनापि कथंचिच्चेतनाचेतनत्वलक्षणं विलक्षणत्वं परिह्रियेत। शुद्ध्यशुद्धित्वलक्षणं तु विलक्षणत्वं नैव परिह्रियते। नचेतरदपि विलक्षणत्वं परिहर्तुं शक्यत इत्याह—तथात्वं च शब्दादिति। अनवगम्यमानमेव हीदं लोके समस्तस्य वस्तुनश्चेतनत्वं चेतनप्रकृतिकत्वश्रवणाच्छब्दशरणतया केवलयोत्प्रेक्ष्येत, तच्च शब्देनैव विरुध्यते। यतः शब्दादपि तथात्वमवगम्यते। तथात्वमिति प्रकृतिविलक्षणत्वं कथयति। शब्द एव 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' (तै० २/६) इति कस्यचिद्विभागस्याचेतनतां श्रावयंश्चेतनाद्ब्रह्मणो विलक्षणमचेतनं जगच्छ्रावयति॥ ४॥

ननु चेतनत्वमपि क्वचिदचेतनत्वाभिमतानां भूतेन्द्रियाणां श्रूयते। यथा 'मृदब्रवीत्' 'आपोऽब्रुवन्' (श० प० ब्रा० ६/१/३/२/४) इति, 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' (छा० ६/२/३,४) इति चैवमाद्या भूतविषया चेतनत्वश्रुतिः। इन्द्रियविषयापि 'ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः' (बृ० ६/१/७) इति, 'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति' (बृ० १/३/२) इत्येवमाद्येन्द्रियविषयेति। अत उत्तरं पठति—

(१३९) अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्॥५॥

तुशब्द आशङ्कामपनुदति। न खलु मृदब्रवीदित्येवंजातीयकया श्रुत्या भूतेन्द्रियाणां चेतनत्वमाशङ्कनीयम्। यतोऽभिमानिव्यपदेश एषः। मृदाद्यभिमानिन्यो वागाद्यभिमानिन्यश्च चेतना देवता वदनसंवदनादिषु चेतनोचितेषु व्यवहारेषु व्यपदिश्यन्ते, न भूतेन्द्रियमात्रम्। कस्मात्? विशेषानुगतिभ्याम्। विशेषो हि भोक्तॄणां भूतेन्द्रियाणां च चेतनाचेतनप्रविभागलक्षणः प्रागभिहितः। सर्वचेतनतायां चासौ नोपपद्येत। अपिच कौषीतकिनः प्राणसंवादे करणमात्राशङ्काविनिवृत्तयेऽधिष्ठातृचेतनपरिग्रहाय देवताशब्देन विशिषन्ति—'एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' इति। ता वा एताः सर्वा देवताः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा' (२/१४) इति च। अनुगताश्च सर्वत्राभिमानिन्यश्चेतना देवता मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणादिभ्योऽवगम्यन्ते। 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० आ० २/४/२/४) इत्येवमादिका च श्रुतिः करणेष्वनुग्राहिकां देवतामनुगतां दर्शयति। प्राणसंवादवाक्यशेषे च 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः' (छा० ५/१/७) इति श्रेष्ठत्वनिर्धारणाय प्रजापतिगमनं, तद्वचनाच्चैकैकोत्क्रमणेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राणश्रैष्ठ्यप्रतिपत्तिः। 'तस्मै बलिहरणम्' (बृ० ६/१/१३) इति चैवंजातीयकोऽस्मदादिष्विव व्यवहारोऽनुगम्यमानोऽभिमानिव्यपदेशं द्रढयति। 'तत्तेज ऐक्षत' इत्यपि परस्या एव देवताया अधिष्ठात्र्याः स्वविकारेष्वनुगताया इयमीक्षा व्यपदिश्यत इति द्रष्टव्यम्। तस्माद्विलक्षणमेवेदं ब्रह्मणो जगत्॥५॥

विलक्षणत्वाच्च न ब्रह्मप्रकृतिकमित्याक्षिप्ते प्रतिविधत्ते—

(१४०) दृश्यते तु॥६॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। यदुक्तं विलक्षणत्वान्नेदं जगद्ब्रह्मप्रकृतिकमिति। नाय-

मेकान्तः। दृश्यते हि लोके चेतनत्वेन प्रसिद्धेभ्यः पुरुषादिभ्यो विलक्षणानां केशनखादीनामुत्पत्तिः, अचेतनत्वेन च प्रसिद्धेभ्यो गोमयादिभ्यो वृश्चिकादीनाम्।

नन्वचेतनान्येव पुरुषादिशरीराण्यचेतनानां केशनखादीनां कारणानि, अचेतनान्येव च वृश्चिकादिशरीराण्यचेतनानां गोमयादीनां कार्याणीति। उच्यते—एवमपि किंचिदचेतनं चेतनस्यायतनभावमुपगच्छति किंचिन्नेत्यस्त्येव वैलक्षण्यम्। महांश्चायं पारिणामिकः स्वभावविप्रकर्षः पुरुषादीनां केशनखादीनां च स्वरूपादिभेदात्। तथा गोमयादीनां वृश्चिकादीनां च। अत्यन्तसारूप्ये च प्रकृतिविकारभाव एव प्रलीयेत। अथोच्येतास्ति कश्चित्पार्थिवत्वादिस्वभावः पुरुषादीनां केशनखादिष्वनुवर्तमानो गोमयादीनां वृश्चिकिादिष्विति। ब्रह्मणोऽपि तर्हि सत्तालक्षणः स्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमानो दृश्यते। विलक्षणत्वेन च कारणेन ब्रह्मप्रकृतिकत्वं जगतो दूषयता किमशेषस्य ब्रह्मस्वभावस्याननुवर्तनं विलक्षणत्वमभिप्रेयत, उत यस्य कस्यचिदथ चैतन्यस्येति वक्तव्यम्। प्रथमे विकल्पे समस्तप्रकृतिविकारोच्छेदप्रसङ्गः। नह्यसत्यतिशये प्रकृतिविकार इति भवति। द्वितीये चासिद्धत्वम्। दृश्यते हि सत्तालक्षणो ब्रह्मस्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमान इत्युक्तम्। तृतीये तु दृष्टान्ताभावः। किं हि यच्चैतन्येनानन्वितं तदब्रह्मप्रकृतिकं दृष्टमिति ब्रह्मवादिनं प्रत्युदाह्रियेत। समस्तस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मप्रकृतिकत्वाभ्युपगमात्। आगमविरोधस्तु प्रसिद्ध एव। चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यागमतात्पर्यस्य प्रसाधितत्वात्।

यत्तूक्तं परिनिष्पन्नत्वाद्ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि संभवेयुरिति; तदपि मनोरथमात्रम्। रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः। लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनाम्। आगममात्रसमधिगम्य एव त्वयमर्थो धर्मवत्। तथाच श्रुतिः—'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ' (का० १/२/९) इति। 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्'। 'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव' (ऋ० सं० १/३०/६) इति चैते ऋचौ सिद्धानामपीश्वराणां दुर्बोधतां जगत्कारणस्य दर्शयतः। स्मृतिरपि भवति—'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इति। 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' (गी० २/२५) इति च। 'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः। अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः' (गी० १०/२) इति चैवंजातीयका। यदपि श्रवणव्यतिरेकेण मननं विदधच्छब्द एव तर्कमप्यादर्तव्यं दर्श-

यतीत्युक्तम्। नानेन मिषेण शुष्कतर्कस्यात्रात्मलाभः संभवति। श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाश्रीयते। स्वप्नान्तबुद्धान्तयोरुभयोरितेतरव्यभिचारादात्मनोऽनन्वागतत्वं, संप्रसादे च प्रपञ्चपरित्यागेन सदात्मना संपत्तेर्निष्प्रपञ्चसदात्मत्वं, प्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रभवत्वात्मकार्यकारणानन्यत्वन्यायेन ब्रह्माव्यतिरेक इत्येवंजातीयकः। 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (ब्र० २/१/११) इति च केवलस्य तर्कस्य विप्रलम्भकत्वं दर्शयिष्यति।

योऽपि चेतनकारणश्रवणबलेनैव समस्तस्य जगतश्चेतनतामुत्प्रेक्षते, तस्यापि 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' इति चेतनाचेतनविभागश्रवणं विभावनाऽविभावनाभ्यां चैतन्यस्य शक्यत एव योजयितुम्। परस्यैव त्विदमपि विभागश्रवणं न युज्यते। कथम्? परमकारणस्य ह्यत्र समस्तजगदात्मना समवस्थानं श्राव्यते 'विज्ञानं चाविज्ञानं चाभवत्' इति। तत्र यथा चेतनस्याचेतनभावो नोपपद्यते, विलक्षणत्वात्, एवमचेतनस्यापि चेतनभावो नोपपद्यते। प्रत्युक्तत्वात्तु वैलक्षणयस्य यथाश्रुत्यैव चेतनं कारणं ग्रहीतव्यं भवति॥६॥

(१४१) असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात्॥७॥

यदि चेतनं शुद्धं शब्दादिहीनं च ब्रह्म तद्विपरीतस्याचेतनस्याशुद्धस्य शब्दादिमतश्च कार्यस्य कारणमिष्येतासत्तर्हि कार्यं प्रागुत्पत्तेरिति प्रसज्येत। अनिष्टं चैतत्सत्कार्यवादिनस्तवेति चेत्। नैष दोषः। प्रतिषेधमात्रत्वात्। प्रतिषेधमात्रं हीदं नास्य प्रतिषेधस्य प्रतिषेध्यमस्ति। नह्ययं प्रतिषेधः प्रागुत्पत्तेः सत्त्वं कार्यस्य प्रतिषेद्धुं शक्नोति। कथम्? यथैव हीदानीमपीदं कार्यं कारणात्मना सदेवं प्रागुत्पत्तेरपीति गम्यते। नहीदानीमपीदं कार्यं कारणात्मानमन्तरेण स्वतन्त्रमेवास्ति। सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ० २/४/६) इत्यादिश्रवणात्। कारणात्मना तु सत्त्वं कार्यस्य प्रागुत्पत्तेरविशिष्टम्। ननु शब्दादिहीनं ब्रह्म जगतः कारणम्। बाढम्। नतु शब्दादिमत्कार्यं कारणात्मना हीनं प्रागुत्पत्तेरिदानीं वास्ति। तेन न शक्यते वक्तुं प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यमिति। विस्तरेण चैतत्कार्यकारणानन्यत्ववादे वक्ष्यामः॥७॥

(१४२) अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम्॥८॥

अत्राह—यदि स्थौल्यसावयवत्वाचेतनत्वपरिच्छिन्नत्वाशुद्ध्यादिधर्मकं कार्यं

ब्रह्मकारणमभ्युपगम्येत, तदपीतौ प्रलये प्रतिसंसृज्यमानं कार्यं कारणाविभागमापद्यमानं कारणमात्मीयेन धर्मेण दूषयेदित्यपीतौ कारणस्यापि ब्रह्मणः कार्यस्येवाशुद्ध्यादिरूपप्रसङ्गात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगत्कारणमित्यसमञ्जसमिदमौपनिषदं दर्शनम्। अपिच समस्तस्य विभागस्याविभागप्राप्तेः पुनरुत्पत्तौ नियमकारणाभावाद्भोक्तृभोग्यादिविभागेनोत्पत्तिर्न प्राप्नोतीत्यसमञ्जसम्। अपिच भोक्तॄणां परेण ब्रह्मणाऽविभागं गतानां कर्मादिनिमित्तप्रलयेऽपि पुनरुत्पत्तावभ्युपगम्यमानायां मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गादसमञ्जसम्। अथेदं जगदपीतावपि विभक्तमेव परेण ब्रह्मणावतिष्ठेत, एवमप्यपीतिश्च न संभवति, कारणाव्यतिरिक्तं च कार्यं न संभवतीत्यसमञ्जसमेवेति॥ ८॥

अत्रोच्यते—

(१४३) न तु दृष्टान्तभावात्॥ ९॥

नैवास्मदीये दर्शने किंचिदसामञ्जस्यमस्ति। यत्तावदभिहितं कारणमपिगच्छत्कार्यं कारणमात्मीयेन धर्मेण दूषयेदिति, तददूषणम्। कस्मात्? दृष्टान्तभावात्। सन्ति हि दृष्टान्ता, यथा कारणमपिगच्छत्कार्यं कारणमात्मीयेन धर्मेण न दूषयति। तद्यथा शरावादयो मृत्प्रकृतिका विकारा विभागावस्थायामुच्चावचमध्यमप्रभेदाः सन्तः पुनः प्रकृतिमपिगच्छन्तो न तामात्मीयेन धर्मेण संसृजन्ति। रुचकादयश्च सुवर्णविकारा अपीतौ न सुवर्णमात्मीयेन धर्मेण संसृजन्ति। पृथिवीविकारश्चतुर्विधो भूतग्रामो न पृथिवीमपीतावात्मीयेन धर्मेण संसृजति। त्वत्पक्षस्य तु न कश्चिद्दृष्टान्तोऽस्ति। अपीतिरेव हि न संभवेद्यदि कारणे कार्यं स्वधर्मेणैवावतिष्ठेत। अनन्यत्वेऽपि कार्यकारणयोः कार्यस्य कारणात्मत्वं, नतु कारणस्य कार्यात्मत्वं 'आरम्भणशब्दादिभ्यः' इति वक्ष्यामः (ब्र० सू० २/१/१४)। अत्यल्पं चेदमुच्यते कार्यमपीतावात्मीयेन धर्मेण कारणं संसृजेदिति। स्थितावपि समानोऽयं प्रसङ्गः, कार्यकारणयोरनन्यत्वाभ्युपगमात्। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २/४/६), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७/२५/२), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मु० २/२/११), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३/१४/१) इत्येवमाद्याभिर्हि श्रुतिभिरविशेषेण त्रिष्वपि कालेषु कार्यस्य कारणानन्यत्वं श्राव्यते। तत्र यः परिहारः कार्यस्य तद्धर्माणां चाविद्याध्यारोपितत्वान्न तैः कारणं संसृज्यत इति, अपीतावपि स समानः। अस्ति चायमपरो दृष्टान्तो यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात्, एवं

परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यति इति। यथा च स्वप्नदृगेकः स्वप्नदर्शनमायया न संस्पृश्यत इति। प्रबोधसंप्रसादयोरनन्वागतत्वात्। एवमवस्थात्रयसाक्ष्येकोऽव्यभिचार्यवस्थात्रयेण व्यभिचारिणा न संस्पृश्यते। मायामात्रं ह्येतद्यत्परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनावभासनं रज्ज्वा इव सर्पादिभावेनेति। अत्रोक्तं वेदान्तार्थसंप्रदायविद्भिराचार्यैः—'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते। अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा' (गौ० कारि० १/१६) इति।

तत्र यदुक्तमपीतौ कारणस्यापि कार्यस्येव स्थौल्यादिदोषप्रसङ्ग इत्येतदयुक्तम्। यत्पुनरेतदुक्तं समस्तस्य विभागस्याविभागप्राप्तेः पुनर्विभागेनोत्पत्तौ नियमकारणं नोपपद्यत इति। अयमप्यदोषः। दृष्टान्तभावादेव। यथाहि सुषुप्तिसमाध्यादावपि सत्यां स्वाभाविक्यामविभागप्राप्तौ मिथ्याज्ञानस्यानपोदितत्वात्पूर्ववत्पुनः प्रबोधे विभागो भवत्येवमिहापि भविष्यति। श्रुतिश्चात्र भवति—'इमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो व पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति' (छा० ६/९/२,३) इति। यथा ह्यविभागेऽपि परमात्मनि मिथ्याज्ञानप्रतिबद्धो - विभागव्यवहारः स्वप्नवदव्याहतः स्थितो दृश्यते, एवमपीतावपि मिथ्याज्ञानप्रतिबद्धैव विभागशक्तिरनुमास्यते। एतेन मुक्तानां पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः प्रत्युक्तः। सम्यग्ज्ञानेन मिथ्याज्ञानस्यापोदितत्वात्। यः पुनरयमन्तेऽपरो विकल्प उत्प्रेक्षितोऽथेदं जगदपीतावपि विभक्तमेव परेण ब्रह्मणावतिष्ठेतेति, सोऽप्यनभ्युपगमादेव प्रतिषिद्धः। तस्मात्समञ्जसमिदमौपनिषदं दर्शनम्॥ ९॥

(१४४) स्वपक्षदोषाच्च॥ १०॥

स्वपक्षे चैते प्रतिवादिनः साधारणा दोषाः प्रादुःष्युः। कथमित्युच्यते। यत्तावदभिहितं विलक्षणत्वान्नेदं जगद्ब्रह्मप्रकृतिकमिति, प्रधानप्रकृतिकतायामपि समानमेतत्, शब्दादिहीनात्प्रधानाच्छब्दादिमतो जगत उत्पत्त्यभ्युपगमात्। अतएव च विलक्षणकार्योत्पत्त्यभ्युपगमात्समानः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यवादप्रसङ्गः। तथाऽपीतौ कार्यस्य कारणाविभागाभ्युपगमात्तद्वत्प्रसङ्गोऽपि समानः। तथा मृदितसर्वविशेषेषु विकारेष्वपीतावविभागात्मतां गतेष्विदमस्य पुरुषस्योपादानमिदमस्येति प्राक्प्रलयात्प्रतिपुरुषं ये नियता भेदा न ते तथैव पुनरुत्पत्तौ नियन्तुं शक्यन्ते। कारणा-

भावात्। विनैव कारणेन नियमेऽभ्युपगम्यमाने कारणाभावसाम्यान्मुक्तानामपि पुनर्बन्धप्रसङ्गः।

अथ केचिद्भेदा अपीतावविभागमापद्यन्ते केचिन्नेति चेत्। ये नापद्यन्ते तेषां प्रधानकार्यत्वं न प्राप्नोतीत्येवमेते दोषाः साधारणत्वान्नान्यतरस्मिन्पक्षे चोदयितव्या भवन्तीत्यदोषतामेवैषां द्रढयति। अवश्याऽश्रयितव्यत्वात्॥ १०॥

(१४५)तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमितिचेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः॥ ११ ॥

इतश्च नागमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यम्। यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति। उत्प्रेक्षाया निरङ्कुशत्वात्। तथाहि कैश्चिदभियुक्तैर्यत्नेनोत्प्रेक्षितास्तर्का अभियुक्ततरैरन्यैराभास्यमाना दृश्यन्ते। तैरप्युत्प्रेक्षिताः सन्तस्ततोऽन्यैराभास्यन्त इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुं, पुरुषमतिवैरूप्यात्।

अथ कस्यचित्प्रसिद्धमाहात्म्यस्य कपिलस्य चान्यस्य वा संमतस्तर्कः प्रतिष्ठित इत्याश्रीयेत। एवमप्यप्रतिष्ठितत्वमेव। प्रसिद्धमाहात्म्यानुमतानामपि तीर्थकराणां कपिलकणभुक्प्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तिदर्शनात्।

अथोच्येतान्यथा वयमनुमास्यामहे, यथा नाप्रतिष्ठादोषो भविष्यति। नहि प्रतिष्ठितस्तर्क एव नास्तीति शक्यते वक्तुम्। एतदपि हि तर्काणामप्रतिष्ठितत्वं तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते। केषांचित्तर्काणामप्रतिष्ठितत्वदर्शनेनान्येषामपि तज्जातीयकानां तर्काणामप्रतिष्ठितत्वकल्पनात्। सर्वतर्काप्रतिष्ठायां च लोकव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः। अतीतवर्तमानाध्वसाम्येन ह्यनागतेऽप्यध्वनि सुखदुःखप्राप्तिपरिहाराय प्रवर्तमानो लोको दृश्यते। श्रुत्यर्थविप्रतिपत्तौ चार्थाभासनिराकरणेन सम्यगर्थनिर्धारणं तर्केणैव वाक्यवृत्तिनिरूपणरूपेण क्रियते। मनुरपि चैवं मन्यते—'प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥' इति। 'आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥' (१२/१०५,१०६) इति च ब्रुवन्। अयमेव तर्कस्यालंकारो यदप्रतिष्ठितत्वं नाम। एवं हि सावद्यतर्कपरित्यागेन निरवद्यस्तर्कः प्रतिपत्तव्यो भवति। नहि पूर्वजो मूढ आसीदित्यात्मनापि मूढेन भवितव्यमिति किंचिदस्ति प्रमाणम्। तस्मान्न तर्काप्रतिष्ठानं दोष इति चेत्, एवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः। यद्यपि क्वचिद्विषये तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वमुपलक्ष्यते, तथापि प्रकृते

तावद्विषये प्रसज्यत एवाप्रतिष्ठितत्वदोषादनिर्मोक्षस्तर्कस्य। नहीदमतिगम्भीरं भाव-याथात्म्यं मुक्तिनिबन्धनमागममन्तरेणोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम्। रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षगोचरः, लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनामिति चावोचाम। अपिच सम्यग्ज्ञा-नान्मोक्ष इति सर्वेषां मोक्षवादिनामभ्युपगमः। तच्च सम्यग्ज्ञानमेकरूपं, वस्तुतन्त्रत्वात्। एकरूपेण ह्यवस्थितो योऽर्थः, स परमार्थः। लोके तद्विषयं ज्ञानं सम्यग्ज्ञान-मित्युच्यते, यथाग्निरुष्ण इति। तत्रैवं सति सम्यग्ज्ञाने पुरुषाणां विप्रतिपत्तिर-नुपपन्ना। तर्कज्ञानानां त्वन्योन्यविरोधात्प्रसिद्धा विप्रतिपत्तिः। यद्धि केनचित्तार्कि-केणेदमेव सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपादितं, तदपरेण व्युत्थाप्यते, तेनापि प्रतिष्ठापितं, ततोऽ-परेण व्युत्थाप्यत इति प्रसिद्धं लोके। कथमेकरूपानवस्थितविषयं तर्कप्रभवं सम्यग्ज्ञानं भवेत्। नच प्रधानवादी तर्कविदामुत्तम इति सर्वैस्तार्किकैः परिगृहीतो, येन तदीयं मतं सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपद्येमहि। नच शक्यन्तेऽतीतानागतवर्तमाना-स्तार्किका एकस्मिन्देशे काले च समाहर्तुं, येन तन्मतिरेकरूपैकार्थविषया सम्यङ्म-तिरिति स्यात्। वेदस्य तु नित्यत्वे विज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वे च सति व्यवस्थितार्थ-विषयत्वोपपत्तेस्तज्जनितस्य ज्ञानस्य सम्यक्त्वमतीतानागतवर्तमानैः सर्वैरपि तार्किकैर-पह्नोतुमशक्यम्। अतः सिद्धमस्यैवौपनिषदस्य ज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानत्वम्। अतोऽन्यत्र सम्यग्ज्ञानत्वानुपपत्तेः संसाराविमोक्ष एव प्रसज्येत। अत आगमवशेनागमानुसा-रितर्कवशेन च चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेति स्थितम्॥ ११॥

(४३) शिष्टापरिग्रहाधिकरणम्॥ ४॥ (सू० १२)

(१४६) एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः॥ १२॥

वैदिकस्य दर्शनस्य प्रत्यासन्नत्वाद्गुरुतरतर्कबलोपेतत्वाद्वेदानुसारिभिश्च कैश्चि-च्छिष्टैः केनचिदंशेन परिगृहीतत्वात्प्रधानकारणवादं तावद्व्यपाश्रित्य यस्तर्कनिमित्त आक्षेपो वेदान्तवाक्येषूद्भावितः स परिहृतः। इदानीमण्वादिवादव्यपाश्रयेणापि कैश्चिन्मन्दमतिभिर्वेदान्तवाक्येषु पुनस्तर्कनिमित्त आक्षेप आशङ्क्यत इत्यतः प्रधान-मल्लनिबर्हणन्यायेनातिदिशति। परिगृह्यन्त इति परिग्रहाः न परिग्रहा अपरिग्रहाः शिष्टानामपरिग्रहाः शिष्टापरिग्रहाः। एतेन प्रकृतेन प्रधानकारणवादनिराकरण-कारणेन शिष्टैर्मनुव्यासप्रभृतिभिः केनचिदंशेनापरिगृहीता येऽण्वादिकारणवादास्तेऽपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता निराकृता द्रष्टव्याः तुल्यत्वान्निराकरणकारणस्य, नात्र पुन-

राशङ्कितव्यं किंचिदस्ति। तुल्यमत्रापि परमगम्भीरस्य जगत्कारणस्य तर्कानवगाह्यत्वं तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वमन्यथानुमानेऽप्यविमोक्ष आगमविरोधश्चेत्येवंजातीयकं निराकरणकारणम्॥१२॥

(४४) भोक्त्रापत्त्यधिकरणम्॥५॥ (सू० १३)

(१४७) भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत्॥१३॥

अन्यथा पुनर्ब्रह्मकारणवादस्तर्कबलेनैवाक्षिप्यते। यद्यपि श्रुतिः प्रमाणं स्वविषये भवति, तथापि प्रमाणान्तरेण विषयापहारेऽन्यपरा भवितुमर्हति। यथा मन्त्रार्थवादौ। तर्कोऽपि स्वविषयादन्यत्राप्रतिष्ठितः स्यात्। यथा धर्माधर्मयोः। किमतो यद्येवम्। अत इदमयुक्तं यत्प्रमाणान्तरप्रसिद्धार्थबाधनं श्रुतेः। कथं पुनः प्रमाणान्तरप्रसिद्धोऽर्थः श्रुत्या बाध्यत इति। अत्रोच्यते—प्रसिद्धो ह्ययं भोक्तृभोग्यविभागो लोके भोक्ता चेतनः शारीरो भोग्या शब्दादयो विषया इति। यथा भोक्ता देवदत्तो भोज्य ओदन इति। तस्य च विभागस्याभावः प्रसज्येत, यदि भोक्ता भोग्यभावमापद्येत, भोग्यं वा भोक्तृभावमापद्येत। तयोश्चेतरेतरभावापत्तिः परमकारणाद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वात्प्रसज्येत। नचास्य प्रसिद्धस्य विभागस्य बाधनं युक्तम्। यथा त्वद्यत्वे भोक्तृभोग्ययोर्विभागो दृष्टस्तथातीतानागतयोरपि कल्पयितव्यः। तस्मात्प्रसिद्धस्यास्य भोक्तृभोग्यविभागस्याभावप्रसङ्गादयुक्तमिदं ब्रह्मकारणतावधारणमिति चेत्कश्चिच्चोदयेत्तं प्रति ब्रूयात्—स्याल्लोकवदिति। उपपद्यत एवायमस्मत्पक्षेऽपि विभागः। एवं लोके दृष्टत्वात्। तथाहि—समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनवीचीतरङ्गबुद्बुदादीनामितरेतरविभाग इतरेतरसंश्लेषादिलक्षणश्च व्यवहार उपलभ्यते। नच समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनतरङ्गादीनामितरेतरभावापत्तिर्भवति। नच तेषामितरेतरभावानापत्तावपि समुद्रात्मनोऽनन्यत्वं भवति, एवमिहापि। नच भोक्तृभोग्ययोरितरेतरभावापत्तिः, नच परस्माद्ब्रह्मणोऽन्यत्वं भविष्यति। यद्यपि भोक्ता न ब्रह्मणो विकारः 'तत्सृष्टवा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २/६) इति स्त्रष्टुरेवाविकृतस्य कार्यानुप्रवेशेन भोक्तृत्वश्रवणात्, तथापि कार्यमनुप्रविष्टस्यास्त्युपाधिनिमित्तो विभाग आकाशस्येव घटाद्युपाधिनिमित्त इत्यतः परमकारणाद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वेऽप्युपपद्यते भोक्तृभोग्यलक्षणो विभागः समुद्रतरङ्गादिन्यायेनेत्युक्तम्॥१३॥

विश्रामः॥१२॥

* * * *

(४५) आरम्भणाधिकरणम् ॥ ६ ॥ (सू० १४-२०)

(१४८) तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ १४ ॥

अभ्युपगम्य चेमं व्यावहारिकं भोक्तृभोग्यलक्षणं विभागं स्याल्लोकवदिति परिहारोऽभिहितः। नत्वयं विभागः परमार्थतोऽस्ति, यस्मात्तयोः कार्यकारणयोरनन्यत्वमवगम्यते। कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत्, कारणं परंब्रह्म, तस्मात्कारणात्परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते। कुतः? आरम्भणशब्दादिभ्यः। आरम्भणशब्दस्तावत्। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय दृष्टान्तापेक्षायामुच्यते—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० ६/१/१) इति। एतदुक्तं भवति—एकेन मृत्पिण्डेन परमार्थतो मृदात्मना विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं घटशरावोदञ्चनादिकं मृदात्मकत्वाविशेषाद्विज्ञातं भवेत्। यतो वाचारम्भणं विकारो नामधेयं वाचैव केवलमस्तीत्यारभ्यते, विकारो घटः शराव उदञ्चनं चेति। नतु वस्तुवृत्तेन विकारो नाम कश्चिदस्ति। नामधेयमात्रं ह्येतदनृतं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति। एष ब्रह्मणो दृष्टान्त आम्नातः। तत्र श्रुताद्वाचारम्भणशब्दाद्दार्ष्टान्तिकेऽपि ब्रह्मव्यतिरेकेण कार्यजातस्याभाव इति गम्यते। पुनश्च तेजोऽबन्नानां ब्रह्मकार्यतामुक्त्वा तेजोऽबन्नकार्याणां तेजोऽबन्नव्यतिरेकेणाभावं ब्रवीति—'अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' (छा० ६/४/१) इत्यादिना। आरम्भणशब्दादिभ्य इत्यादिशब्दात् 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६/८/७), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २/४/६) 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (मु० २/२/११), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७/२५/२), 'नेह नानास्ति किंचन' (बृ० ४/४/१९) इत्येवमाद्यप्यात्मैकत्वप्रतिपादनपरं वचनजातमुदाहर्तव्यम्। नचान्यथैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं संपद्यते। तस्माद्यथा घटकरकाद्याकाशानां महाकाशानन्यत्वं, यथाच मृगतृष्णिकोदकादीनामूषरादिभ्योऽनन्यत्वं, दृष्टनष्टस्वरूपत्वात्स्वरूपेणानुपाख्यत्वात्, एवमस्य भोग्यभोक्त्रादिप्रपञ्चजातस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाभाव इति द्रष्टव्यम्।

नन्वनेकात्मकं ब्रह्म, यथा वृक्षोऽनेकशाख, एवमनेकशक्तिप्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म। अत एकत्वं नानात्वं चोभयमपि सत्यमेव। यथा वृक्ष इत्येकत्वं शाखा इति नानात्वम्। यथाच समुद्रात्मनैकत्वं फेनतरङ्गाद्यात्मना नानात्वम्। यथाच मृदात्मनैकत्वं

घटशरावाद्यात्मना नानात्वम्। तत्रैकत्वांशेन ज्ञानान्मोक्षव्यवहारः सेत्स्यति। नानात्वांशेन तु कर्मकाण्डाश्रयौ लौकिकवैदिकव्यवहारौ सेत्स्यत इति। एवं च मृदादिदृष्टान्ता अनुरूपा भविष्यन्तीति। नैवं स्यात्। 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति प्रकृतिमात्रस्य दृष्टान्ते सत्यत्वावधारणात्। वाचारम्भणशब्देन च विकारजातस्यानृतत्वाभिधानात्। दार्ष्टान्तिकेऽपि 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्' इति च परमकारणस्यैवैकस्य सत्यत्वावधारणात् 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति च शारीरस्य ब्रह्मभावोपदेशात्। स्वयं प्रसिद्धं ह्येतच्छारीरस्य ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्यते न यत्नान्तरप्रसाध्यम्। अतश्चेदं शास्त्रीयं ब्रह्मात्मत्वमवगम्यमानं स्वाभाविकस्य शारीरात्मत्वस्य बाधकं संपद्यते, रज्ज्वादिबुद्धय इव सर्पादिबुद्धीनाम्। बाधिते च शारीरात्मत्वे तदाश्रयः समस्तः स्वाभाविको व्यवहारो बाधितो भवति, यत्प्रसिद्धये नानात्वांशोऽपरो ब्रह्मणः कल्प्येत। दर्शयति च—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४/५/१५) इत्यादिना ब्रह्मात्मत्वदर्शिनं प्रति समस्तस्य क्रियाकारकफललक्षणस्य व्यवहारस्याभावम्। नचायं व्यवहाराभावोऽवस्थाविशेषनिबद्धोऽभिधीयत इति युक्तं वक्तुम्, 'तत्त्वमसि' इति ब्रह्मात्मभावस्यानवस्थाविशेषनिबन्धनत्वात्। तस्करदृष्टान्तेन चानृताभिसंधस्य बन्धनं सत्याभिसंधस्य च मोक्षं दर्शयन्नेकत्वमेवैकं पारमार्थिकं दर्शयति (छा० ६/१६)। मिथ्याज्ञानविजृम्भितं च नानात्वम्। उभयसत्यतायां हि कथं व्यवहारगोचरोऽपि जन्तुरनृताभिसंध इत्युच्येत। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४/४/१९) इति च भेददृष्टिमपवदन्नेवैतद्दर्शयति। नचास्मिन्दर्शने ज्ञानान्मोक्ष इत्युपपद्यते, सम्यग्ज्ञानापनोद्यस्य कस्यचिन्मिथ्याज्ञानस्य संसारकारणत्वेनानभ्युपगमात्। उभयसत्यतायां हि कथमेकत्वज्ञानेन नानात्वज्ञानमपनुद्यत इत्युच्यते।

नन्वेकत्वैकान्ताभ्युपगमे नानात्वाभावात्प्रत्यक्षादीनि लौकिकानि प्रमाणानि व्याहन्येरन्निर्विषयत्वात्, स्थाण्वादिष्विव पुरुषादिज्ञानानि। तथा विधिप्रतिषेधशास्त्रमपि भेदापेक्षत्वात्तदभावे व्याहन्येत, मोक्षशास्त्रस्यापि शिष्यशासित्रादिभेदापेक्षत्वात्तदभावे व्याघातः स्यात्। कथं चानृतेन मोक्षशास्त्रेण प्रतिपादितस्यात्मैकत्वस्य सत्यत्वमुपपद्येतेति। अत्रोच्यते—नैष दोषः। सर्वव्यवहाराणामेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात्सत्यत्वोपपत्तेः। स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक्प्रबोधात्। यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिस्तावत्प्रमाणप्रमेयफललक्षणेषु विकारेष्वनृतत्वबुद्धिर्न कस्यचिदुत्पद्यते। विकारानेव त्वहं ममेत्य-

विद्ययात्मात्मीयेन भावेन सर्वो जन्तुः प्रतिपद्यते स्वाभाविकीं ब्रह्मात्मतां हित्वा। तस्मात्प्राग्ब्रह्मात्मताप्रतिबोधादुपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः। यथा सुप्तस्य प्राकृतस्य जनस्य स्वप्न उच्चावचान्भावान्पश्यतो निश्चितमेव प्रत्यक्षाभिमतं विज्ञानं भवति प्राक्प्रबोधात्, नच प्रत्यक्षाभासाभिप्रायस्तत्काले भवति, तद्वत्। कथं त्वसत्येन वेदान्तवाक्येन सत्यस्य ब्रह्मात्मत्वस्य प्रतिपत्तिरुपपद्येत। नहि रज्जुसर्पेण दंष्टो म्रियते। नापि मृगतृष्णिकाम्भसा पानावगाहनादिप्रयोजनं क्रियत इति। नैष दोषः। शङ्काविषादिनिमित्तमरणादिकार्योपलब्धेः। स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यदर्शनात्। तत्कार्यमप्यनृतमेवेति चेद्ब्रूयात्। तत्र ब्रूमः—यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यमनृतं, तथापि तदवगतिः सत्यमेव फलं, प्रतिबुद्धस्याप्यबाध्यमानत्वात्। नहि स्वप्नादुत्थितः स्वप्नदृष्टं सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यं मिथ्येति मन्यमानस्तदवगतिमपि मिथ्येति मन्यते कश्चित्। एतेन स्वप्नदृशोऽवगत्यबाधनेन देहमात्रात्मवादो दूषितो वेदितव्यः। तथाच श्रुतिः—'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने' (छा० ५/२/९) इत्यसत्येन स्वप्नदर्शनेन सत्यायाः समृद्धेः प्रतिपत्तिं दर्शयति। तथा प्रत्यक्षदर्शनेषु केषुचिदरिष्टेषु जातेषु 'न चिरमिव जीविष्यतीति विद्यात्' इत्युक्त्वा 'अथ स्वप्नाः पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति' इत्यादिना तेन तेनासत्येनैव स्वप्नदर्शनेन सत्यं मरणं सूच्यत इति दर्शयति। प्रसिद्धं चेदं लोकेऽन्वयव्यतिरेककुशलानामीदृशेन स्वप्नदर्शनेन साध्वागमः सूच्यत ईदृशेनासाध्वागम इति। तथाऽकारादिसत्याक्षरप्रतिपत्तिर्दृष्टा रेखानृताक्षरप्रतिपत्तेः। अपिचान्त्यमिदं प्रमाणमात्मैकत्वस्य प्रतिपादकं, नातः परं किंचिदाकाङ्क्ष्यमस्ति। यथाहि लोके यजेतेत्युक्ते किं केन कथमित्याकाङ्क्ष्यते नैवं 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्युक्ते किंचिदन्यदाकाङ्क्ष्यमस्ति, सर्वात्मैकत्वविषयत्वावगतेः। सति ह्यन्यस्मिन्नवशिष्यमाणेऽर्थ आकाङ्क्षा स्यात्। नत्वात्मैकत्वव्यतिरेकेणावशिष्यमाणोऽन्योऽर्थोस्ति य आकाङ्क्षयेत। न चेयमवगतिर्नोत्पद्यत इति शक्यं वक्तुम्, 'तद्धास्य विजज्ञौ' (छा० ६/१६/३) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अवगतिसाधनानां च श्रवणादीनां वेदानुवचनादीनां च विधानात्। नचेयमवगतिरनर्थिका भ्रान्तिर्वेति शक्यं वक्तुम्। अविद्यानिवृत्तिफलदर्शनात्, बाधकज्ञानान्तराभावाच्च। प्राक्चात्मैकत्वावगतेरव्याहतः सर्वः सत्यानृतव्यवहारो लौकिको वैदिकश्चेत्यवोचाम। तस्मादन्त्येन प्रमाणेन प्रतिपादित आत्मैकत्वे

समस्तस्य प्राचीनस्य भेदव्यवहारस्य बाधिततत्वान्नानेकात्मकब्रह्मकल्पनावकाशोऽस्ति। ननु मृदादिदृष्टान्तप्रणयनात्परिणामवद्ब्रह्म शास्त्रस्याभिमतमिति गम्यते। परिणामिनो हि मृदादयोऽर्था लोके समधिगता इति। नेत्युच्यते। 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४/४/२५) 'स एष नेति नेत्यात्मा' (पृ० ३/९/२६), 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३/८/८) इत्याद्याभ्यः सर्वविक्रियाप्रतिषेधश्रुतिभ्यो ब्रह्मणः कूटस्थत्वावगमात्। नह्येकस्य ब्रह्मणः परिणामधर्मत्वं तद्रहितत्वं च शक्यं प्रतिपत्तुम्। स्थितिगतिवत्स्यादिति चेत्। न। कूटस्थस्येति विशेषणात्। नहि कूटस्थस्य ब्रह्मणः स्थितिगतिवदनेकधर्माश्रयत्वं संभवति। कूटस्थं च नित्यं ब्रह्म, सर्वविक्रियाप्रतिषेधादित्यवोचाम।

नच यथा ब्रह्मण आत्मैकत्वदर्शनं मोक्षसाधनमेवं जगदाकारपरिणामित्वदर्शनमपि स्वतन्त्रमेव कस्मैचित्फलायाभिप्रेयते, प्रमाणाभावात्। कूटस्थब्रह्मात्मत्वविज्ञानादेव हि फलं दर्शयति शास्त्रम्—'स एष नेति नेत्यात्मा' इत्युपक्रम्य 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४/२/४) इत्येवंजातीयकम्। तत्रैतत्सिद्धं भवति—ब्रह्मप्रकरणे सर्वधर्मविशेषरहितब्रह्मदर्शनादेव फलसिद्धौ सत्यां यत्तत्राफलं श्रूयते ब्रह्मणो जगदाकारपरिणामित्वादि तद्ब्रह्मदर्शनोपायत्वेनैव विनियुज्यते, फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमितिवत्। नतु स्वतन्त्रं फलाय कल्प्यत इति। नहि परिणामवत्त्वविज्ञानात्परिणामवत्त्वमात्मनः फलं स्यादिति वक्तुं युक्तं, कूटस्थनित्यत्वान्मोक्षस्य।

कूटस्थब्रह्मात्मवादिन एकत्वैकान्त्यादीशित्रीशितव्याभाव ईश्वरकारणप्रतिज्ञाविरोध इति चेत्। न। अविद्यात्मकनामरूपबीजव्याकरणापेक्षत्वात्सर्वज्ञत्वस्य। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २/१) इत्यादिवाक्येभ्यो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेरीश्वराज्जगज्जनिस्थितिप्रलया नाचेतनात्प्रधानादन्यस्माद्वेत्येषोऽर्थः प्रतिज्ञातः 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १/१/४) इति। सा प्रतिज्ञा तदवस्थैव, न तद्विरुद्धोऽर्थः पुनरिहोच्यते।

कथं नोच्यतेऽत्यन्तमात्मन एकत्वमद्वितीयत्वं च ब्रुवता। शृणु यथा नोच्यते। सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूत इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते। ताभ्यामन्यः सर्वज्ञ ईश्वरः 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म'

(छा० ८/१४/१) इति श्रुतेः। 'नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६/३/२), 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' (तै० आ० ३/१२/७), 'एकं बीजं बहुधा यः करोति' (श्वे० ६/१२) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। एवमविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुरोधीश्वरो भवति, व्योमेव घटकरकाद्युपाध्यनुरोधि। स च स्वात्मभूतानेव घटाकाशस्थानीयानविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरणसंघातानुरोधिनो जीवाख्यान्विज्ञानात्मनः प्रतीष्टे व्यवहारविषये। तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च, न परमार्थतो, विद्ययापास्तसर्वोपाधिस्वरूप आत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते। तथाचोक्तम्—'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (छा० ७/२४/१) इति, 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४/५/१५) इत्यादिना च। एवं परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे। तथेश्वरगीतास्वपि—'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः। अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' (गी० ५/१४-१५) इति परमार्थावस्थायामीशित्रीशितव्यादिव्यवहाराभावः प्रदर्श्यते। व्यवहारावस्थायां तूक्तः श्रुतावपीश्वरादिव्यवहारः 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' (बृ० ४/४/२२) इति। तथाचेश्वरगीतास्वपि—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' (गी० १८/६१) इति। सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वमित्याह। व्यवहाराभिप्रायेण तु स्याल्लोकवदिति महासमुद्रस्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति। अप्रत्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रियां चाश्रयति सगुणेषूपासनेषूपयोक्ष्यत इति॥१४॥

(१४९) भावे चोपलब्धेः॥१५॥

इतश्च कारणादनन्यत्वं कार्यस्य, यत्कारणं भाव एव कारणस्य कार्यमुपलभ्यते, नाभावे। तद्यथा सत्यां मृदि घट उपलभ्यते सत्सु च तन्तुषु पटः। नच नियमेनान्यभावेऽन्यस्योपलब्धिर्दृष्टा। नह्यश्वो गोरन्यः सन् गोर्भाव एवोपलभ्यते। नच कुलालभाव एव घट उपलभ्यते। सत्यपि निमित्तनैमित्तिकभावेऽन्यत्वात्।

नन्वन्यस्य भावेऽप्यन्यस्योपलब्धिर्नियता दृश्यते, यथाग्निभावे धूमस्येति।

नेत्युच्यते। उद्वापितेऽप्यग्नौ गोपालघुटिकादिधारितस्य धूमस्य दृश्यमानत्वात्। अथ धूमं कयाचिदवस्थया विशिष्यादीदृशो धूमो नासत्यग्नौ भवतीति। नैवमपि कश्चिद्दोषः तद्भावानुरक्तां हि बुद्धिं कार्यकारणयोरनन्यत्वे हेतुं वयं वदामः। नचासावग्निधूमयोर्विद्यते। 'भावाच्चोपलब्धे' रिति वा सूत्रम्।

न केवलं शब्दादेव कार्यकारणयोरनन्यत्वं, प्रत्यक्षोपलब्धिभावाच्च तयोरनन्यत्वमित्यर्थः। भवति हि प्रत्यक्षोपलब्धिः कार्यकारणयोरनन्यत्वे। तद्यथा—तन्तुसंस्थाने पटे तन्तुव्यतिरेकेण पटो नाम कार्यं नैवोपलभ्यते, केवलास्तु तन्तव आतानवितानवन्तः प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते, तथा तन्तुष्वंशवोंऽशुषु तदवयवाः। अनया प्रत्यक्षोपलब्ध्या लोहितशुक्लकृष्णानि त्रीणि रूपाणि, ततो वायुमात्रमाकाशमात्रं चेत्यनुमेयम्। (छा० ६/४) ततः परं ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं, तत्र सर्वप्रमाणानां निष्ठामवोचाम॥१५॥

(१५०) सत्त्वाच्चावरस्य॥१६॥

इतश्च कारणात्कार्यस्यानन्यत्वं, यत्कारणं प्रागुत्पत्तेः कारणात्मनैव कारणे सत्त्वमवरकालीनस्य कार्यस्य श्रूयते। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६/२/१), 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ० आ० २/४/१/१) इत्यादाविदंशब्दगृहीतस्य कार्यस्य कारणेन सामानाधिकरण्यात्। यच्च यदात्मना यत्र न वर्तते, न तत्तत उत्पद्यते, यथा सिकताभ्यस्तैलम्। तस्मात्प्रागुत्पत्तेरनन्यत्वादुत्पन्नमप्यनन्यदेव कारणात्कार्यमित्यवगम्यते। यथाच कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरत्येवं कार्यमपि जगत्त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति। एकं च पुनः सत्त्वमतोऽप्यनन्यत्वं कारणात्कार्यस्य॥१६॥

(१५१) असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्॥१७॥

ननु क्वचिदसत्त्वमपि प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य व्यपदिशति श्रुतिः—'असदेवेदमग्र आसीत्' (छा० ३/१९/१) इति, 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तै० २/७/१) इति च। तस्मादसद्व्यपदेशान्न प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सत्त्वमिति चेत्। नेति ब्रूमः। नह्ययमत्यन्तासत्त्वाभिप्रायेण प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासद्व्यपदेशः, किं तर्हि? व्याकृतनामरूपत्वाद्धर्मादव्याकृतनामरूपत्वं धर्मान्तरं, तेन धर्मान्तरेणायमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः

सत एव कार्यस्य कारणरूपेणानन्यस्य। कथमेतदवगम्यते। वाक्यशेषात्। यदुपक्रमे संदिग्धार्थं वाक्यं तच्छेषान्निश्चीयते। इह च तावत् 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यसच्छब्देनोपक्रमे निर्दिष्टं यत्तदेव पुनस्तच्छब्देन परामृश्य सदिति विशिनष्टि 'तत्सदासीत्' इति। असतश्च पूर्वापरकालासंबन्धादासीच्छब्दानुपपत्तेश्च। 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यत्रापि 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इति वाक्यशेषे विशेषणान्नात्यन्तासत्त्वम्। तस्माद्धर्मान्तरेणैवायमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य। नामरूपव्याकृतं हि वस्तु सच्छब्दार्हं लोके प्रसिद्धम्। अतः प्राङ्नामरूपव्याकरणादसदिवासीदित्युपचर्यते॥१७॥

(१५२) युक्तेः शब्दान्तराच्च॥१८॥

युक्तेश्च प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सत्त्वमनन्यत्वं च कारणादवगम्यते, शब्दान्तराच्च। युक्तिस्तावद्वर्ण्यते—दधिघटरुचकाद्यर्थिभिः प्रतिनियतानि कारणानि क्षीरमृत्तिकासुवर्णादीन्युपादीयमानानि लोके दृश्यन्ते। न हि दध्यर्थिभिर्मृत्तिकोपादीयते, न घटार्थिभिः क्षीरं, तदसत्कार्यवादे नोपपद्येत। अविशिष्टे हि प्रागुत्पत्तेः सर्वस्य सर्वत्रासत्त्वे कस्मात्क्षीरादेव दध्युत्पद्यते? न मृत्तिकायाः, मृत्तिकाया एव च घट उत्पद्यते, न क्षीरात्। अथाविशिष्टेऽपि प्रागसत्त्वे क्षीर एव दध्नः कश्चिदतिशयो न मृत्तिकायां, मृत्तिकायामेव च घटस्य कश्चिदतिशयो न क्षीर इत्युच्यते, तर्ह्यतिशयवत्त्वात्प्रागवस्थाया असत्कार्यवादहानिः सत्कार्यवादसिद्धिश्च। शक्तिश्च कारणस्य कार्यनियमार्था कल्प्यमाना नान्याऽसती वा कार्यं नियच्छेत्; असत्त्वाविशेषादन्यत्वाविशेषाच्च। तस्मात्कारणस्यात्मभूता शक्तिः शक्तेश्चात्मभूतं कार्यम्। अपि च कार्यकारणयोर्द्रव्यगुणादीनां चाश्वमहिषवद्भेदबुद्ध्यभावात्तादात्म्यमभ्युपगन्तव्यम्। समवायकल्पनायामपि, समवायस्य समवायिभिः संबन्धेऽभ्युपगम्यमाने, तस्य तस्यान्योऽन्यः संबन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थाप्रसङ्गः। अनभ्युपगम्यमाने च विच्छेदप्रसङ्गः। अथ समवायः स्वयं संबन्धरूपत्वादनपेक्ष्यैवापरं संबन्धं संबध्यते, संयोगोऽपि तर्हि स्वयं संबन्धरूपत्वादनपेक्ष्यैव समवायं संबध्येत। तादात्म्यप्रतीतेश्च द्रव्यगुणादीनां समवायकल्पनानर्थक्यम्। कथं च कार्यमवयविद्रव्यं कारणेष्ववयवद्रव्येषु वर्तमानं वर्तते? किं समस्तेष्ववयवेषु वर्तेत, उत प्रत्यवयवम्? यदि तावत्समस्तेषु वर्तेत, ततोऽवयव्यनुपलब्धिः प्रसज्येत; समस्तावयवसंनिकर्षस्याशक्यत्वात्। न हि बहुत्वं समस्तेष्वाश्रयेषु

वर्तमानं व्यस्ताश्रयग्रहणेन गृह्यते। अथावयवशः समस्तेषु वर्तेत, तदाप्यारम्भकावयवव्यतिरेकेणावयविनोऽवयवाः कल्प्येरन्, यैरारम्भकेष्ववयवेष्ववयवशोऽवयवी वर्तेत, कोशावयवव्यतिरिक्तैर्ह्यवयवैरसिः कोशं व्याप्नोति। अनवस्था चैवं प्रसज्येत; तेषु तेष्ववयवेषु वर्तयितुमन्येषामन्येषामवयवानां कल्पनीयत्वात्। अथ प्रत्यवयवं वर्तेत तदैकत्र व्यापारेऽन्यत्राव्यापारः स्यात्। न हि देवदत्तः स्रुघ्ने संनिधीयमानस्तदहरेव पाटलिपुत्रेऽपि संनिधीयते। युगपदनेकत्र वृत्तावनेकत्वप्रसङ्गः स्यात्। देवदत्तयज्ञदत्तयोरिव स्रुघ्नपाटलिपुत्रनिवासिनोः। गोत्वादिवत्प्रत्येकं परिसमाप्तेर्न दोष इति चेत्,—न; तथा प्रतीत्यभावात्।

यदि गोत्वादिवत्प्रत्येकं परिसमाप्तोऽवयवी स्यात्, यथा गोत्वं प्रतिव्यक्ति प्रत्यक्षं गृह्यत एवमवयव्यपि प्रत्यवयवं प्रत्यक्षं गृह्येत। नचैवं नियतं गृह्यते। प्रत्येकपरिसमाप्तौ चावयविनः कार्येणाधिकारात्तस्य चैकत्वाच्छृङ्गेणापि स्तनकार्यं कुर्यादुरसा च पृष्ठकार्यम्। न चैवं दृश्यते। प्रागुत्पत्तेश्च कार्यस्यासत्त्व उत्पत्तिरकर्तृका निरात्मिका च स्यात्। उत्पत्तिश्च नाम क्रिया, सा सकर्तृकैव भवितुमर्हति, गत्यादिवत्। क्रिया च नाम स्यादकर्तृका चेति विप्रतिषिध्येत। घटस्य चोत्पत्तिरुच्यमाना न घटकर्तृका, किं तर्हि? अन्यकर्तृकेति कल्प्या स्यात्। तथा कपालादीनामप्युत्पत्तिरुच्यमानाऽन्यकर्तृकैव कल्प्येत। तथा च सति घट उत्पद्यत इत्युक्ते कुलालादीनि कारणान्युत्पद्यन्त इत्युक्तं स्यात्। न च लोके घटोत्पत्तिरित्युक्ते कुलालादीनामप्युत्पद्यमानता प्रतीयते; उत्पन्नताप्रतीतेश्च। अथ स्वकारणसत्तासंबन्ध एवोत्पत्तिरात्मलाभश्च कार्यस्येति चेत्,—कथमलब्धात्मकं संबध्येतेति वक्तव्यम्? सतोर्हि द्वयोः संबन्धः संभवति, न सदसतोरसतोर्वा; अभावस्य च निरुपाख्यत्वात् प्रागुत्पत्तेरिति मर्यादाकरणमनुपपन्नम्। सतां हि लोके क्षेत्रगृहादीनां मर्यादा दृष्टा, नाभावस्य। न हि वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव प्राक्पूर्णवर्मणोऽभिषेकादित्येवंजातीयकेन मर्यादाकरणेन, निरुपाख्यो वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव भवति भविष्यतीति वा विशेष्यते। यदि च वन्ध्यापुत्रोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वमभविष्यत्तत इदमप्युपापत्स्यत—कार्याभावोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वं भविष्यतीति। वयं तु पश्यामो वन्ध्यापुत्रस्य कार्याभावस्य चाभावत्वाविशेषाद्यथा वन्ध्यापुत्रः कारकव्यापारादूर्ध्वं न भविष्यत्येवं कार्याभावोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वं न भविष्यतीति।

नन्वेवं सति कारकव्यापारोऽनर्थकः प्रसज्येत। यथैव हि प्राक्सिद्धत्वात्कारण-स्वरूपसिद्धये न कश्चिद्व्याप्रियते, एवं प्राक्सिद्धत्वात्तदनन्यत्वाच्च कार्यस्य स्व-रूपसिद्धयेऽपि न कश्चिद्व्याप्रियेत, व्याप्रियते च। अतः कारकव्यापारार्थ-वत्त्वाय मन्यामहे प्रागुत्पत्तेरभावः कार्यस्येति। नैष दोषः, यतः कार्याकारेण कारणं व्यवस्थापयतः कारकव्यापारस्यार्थवत्त्वमुपपद्यते; कार्याकारोऽपि कारणस्यात्मभूत एवानात्मभूतस्यानारभ्यत्वादित्यभाणि। न च विशेषदर्शनमात्रेण वस्त्वन्यत्वं भवति। नहि देवदत्तः संकोचितहस्तपादः प्रसारितहस्तपादश्च विशेषेण दृश्यमानोऽपि वस्त्व-न्यत्वं गच्छति; स एवेति प्रत्यभिज्ञानात्। तथा प्रतिदिनमनेकसंस्थानानामपि पित्रादीनां न वस्त्वन्यत्वं भवति; मम पिता मम भ्राता मम पुत्र इति प्रत्यभिज्ञानात्। जन्मोच्छेदानन्तरितत्वात्तत्र युक्तं नान्यत्रेति चेत्,—न; क्षीरादीनामपि दध्याद्याकार-संस्थानस्य प्रत्यक्षत्वात्। अदृश्यमानानामपि घटधानादीनां समानजातीयावय-वान्तरोपचितानामङ्कुरादिभावेन दर्शनगोचरतापत्तौ जन्मसंज्ञा। तेषामेवावयवाना-मपचयवशाददर्शनापत्तावुच्छेदसंज्ञा। तत्रेदृग्जन्मोच्छेदान्तरितत्वाच्चेदसतः सत्त्वापत्तिः, सतश्चासत्त्वापत्तिः तथा सति गर्भवासिन उत्तानशायिनश्च भेदप्रसङ्गः। तथा च बाल्ययौवनस्थाविरेष्वपि भेदप्रसङ्गः, पित्रादिव्यवहारलोपप्रसङ्गश्च। एतेन क्षणभङ्गवादः प्रतिवदितव्यः। यस्य पुनः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यं तस्य निर्विषयः कारकव्यापारः स्यात्। अभावस्य विषयत्वानुपपत्तेराकाशहननप्रयोजनखड्गाद्यनेकायुधप्रयुक्तिवत्। समवायि-कारणविषयः कारकव्यापारः स्यादिति चेत्,—न; अन्यविषयेण कारकव्या-पारेणान्यनिष्पत्तेरतिप्रसङ्गात्। समवायिकारणस्यैवात्मातिशयः कार्यमिति चेत्,—न; सत्कार्यतापत्तेः। तस्मात्क्षीरादीन्येव द्रव्याणि दध्यादिभावेनावतिष्ठमानानि कार्याख्यां लभन्त इति न कारणादन्यत्कार्यं वर्षशतेनापि शक्यं निश्चेतुम्। तथा मूलकारण-मेवान्त्यात्कार्यात्तेन तेन कार्याकारेण नटवत्सर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते। एवं युक्तेः कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः सत्त्वमनन्यत्वं च कारणादवगम्यते।

शब्दान्तराच्चैतदवगम्यते। पूर्वसूत्रेऽसद्व्यपदेशिनः शब्दस्योदाहृतत्वात्ततोऽन्यः सद्व्यपदेशी शब्दः शब्दान्तरम्—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि। 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' इति चासत्पक्षमुपक्षिप्य 'कथमसतः सज्जायेत' इत्याक्षिप्य 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६/२/१) इत्य-वधारयति। तत्रेदंशब्दवाच्यस्य कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः सच्छब्दवाच्येन कारणेन

सामानाधिकरण्यस्य श्रूयमाणत्वात्सत्त्वानन्यत्वे प्रसिध्यतः। यदि तु प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यं स्यात्पश्चाच्चोत्पद्यमानं कारणे समवेयात्तदाऽन्यत्कारणात्स्यात्, तत्र 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० ६/१/३) इतीयं प्रतिज्ञा पीड्येत, सत्त्वानन्यत्वावगतेस्त्वियं प्रतिज्ञा समर्थ्यते॥१८॥

(१५३) पटवच्च॥१९॥

यथा च संवेष्टितः पटो न व्यक्तं गृह्यते,-किमयं पटः किं वाऽन्यद्द्रव्यमिति। स एव प्रसारितो यत्संवेष्टितं द्रव्यं तत्पट एवेति प्रसारणेनाभिव्यक्तो गृह्यते। यथा च संवेष्टनसमये पट इति गृह्यमाणोऽपि न विशिष्टायामविस्तारो गृह्यते, स एव प्रसारणसमये विशिष्टायामविस्तारो गृह्यते,-न संवेष्टितरूपादन्योऽयं भिन्नः पट इति। एवं तन्त्वादिकारणावस्थं पटादिकार्यमस्पष्टं सत् तुरीवेमकुविन्दादिकारकव्यापारादिभिर्व्यक्तं स्पष्टं गृह्यते। अतः संवेष्टितप्रसारितपटन्यायेनैवानन्यत्कारणात्कार्यमित्यर्थः॥१९॥

(१५४) यथा च प्राणादि॥२०॥

यथा च लोके प्राणापानादिषु प्राणभेदेषु प्राणायामेन निरुद्धेषु कारणमात्रेण रूपेण वर्तमानेषु जीवनमात्रं कार्यं निर्वर्त्यते, नाकुञ्चनप्रसारणादिकं कार्यान्तरम्। तेष्वेव प्राणभेदेषु पुनः प्रवृत्तेषु जीवनादधिकमाकुञ्चनप्रसारणादिकमपि कार्यान्तरं निर्वर्त्यते। न च प्राणभेदानां प्रभेदवतः प्राणादन्यत्वं; समीरणस्वभावाविशेषात्। एवं कार्यस्य कारणादनन्यत्वम्। अतश्च कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मकार्यत्वात्तदनन्यत्वाच्च सिद्धैषा श्रौती प्रतिज्ञा-'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६/१/१) इति॥२०॥

(४६) इतरव्यपदेशाधिकरणम्॥७॥ (सू० २१-२३)

(१५५) इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः॥२१॥

अन्यथा पुनश्चेतनकारणवाद आक्षिप्यते। चेतनाद्धि जगत्प्रक्रियायामाश्रीयमाणायां हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते। कुतः? इतरव्यपदेशात्। इतरस्य शारीरस्य ब्रह्मात्मत्वं व्यपदिशति श्रुतिः—'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६/८/७) इति प्रतिबोधनात्। यद्वा,—इतरस्य च ब्रह्मणः शारीरात्मत्वं व्यपदिशति 'तत्सृष्ट्वा

तदेवानुप्राविशत्' (तै० २/६) इति स्रष्टुरेवाविकृतस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशेन शारीरात्मत्वप्रदर्शनात्। 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६/३/२) इति च परा देवता जीवमात्मशब्देन व्यपदिशन्ती, न ब्रह्मणो भिन्नः शारीर इति दर्शयति। तस्माद्यद्ब्रह्मणः स्त्रष्टृत्वं तच्छारीरस्यैवेति। अतः स स्वतन्त्रः कर्ता सन् हितमेवात्मनः सौमनस्यकरं कुर्यान्नाहितं जन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थजालम्। नहि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारमात्मनः कृत्वाऽनुप्रविशति। न च स्वयमत्यन्तनिर्मलः सन्नत्यन्तमलिनं देहमात्मत्वेनोपेयात्। कृतमपि कथंचिद्यद्दुःखकरं, तदिच्छया जह्यात्। सुखकरं चोपाददीत। स्मरेच्च मयेदं जगद्बिम्बं विचित्रं विरचितमिति। सर्वो हि लोकः स्पष्टं कार्यं कृत्वा स्मरति-मयेदं कृतमिति। यथा च मायावी स्वयं प्रसारितां मायामिच्छयाऽनायासेनैवोपसंहरति, एवं शारीरोऽपीमां सृष्टिमुपसंहरेत्। स्वकीयमपि तावच्छरीरं शारीरो न शक्नोत्यनायासेनोपसंहर्तुम्। एवं हितक्रियाद्यदर्शनादन्याय्या चेतनाज्जगत्प्रक्रियेति गम्यते॥२१॥

(१५६) अधिकं तु भेदनिर्देशात्॥२२॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। यत्सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं शारीरादधिकमन्यत्, तद्वयं जगतः स्त्रष्टृ ब्रूमः। न तस्मिन्हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते। न हि तस्य हितं किंचित्कर्तव्यमस्त्यहितं वा परिहर्तव्यम्; नित्यमुक्तस्वभावत्वात्। नच तस्य ज्ञानप्रतिबन्धः शक्तिप्रतिबन्धो वा क्वचिदप्यस्ति; सर्वज्ञत्वात्सर्वशक्तित्वाच्च। शारीरस्त्वनेवंविधः। तस्मिन्प्रसज्यन्ते हिताकरणादयो दोषाः, नतु तं वयं जगतः स्त्रष्टारं ब्रूमः। कुत एतत्? भेदनिर्देशात्। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २/४/५), 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८/७/१), 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६/८/१), 'शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः' (बृ० ४/३/३५) इत्येवंजातीयकः कर्तृकर्मादिभेदनिर्देशो जीवादधिकं ब्रह्म दर्शयति।

नन्वभेदनिर्देशोऽपि दर्शितः—'तत्त्वमसि' इत्येवंजातीयकः। कथं भेदाभेदौ विरुद्धौ संभवेयाताम्? नैष दोषः, आकाशघटाकाशन्यायेनोभयसंभवस्य तत्र तत्र प्रतिष्ठापितत्वात्। अपि च यदा तत्त्वमसीत्येवंजातीयकेनाभेदनिर्देशेनाभेदः प्रतिबोधितो भवति, अपगतं भवति तदा जीवस्य संसारित्वं ब्रह्मणश्च स्त्रष्टृत्वम्; समस्तस्य मिथ्या-

ज्ञानविजृम्भितस्य भेदव्यवहारस्य सम्यग्ज्ञानेन बाधितत्वात्। तत्र कुत एव सृष्टिः? कुतो वा हिताकरणादयो दोषाः? अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरण-संघातोपाध्यविवेककृता हि भ्रान्तिर्हिताकरणादिलक्षणः संसारो नतु परमार्थतोऽ-स्तीत्यसकृदवोचाम। जन्ममरणच्छेदनभेदनाद्यभिमानवत्। अबाधिते तु भेदव्यवहारे 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' इत्येवंजातीयकेन भेदनिर्देशेनावगम्यमानं ब्रह्मणोऽ-धिकत्वं हिताकरणादिदोषप्रसक्तिं निरुणद्धि॥२२॥

(१५७) अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः॥२३॥

यथा च लोके पृथिवीत्वसामान्यान्वितानामप्यश्मनां केचिन्महार्हा मणयो वज्रवैडूर्यादयोऽन्ये मध्यमवीर्याः सूर्यकान्तादयोऽन्ये प्रहीणाः श्ववायसप्रक्षेपणार्हाः पाषाणा इत्यनेकविधं वैचित्र्यं दृश्यते। यथा चैकपृथिवीव्यपाश्रयाणामपि बीजानां बहुविधं पत्रपुष्पफलगन्धरसादिवैचित्र्यं चन्दनकिंपाकचंपकादिषूपलक्ष्यते, यथा चैकस्याप्यन्नरसस्य लोहितादीनि केशलोमादीनि च विचित्राणि कार्याणि भवन्तिः, एवमेकस्यापि ब्रह्मणो जीवप्राज्ञपृथक्त्वं कार्यवैचित्र्यं चोपपद्यत इत्यतस्त-दनुपपत्तिः, परपरिकल्पितदोषानुपपत्तिरित्यर्थः। श्रुतेश्च प्रामाण्याद्विकारस्य च वाचा-रम्भणमात्रत्वात्स्वप्रदृश्यभाववैचित्र्यवच्चेत्यभ्युच्चयः॥२३॥

(४७) उपसंहारदर्शनाधिकरणम्॥८॥ (सू० २४-२५)

(१५८) उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि॥२४॥

चेतनं ब्रह्मैकमद्वितीयं जगतः कारणमिति यदुक्तं, तन्नोपपद्यते। कस्मात्? उपसंहारदर्शनात्। इह हि लोके कुलालादयो घटपटादीनां कर्तारो मृद्दण्डचक्र-सूत्रसलिलाद्यनेककारकसाधनोपसंहारेण संगृहीतसाधनाः सन्तस्तत्तत्कार्यं कुर्वाणा दृश्यन्ते। ब्रह्म चासहायं तवाभिप्रेतं, तस्य साधनान्तरानुपसंग्रहे सति कथं स्रष्टृत्व-मुपपद्येत? तस्मान्न ब्रह्म जगत्कारणमिति चेत्,—नैष दोषः; यतः क्षीरवद्द्रव्य-स्वभावविशेषादुपपद्यते। यथा हि लोके क्षीरं जलं वा स्वयमेव दधिहिमभावेन परिणमतेऽनपेक्ष्य बाह्यं साधनं, तथेहापि भविष्यति। ननु क्षीराद्यपि दध्यादिभावेन परिणममानमपेक्षत एव बाह्यं साधनमौष्ण्यादिकं, कथमुच्यते क्षीरवद्धीति? नैष दोषः, स्वयमपि हि क्षीरं यां च यावतीं च परिणाममात्रामनुभवति तावत्येव त्वर्यते त्वौष्ण्यादिना दधिभावाय। यदि च स्वयं दधिभावशीलता न स्यान्नैवौष्ण्यादिनापि

बलाद्दधिभावमापद्येत। नहि वायुराकाशो वौष्यादिना बलाद्दधिभावमापद्यते। साधन-सामग्र्या च तस्य पूर्णता संपाद्यते। परिपूर्णशक्तिकं तु ब्रह्म। न तस्यान्येन केनचित्पूर्णता संपादयितव्या। श्रुतिश्च भवति—'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्सम‌श्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकीज्ञानबलक्रिया च॥' (श्वे ६/८) इति। तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात्क्षीरादिवद्विचित्र-परिणाम उपपद्यते॥२४॥

(१५९) देवादिवदपि लोके॥२५॥

स्यादेतत्,—उपपद्यते क्षीरादीनामचेतनानामनपेक्ष्यापि बाह्यं साधनं दध्यादिभावः; दृष्टत्वात्। चेतनाः पुनः कुलालादयः साधनसामग्रीमपेक्ष्यैव तस्मै तस्मै कार्याय प्रवर्तमाना दृश्यन्ते। कथं ब्रह्म चेतनं सदसहायं प्रवर्तेतेति? देवादिवदिति ब्रूमः। यथा लोके देवाः पितर ऋषय इत्येवमादयो महाप्रभावाश्चेतना अपि सन्तोऽनपेक्ष्यैव किंचिद्बाह्यं साधनमैश्वर्यविशेषयोगादभिध्यानमात्रेण स्वत एव बहूनि नानासंस्थानानि शरीराणि प्रासादादीनि च रथादीनि च निर्मिमाणा उपलभ्यन्ते; मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणप्रामाण्यात्। तन्तुनाभश्च स्वत एव तन्तून्सृजति। बलाका चान्तरेणैव शुक्रं गर्भं धत्ते, पद्मिनी चानपेक्ष्य किंचित्प्रस्थानसाधनं सरोऽन्तरात्सरोऽन्तरं प्रतिष्ठते; एवं चेतनमपि ब्रह्मानपेक्ष्य बाह्यं साधनं स्वत एव जगत्स्रक्ष्यति। स यदि ब्रूयात्-य एते देवादयो ब्रह्मणो दृष्टान्ता उपात्तास्ते दार्ष्टान्तिकेन ब्रह्मणा न समाना भवन्ति; शरीरमेव ह्यचेतनं देवादीनां शरीरान्तरादिविभूत्युत्पादन उपादानम्, नतु चेतन आत्मा; तन्तुनाभस्य च क्षुद्रतर-जन्तुभक्षणाल्लाला कठिनतामापद्यमाना तन्तुर्भवति, बलाका च स्तनयित्नुरवश्रवणाद्गर्भं धत्ते, पद्मिनी च चेतनप्रयुक्ता सत्यचेतनेनैव शरीरेण सरोऽन्तरात्सरोऽन्तरमुपसर्पति, वल्लीव वृक्षं, नतु स्वयमेवाचेतना सरोऽन्तरोपसर्पणे व्याप्रियते। तस्मान्नैते ब्रह्मणो दृष्टान्ता इति, तं प्रति ब्रूयात्—नायं दोषः; कुलालादिदृष्टान्तवैलक्षण्यमात्रस्य विवक्षितत्वादिति। यथा हि कुलालादीनां देवादीनां च समाने चेतनत्वे कुलालादयः कार्यारम्भे बाह्यं साधनमपेक्षन्ते न देवादयः, तथा ब्रह्म चेतनमपि न बाह्यं साधनमपेक्षिष्यत इत्येतावद्वयं देवाद्युदाहरणेन विवक्षामः। तस्माद्यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथा सर्वेषामेव भवितुमर्हतीति नास्त्येकान्त इत्यभिप्रायः॥२५॥

(४८) कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् ॥ ९ ॥ (सू० २६-२९)

(१६०) कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥ २६ ॥

चेतनमेकमद्वितीयं ब्रह्म क्षीरादिवद्देवादिवच्चानपेक्ष्य बाह्यसाधनं स्वयं परिणममानं जगतः कारणमिति स्थितम्। शास्त्रार्थपरिशुद्धये तु पुनराक्षिपति। कृत्स्नप्रसक्तिः कृत्स्नस्य ब्रह्मणः कार्यरूपेण परिणामः प्राप्नोति; निरवयवत्वात्। यदि ब्रह्म पृथिव्यादिवत्सावयवमभविष्यत्, ततोऽस्यैकदेशः पर्यणंस्यदेकदेशश्चावास्थास्यत्त। निरवयवं तु ब्रह्म श्रुतिभ्योऽवगम्यते—'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६/१९), 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मु० २/१/२), 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव' (बृ० २/४/१२), 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३/९/२६), 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३/८/८) इत्याद्याभ्यः सर्वविशेषप्रतिषेधिनीभ्यः। ततश्चैकदेशपरिणामासंभवात्कृत्स्नपरिणामप्रसक्तौ सत्यां मूलोच्छेदः प्रसज्येत। द्रष्टव्यतोपदेशानर्थक्यं चापन्नमयत्नदृष्टत्वात्कार्यस्य, तद्व्यतिरिक्तस्य च ब्रह्मणोऽसंभवात्, अजत्वादिशब्दकोपश्च। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया सावयवमेव ब्रह्माभ्युपगम्येत, तथापि ये निरवयवत्वस्य प्रतिपादकाः शब्दा उदाहृतास्ते प्रकुप्येयुः। सावयवत्वे चानित्यत्वप्रसङ्ग इति। सर्वथायं पक्षो न घटयितुं शक्यत इत्याक्षिपति ॥ २६ ॥

(१६१) श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥

तुशब्देनाक्षेपं परिहरति। न खल्वस्मत्पक्षे कश्चिदपि दोषोऽस्ति। न तावत्कृत्स्नप्रसक्तिरस्ति। कुतः? श्रुतेः। यथैव हि ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिः श्रूयत, एवं विकारव्यतिरेकेणापि ब्रह्मणोऽवस्थानं श्रूयते; प्रकृतिविकारयोर्भेदेन व्यपदेशात्, 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६/३/२) इति, 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३/१२/६) इति चैवंजातीयकात्, तथा हृदयायतनत्ववचनात् सत्संपत्तिवचनाच्च। यदि च कृत्स्नं ब्रह्म कार्यभावेनोपयुक्तं स्यात्, 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६/८/१) इति सुषुप्तिगतं विशेषणमनुपपन्नं स्यात्; विकृतेन ब्रह्मणा नित्यसंपन्नत्वादविकृतस्य च ब्रह्मणोऽभावात्। तथेन्द्रियगोचरत्वप्रतिषेधाद्ब्रह्मणो विकारस्य चेन्द्रियगोचरत्वोपपत्तेः। तस्मादस्त्यविकृतं

ब्रह्म। नच निरवयवत्वशब्दव्याकोपोऽस्ति; श्रूयमाणत्वादेव निरवयवत्वस्याप्यभ्युपगम्यमानत्वात्। शब्दमूलं च ब्रह्म शब्दप्रमाणकं नेन्द्रियादिप्रमाणकं, तद्यथाशब्दमभ्युपगन्तव्यम्। शब्दश्चोभयमपि ब्रह्मणः प्रतिपादयत्यकृत्स्नप्रसक्तिं निरवयवत्वं च। लौकिकानामपि मणिमन्त्रौषधिप्रभृतीनां देशकालनिमित्तवैचित्र्यवशाच्छक्तयो विरुद्धानेककार्यविषया दृश्यन्ते। ता अपि तावन्नोपदेशमन्तरेण केवलेन तर्केणावगन्तुं शक्यन्तेऽस्य वस्तुन एतावत्य एतत्सहाया एतद्विषया एतत्प्रयोजनाश्च शक्तय इति। किमुताचिन्त्यस्वभावस्य ब्रह्मणो रूपं विना शब्देन न निरूप्येत। तथा चाहुः पौराणिकाः—'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥' इति। तस्माच्छब्दमूल एवातीन्द्रियार्थयाथात्म्याधिगमः।

ननु शब्देनापि न शक्यते विरुद्धोऽर्थः प्रत्याययितुं, निरवयवं च ब्रह्म परिणमते, नच कृत्स्नमिति। यदि निरवयवं ब्रह्म स्यान्नैव परिणमेत। कृत्स्नमेव वा परिणमेत। अथ केनचिद्रूपेण परिणमेत केनचिच्चावतिष्ठेतेति रूपभेदकल्पनात्सावयवमेव प्रसज्येत। क्रियाविषये हि 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति', 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्येवंजातीयकायां विरोधप्रतीतावपि विकल्पाश्रयणं विरोधपरिहारकारणं भवति; पुरुषतन्त्रत्वाच्चानुष्ठानस्य। इह तु विकल्पाश्रयणेनापि न विरोधपरिहारः संभवति; अपुरुषतन्त्रत्वाद्वस्तुनः। तस्माद्दुर्घटमेतदिति। नैष दोषः; अविद्याकल्पितरूपभेदाभ्युपगमात्। नह्यविद्याकल्पितेन रूपभेदेन सावयवं वस्तु संपद्यते। नहि तिमिरोपहतनयनेनानेक इव चन्द्रमा दृश्यमानोऽनेक एव भवति। अविद्याकल्पितेन च नामरूपलक्षणेन रूपभेदेन व्याकृताव्याकृतात्मकेन तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयेन ब्रह्म परिणामादिसर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते। पारमार्थिकेन च रूपेण सर्वव्यवहारातीतमपरिणतमवतिष्ठते। वाचारम्भणमात्रत्वाच्चाविद्याकल्पितस्य नामरूपभेदस्येति न निरवयवत्वं ब्रह्मणः कुप्यति। न चेयं परिणामश्रुतिः परिणामप्रतिपादनार्था; तत्प्रतिपत्तौ फलानवगमात्। सर्वव्यवहारहीनब्रह्मात्मभावप्रतिपादनार्था त्वेषा; तत्प्रतिपत्तौ फलावगमात्। 'स एष नेति नेत्यात्मा' इत्युपक्रम्याह—'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४/२/४) इति। तस्मादस्मत्पक्षे न कश्चिदपि दोषप्रसङ्गोऽस्ति॥२७॥

(१६२) आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि॥२८॥

अपि च नैवात्र विवदितव्यं कथमेकस्मिन्ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिः स्यादिति। यत आत्मन्यप्येकस्मिन्स्वप्नदृशि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिः पठ्यते 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' (बृ० ४/३/१०) इत्यादिना। लोकेऽपि देवादिषु मायाव्यादिषु च स्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा हस्त्यश्वादिसृष्टयो दृश्यन्ते। तथैकस्मिन्नपि ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिर्भविष्यतीति॥२८॥

(१६३) स्वपक्षदोषाच्च॥२९॥

परेषामप्येष समानः स्वपक्षे दोषः। प्रधानवादिनोऽपि हि निरवयवमपरिच्छिन्नं शब्दादिहीनं प्रधानं सावयवस्य परिच्छिन्नस्य शब्दादिमतः कार्यस्य कारणमिति स्वपक्षः। तत्रापि कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वात्प्रधानस्य प्राप्नोति, निरवयवत्वाभ्युपगमकोपो वा।

ननु नैव तैर्निरवयवं प्रधानमभ्युपगम्यते, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः, नित्यास्तेषां साम्यावस्था प्रधानं तैरेवावयवैस्तत्सावयवमिति। नैवंजातीयकेन सावयवत्वेन प्रकृतो दोषः परिहर्तुं पार्यते। यतः सत्त्वरजस्तमसामप्येकैकस्य समानं निरवयवत्वम्। एकैकमेव चेतरद्वयानुगृहीतं सजातीयस्य प्रपञ्चस्योपादानमिति समानत्वात्स्वपक्षदोषप्रसङ्गस्य। तर्काप्रतिष्ठानात्सावयवत्वमेवेति चेत्,—एवमप्यनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गः। अथ शक्तय एव कार्यवैचित्र्यसूचिता अवयवा इत्यभिप्रायः, तास्तु ब्रह्मवादिनोऽप्यविशिष्टाः। तथाणुवादिनोऽप्यणुरण्वन्तरेण संयुज्यमानो निरवयवत्वाद्यदि कार्त्स्न्येन संयुज्येत, ततः प्रथिमानुपपत्तेरणुमात्रत्वप्रसङ्गः। अथैकदेशेन संयुज्येत, तथापि निरवयवत्वाभ्युपगमकोप इति स्वपक्षेऽपि समान एष दोषः। समानत्वाच्च नान्यतरस्मिन्नेव पक्ष उपक्षेप्तव्यो भवति। परिहृतस्तु ब्रह्मवादिना स्वपक्षे दोषः॥२९॥

विश्रामः॥ १३॥

* * * *

(४९) सर्वोपेताधिकरणम्॥१०॥ (सू० ३०-३१)

(१६४) सर्वोपेता च तद्दर्शनात्॥३०॥

एकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगादुपपद्यते विचित्रो विकारप्रपञ्च इत्यु-

क्तम्। तत्पुनः कथमवगम्यते—विचित्रशक्तियुक्तं परं ब्रह्मेति? तदुच्यते—सर्वोपेता च तद्दर्शनात्। सर्वशक्तियुक्ता च परा देवतेत्यभ्युपगन्तव्यम्। कुतः? तद्दर्शनात्। तथा हि दर्शयति श्रुतिः सर्वशक्तियोगं परस्या देवतायाः—'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः' (छा० ३/१४/४), 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८/७/१), 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु० १/१/९), 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (बृ० ३/८/९) इत्येवंजातीयका॥३०॥

(१६५) विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम्॥३१॥

स्यादेतत्,—विकरणां परां देवतां शास्ति शास्त्रम्—'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' (बृ० ३/८/८) इत्येवंजातीयकम्। कथं सा सर्वशक्तियुक्तापि सती कार्याय प्रभवेत्? देवादयो हि चेतनाः सर्वशक्तियुक्ता अपि सन्त आध्यात्मिककार्यकरणसंपन्ना एव तस्मै तस्मै कार्याय प्रभवन्तो विज्ञायन्ते। कथं च 'नेति नेति' (बृ० ३/९/२६) इति प्रतिषिद्धसर्वविशेषाया देवतायाः सर्वशक्तियोगः संभवेदिति चेत्, यदत्र वक्तव्यं तत्पुरस्तादेवोक्तम्। श्रुत्यवगाह्यमेवेदमतिगम्भीरं ब्रह्म, न तर्कावगाह्यम्। नच यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथाऽन्यस्यापि सामर्थ्येन भवितव्यमिति नियमोऽस्तीति। प्रतिषिद्धसर्वविशेषस्यापि ब्रह्मणः सर्वशक्तियोगः संभवतीत्येतदप्यविद्याकल्पितरूपभेदोपन्यासेनोक्तमेव। तथा च शास्त्रम्—'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (श्वे० ३/१९) इत्यकरणस्यापि ब्रह्मणः सर्वसामर्थ्ययोगं दर्शयति॥३१॥

(५०) न प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम्॥११॥ (सू० ३२-३३)

(१६६) न प्रयोजनवत्त्वात्॥३२॥

अन्यथा पुनश्चेतनकर्तृत्वं जगत आक्षिपति। न खलु चेतनः परमात्मेदं जगद्बिम्बं विरचयितुमर्हति। कुतः? प्रयोजनवत्त्वात्प्रवृत्तीनाम्। चेतनो हि लोके बुद्धिपूर्वकारी पुरुषः प्रवर्तमानो न मन्दोपक्रमामपि तावत्प्रवृत्तिमात्मप्रयोजनानुपयोगिनीमारभमाणो दृष्टः। किमुत गुरुतरसंरम्भाम्? भवति च लोकप्रसिद्ध्यनुवादिनी श्रुतिः—'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृ० २/४/५) इति। गुरुतरसंरम्भा चेयं प्रवृत्तिर्यदुच्चावचप्रपञ्चं

जगद्बिम्बं विरचयितव्यम्। यदीयमपि प्रवृत्तिश्चेतनस्य परमात्मन आत्मप्रयोजनोपयोगिनी परिकल्प्येत परितृप्तत्वं परमात्मनः श्रूयमाणं बाध्येत। प्रयोजनाभावे वा प्रवृत्त्यभावोऽपि स्यात्। अथ चेतनोऽपि सन्नुन्मत्तो बुद्ध्यपराधादन्तरेणैवात्मप्रयोजनं प्रवर्तमानो दृष्टस्ततः परमात्मापि प्रवर्तिष्यत इत्युच्येत, तथा सति सर्वज्ञत्वं परमात्मनः श्रूयमाणं बाध्येत। तस्मादश्लिष्टा चेतनात्सृष्टिरिति॥३२॥

(१६७) लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्॥३३॥

तुशब्देनाक्षेपं परिहरति। यथा लोके कस्यचिदाप्तैषणस्य राज्ञो राजामात्यस्य वा व्यतिरिक्तं किंचित्प्रयोजनमभिसंधाय केवलं लीलारूपाः प्रवृत्तयः क्रीडाविहारेषु भवन्ति, यथा चोच्छ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसंधाय बाह्यं किंचित्प्रयोजनं स्वभावादेव संभवन्ति, एवमीश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किंचित्प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति। न हीश्वरस्य प्रयोजनान्तरं निरूप्यमाणं न्यायतः श्रुतितो वा संभवति। नच स्वभावः पर्यनुयोक्तुं शक्यते। यद्यप्यस्माकमियं जगद्बिम्बविरचना गुरुतरसंरम्भेवाभाति, तथापि परमेश्वरस्य लीलैव केवलेयम्; अपरिमितशक्तित्वात्। यदि नाम लोके लीलास्वपि किंचित्सूक्ष्मं प्रयोजनमुत्प्रेक्ष्येत, तथापि नैवात्र किंचित्प्रयोजनमुत्प्रेक्षितुं शक्यते; आप्तकामश्रुतेः। नाप्यप्रवृत्तिरुन्मत्तप्रवृत्तिर्वा; सृष्टिश्रुतेः, सर्वज्ञश्रुतेश्च। न चेयं परमार्थविषया सृष्टिश्रुतिः, अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहारगोचरत्वात्, ब्रह्मात्मभावप्रतिपादनपरत्वाच्चेत्येतदपि नैव विस्मर्तव्यम्॥३३॥

(५१) वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणम्॥१२॥ (सू० ३४-३६)

(१६८) वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति॥३४॥

पुनश्च जगज्जन्मादिहेतुत्वमीश्वरस्याक्षिप्यते, स्थूणानिखननन्यायेन प्रतिज्ञातस्यार्थस्य दृढीकरणाय। नेश्वरो जगतः कारणमुपपद्यते। कुतः? वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गात्। कांश्चिदत्यन्तसुखभाजः करोति देवादीन्, कांश्चिदत्यन्तदुःखभाजः पश्वादीन्, कांश्चिन्मध्यमभोगभाजो मनुष्यादीनित्येवं विषमां सृष्टिं निर्मिमाणस्येश्वरस्य पृथग्जनस्येव रागद्वेषोपपत्तेः। श्रुतिस्मृत्यवधारितस्वच्छत्वादीश्वरस्वभावविलोपः प्रसज्येत। तथा खलजनैरपि जुगुप्सितं निर्घृणत्वमतिक्रूरत्वं दुःखयोगविधानात्सर्वप्रजोपसंहाराच्च प्रसज्येत। तस्माद्वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गान्नेश्वरः कारणमित्येवं प्राप्ते

ब्रूमः—वैषम्यनैर्घृण्ये नेश्वरस्य प्रसज्येते। कस्मात्? सापेक्षत्वात्। यदि हि निरपेक्षः केवल ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते, स्यातामेतौ दोषौ वैषम्यं निर्घृण्यं च, नतु निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति। सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते। किमपेक्षत इति चेत्,—धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः। अतः सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षा विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः। ईश्वरस्तु पर्जन्यवद्द्रष्टव्यः। यथा हि पर्जन्यो व्रीहियवादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति, व्रीहियवादिवैषम्ये तु तत्तद्बीजगतान्येवासाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति। देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरः सापेक्षत्वान्न वैषम्यनैर्घृण्याभ्यां दुष्यति। कथं पुनरवगम्यते सापेक्ष ईश्वरो नीचमध्यमोत्तमं संसारं निर्मिमीत इति? तथा हि दर्शयति श्रुतिः—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत, एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौ० ब्रा० ३/८) इति। 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' (बृ० ३/२/१३) इति च। स्मृतिरपि प्राणिकर्मविशेषापेक्षमेवेश्वरस्यानुग्रहीतृत्वं निग्रहीतृत्वं च दर्शयति—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गी० ४/११) इत्येवंजातीयका॥३४॥

(१६९) न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्॥३५॥

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६/२/१) इति प्राक्सृष्टेरविभागावधारणान्नास्ति कर्म, यदपेक्ष्य विषमा सृष्टिः स्यात्। सृष्ट्युत्तरकालं हि शरीरादिविभागापेक्षं कर्म, कर्मापेक्षश्च शरीरादिविभाग इतीतरेतराश्रयत्वं प्रसज्येत। अतो विभागादूर्ध्वं कर्मापेक्ष ईश्वरः प्रवर्ततां नाम। प्राग्विभागाद्वैचित्र्यनिमित्तस्य कर्मणोऽभावात्तुल्यैवाद्या सृष्टिः प्राप्नोतीति चेत्,—नैष दोषः, अनादित्वात्संसारस्य। भवेदेष दोषो यद्यादिमान्संसारः स्यात्। अनादौ तु संसारे बीजाङ्कुरवद्धेतुहेतुमद्भावेन कर्मणः सर्गवैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते॥३५॥

कथं पुनरवगम्यतेऽनादिरेष संसार इति? अत उत्तरं पठति—

(१७०) उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च॥३६॥

उपपद्यते च संसारस्यानादित्वम्। आदिमत्त्वे हि संसारस्याकस्मादुद्भूतेर्मुक्तानामपि पुनः संसारोद्भूतिप्रसङ्गः, अकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च, सुखदुःखादिवैषम्यस्य

निर्निमित्तत्वात्। न चेश्वरो वैषम्यहेतुरित्युक्तम्। न चाविद्या केवला वैषम्यस्य कारणम्, एकरूपत्वात्। रागादिक्लेशवासनाक्षिप्तकर्मापेक्षात्वविद्यावैषम्यकरी स्यात्। नच कर्मान्तरेण शरीरं संभवति, नच शरीरमन्तरेण कर्म संभवतीतीतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गः। अनादित्वे तु बीजाङ्कुरन्यायेनोपपत्तेर्न कश्चिद्दोषो भवति। उपलभ्यते च संसारस्यानादित्वं श्रुतिस्मृत्योः। श्रुतौ तावत् 'अनेन जीवेनात्मना' (छा० ६/३/२) इति सर्गप्रमुखे शारीरमात्मानं जीवशब्देन प्राणधारणनिमित्तेनाभिलपन्ननादिः संसार इति दर्शयति। आदिमत्त्वे तु प्रागनवधारितप्राणः सन् कथं प्राणधारणनिमित्तेन जीवशब्देन सर्गप्रमुखेऽभिलप्येत नच धारयिष्यतीत्यतोऽभिलप्येत। अनागताद्धि संबन्धादतीतः संबन्धो बलवान्भवति; अभिनिष्पन्नत्वात्। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ० सं० १०/१९०/३) इति च मन्त्रवर्णः पूर्वकल्पसद्भावं दर्शयति। स्मृतावप्यनादित्वं संसारस्योपलभ्यते—'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा' (गी० १५/३) इति। पुराणे चातीतानागतानां च कल्पानां न परिमाणमस्तीति स्थापितम्॥३६॥

(५२) सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरणम्॥१३॥ (सू० ३७)

(१७१) सर्वधर्मोपपत्तेश्च॥३७॥

चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यस्मिन्नवधारिते वेदार्थे परैरुपक्षिप्तान्विलक्षणत्वादीन्दोषान्पर्यहार्षीदाचार्यः। इदानीं परपक्षप्रतिषेधप्रधानं प्रकरणं प्रारिप्समाणः स्वपक्षपरिग्रहप्रधानं प्रकरणमुपसंहरति। यस्मादस्मिन्ब्रह्मणि कारणे परिगृह्यमाणे प्रदर्शितेन प्रकारेण सर्वे कारणधर्मा उपपद्यन्ते 'सर्वज्ञं सर्वशक्ति महामायं च ब्रह्म' इति, तस्मादनतिशङ्कनीयमिदमौपनिषदं दर्शनमिति॥३७॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यशंकरभगवत्पूज्य-
पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य
सांख्यादिप्रयुक्ततर्कैश्च वेदान्तसमन्वयविरोध-
परिहाराख्यः प्रथमः पादः समाप्तः॥१॥



ॐ

॥ द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः ॥

(अत्रपादे सांख्यादिमतानां दुष्टत्वप्रदर्शनम्)

(५३) रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ॥१॥ (सू० १-१०)

(१७२) रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ १ ॥

यद्यपीदं वेदान्तवाक्यानामैदंपर्यं निरूपयितुं शास्त्रं प्रवृत्तं, न तर्कशास्त्रवत्केवलाभिर्युक्तिभिः कंचित्सिद्धान्तं साधयितुं दूषयितुं वा प्रवृत्तम्; तथापि वेदान्तवाक्यानि व्याचक्षाणैः सम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानि सांख्यादिदर्शनानि निराकरणीयानीति तदर्थं परः पादः प्रवर्तते। वेदान्तार्थनिर्णयस्य च सम्यग्दर्शनार्थत्वात्तन्निर्णयेन स्वपक्षस्थापनं प्रथमं कृतं, तद्ध्यभ्यर्हितं परपक्षप्रत्याख्यानादिति। ननु मुमुक्षूणां मोक्षसाधनत्वेन सम्यग्दर्शननिरूपणाय स्वपक्षस्थापनमेव केवलं कर्तुं युक्तं, किं परपक्षनिराकरणेन परद्वेषकरेण? बाढमेवम्; तथापि महाजनपरिगृहीतानि महान्ति सांख्यादितन्त्राणि सम्यग्दर्शनापदेशेन प्रवृत्तान्युपलभ्य भवेत्केषांचिन्मन्दमतीनामेतान्यपि सम्यग्दर्शनायोपादेयानीत्यपेक्षा। तथा युक्तिगाढत्वसंभवेन सर्वज्ञभाषितत्वाच्च श्रद्धा च तेषु, इत्यतस्तदसारतोपपादनाय प्रयत्यते। ननु 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १/१/५), 'कामाच्च नानुमानापेक्षा' (ब्र० सू० १/१/१८) 'एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः' (ब्र० सू० १/४/२८) इति च पूर्वत्रापि सांख्यादिपक्षप्रतिक्षेपः कृतः, किं पुनः कृतकरणेनेति? तदुच्यते,—सांख्यादयः स्वपक्षस्थापनाय वेदान्तवाक्यान्यप्युदाहृत्य स्वपक्षानुगुण्येनैव योजयन्तो व्याचक्षते, तेषां यद्व्याख्यानं तद्व्याख्यानाभासं, न सम्यग्व्याख्यानमित्येतावत्पूर्वं कृतम्, इह तु वाक्यनिरपेक्षः स्वतन्त्रस्तद्युक्तिप्रतिषेधः क्रियत इत्येष विशेषः।

तत्र सांख्या मन्यन्ते—यथा घटशरावादयो भेदा मृदात्मनान्वीयमाना मृदात्मकसामान्यपूर्वका लोके दृष्टाः, तथा सर्व एव बाह्याध्यात्मिका भेदाः सुखदुःखमोहात्मतयान्वीयमानाः सुखदुःखमोहात्मकसामान्यपूर्वका भवितुमर्हन्ति। यत्तत्सुखदुःखमोहात्मकं सामान्यं तत्त्रिगुणं प्रधानं मृद्वदचेतनं चेतनस्य पुरुषस्यार्थं साधयितुं स्वभावेनैव विचित्रेण विकारात्मना विवर्तत इति। तथा परिमाणा-

दिभिरपि लिङ्गैस्तदेव प्रधानमनुमिमते। तत्र वदामः—यदि दृष्टान्तबलेनैवैतन्निरूप्येत, नाचेतनं लोके चेतनानधिष्ठितं स्वतन्त्रं किंचिद्विशिष्टपुरुषार्थनिर्वर्तनसमर्थान्विकारान्विरचयद्दृष्टम्। गेहप्रासादशयनासनविहारभूम्यादयो हि लोके प्रज्ञावद्भिः शिल्पिभिर्यथाकालं सुखदुःखप्राप्तिपरिहारयोग्या रचिता दृश्यन्ते। तथेदं जगदखिलं पृथिव्यादि नानाकर्मफलोपभोगयोग्यं बाह्यम्, आध्यात्मिकं च शरीरादि नानाजात्यन्वितं प्रतिनियतावयवविन्यासमनेककर्मफलानुभवाधिष्ठानं दृश्यमानं प्रज्ञावद्भिः संभावितत्तमैः शिल्पिभिर्मनसाप्यालोचयितुमशक्यं सत् कथमचेतनं प्रधानं रचयेत्। लोष्टपाषाणादिष्वदृष्टत्वात्। मृदादिष्वपि कुम्भकाराद्यधिष्ठितेषु विशिष्टाकारा रचना दृश्यते, तद्वत्प्रधानस्यापि चेतनान्तराधिष्ठितत्वप्रसङ्गः। नच मृदाद्युपादानस्वरूपव्यपाश्रयेणैव धर्मेण मूलकारणमवधारणीयं, न बाह्यकुम्भकारादिव्यपाश्रयेणेति किंचिन्नियामकमस्ति। नचैवं सति किंचिद्विरुध्यते, प्रत्युत श्रुतिरनुगृह्यते, चेतनकारणसमर्पणात्। अतो रचनानुपपत्तेश्च हेतोर्नाचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति।

अन्वयाद्यनुपपत्तेश्चेति चशब्देन हेतोरसिद्धिं समुच्चिनोति। नहि बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां सुखदुःखमोहात्मकतयान्वयः उपपद्यते, सुखादीनां चान्तरत्वप्रतीतेः, शब्दादीनां चातद्रूपत्वप्रतीतेः, तन्निमितत्वप्रतीतेश्च। शब्दाद्यविशेषेऽपि च भावनाविशेषात्सुखादिविशेषोपलब्धेः। तथा परिमितानां भेदानां मूलाङ्कुरादीनां संसर्गपूर्वकत्वं दृष्ट्वा बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां परिमितत्वात्संसर्गपूर्वकत्वमनुमिमानस्य सत्त्वरजस्तमसामपि संसर्गपूर्वकत्वप्रसङ्गः, परिमितत्वाविशेषात्। कार्यकारणभावस्तु प्रेक्षापूर्वकनिर्मितानां शयनासनादीनां दृष्ट इति न कार्यकारणभावाद्बाह्याध्यात्मिकानां भेदानामचेतनपूर्वकत्वं शक्यं कल्पयितुम्॥१॥

(१७३) प्रवृत्तेश्च॥२॥

आस्तां तावदियं रचना। तत्सिद्ध्यर्था या प्रवृत्तिः साम्यावस्थानात्प्रच्युतिः सत्त्वरजस्तमसामङ्गाङ्गिभावरूपापत्तिर्विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तिता, सापि नाचेतनस्य प्रधानस्य स्वतन्त्रस्योपपद्यते, मृदादिष्वदर्शनाद्रथादिषु च। नहि मृदादयो रथादयो वा स्वयमचेतनाः सन्तश्चेतनैः कुलालादिभिरश्वादिभिर्वानधिष्ठिता विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तयो दृश्यन्ते, दृष्टाच्चादृष्टसिद्धिः। अतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेरपि हेतोर्नाचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति। ननु चेतनस्यापि प्रवृत्तिः केवलस्य न

दृष्टा। सत्यमेतत्। तथापि चेतनसंयुक्तस्य रथादेरचेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा। नत्वचेतनसंयुक्तस्य चेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा। किं पुनरत्र युक्तम्? यस्मिन्प्रवृत्तिर्दृष्टा, तस्य सोत यत्संप्रयुक्तस्य दृष्टा तस्य सेति। ननु यस्मिन्दृश्यते प्रवृत्तिस्तस्यैव सेतियुक्तमुभयोः प्रत्यक्षत्वात्। नतु प्रवृत्त्याश्रयत्वेन केवलश्चेतनो रथादिवत्प्रत्यक्षः। प्रवृत्त्याश्रयदेहादिसंयुक्तस्यैव तु चेतनस्य सद्भावसिद्धिः केवलाचेतनरथादिवैलक्षण्यं जीवद्देहस्य दृष्टमिति। अतएव च प्रत्यक्षे देहे सति दर्शनादसति चादर्शनाद्देहस्यैव चैतन्यमपीति लोकायतिकाः प्रतिपन्नाः। तस्मादचेतनस्यैव प्रवृत्तिरिति।

तदभिधीयते—न ब्रूमो यस्मिन्नचेतने प्रवृत्तिदृश्यते, न तस्य सेति। भवतु तस्यैव सा। सा तु चेतनाद्भवतीति ब्रूमः। तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात्। यथा काष्ठादिव्यपाश्रयापि दाहप्रकाशलक्षणा विक्रियानुपलभ्यमानापि च केवले ज्वलने ज्वलनादेव भवति, तत्संयोगे दर्शनात्तद्वियोगे चादर्शनात्तद्वत्। लोकायतिकानामपि चेतन एव देहोऽचेतनानां रथादीनां प्रवर्तको दृष्ट इत्यविप्रतिषिद्धं चेतनस्य प्रवर्तकत्वम्। ननु तव देहादिसंयुक्तस्याप्यात्मनो विज्ञानस्वरूपमात्रव्यतिरेकेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरनुपपन्नं प्रवर्तकत्वमिति चेत्। न। अयस्कान्तवद्रूपादिवच्च प्रवृत्तिरहितस्यापि प्रवर्तकत्वोपपत्तेः। यथायस्कान्तो मणिः स्वयं प्रवृत्तिरहितोऽप्ययसः प्रवर्तको भवति, यथा वा रूपादयो विषयाः स्वयं प्रवृत्तिरहिता अपि चक्षुरादीनां प्रवर्तका भवन्ति। एवं प्रवृत्तिरहितोऽपीश्वरः सर्वगतः सर्वात्मा सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सन् सर्वं प्रवर्तयेदित्युपपन्नम्। एकत्वात्प्रवर्त्याभावे प्रवर्तकत्वानुपपत्तिरिति चेत्। न। अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपमायावेशवशेनासकृत्प्रत्युक्तत्वात्। तस्मात्संभवति प्रवृत्तिः सर्वज्ञकारणत्वे न त्वचेतनकारणत्वे॥२॥

(१७४) पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि॥३॥

स्यादेतत्। यथा क्षीरमचेतनं स्वभावेनैव वत्सविवृद्ध्यर्थं प्रवर्तते, यथाच जलमचेतनं स्वभावेनैव लोकोपकाराय स्यन्दत, एवं प्रधानमचेतनं स्वभावेनैव पुरुषार्थसिद्धये प्रवर्तिष्यत इति। नैतत्साधूच्यते। यतस्तत्रापि पयोम्बुनोश्चेतनाधिष्ठितयोरेव प्रवृत्तिरित्यनुमिमीमहे। उभयवादिप्रसिद्धे रथादावचेतनं केवले प्रवृत्त्यदर्शनात्। शास्त्रं च 'योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरोयोऽपो यमयति' (बृ० ३/७/४), 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते' (बृ० ३/८/९)

इत्येवंजातीयकं समस्तस्य लोकपरिस्पन्दितस्येश्वराधिष्ठिततां श्रावयति। तस्मात्साध्यपक्षनिक्षिप्तत्वात्पयोम्बुवदित्यनुपन्यासः। चेतनायाश्च धेन्वाः स्नेहेच्छया पयसः प्रवर्तकत्वोपपत्तेः। वत्सचोषणेन च पयस आकृष्यमाणत्वात्। नचाम्बुनोऽप्यत्यन्तमनपेक्षा, निम्नभूम्याद्यपेक्षत्वात्स्यन्दनस्य। चेतनापेक्षत्वं तु सर्वत्रोपदर्शितम्। 'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि' (ब्र० सू० २/१/२४) इत्यत्र तु बाह्यनिमित्तनिरपेक्षमपि स्वाश्रयं कार्यं भवतीत्येतल्लोकदृष्ट्या निदर्शितम्। शास्त्रदृष्ट्या तु पुनः सर्वत्रैवेश्वरापेक्षत्वमापद्यमानं न पराणुद्यते॥३॥

(१७५) व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्॥४॥

सांख्यानां त्रयो गुणाः साम्येनावतिष्ठमानाः प्रधानम्। नतु तद्व्यतिरेकेण प्रधानस्य प्रवर्तकं निवर्तकं वा किंचिद्बाह्यमपेक्ष्यमवस्थितमस्ति। पुरुषस्तूदासीनो न प्रवर्तको न निवर्तक इत्यतोऽनपेक्षं प्रधानं, अनपेक्षत्वाच्च कदाचित्प्रधानं महदाद्याकारेण परिणमते, कदाचिन्न परिणमत इत्येतदयुक्तम्। ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात्सर्वशक्तित्वान्महामायत्वाच्च प्रवृत्त्यप्रवृत्ती न विरुध्येते॥४॥

(१७६) अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत्॥५॥

स्यादेतत्। यथा तृणपल्लवोदकादि निमित्तान्तरनिरपेक्षं स्वभावादेव क्षीराद्याकारेण परिणमत, एवं प्रधानमपि महदाद्याकारेण परिणंस्यत इति। कथं च निमित्तान्तरनिरपेक्षं तृणादीति गम्यते? निमित्तान्तरानुपलम्भात्। यदि हि किंचिन्निमित्तमुपलभेमहि ततो यथाकामं तेन तृणाद्युपादाय क्षीरं संपादयेमहि, नतु संपादयामहे। तस्मात्स्वाभाविकस्तृणादेः परिणामस्तथा प्रधानस्यापि स्यादिति। अत्रोच्यते—भवेत्तृणादिवत्स्वाभाविकः प्रधानस्यापि परिणामो यदि तृणादेरपि स्वाभाविकः परिणामोऽभ्युपगम्येत। न त्वभ्युपगम्यते, निमित्तान्तरोपलब्धेः। कथं निमित्तान्तरोपलब्धिः, अन्यत्राभावात्। धेन्वैव ह्युपयुक्तं तृणादि क्षीरीभवति न प्रहीणमनडुदाद्युपयुक्तं वा। यदि हि निर्निमित्तमेतत्स्याद्धेनुशरीरसंबन्धादन्यत्रापि तृणादि क्षीरीभवेत्। नच यथाकामं मानुषैर्न शक्यं संपादयितुमित्येतावता निर्निमित्तं भवति। भवति हि किंचित्कार्यं मानुषसंपाद्यं, किंचिद्दैवसंपाद्यम्। मनुष्या अपि शक्नुवन्त्येवोचितेनोपायेन तृणाद्युपादाय क्षीरं संपादयितुम्। प्रभूतं हि क्षीरं कामयमानाः प्रभूतं घासं धेनुं चारयन्ति। ततश्च प्रभूतं क्षीरं लभन्ते। तस्मान्न तृणादिवत्स्वाभाविकः प्रधानस्य परिणामः॥५॥

(१७७) अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥ ६ ॥

स्वाभाविकी प्रधानप्रवृत्तिर्न भवतीति स्थापितम्। अथापि नाम भवतः श्रद्धामनुरुध्यमानाः स्वाभाविकीमेव प्रधानस्य प्रवृत्तिमभ्युपगच्छेम, तथापि दोषोऽनुषज्येतैव। कुतः ? अर्थाभावात्। यदि तावत्स्वाभाविकी प्रधानस्य प्रवृत्तिर्न किंचिदन्यदिहापेक्षत इत्युच्येत ततो यथैव सहकारि किंचिन्नापेक्षत एवं प्रयोजनमपि किंचिन्नापेक्षिष्यते इत्यतः प्रधानं पुरुषस्यार्थं साधयितुं प्रवर्तत इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत। स यदि ब्रूयात्सहकार्येव केवलं नापेक्षते न प्रयोजनमपीति। तथापि प्रधानप्रवृत्तेः प्रयोजनं विवेक्तव्यं भोगो वा स्यादपवर्गो वोभयं वेति। भोगश्चेत्कीदृशोऽनाधेयातिशयस्य पुरुषस्य भोगो भवेत्। अनिर्मोक्षप्रसङ्गश्च। अपवर्गश्चेत्प्रागपि प्रवृत्तेरपवर्गस्य सिद्धत्वात्प्रवृत्तिरनर्थिका स्यात्। शब्दाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गश्च। उभयार्थताभ्युपगमेऽपि भोक्तव्यानां प्रधानमात्राणामानन्त्यादनिर्मोक्षप्रसङ्ग एव। नचौत्सुक्यनिवृत्त्यर्था प्रवृत्तिः। नहि प्रधानस्याचेतनस्यौत्सुक्यं संभवति। नच पुरुषस्य निर्मलस्य निष्कलस्यौत्सुक्यम्। दृक्शक्तिसर्गशक्तिवैयर्थ्यभयाच्चेत्प्रवृत्तिस्तर्हि दृक्शक्त्यनुच्छेदवत्सर्गशक्त्यनुच्छेदात्संसारानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्ग एव। तस्मात्प्रधानस्य पुरुषार्था प्रवृत्तिरित्येतदयुक्तम् ॥ ६ ॥

(१७८) पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥ ७ ॥

स्यादेतत्। यथा कश्चित्पुरुषो दृक्शक्तिसंपन्नः प्रवृत्तिशक्तिविहीनः पङ्गुरपरं पुरुषं प्रवृत्तिशक्तिसंपन्नं दृक्शक्तिविहीनमन्धमधिष्ठाय प्रवर्तयति। यथा वाऽयस्कान्तोऽश्मा स्वयमप्रवर्तमानोऽप्ययः प्रवर्तयति। एवं पुरुषः प्रधानं प्रवर्तयिष्यतीति दृष्टान्तप्रत्ययेन पुनः प्रत्यवस्थानम्। अत्रोच्यते—तथापि नैव दोषान्निर्मोक्षोऽस्ति। अभ्युपेतहानं तावद्दोष आपतति। प्रधानस्य स्वतन्त्रस्य प्रवृत्त्यभ्युपगमात्, पुरुषस्य च प्रवर्तकत्वानभ्युपगमात्। कथं चोदासीनः पुरुषः प्रधानं प्रवर्तयेत्। पङ्गुरपि ह्यन्धं वागादिभिः पुरुषं प्रवर्तयति। नैवं पुरुषस्य कश्चिदपि प्रवर्तनव्यापारोऽस्ति, निष्क्रियत्वान्निर्गुणत्वाच्च। नाप्ययस्कान्तवत्संनिधिमात्रेण प्रवर्तयेत्। संनिधिनित्यत्वेन प्रवृत्तिनित्यत्वप्रसङ्गात्। अयस्कान्तस्य त्वनित्यसंनिधेरस्ति स्वव्यापारः संनिधिः, परिमार्जनाद्यपेक्षा चास्यास्तीत्यनुपन्यासः पुरुषाश्मवदिति। तथा प्रधानस्याचैतन्यात्पुरुषस्य चौदासीन्यात्तृतीयस्य च तयोः संबन्धयितुरभावात्संबन्धानुपपत्तिः। योग्यतानिमित्ते च

संबन्धे योग्यतानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्गः। पूर्ववच्चेहाप्यर्थाभावो विकल्पयितव्यः। परमात्मनस्तु स्वरूपव्यपाश्रयमौदासीन्यं मायाव्यपाश्रयं च प्रवर्तकत्वमित्यस्त्यतिशयः ॥७॥

(१७९) अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥८॥

इतश्च न प्रधानस्य प्रवृत्तिरवकल्पते। यद्धि सत्त्वरजस्तमसामन्योन्यगुणप्रधानभावमुत्सृज्य साम्येन स्वरूपमात्रेणावस्थानं, सा प्रधानावस्था। तस्यामवस्थायामनपेक्षस्वरूपाणां स्वरूपप्रणाशभयात्परस्परं प्रत्यङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेः। बाह्यस्य च कस्यचित्क्षोभयितुरभावाद्गुणवैषम्यनिमित्तो महदाद्युत्पादो न स्यात् ॥८॥

(१८०) अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥९॥

अथापि स्यादन्यथा वयमनुमिमीमहे यथा नायमनन्तरो दोषः प्रसज्येत। नह्यनपेक्षस्वभावाः कूटस्थाश्चास्माभिर्गुणा अभ्युपगम्यन्ते, प्रमाणाभावात्। कार्यवशेन तु गुणानां स्वभावोऽभ्युपगम्यते। यथा यथा कार्योत्पाद उपपद्यते, तथा तथैषां स्वभावोऽभ्युपगम्यते। चलं गुणवृत्तमिति चास्त्यभ्युपगमः। तस्मात्साम्यावस्थायामपि वैषम्योपगमयोग्या एव गुणा अवतिष्ठन्त इति। एवमपि प्रधानस्य ज्ञशक्तिवियोगाद्रचनानुपपत्त्यादयः पूर्वोक्ता दोषास्तदवस्था एव। ज्ञशक्तिमपि त्वनुमिमानः प्रतिवादित्वान्निवर्तेत। चेतनमेकमनेकप्रपञ्चस्य जगत उपादानमिति ब्रह्मवादप्रसङ्गात्। वैषम्योपगमयोग्या अपि गुणाः साम्यावस्थायां निमित्ताभावान्नैव वैषम्यं भजेरन्। भजमाना वा निमित्ताभावाविशेषात्सर्वदैव वैषम्यं भजेरन्निति प्रसज्यत एवायमनन्तरोऽपि दोषः ॥९॥

(१८१) विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥१०॥

परस्परविरुद्धश्चायं सांख्यानामभ्युपगमः। क्वचित्सप्तेन्द्रियाण्यनुक्रामन्ति, क्वचिदेकादश। तथा क्वचिन्महतस्तन्मात्रसर्गमुपदिशन्ति, क्वचिदहंकारात्। तथा क्वचित्त्रीण्यन्तःकरणानि वर्णयन्ति, क्वचिदेकमिति। प्रसिद्ध एव तु श्रुत्येश्वरकारणवादिन्या विरोधस्तदनुवर्तिन्या च स्मृत्या। तस्मादप्यसमञ्जसं सांख्यानां दर्शनमिति।

अत्राह—नन्वौपनिषदानामप्यसमञ्जसमेव दर्शनं, तप्यतापकयोर्जात्यन्तरभावा-

नभ्युपगमात्। एकं हि ब्रह्म सर्वात्मकं सर्वस्य प्रपञ्चस्य कारणमभ्युपगच्छतामेकस्यैवात्मनो विशेषौ तप्यतापकौ न जात्यन्तरभूतावित्यभ्युपगन्तव्यं स्यात्। यदि चैतौ तप्यतापकावेकस्यात्मनो विशेषौ स्यातां, स ताभ्यां तप्यतापकाभ्यां न निर्मुच्यत इति तापोपशान्तये सम्यग्दर्शनमुपदिशच्छास्त्रमनर्थकं स्यात्। नह्यौष्ण्यप्रकाशधर्मकस्य प्रदीपस्य तदवस्थस्यैव ताभ्यां निर्मोक्ष उपपद्यते। योऽपि जलतरङ्गवीचीफेनाद्युपन्यासः, तत्रापि जलात्मन एकस्य वीच्यादयो विशेषा आविर्भावतिरोभावरूपेण नित्या एवेति समानो जलात्मनो वीच्यादिभिरनिर्मोक्षः। प्रसिद्धश्चायं तप्यतापकयोर्जात्यन्तरभावो लोके। तथाहि—अर्थी चार्थश्चान्योन्यभिन्नौ लक्ष्येते। यद्यर्थिनः स्वतोऽन्योऽर्थो न स्यात्, यस्यार्थिनो यद्विषयमर्थित्वं स तस्यार्थो नित्यसिद्ध एवेति न तस्य तद्विषयमर्थित्वं स्यात्, यथा प्रकाशात्मनः प्रदीपस्य प्रकाशाख्योऽर्थो नित्यसिद्ध एवेति न तस्य तद्विषयमर्थित्वं भवति। अप्राप्ते ह्यर्थेऽर्थिनोऽर्थित्वं स्यादिति। तथार्थस्याप्यर्थत्वं न स्यात्। यदि स्यात्स्वार्थत्वमेव स्यात्। नचैतदस्ति। संबन्धिशब्दौ ह्येतावर्थी चार्थश्चेति। द्वयोश्च संबन्धिनोः संबन्धः स्यान्नैकस्यैव। तस्माद्भिन्नावेतावर्थार्थिनौ। तथाऽनर्थानर्थिनावपि। अर्थिनोऽनुकूलोऽर्थः, प्रतिकूलोऽनर्थस्ताभ्यामेकः पर्यायेणोभाभ्यां संबध्यते। तत्रार्थस्याल्पीयस्त्वाद्भूयस्त्वाच्चानर्थस्योभावप्यर्थानर्थावनर्थ एवेति तापकः स उच्यते। तप्यस्तु पुरुषो य एकः पर्यायेणोभाभ्यां संबध्यत इति तयोस्तप्यतापकयोरेकात्मतायां मोक्षानुपपत्तिः। जात्यन्तरभावे तु तत्संयोगहेतुपरिहारात्स्यादपि कदाचिन्मोक्षोपपत्तिरिति।

अत्रोच्यते—न। एकत्वादेव तप्यतापकभावानुपपत्तेः। भवेदेष दोषो यद्येकात्मतायां तप्यतापकावन्योन्यस्य विषयविषयिभावं प्रतिपद्येयाताम्। नत्वेतदस्त्येकत्वादेव। नह्यग्निरेकः सन्स्वमात्मानं दहति प्रकाशयति वा सत्यप्यौष्ण्यप्रकाशादिधर्मभेदे परिणामित्वे च। किं कूटस्थे ब्रह्मण्येकस्मिंस्तप्यतापकभावः संभवेत्। क्व पुनरयं तप्यतापकभावः स्यादिति? उच्यते—किं न पश्यसि कर्मभूतो जीवदेहस्तप्यस्तापकः सवितेति।

ननु तप्तिर्नाम दुःखं, सा चेतयितुर्नाचेतनस्य देहस्य। यदि हि देहस्यैव तप्तिः स्यात्सा देहनाशे स्वयमेव नश्यतीति तन्नाशाय साधनं नैषितव्यं स्यादिति। उच्यते—देहाभावेऽपि केवलस्य चेतनस्य तप्तिर्न दृष्टा। नच त्वयापि तप्तिर्नाम विक्रिया चेतयितुः

केवलस्येष्यते। नापि देहचेतनयोः संहतत्वमशुद्ध्यादिदोषप्रसङ्गात्। नच तप्तेरेव तप्तिमभ्युपगच्छसि। कथं तवापि तप्यतापकभावः। सत्त्वं तप्यं तापकं रज इति चेत्। न। ताभ्यां चेतनस्य संहतत्वानुपपत्तेः। सत्त्वानुरोधित्वाच्चेतनोऽपि तप्यत इवेति चेत्, परमार्थतस्तर्हि नैव तप्यत इत्यापततीवशब्दप्रयोगात्। न चेत्तप्यते नेव-शब्दो दोषाय। नहि डुण्डुभः सर्प इवेत्येतावता सविषो भवति। सर्पो वा डुण्डुभ इवेत्येतावता निर्विषो भवति। अतश्चाविद्याकृतोऽयं तप्यतापकभावो, न पारमार्थिक इत्यभ्युपगन्तव्यमिति। नैवं सति ममापि किंचिद्दूष्यति। अथ पारमार्थिकमेव चेतनस्य तप्यत्वमभ्युपगच्छसि, तवैव सुतरामनिर्मोक्षः प्रसज्येत, नित्यत्वाभ्युपगमाच्च तापकस्य।

तप्यतापकशक्त्योर्नित्यत्वेऽपि सनिमित्तासंयोगापेक्षत्वात्तप्तेः संयोगनिमित्तादर्शननिवृत्तावात्यन्तिकः संयोगोपरमः, ततश्चात्यन्तिको मोक्ष उपपन्न इति चेत्। न। अदर्शनस्य तमसो नित्यत्वाभ्युपगमात्। गुणानां चोद्भवाभिभवयोरनियतत्वादनियतः संयोगनिमित्तोपरम इति वियोगस्याप्यनियतत्वात्सांख्यस्यैवानिर्मोक्षोऽपरिहार्यः स्यात्। औपनिषदस्य त्वात्मैकत्वाभ्युपगमादेकस्य च विषयविषयिभावानुपपत्तेर्विकारभेदस्य च वाचारम्भणमात्रत्वश्रवणादनिर्मोक्षशङ्का स्वप्नेऽपि नोपजायते। व्यवहारे तु यत्र यथा दृष्टस्तप्यतापकभावस्तत्र तथैव स इति न चोदयितव्यः परिहर्तव्यो वा भवति॥१०॥

(५४) महद्दीर्घाधिकरणम्॥२॥ (सू० ११)

(१८२) महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्॥११॥

प्रधानकारणवादो निराकृतः। परमाणुकारणवाद इदानीं निराकर्तव्यः। तत्रादौ तावद्योऽणुवादिना ब्रह्मवादिनि दोष उत्प्रेक्ष्यते, स प्रतिसमाधीयते। तत्रायं वैशेषिकाणामभ्युपगमः—कारणद्रव्यसमवायिनो गुणाः कार्यद्रव्ये समानजातीयं गुणान्तरमारभन्ते, शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्लस्य पटस्य प्रसवदर्शनात्तद्विपर्ययादर्शनाच्च। तस्माच्चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वेऽभ्युपगम्यमाने कार्येऽपि जगति चैतन्यं समवेयात्। तददर्शनात्तु न चेतनं ब्रह्म जगत्कारणं भवितुमर्हतीति। इममभ्युपगमं तदीययैव प्रक्रियया व्यभिचारयति—

एषा तेषां प्रक्रिया-परमाणवः किल कंचित्कालमनारब्धकार्या यथायोगं रूपा-

दिमन्तः पारिमाण्डल्यपरिमाणाश्च तिष्ठन्ति। ते च पश्चाददृष्टादिपुरःसराः सयोगसचिवाश्च सन्तो द्व्यणुकादिक्रमेण कृत्स्नं कार्यजातमारभन्ते। कारणगुणाश्च कार्ये गुणान्तरम्। यदा द्वौ परमाणू द्व्यणुकमारभेते, तदा परमाणुगता रूपादिगुणविशेषाः शुक्लादयो द्व्यणुके शुक्लादीनपरानारभन्ते। परमाणुगुणविशेषस्तु पारिमाण्डल्यं न द्व्यणुके पारिमाण्डल्यमपरमारभते, व्द्यणुकस्य परिमाणान्तरयोगाभ्युपगमात्। अणुत्वह्रस्वत्वे हि द्व्यणुकवर्तिनी परिमाणे वर्णयन्ति। यदापि द्वे द्व्यणुके चतुरणुकमारभेते, तदापि समानं द्व्यणुकसमवायिनां शुक्लादीनामारम्भकत्वम्। अणुत्वह्रस्वत्वे तु द्व्यणुकसमवायिनी अपि नैवारभेते, चतुरणुकस्य महत्त्वदीर्घत्वपरिमाणयोगाभ्युपगमात्। यदापि बहवः परमाणवो बहूनि वा द्व्यणुकानि द्व्यणुकसहितो वा परमाणुः कार्यमारभते, तदापि समानैषा योजना। तदेवं यथा परमाणोः परिमण्डलात्सतोऽणु ह्रस्वं च द्व्यणुकं जायते महद्दीर्घं च त्र्यणुकादि न परिमण्डलम्, यथा वा द्व्यणुकादणोर्ह्रस्वाच्च सतो महद्दीर्घं च त्र्यणुकं जायते नाणु नो ह्रस्वम्, एवं चेतनाद्ब्रह्मणोऽचेतनं जगज्जनिष्यत इत्यभ्युपगमे किं तव च्छिन्नम्।

अथ मन्यसे विरोधिना परिमाणान्तरेणाक्रान्तं कार्यद्रव्यं द्व्यणुकादीत्यतो नारम्भकाणि कारणगतानि पारिमाण्डल्यादीनीत्यभ्युपगच्छामि, नतु चेतनाविरोधिना गुणान्तरेण जगत आक्रान्तत्वमस्ति, येन कारणगता चेतना कार्ये चेतनान्तरं नारभेत। नह्यचेतना नाम चेतनाविरोधी कश्चिद्गुणोऽस्ति, चेतनाप्रतिषेधमात्रत्वात्। तस्मात्पारिमाण्डल्यादिवैषम्यात्प्राप्नोति चेतनाया आरम्भकत्वमिति। मैवं मंस्थाः। यथा कारणे विद्यमानानामपि पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वमेवं चैतन्यस्यापीत्यस्यांशस्य समानत्वात्। नच परिमाणान्तराक्रान्तत्वं पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वे कारणं, प्राक्परिमाणान्तरारम्भात्पारिमाण्डल्यादीनामारम्भकत्वोपपत्तेः। आरब्धमपि कार्यद्रव्यं प्राग्गुणारम्भात्क्षणमात्रमगुणं तिष्ठतीत्यभ्युपगमात्। नच परिमाणान्तरारम्भे व्यग्राणि पारिमाण्डल्यादीनीत्यतः स्वसमानजातीयं परिमाणान्तरं नारभन्ते, परिमाणान्तरस्यान्यहेतुत्वाभ्युपगमात्। 'कारणबहुत्वात्कारणमहत्त्वात्प्रचयविशेषाच्च महत्' (वै० सू० ७/१/९) 'तद्विपरीतमणु' (७/१/१०) 'एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते' (७/१/१७) इति हि काणभुजानि सूत्राणि। नच संनिधानविशेषात्कुतश्चित्कारणबहुत्वादीन्येवारभन्ते न पारिमाण्डल्यादीनीत्युच्येत, द्रव्यान्तरे गुणान्तरे वारभ्यमाणे

सर्वेषामेव कारणगुणानां स्वाश्रयसमवायाविशेषात्। तस्मात्स्वभावादेव पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वं, तथा चेतनाया अपीति द्रष्टव्यम्। संयोगाच्च द्रव्यादीनां विलक्षणानामुत्पत्तिदर्शनात्समानजातीयोत्पत्तिव्यभिचारः।

द्रव्ये प्रकृते गुणोदाहरणमयुक्तमिति चेत्। न। दृष्टान्तेन विलक्षणारम्भमात्रस्य विवक्षितत्वात्। नच द्रव्यस्य द्रव्यमेवोदाहर्तव्यं, गुणस्य वा गुण एवेति कश्चिन्नियमे हेतुरस्ति। सूत्रकारोऽपि भवतां द्रव्यस्य गुणमुदाजहार—'प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणामप्रत्यक्षत्वात्संयोगस्य पञ्चात्मकं न विद्यते' (वै० सू० ४/२/२) इति। यथा प्रत्यक्षाप्रत्यक्षयोर्भूम्याकाशयोः समवयन्संयोगोऽप्रत्यक्ष, एवं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षेषु पञ्चसु भूतेषु समवयच्छरीरमप्रत्यक्षं स्यात्। प्रत्यक्षं हि शरीरम्। तस्मान्न पाञ्चभौतिकमिति। एतदुक्तं भवति—गुणश्च संयोगो द्रव्यं शरीरम्। 'दृश्यते तु' (ब्र० सू० २/१/६) इति चात्रापि विलक्षणोत्पत्तिः प्रपञ्चिता। नन्वेवं सति तेनैवैतद्गतम्। नेति ब्रूमः। तत्सांख्यं प्रत्युक्तम्, एतत्तु वैशेषिकं प्रति। नन्वतिदेशोऽपि समानन्यायतया कृतः। 'एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः' (ब्र० सू० २/१/१२) इति। सत्यमेतत्। तस्यैव त्वयं वैशेषिकप्रक्रियारम्भे तत्प्रक्रियानुगतेन निदर्शनेन प्रपञ्चः कृतः॥११॥

विश्रामः॥१४॥

****

(५५) परमाणुजगदकारणत्वाधिकरणम्॥३॥ (सू० १२-१७)

(१८३) उभयथापि न कर्मातस्तदभावः॥१२॥

इदानीं परमाणुकारणवादं निराकरोति। स च वाद इत्थं समुत्तिष्ठते—पटादीनि हि लोके सावयवानि द्रव्याणि स्वानुगतैरेव संयोगसचिवैस्तन्त्वादिभिर्द्रव्यैरारभ्यमाणानि दृष्टानि। तत्सामान्येन यावत्किंचित्सावयवं तत्सर्वं स्वानुगतैरेव संयोगसचिवैस्तैस्तैर्द्रव्यैरारब्धमिति गम्यते। स चायमवयवावयविविभागो यतो निवर्तते, सोऽपकर्षपर्यन्तगतः परमाणुः। सर्वं चेदं जगद्गिरिसमुद्रादिकं सावयवं,सावयवत्वाच्चाद्यन्तवत्। न चाकारणेन कार्येण भवितव्यमित्यतः परमाणवो जगतः कारणमिति कणभुगभिप्रायः। तानीमानि चत्वारि भूतानि भूम्युदकतेजःपवनाख्यानि सावयवान्युपलभ्य चतुर्विधाः परमाणवः परिकल्प्यन्ते। तेषां चापकर्षपर्यन्तगतत्वेन परतो

विभागासंभवाद्विनश्यतां पृथिव्यादीनां परमाणुपर्यन्तो विभागो भवति, स प्रलयकालः। ततः सर्गकाले च वायवीयेष्वणुष्वदृष्टापेक्षं कर्मोत्पद्यते तत्कर्म स्वाश्रयमणुमण्वन्तरेण संयुनक्ति, ततो द्व्यणुकादिक्रमेण वायुरुत्पद्यते। एवमग्निरेवमाप एवं पृथिवी एवमेव शरीरं सेन्द्रियमिति। एवं सर्वमिदं जगदणुभ्यः संभवति। अणुगतेभ्यश्च रूपादिभ्यो द्व्यणुकादिगतानि रूपादीनि संभवन्ति तन्तुपटन्यायेनेति काणादा मन्यन्ते।

तत्रेदमभिधीयते—विभागावस्थानां तावदणूनां संयोगः कर्मापेक्षोऽभ्युपगन्तव्यः, कर्मवतां तन्त्वादीनां संयोगदर्शनात्। कर्मणश्च कार्यत्वान्निमित्तं किमप्यभ्युपगन्तव्यम्। अनभ्युपगमे निमित्ताभावान्नाणुष्वाद्यं कर्म स्यात्। अभ्युपगमेऽपि यदि प्रयत्नोऽभिघातादिर्वा (अथा) यथादृष्टं किमपि कर्मणो निमित्तमभ्युपगम्येत तस्यासंभवान्नैवाणुष्वाद्यं कर्म स्यात्। नहि तस्यामवस्थायामात्मगुणः प्रयत्नः संभवति, शरीराभावात्। शरीरप्रतिष्ठे हि मनस्यात्मनः संयोगे सत्यात्मगुणः प्रयत्नो जायते। एतेनाभिघाताद्यपि दृष्टं निमित्तं प्रत्याख्यातव्यम्। सर्गोत्तरकालं हि तत्सर्वं, नाद्यस्य कर्मणो संभवति।

अथादृष्टमाद्यस्य कर्मणो निमित्तमित्युच्येत। तत्पुनरात्मसमवायि वा स्यादणुसमवायि वा। उभयथापि नादृष्टनिमित्तमणुषु कर्मावकल्पेतादृष्टस्याचेतनत्वात्। नह्यचेतनं चेतनेनानधिष्ठितं स्वतन्त्रं प्रवर्तते प्रवर्तयति वेति सांख्यप्रक्रियायामभिहितम्। आत्मनश्चानुत्पन्नचैतन्यस्य तस्यामवस्थायामचेतनत्वात्। आत्मसमवायित्वाभ्युपगमाच्च नादृष्टमणुषु कर्मणो निमित्तं स्यादसंबन्धात्।

अदृष्टवता पुरुषेणास्त्यणूनां संबन्ध इति चेत्, संबन्धसातत्यात्प्रवृत्तिसातत्यप्रसङ्गो, नियामकान्तराभावात्। तदेवं नियतस्य कस्यचित्कर्मनिमित्तस्याभावान्नाणुष्वाद्यं कर्म स्यात्। कर्माभावात्तन्निबन्धनः संयोगो न स्यात्। संयोगाभावाच्च तन्निबन्धनं द्व्यणुकादि कार्यजातं न स्यात्। संयोगश्चाणोरण्वन्तरेण सर्वात्मना वा स्यादेकदेशेन वा। सर्वात्मना चेदुपचयानुपपत्तेरणुमात्रत्वप्रसङ्गो दृष्टविपर्ययप्रसङ्गश्च। प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगस्य दृष्टत्वात्। एकदेशेन चेत्सावयवत्वप्रसङ्गः। परमाणूनां कल्पिताः प्रदेशाः स्युरिति चेत्, कल्पितानामवस्तुत्वादवस्त्वेव संयोग इति वस्तुनः कार्यस्यासमवायिकारणं न स्यात्। असति चासमवायिकारणे द्व्यणुकादिकार्यद्रव्यं नोत्पद्येत। यथाचादिसर्गे निमित्ताभावात्संयोगोत्पत्त्यर्थं कर्म नाणूनां संभवत्येवं महाप्रलयेऽपि विभागोत्पत्त्यर्थं कर्म

नैवाणूनां संभवेत्। नहि तत्रापि किंचिन्नियतं तन्निमित्तं दृष्टमस्ति। अदृष्टमपि भोगप्रसिद्ध्यर्थं न प्रलयप्रसिद्ध्यर्थमित्यतो निमित्ताभावान्न स्यादणूनां संयोगोत्पत्त्यर्थं विभागोत्पत्त्यर्थं वा कर्म। अतश्च संयोगविभागाभावात्तदायत्तयोः सर्गप्रलययोरभावः प्रसज्येत। तस्मादनुपपन्नोऽयं परमाणुकारणवादः॥१२॥

(१८४) समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः॥१३॥

समवायाभ्युपगमाच्च तदभाव इति प्रकृतेनाणुवादनिराकरणेन संबध्यते। द्वाभ्यां चाणुभ्यां द्व्यणुकमुत्पद्यमानमत्यन्तभिन्नमणुभ्यामण्वोः समवैतीत्यभ्युपगम्यते भवता। नचैवमभ्युपगच्छता शक्यतेऽणुकारणता समर्थयितुम्। कुतः? साम्यादनवस्थितेः। यथैव ह्यणुभ्यामत्यन्तभिन्नं सद्द्व्यणुकं समवायलक्षणेन संबन्धेन ताभ्यां संबध्यत, एवं समवायोऽपि समवायिभ्योऽत्यन्तभिन्नः सन्समवायलक्षणेनान्येनैव संबन्धेन समवायिभिः संबध्येतात्यन्तभेदसाम्यात्। ततश्च तस्य तस्यान्योऽन्यः संबन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थैव प्रसज्येत।

नन्विहप्रत्ययग्राह्यः समवायो नित्यसंबद्ध एव समवायिभिर्गृह्यते, नासंबद्धः संबन्धान्तरापेक्षो वा। ततश्च न तस्यान्यः संबन्धः कल्पयितव्यो, येनानवस्था प्रसज्येतेति। नेत्युच्यते—संयोगोऽप्येवं सति संयोगिभिर्नित्यसंबद्ध एवेति समवायवन्नान्यं संबन्धमपेक्षेत। अथार्थान्तरत्वात्संयोगः संबन्धान्तरमपेक्षेत, समवायोऽपि तर्ह्यर्थान्तरत्वात्संबन्धान्तरमपेक्षेत। नच गुणत्वात्संयोगः संबन्धान्तरमपेक्षते न समवायोऽगुणत्वादिति युज्येत वक्तुम्। अपेक्षाकारणस्य तुल्यत्वात्। गुणपरिभाषायाश्चातन्त्रत्वात्। तस्मादर्थान्तरं समवायमभ्युपगच्छतः प्रसज्येतैवानवस्था। प्रसज्यमानायां चानवस्थायामेकासिद्धौ सर्वासिद्धेर्द्वाभ्यामणुभ्यां द्व्यणुकं नैवोत्पद्येत। तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः॥१३॥

(१८५) नित्यमेव च भावात्॥१४॥

अपिचाणवः प्रवृत्तिस्वभावा वा निवृत्तिस्वभावा वोभयस्वभावा वाऽनुभयस्वभावा वाऽभ्युपगम्यन्ते, गत्यन्तराभावात्। चतुर्धापि नोपपद्यते। प्रवृत्तिस्वभावत्वे नित्यमेव प्रवृत्तेर्भावात्प्रलयाभावप्रसङ्गः। निवृत्तिस्वभावत्वेऽपि नित्यमेव निवृत्तेर्भावात्सर्गाभावप्रसङ्गः। उभयस्वभावत्वं च विरोधादसमञ्जसम्। अनुभयस्वभावत्वे तु

निमित्तवशात्प्रवृत्तिनिवृत्त्योरभ्युपगम्यमानयोरदृष्टादेर्निमित्तस्य नित्यसंनिधानान्नित्यप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। अतन्त्रत्वेऽप्यदृष्टादेर्नित्याप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः॥१४॥

(१८६) रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात्॥१५॥

सावयवानां द्रव्याणामवयवशो विभज्यमानानां यतः परो विभागो न संभवति, ते चतुर्विधा रूपादिमन्तः परमाणवश्चतुर्विधस्य रूपादिमतो भूतभौतिकस्यारम्भका नित्याश्चेति यद्वैशेषिका अभ्युपगच्छन्ति, स तेषामभ्युपगमो निरालम्बन एव। यतो रूपादिमत्त्वात्परमाणूनामणुत्वनित्यत्वविपर्ययः प्रसज्येत। परमकारणापेक्षया स्थूलत्वमनित्यत्वं च तेषामभिप्रेतविपरीतमापद्येतेत्यर्थः। कुतः? एवं लोके दृष्टत्वात्। यद्धि लोके रूपादिमद्वस्तु, तत्स्वकारणापेक्षया स्थूलमनित्यं च दृष्टम्। तद्यथा पटस्तन्तूनपेक्ष्य स्थूलोऽनित्यश्च भवति, तन्तवश्चांऽशूनपेक्ष्य स्थूला अनित्याश्च भवन्ति। तथाचामी परमाणवो रूपादिमन्तस्तैरभ्युपगम्यन्ते, तस्मात्तेऽपि कारणवन्तस्तदपेक्षया स्थूला अनित्याश्च प्राप्नुवन्ति।

यच्च नित्यत्वे कारणं तैरुक्तम्—'सदकारणवन्नित्यम्' (वै० सू० ४/१/१) इति। तदप्येवं सत्यणुषु न संभवति। उक्तेन प्रकारेणाणूनामपि कारणवत्त्वोपपत्तेः। यदपि नित्यत्वे द्वितीयं कारणमुक्तम्—'अनित्यमिति च विशेषतः प्रतिषेधाभावः' (वै० ४/१/४) इति। तदपि नावश्यं परमाणूनां नित्यत्वं साधयति। असति हि यस्मिन्कस्मिंश्चिन्नित्ये वस्तुनि नित्यशब्देन नञः समासो नोपपद्यते। न पुनः परमाणुनित्यत्वमेवापेक्ष्यते। तच्चास्त्येव नित्यं परमकारणं ब्रह्म। नच शब्दार्थव्यवहारमात्रेण कस्यचिदर्थस्य प्रसिद्धिर्भवति, प्रमाणान्तरसिद्धयोः शब्दार्थयोर्व्यवहारावतारात्। यदपि नित्यत्वे तृतीयं कारणमुक्तम्—'अविद्या च' (वै० ४/१/५) इति, तद्यद्येवं विव्रीयते सतां परिदृश्यमानकार्याणां कारणानां प्रत्यक्षेणाग्रहणमविद्येति, ततो द्व्यणुकनित्यताऽप्यापद्येत। अथाद्रव्यत्वे सतीति विशेष्येत, तथाप्यकारणवत्त्वमेव नित्यतानिमित्तमापद्येत। तस्य च प्रागेवोक्तत्वात् 'अविद्या च' इति पुनरुक्तं स्यात्। अथापि कारणविभागात्कारणविनाशाच्चान्यस्य तृतीयस्य विनाशहेतोरसंभवोऽविद्या, सा परमाणूनां नित्यत्वं ख्यापयतीति व्याख्यायेत। नावश्यं

विनश्यद्वस्तु द्वाभ्यामेव हेतुभ्यां विनष्टुमर्हतीति नियमोऽस्ति। संयोगसचिवे ह्यनेकस्मिंश्च द्रव्ये द्रव्यान्तरस्यारम्भकेऽभ्युपगम्यमान एतदेवं स्यात्। यदा त्वपास्तविशेषं सामान्यात्मकं कारणं विशेषवदवस्थान्तरमापद्यमानमारम्भकमभ्युपगम्यते, तदा घृतकाठिन्यविलयनवन्मूर्त्यवस्थाविलयनेनापि विनाश उपपद्यते। तस्माद्रूपादिमत्त्वात्स्यादभिप्रेतविपर्ययः परमाणूनाम्। तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥१५॥

(१८७) उभयथा च दोषात् ॥१६॥

गन्धरसरूपस्पर्शगुणा स्थूला पृथिवी, रूपरसस्पर्शगुणाः सूक्ष्मा आपः, रूपस्पर्शगुणं सूक्ष्मतरं तेजः, स्पर्शगुणः सूक्ष्मतमो वायुरित्येवमेतानि चत्वारि भूतान्युपचितापचितगुणानि स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमतारतम्योपेतानि च लोके लक्ष्यन्ते, तद्वत्परमाणवोऽप्युपचितापचितगुणाः कल्प्येरन्न वा? उभयथापि च दोषानुषङ्गोऽपरिहार्य एव स्यात्। कल्प्यमाने तावदुपचितापचितगुणत्वे उपचितगुणानां मूर्त्युपचयादपरमाणुत्वप्रसङ्गः। नचान्तरेणापि मूर्त्युपचयं गुणोपचयो भवतीत्युच्यते, कार्येषु भूतेषु गुणोपचये मूर्त्युपचयदर्शनात्। अकल्प्यमाने तूपचितापचितगुणत्वे परमाणुत्वसाम्यप्रसिद्धये यदि तावत्सर्व एकैकगुणा एव कल्प्येरंस्ततस्तेजसि स्पर्शस्योपलब्धिर्न स्यात्, अप्सु रूपस्पर्शयोः, पृथिव्यां च रसरूपस्पर्शानां कारणगुणपूर्वकत्वात्कार्यगुणानाम्। अथ सर्वे चतुर्गुणा एव कल्प्येरन्, ततोऽप्स्वपि गन्धस्योपलब्धिः स्यात्, तेजसि गन्धरसयोः, वायौ गन्धरूपरसानाम्। नचैवं दृश्यते। तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥१६॥

(१८८) अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥१७॥

प्रधानकारणवादो वेदविद्भिरपि कैश्चिन्मन्वादिभिः सत्कार्यत्वाद्यंशोपजीवनाभिप्रायेणोपनिबद्धः। अयं तु परमाणुकारणवादो न कैश्चिदपि शिष्टैः केनचिदप्यंशेन परिगृहीत इत्यत्यन्तमेवानादरणीयो वेदवादिभिः। अपिच वैशेषिकास्तन्त्रार्थभूतान्षट्पदार्थान्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्यानत्यन्तभिन्नान्भिन्नलक्षणानभ्युपगच्छन्ति। यथा मनुष्योऽश्वः शश इति। तथात्वं चाभ्युपगम्य तद्विरुद्धं द्रव्याधीनत्वं शेषाणामभ्युपगच्छन्ति। तन्नोपपद्यते। कथम्। यथा हि लोके शशकुशपलाशप्रभृतीनामत्यन्तभिन्नानां सतां नेतरेतराधीनत्वं भवति, एवं द्रव्यादीनामत्य-

न्तभिन्नत्वान्नैव द्रव्याधीनत्वं गुणादीनां भवितुमर्हति? अथ भवति द्रव्याधीनत्वं गुणादीनां, ततो द्रव्यभावे भावाद्द्रव्याभावे चाऽभावाद्द्रव्यमेव संस्थानादिभेदादनेकशब्दप्रत्ययभाग्भवति। यथा देवदत्त एक एव सन्नवस्थान्तरयोगादनेकशब्दप्रत्ययभाग्भवति तद्वत्। तथा सति सांख्यसिद्धान्तप्रसङ्गः स्वसिद्धान्तविरोधश्चापद्येयाताम्।

नन्वग्नेरन्यस्यापि सतो धूमस्याग्न्यधीनत्वं दृश्यते। सत्यं दृश्यते। भेदप्रतीतेस्तु तत्राग्निधूमयोरन्यत्वं निश्चीयते। इह तु शुक्लः कम्बलो रोहिणी धेनुर्नीलमुत्पलमिति द्रव्यस्यैव तस्य तस्य तेन तेन विशेषणेन प्रतीयमानत्वान्नैव द्रव्यगुणयोरग्निधूमयोरिव भेदप्रतीतिरस्ति। तस्माद्द्रव्यात्मकता गुणस्य। एतेन कर्मसामान्यविशेषसमवायानां द्रव्यात्मकता व्याख्याता। गुणादीनां द्रव्याधीनत्वं द्रव्यगुणयोरयुतसिद्धत्वादिति यदुच्येत, तत्पुनरयुतसिद्धत्वमपृथग्देशत्वं वा स्यादपृथक्कालत्वं वाऽपृथक्स्वभावत्वं वा। सर्वथापि नोपपद्यते। अपृथग्देशत्वे तावत्स्वाभ्युपगमो विरुध्येत। कथम्? तन्त्वारब्धो हि पटस्तन्तुदेशोऽभ्युपगम्यते न पटदेशः। पटस्य तु गुणाः शुक्लत्वादयः पटदेशा अभ्युपगम्यन्ते न तन्तुदेशाः। तथाचाहुः—'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्' (वै० १/१/१०) इति। तन्तवो हि कारणद्रव्याणि कार्यद्रव्यं पटमारभन्ते। तन्तुगताश्च गुणाः शुक्लादयः कार्यद्रव्ये पटे शुक्लादिगुणान्तरमारभन्त इति हि तेऽभ्युपगच्छन्ति। सोऽभ्युपगमो द्रव्यगुणयोरपृथग्देशत्वेऽभ्युपगम्यमाने बाध्येत।

अथापृथक्कालत्वमयुतसिद्धत्वमुच्येत; सव्यदक्षिणयोरपि गोविषाणयोरयुतसिद्धत्वं प्रसज्येत। तथाऽपृथक्स्वभावत्वे त्वयुतसिद्धत्वे न द्रव्यगुणयोरात्मभेदः संभवति, तस्य तादात्म्येनैव प्रतीयमानत्वात्। युतसिद्धयोः संबन्धः संयोगोऽयुतसिद्धयोस्तु समवाय इत्ययमभ्युपगमो मृषैव तेषां, प्राक्सिद्धस्य कार्यात्कारणस्यायुतसिद्धत्वानुपपत्तेः। अथान्यतरापेक्ष एवायमभ्युपगमः स्यादयुतसिद्धस्य कार्यस्य कारणेन संबन्धः समवाय इति, एवमपि प्रागसिद्धस्यालब्धात्मकस्य कार्यस्य कारणेन संबन्धो नोपपद्यते द्वयायत्तत्वात्संबन्धस्य। सिद्धं भूत्वा संबध्यत इति चेत्, प्राक्कारणसंबन्धात्कार्यस्य सिद्धावभ्युपगम्यमानायामयुतसिद्ध्यभावात्कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते इतीदं दुरुक्तं स्यात्। यथा चोत्पन्नमात्रस्याक्रियस्य कार्यद्रव्यस्य विभुभिराकाशादिभिर्द्रव्यान्तरैः संबन्धः संयोग एवाभ्युपगम्यते न समवायः, एवं कारणद्रव्येणापि संबन्धः संयोग एव स्यान्न समवायः। नापि संयोगस्य समवायस्य वा संबन्धस्य संबन्धिव्य-

तिरेकेणास्तित्वे किंचित्प्रमाणमस्ति। संबन्धिशब्दप्रत्ययव्यतिरेकेण संयोगसमवाय-शब्दप्रत्ययदर्शनात्तयोरस्तित्वमिति चेत्। न। एकत्वेऽपि स्वरूपबाह्यरूपापेक्षयानेकशब्दप्रत्ययदर्शनात्। यथैकोऽपि सन् देवदत्तो लोके स्वरूपं संबन्धिरूपं चापेक्ष्यानेकशब्दप्रत्ययभाग्भवति, मनुष्यो, ब्राह्मणः, श्रोत्रियो, वदान्यो, बालो युवा, स्थविरः पिता, पुत्रः, पौत्रो, भ्राता, जामातेति, यथा चैकापि सती रेखा स्थानान्यत्वेन निविशमानैकदशशतसहस्रादिशब्दप्रत्ययभेदमनुभवति, तथासंबन्धिनोरेव संबन्धि-शब्दप्रत्ययव्यतिरेकेण संयोगसमवायशब्दप्रत्ययार्हत्वं न व्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वेन, इत्युपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरभावो वस्त्वन्तरस्य। नापि संबन्धिविषयत्वे संबन्धशब्दप्रत्यययोः संततभावप्रसङ्गः। स्वरूपबाह्यरूपापेक्षयेत्युक्तोत्तरत्वात्।

तथाऽण्वात्ममनसामप्रदेशत्वान्न संयोगः संभवति, प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगदर्शनात्। कल्पिताः प्रदेशा अण्वात्ममनसां भविष्यन्तीतिचेत्। न। अविद्यमानार्थकल्पनायां सर्वार्थसिद्धिप्रसङ्गात्। इयानेवाविद्यमानो विरुद्धोऽविरुद्धो वार्थः कल्पनीयो, नातोऽधिक इति नियमहेत्वभावात्। कल्पनायाश्च स्वायत्तत्वात्प्रभूतत्वसंभवाच्च। नच वैशेषिकैः कल्पितेभ्यः षड्भ्यः पदार्थेभ्योऽन्येऽधिकाः शतं सहस्रं वार्था न कल्पयितव्या इति निवारको हेतुरस्ति। तस्माद्यस्मै यस्मै यद्यद्रोचते तत्तत्सिद्ध्येत्। कश्चित्कृपालुः प्राणिनां दुःखबहुलः संसार एव माभूदिति कल्पयेत्। अन्यो वा व्यसनी मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिं कल्पयेत्। कस्तयोर्निवारकः स्यात्।

किंचान्यत्। द्वाभ्यां परमाणुभ्यां निरवयवाभ्यां सावयवस्य द्व्यणुकस्याकाशेनेव संश्लेषानुपपत्तिः। नह्याकाशस्य पृथिव्यादीनां च जतुकाष्ठवत्संश्लेषोऽस्ति। कार्यकारण-द्रव्ययोराश्रिताश्रयभावोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यवश्यं कल्प्यः समवाय इति चेत्। न। इतरेतराश्रयत्वात्। कार्यकारणयोर्हि भेदसिद्धावाश्रिताश्रयभावसिद्धिराश्रिताश्रय-भावसिद्धौ च तयोर्भेदसिद्धिः कुण्डबदरवदितीतरेतराश्रयता स्यात्। नहि कार्यकारण-योर्भेद आश्रिताश्रयभावो वा वेदान्तवादिभिरभ्युपगम्यते, कारणस्यैव संस्थानमात्रं कार्यमित्यभ्युपगमात्। किंचान्यत्। परमाणूनां परिच्छिन्नत्वाद्यावत्यो दिशः षडष्टौ दश वा तावद्भिरवयवैः सावयवास्ते स्युः सावयवत्वादनित्याश्चेति नित्यत्वनिरवयवत्वाभ्युपगमो बाध्येत।

यांस्त्वं दिग्भेदभेदिनोऽवयवान्कल्पयसि, त एव परमाणव इति चेत्। न।

स्थूलसूक्ष्मतारतम्यक्रमेणापरमकारणाद्विनाशोपपत्तेः। यथा पृथिवी द्व्यणुकाद्यपेक्षया स्थूलतमा वस्तुभूतापि विनश्यति, ततः सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं च पृथिव्येकजातीयकं विनश्यति, ततो द्व्यणुकं, तथा परमाणवोऽपि पृथिव्येकजातीयकत्वाद्विनश्येयुः। विनश्यन्तोऽप्यवयवविभागेनैव विनश्यन्तीति चेत्। नायं दोषः। यतो घृतकाठिन्यविलयनवदपि विनाशोपपत्तिमवोचाम। यथा हि घृतसुवर्णादीनामविभज्यमानावयवानामप्यग्निसंयोगाद्द्रवभावापत्त्या काठिन्यविनाशो भवति, एवं परमाणूनामपि परमकारणभावापत्त्या मूर्त्यादिविनाशो भविष्यति। तथा कार्यारम्भोऽपि नावयवसंयोगेनैव केवलेन भवति, क्षीरजलादीनामन्तरेणाप्यवयवसंयोगान्तरं दधिहिमादिकार्यारम्भदर्शनात्।तदेवमसारतरतर्कसंदृब्धत्वादीश्वरकारणश्रुतिविरुद्धत्वाच्छ्रुतिप्रवणैश्च शिष्टैर्मन्वादिभिरपरिगृहीतत्वादत्यन्तमेवानपेक्षास्मिन्परमाणुकारणवादे कार्या श्रेयोर्थिभिरिति वाक्यशेषः॥१७॥

(५६) *समुदायाधिकरणम्॥४॥ (सू० १८-२७)*

(१८९) समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः॥१८॥

वैशेषिकराद्धान्तो दुर्युक्तियोगाद्वेदविरोधाच्छिष्टापरिग्रहाच्च नापेक्षितव्य इत्युक्तम्। सोऽर्धवैनाशिक इति वैनाशिकत्वसाम्यात्सर्ववैनाशिकराद्धान्तो नतरामपेक्षितव्य इतीदमिदानीमुपपादयामः। स च बहुप्रकारः प्रतिपत्तिभेदाद्विनेयभेदाद्वा। तत्रैते त्रयो वादिनो भवन्ति—केचित्सर्वास्तित्ववादिनः, केचिद्विज्ञानास्तित्वमात्रवादिनः, अन्ये पुनः सर्वशून्यत्ववादिन इति। तत्र ते सर्वास्तित्ववादिनो बाह्यमान्तरं च वस्त्वभ्युपगच्छन्ति भूतं भौतिकं च चित्तं चैत्तं च। तांस्तावत्प्रतिब्रूमः। तत्र भूतं पृथिवीधात्वादयः? भौतिकं रूपादयश्चक्षुरादयश्च। चतुष्टये च पृथिव्यादिपरमाणवः खरस्नेहोष्णेरणस्वभावास्ते पृथिव्यादिभावेन संहन्यन्त इति मन्यन्ते। तथा रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञकाः पञ्चस्कन्धाः। तेऽप्याध्यात्मं सर्वव्यवहारास्पदभावेन संहन्यन्त इति मन्यन्ते।

तत्रेदमभिधीयते—योऽयमुभयहेतुक उभयप्रकारः समुदायः परेषामभिप्रेतोऽणुहेतुकश्च भूतभौतिकसंहतिरूपः, स्कन्धहेतुकश्च पञ्चस्कन्धीरूपः, तस्मिन्नुभयहेतुकेऽपि समुदायेऽभिप्रेयमाणे तदप्राप्तिः स्यात्समुदायाप्राप्तिः। समुदायभावानुपपत्तिरित्यर्थः।

कुतः? समुदायिनामचेतनत्वात्। चित्ताभिज्वलनस्य च समुदायसिद्ध्यधीनत्वात्। अन्यस्य च कस्यचिच्चेतनस्य भोक्तुः प्रशासितुर्वा स्थिरस्य संहन्तुरनभ्युपगमात् निरपेक्षप्रवृत्त्यभ्युपगमे च प्रवृत्त्यनुपरमप्रसङ्गात्। आशयस्याप्यन्यत्वानन्यत्वाभ्यामनिरूप्यत्वात्। क्षणिकत्वाभ्युपगमाच्च निर्व्यापारत्वात्प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तस्मात्समुदायानुपपत्तिः। समुदायानुपपत्तौ च तदाश्रया लोकयात्रा लुप्येत॥१८॥

(१९०) इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्॥१९॥

यद्यपि भोक्ता प्रशासिता वा कश्चिच्चेतनः संहन्ता स्थिरो नाभ्युपगम्यते, तथाप्यविद्यादीनामितरेतरकारणत्वादुपपद्यते लोकयात्रा। तस्यां चोपपद्यमानायां न किंचिदपरमपेक्षितव्यमस्ति। ते चाविद्यादयोऽविद्या, संस्कारो, विज्ञानं, नाम, रूपं, षडायतनं, स्पर्शो, वेदना, तृष्णा, उपादानं, भवो, जातिर्जरा मरणं शोकः परिदेवना दुःखं दुर्मनस्तेत्येवंजातीयका इतरेतरहेतुकाः सौगते समये क्वचित्संक्षिप्ता निर्दिष्टाः, क्वचित्प्रपञ्चिताः। सर्वेषामप्ययमविद्यादिकलापोऽप्रत्याख्येयः।

तदेवमविद्यादिकलापे परस्परनिमित्तनैमित्तिकभावेन घटीयन्त्रवदनिशमावर्तमानेऽर्थाक्षिप्त उपपन्नः संघात इति चेत्। तन्न। कस्मात्? उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्। भवेदुपपन्नः संघातो, यदि संघातस्य किंचिन्निमित्तमवगम्येत। न त्ववगम्यते। यत इतरेतरप्रत्ययत्वेऽप्यविद्यादीनां पूर्वपूर्वमुत्तरोत्तरस्योत्पत्तिमात्रनिमित्तं भवद्भवेन्न तु संघातोत्पत्तेः किंचिन्निमित्तं संभवति। नन्वविद्यादिभिरर्थादाक्षिप्यते संघात इत्युक्तम्। अत्रोच्यते—यदि तावदयमभिप्रायोऽविद्यादयः संघातमन्तरेणात्मानमलभमाना अपेक्षन्ते संघातमिति, ततस्तस्य संघातस्य निमित्तं वक्तव्यम्। तच्च नित्येष्वप्यणुष्वभ्युपगम्यमानेष्वाश्रयाश्रयिभूतेषु च भोक्तृषु सत्सु न संभवतीत्युक्तं वैशेषिकपरीक्षायाम्। किमङ्ग पुनः क्षणिकेष्वप्यणुषु भोक्तृरहितेष्वाश्रयाश्रयिशून्येषु वाभ्युपगम्यमानेषु संभवेत्। अथायमभिप्रायोऽविद्यादय एव संघातस्य निमित्तमिति, कथं तमेवाश्रित्यात्मानं लभमानास्तस्यैव निमित्तं स्युः। अथ मन्यसे संघाता एवानादौ संसारे संतत्यानुवर्तन्ते तदाश्रयाश्चाविद्यादय इति, तदपि संघातात्संघातान्तरमुत्पद्यमानं, नियमेन वा सदृशमेवोत्पद्येत, अनियमेन वा सदृशं विसदृशं वोत्पद्येत। नियमाभ्युपगमे मनुष्यपुद्गलस्य देवतिर्यग्योनिनारकप्राप्त्यभावः प्राप्नुयात्। अनियमा-

भ्युपगमेऽपि मनुष्यपुद्गलः कदाचित्क्षणेन हस्ती भूत्वा देवो वा पुनर्मनुष्यो वा भवेदिति प्राप्नुयात्। उभयमप्यभ्युपगमविरुद्धम्। अपिच यद्भोगार्थः संघातः स्यात्स नास्ति स्थिरो भोक्तेति तवाभ्युपगमः। ततश्च भोगो भोगार्थ एव, स नान्येन प्रार्थनीयः। तथा मोक्षो मोक्षार्थ एवेति, मुमुक्षुणा नान्येन भवितव्यम्। अन्येन चेत्प्रार्थ्येतोभयं भोगमोक्षकालावस्थायिना तेन भवितव्यम्। अवस्थायित्वे क्षणिकत्वाभ्युपगमविरोधः। तस्मादितरेतरोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वमविद्यादीनां यदि भवेद्भवतु नाम, नतु संघातः सिद्ध्येत्। भोक्त्रभावादित्यभिप्रायः॥१९॥

(१९१) उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्॥२०॥

उक्तमेतदविद्यादीनामुत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वान्न संघातसिद्धिरस्तीति। तदपि तूत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वं न संभवतीतीदमिदानीमुपपाद्यते। क्षणभङ्गवादिनोऽयमभ्युपगम उत्तरस्मिन्क्षण उत्पद्यमाने पूर्वः क्षणो निरुध्यत इति। न चैवमभ्युपगच्छता पूर्वोत्तरयोः क्षणयोर्हेतुफलभावः शक्यते संपादयितुम्। निरुध्यमानस्य निरुद्धस्य वा पूर्वक्षणस्याभावग्रस्तत्वादुत्तरक्षणहेतुत्वानुपपत्तेः। अथ भावभूतः परिनिष्पन्नावस्थः पूर्वक्षण उत्तरक्षणस्य हेतुरित्यभिप्रायस्तथापि नोपपद्यते। भावभूतस्य पुनर्व्यापारकल्पनायां क्षणान्तरसंबन्धप्रसङ्गात्। अथ भाव एवास्य व्यापार इत्यभिप्रायस्तथापि नैवोपपद्यते। हेतुस्वभावानुपरक्तस्य फलस्योत्पत्त्यसंभवात्। स्वभावोपरागाभ्युपगमे च हेतुस्वभावस्य फलकालावस्थायित्वे सति क्षणभङ्गाभ्युपगमत्यागप्रसङ्गः। विनैव वा स्वभावोपरागेण हेतुफलभावमभ्युपगच्छतः सर्वत्र तत्प्राप्तेरतिप्रसङ्गः।

अपिचोत्पादनिरोधौ नाम वस्तुनः स्वरूपमेव वा स्यातामवस्थान्तरं वा वस्त्वन्तरमेव वा। सर्वथापि नोपपद्यते। यदि तावद्वस्तुनः स्वरूपमेवोत्पादनिरोधौ स्यातां, ततो वस्तुशब्द उत्पादनिरोधशब्दौ च पर्यायाः प्राप्नुयुः। अथास्ति कश्चिद्विशेष इति मन्येतोत्पादनिरोधशब्दाभ्यां मध्यवर्तिनो वस्तुन आद्यन्ताख्ये अवस्थे अभिलप्येते इति। एवमप्याद्यन्तमध्यक्षणत्रयसंबन्धित्वाद्वस्तुनः क्षणिकत्वाभ्युपगमहानिः। अथात्यन्तव्यतिरिक्तावेवोत्पादनिरोधौ वस्तुनः स्यातामश्वमहिषवत्, ततो वस्तु उत्पादनिरोधाभ्यामसंसृष्टमिति वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसङ्गः। यदि च दर्शनादर्शने वस्तुना उत्पादनिरोधौ स्याताम्, एवमपि द्रष्टृधर्मौ तौ न वस्तुधर्माविति वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसङ्ग एव। तस्मादप्यसंगतं सौगतं मतम्॥२०॥

(१९२) असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा॥२१॥

क्षणभङ्गवादे पूर्वक्षणो निरोधग्रस्तत्वान्नोत्तरस्य क्षणस्य हेतुर्भवतीत्युक्तम्। अथासत्येव हेतौ फलोत्पत्तिं ब्रूयात्, ततः प्रतिज्ञोपरोधः स्यात्। चतुर्विधान्हेतून्प्रतीत्य चित्तचैत्ता उत्पद्यन्त इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत। निर्हेतुकायां चोत्पत्तावप्रतिबन्धात्सर्वं सर्वत्रोत्पद्येत। अथोत्तरक्षणोत्पत्तिर्यावत्तावदवतिष्ठते पूर्वक्षण इति ब्रूयात्ततो यौगपद्यं हेतुफलयोः स्यात्। तथापि प्रतिज्ञोपरोध एव स्यात्। क्षणिकाः सर्वे संस्कारा इतीयं प्रतिज्ञोपरुध्येत॥२१॥

(१९३) प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्॥२२॥

अपिच वैनाशिकाः कल्पयन्ति बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत्संस्कृतं क्षणिकं चेति। तदपि च त्रयं प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधावाकाशं चेत्याचक्षते। त्रयमपि चैतदवस्त्वभावमात्रं निरुपाख्यमिति मन्यन्ते, बुद्धिपूर्वकः किल विनाशो भावानां प्रतिसंख्यानिरोधो नाम भाष्यते, तद्विपरीतोऽप्रतिसंख्यानिरोधः, आवरणाभावमात्रमाकाशमिति। तेषामाकाशं परस्तात्प्रत्याख्यास्यति। निरोधद्वयमिदानीं प्रत्याचष्टे।

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधयोरप्राप्तिः। असंभव इत्यर्थः। कस्मात्? अविच्छेदात्। एतौ हि प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधौ संतानगोचरौ वा स्यातां, भावगोचरौ वा। न तावत्संतानगोचरौ संभवतः। सर्वेष्वपि संतानेषु संतानिनामविच्छिन्नेन हेतुफलभावेन संतानविच्छेदस्यासंभवात्। नापि भावगोचरौ संभवतः। नहि भावानां निरन्वयो निरुपाख्यो विनाशः संभवति, सर्वास्वप्यवस्थासु प्रत्यभिज्ञानबलेनान्वय्यविच्छेददर्शनात्। अस्पष्टप्रत्यभिज्ञानास्वप्यवस्थासु क्वचिद्दृष्टेनान्वय्यविच्छेदेनान्यत्रापि तदनुमानात्। तस्मात्परपरिकल्पितस्य निरोधद्वयस्यानुपपत्तिः॥२२॥

(१९४) उभयथा च दोषात्॥२३॥

योऽयमविद्यादिनिरोधः प्रतिसंख्यानिरोधान्तःपाती परपरिकल्पितः, स सम्यग्ज्ञानाद्वा सपरिकरात्स्यात्स्वयमेव वा। पूर्वस्मिन्विकल्पे निर्हेतुकविनाशाभ्युपगमहानिप्रसङ्गः। उत्तरस्मिंस्तु मार्गोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गः। एवमुभयथापि दोषप्रसङ्गादसमञ्जसमिदं दर्शनम्॥२३॥

(१९५) आकाशे चाविशेषात्॥२४॥

यच्च तेषामेवाभिप्रेतं निरोधद्वयमाकाशं च निरुपाख्यमिति, तत्र निरोधद्वयस्य निरुपाख्यत्वं पुरस्तान्निराकृतम्। आकाशस्येदानीं निराक्रियते। आकाशे चायुक्तो निरुपाख्यत्वाभ्युपगमः। प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधयोरिव वस्तुत्वप्रतिपत्तेरविशेषात्। आगमप्रामाण्यात्तावत् 'आत्मन आकाशः संभूतः' (तै० २/१) इत्यादिश्रुतिभ्य आकाशस्य च वस्तुत्वप्रसिद्धिः। विप्रतिपन्नान्प्रति तु शब्दगुणानुमेयत्वं वक्तव्यं, गन्धादीनां गुणानां पृथिव्यादिवस्त्वाश्रयत्वदर्शनात्। अपि चावरणाभावमात्रमाकाशमिच्छतातामेकस्मिन्सुपर्णे पतत्यावरणस्य विद्यमानत्वात्सुपर्णान्तरस्योत्पित्सतोऽनवकाशत्वप्रसङ्गः। यत्रावरणाभावस्तत्र पतिष्यतीति चेत्। येनावरणाभावो विशेष्यते, तत्तर्हि वस्तुभूतमेवाकाशं स्यात्, नावरणाभावमात्रम्। अपिचावरणाभावमात्रमाकाशं मन्यमानस्य सौगतस्य स्वाभ्युपगमविरोधः प्रसज्येत। सौगते हि समये 'पृथिवी भगवन् किंसंनिश्रया' इत्यस्मिन्प्रतिवचनप्रवाहे पृथिव्यादीनामन्ते 'वायुः किंसंनिश्रयः' इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं भवति 'वायुराकाशसंनिश्रयः' इति। तदाकाशस्यावस्तुत्वे न समञ्जसं स्यात्। तस्मादप्ययुक्तमाकाशस्यावस्तुत्वम्। अपिच निरोधद्वयमाकाशं च त्रयमप्येतन्निरुपाख्यमवस्तु नित्यं चेति विप्रतिषिद्धम्। नह्यवस्तुनो नित्यत्वमनित्यत्वं वा संभवति, वस्त्वाश्रयत्वाद्धर्मधर्मिव्यवहारस्य। धर्मधर्मिभावे हि घटादिवद्वस्तुत्वमेव स्यान्न निरुपाख्यत्वम्॥२४॥

(१९६) अनुस्मृतेश्च॥२५॥

अपिच वैनाशिकः सर्वस्य वस्तुनः क्षणिकतामभ्युपयन्नुपलब्धुरपि क्षणिकतामभ्युपेयात्। नच सा संभवति। अनुस्मृतेः अनुभवमुपलब्धिमनूत्पद्यमानं स्मरणमेवानुस्मृतिः। सा चोपलब्ध्येककर्तृका सती संभवति। पुरुषान्तरोपलब्धिविषये पुरुषान्तरस्य स्मृत्यदर्शनात्। कथं ह्यहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामीति च पूर्वोत्तरदर्शिन्येकस्मिन्नसति प्रत्ययः स्यात्। अपिच दर्शनस्मरणयोः कर्तर्येकस्मिन्प्रत्यक्षः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययः सर्वस्य लोकस्य प्रसिद्धोऽहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामीति। यदि हि तयोर्भिन्नः कर्ता स्यात्ततोऽहं स्मराम्यद्राक्षीदन्य इति प्रतीयात्। नत्वेवं प्रत्येति कश्चित्। यत्रैवं प्रत्ययस्तत्र दर्शनस्मरणयोर्भिन्नमेव कर्तारं सर्वलोकोऽवगच्छति, स्मराम्यहमसावदोऽद्राक्षीदिति। इह त्वहमदोऽद्राक्षमिति दर्शनस्मरणयोर्वैनाशिकोऽप्यात्मानमेवैकं

कर्तारमवगच्छति। न नाहमित्यात्मनो दर्शनं निर्वृत्तं निह्नुते, यथाग्निरनुष्णोऽप्रकाश इति वा। तत्रैवं सत्येकस्य दर्शनस्मरणलक्षणक्षणद्वयसंबन्धे क्षणिकत्वाभ्युपगमहानिरपरिहार्या वैनाशिकस्य स्यात्। तथाऽनन्तरामनन्तरामात्मन एव प्रतिपत्तिं प्रत्यभिजानन्नेककर्तृकामोत्तमादुच्छ्वासादतीताश्च प्रतिपत्तीराजन्मन, आत्मैककर्तृकाः प्रतिसंदधानः कथं क्षणभङ्गवादी वैनाशिको नापत्रपेत।

स यदि ब्रूयात्सादृश्यादेतत्संपत्स्यत इति। तं प्रतिब्रूयात्। तेनेदं सदृशमिति द्वयायत्तत्वात्सादृश्यस्य, क्षणभङ्गवादिनः सदृशयोर्द्वयोर्वस्तुनोर्ग्रहीतुरेकस्याभावात्, सादृश्यनिमित्तं प्रतिसंधानमिति मिथ्याप्रलाप एव स्यात्। स्याच्चेत्पूर्वोत्तरयोः क्षणयोः सादृश्यस्य ग्रहीतैकः, तथासत्येकस्य क्षणद्वयावस्थानात्क्षणिकत्वप्रतिज्ञा पीड्येत। तेनेदं सदृशमिति प्रत्ययान्तरमेवेदं न पूर्वोत्तरक्षणद्वयग्रहणनिमित्तमितिचेत्। न। तेनेदमिति भिन्नपदार्थोपादानात्। प्रत्ययान्तरमेव चेत्सादृश्यविषयं स्यात्तेनेदं सदृशमिति वाक्यप्रयोगोऽनर्थकः स्यात्। सादृश्यमित्येव प्रयोगः प्राप्नुयात्। यदा हि लोकप्रसिद्धः पदार्थः परीक्षकैर्न परिगृह्यते, तदा स्वपक्षसिद्धिः परपक्षदोषो वोभयमप्युच्यमानं परीक्षकाणामात्मनश्च यथार्थत्वेन न बुद्धिसंतानमारोहति। एवमेवैषोऽर्थ इति निश्चितं यत्तदेव वक्तव्यम्। ततोऽन्यदुच्यमानं बहुप्रलापित्वमात्मनः केवलं प्रख्यापयेत्। नचायं सादृश्यात्संव्यवहारो युक्तः। तद्भावावगमात्तत्सदृशभावानवगमाच्च। भवेदपि कदाचिद्बाह्यवस्तुनि विप्रलम्भसंभवात्तदेवेदं स्यात्तत्सदृशं वेति संदेहः। उपलब्धरि तु संदेहोऽपि न कदाचिद्भवति। स एवाहं स्यां तत्सदृशो वेति। य एवाहं पूर्वेद्युरद्राक्षं स एवाहमद्य स्मरामीति निश्चिततद्भावोपलम्भात्। तस्मादप्यनुपपन्नो वैनाशिकसमयः॥२५॥

(१९७) नासतोऽदृष्टत्वात्॥२६॥

इतश्चानुपपन्नो वैनाशिकसमयः, यतः स्थिरमनुयायिकारणमनभ्युपगच्छतामभावाद्भावोत्पत्तिरित्येतदापद्यते। दर्शयन्ति चाभावाद्भावोत्पत्तिम्—'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' इति। विनष्टाद्धि किल बीजादङ्कुर उत्पद्यते, तथा विनष्टात्क्षीराद्दधि, मृत्पिण्डाच्च घटः। कूटस्थाच्चेत्कारणात्कार्यमुत्पद्येताविशेषात्सर्वं सर्वत उत्पद्येत। तस्मादभावग्रस्तेभ्यो बीजादिभ्योऽङ्कुरादीनामुत्पद्यमानत्वादभावाद्भावोत्पत्तिरिति मन्यन्ते। तत्रेदमुच्यते—'नासतोऽदृष्टत्वात्' इति नाभावाद्भाव उत्पद्यते। यद्यभावाद्भाव उत्पद्येताभावत्वाविशेषात्कारणविशेषाभ्युपगमोऽनर्थकः स्यात्। नहि बीजादीना-

मुपमृदितानां योऽभावस्तस्याभावस्य शशविषाणादीनां च निःस्वभावत्वाविशेषादभावत्वे कश्चिद्विशेषोऽस्ति, येन बीजादेवाङ्कुरो जायते क्षीरादेव दधीत्येवंजातीयकः कारणविशेषाभ्युपगमोऽर्थवान्स्यात्। निर्विशेषस्य त्वभावस्य कारणत्वाभ्युपगमे शशविषाणादिभ्योऽप्यङ्कुरादयो जायेरन्। नचैवं दृश्यते। यदि पुनरभावस्यापि विशेषोऽभ्युपगम्येतोत्पलादीनामिव नीलत्वादिस्ततो विशेषवत्त्वादेवाभावस्य भावत्वमुत्पलादिवत्प्रसज्येत। नाप्यभावः कस्यचिदुत्पत्तिहेतुः स्यात्, अभावत्वादेव, शशविषाणादिवत्। अभावाच्च भावोत्पत्तावभावान्वितमेव सर्वं कार्यं स्यात्। नचैवं दृश्यते। सर्वस्य च वस्तुनः स्वेन स्वेन रूपेण भावात्मनैवोपलभ्यमानत्वात्। नच मृदन्विताः शरावादयो भावास्तन्त्वादिविकाराः केनचिदभ्युपगम्यन्ते। मृद्विकारानेव तु मृदन्वितान्भावांल्लोकः प्रत्येति।

यत्तूक्तं स्वरूपोपमर्दमन्तरेण कस्यचित्कूटस्थस्य वस्तुनः कारणत्वानुपपत्तेरभावाद्भावोत्पत्तिर्भवितुमर्हतीति। तद्दुरुक्तम्। स्थिरस्वभावानामेव सुवर्णादीनां प्रत्यभिज्ञायमानानां रुचकादिकार्यकारणभावदर्शनात्। येष्वपि बीजादिषु स्वरूपोपमर्दो लक्ष्यते, तेष्वपि नाऽसावुपमृद्यमाना पूर्वावस्थोत्तरावस्थायाः कारणमभ्युपगम्यते, अनुपमृद्यमानानामेवानुयायिनां बीजाद्यवयवानामङ्कुरादिकारणभावाभ्युपगमात्। तस्मादसद्भ्यः शशविषाणादिभ्यः सदुत्पत्त्यदर्शनात्सद्भ्यश्च सुवर्णादिभ्यः सदुत्पत्तिदर्शनादनुपपन्नोऽयमभावाद्भावोत्पत्त्यभ्युपगमः। अपिच चतुर्भिश्चित्तचैत्ता उत्पद्यन्ते, परमाणुभ्यश्च भूतभौतिकलक्षणः समुदाय उत्पद्यत इत्यभ्युपगम्य पुनरभावाद्भावोत्पत्तिं कल्पयद्भिरभ्युपगतमपह्नुवानैर्वैनाशिकैः सर्वो लोक आकुलीक्रियते॥२६॥

(१९८) उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः॥२७॥

यदि चाभावाद्भावोत्पत्तिरभ्युपगम्येत, एवंसत्युदासीनानामनीहमानानामपि जनानामभिमतसिद्धिः स्यात्। अभावस्य सुलभत्वात्। कृषीवलस्य क्षेत्रकर्मण्यप्रयतमानस्यापि सस्यनिष्पत्तिः स्यात्। कुलालस्य च मृत्संस्क्रियायामप्रयतमानस्याप्यमत्रोत्पत्तिः। तन्तुवायस्यापि तन्तूनतन्वानस्यापि तन्वानस्येव वस्त्रलाभः। स्वर्गापवर्गयोश्च न कश्चित्कथंचित्समीहेत। नचैतद्युज्यतेऽभ्युपगम्यते वा केनचित्। तस्मादप्यनुपपन्नोऽयमभावाद्भावोत्पत्त्यभ्युपगमः॥२७॥

विश्रामः॥१५॥

****

(५७) अभावाधिकरणम् ॥५॥ (सू० २८-३२)

नाभाव उपलब्धेः ॥२८॥

एवं बाह्यार्थवादमाश्रित्य समुदायाप्राप्त्यादिषु दूषणेषूद्भावितेषु विज्ञानवादी बौद्ध इदानीं प्रत्यवतिष्ठिते। केषांचित्किल विनेयानां बाह्ये वस्तुन्यभिनिवेशमालक्ष्य तदनुरोधेन बाह्यार्थवादप्रक्रियेयं विरचिता। नासौ सुगताभिप्रायः। तस्य तु विज्ञानैकस्कन्धवाद एवाभिप्रेतः। तस्मिंश्च विज्ञानवादे बुद्ध्यारूढेन रूपेणान्तस्थ एव प्रमाणप्रमेयफलव्यवहारः सर्व उपपद्यते। सत्यपि बाह्येऽर्थे बुद्ध्यारोहमन्तरेण प्रमाणादिव्यवहारानवतारात्। कथं पुनरवगम्यतेऽन्तःस्थ एवायं सर्वव्यवहारो न विज्ञानव्यतिरिक्तो बाह्योऽर्थोऽस्तीति। तदसंभवादित्याह। स हि बाह्योऽर्थोऽभ्युपगम्यमानः परमाणवो वा स्युस्तत्समूहा वा स्तम्भादयः स्युः। तत्र न तावत्परमाणवः स्तम्भादिप्रत्ययपरिच्छेद्या भवितुमर्हन्ति, परमाणवाभासज्ञानानुपपत्तेः ? नापि तत्समूहाः स्तम्भादयः, तेषां परमाणुभ्योऽन्यत्वानन्यत्वाभ्यां निरूपयितुमशक्यत्वात्। एवं जात्यादीनपि प्रत्याचक्षीत। अपिचानुभवमात्रेण साधारणात्मनो ज्ञानस्य जायमानस्य योऽयं प्रतिविषयं पक्षपातः स्तम्भज्ञानं कुड्यज्ञानं घटज्ञानं पटज्ञानमिति, नासौ ज्ञानगतविशेषमन्तरेणोपपद्यत इत्यवश्यं विषयसारूप्यं ज्ञानस्याङ्गीकर्तव्यम्। अङ्गीकृते च तस्मिन्विषयाकारस्य ज्ञानेनैवावरुद्धत्वादपार्थिका बाह्यार्थसद्भावकल्पना। अपिच सहोपलम्भनियमादभेदो विषयविज्ञानयोरापतति। नह्यनयोरेकस्यानुपलम्भेऽन्यस्योपलम्भोऽस्ति। नचैतत्स्वभावविवेके युक्तं, प्रतिबन्धकारणाभावात्। तस्मादप्यर्थाभावः स्वप्नादिवच्चेदं द्रष्टव्यम्। यथाहि स्वप्नमायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन ग्राह्यग्राहकाकारा भवन्ति, एवं जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया भवितुमर्हन्तीत्यवगम्यते। प्रत्ययत्वाविशेषात्।

कथं पुनरसति बाह्यार्थे प्रत्ययवैचित्र्यमुपपद्यते। वासनावैचित्र्यादित्याह। अनादौ हि संसारे बीजाङ्कुरवद्विज्ञानानां वासनानां चान्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन वैचित्र्यं न विप्रतिषिध्यते। अपिचान्वयव्यतिरेकाभ्यां वासनानिमित्तमेव ज्ञानवैचित्र्यमित्यवगम्यते। स्वप्नादिष्वन्तरेणाप्यर्थं वासनानिमित्तस्य ज्ञानवैचित्र्यस्योभाभ्यामप्यावाभ्यामभ्युपगम्यमानत्वात्। अन्तरेण तु वासनामर्थनिमित्तस्य ज्ञानवैचित्र्यस्य मयानभ्युपगम्यमानत्वात्। तस्मादप्यभावो बाह्यार्थस्येति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—'नाभाव उपलब्धेः' इति। न खल्वभावो बाह्यस्यार्थस्याध्यवसातुं शक्यते। कस्मात्? उपलब्धेः। उपलभ्यते हि प्रतिप्रत्ययं बाह्योऽर्थः स्तम्भः कुड्यं घटः पट इति। नचोपलभ्यमानस्यैवाभावो भवितुमर्हति। यथा हि कश्चिद्भुञ्जानो भुजिसाध्यायां तृप्तौ स्वयमनुभूयमानायामेवं ब्रूयान्नाहं भुञ्जे न वा तृप्यामीति, तद्वदिन्द्रियसंनिकर्षेण स्वयमुपलभमान एव बाह्यमर्थं नाहमुपलभे नच सोऽस्तीति ब्रुवन्कथमुपादेयवचनः स्यात्।

ननु नाहमेवं ब्रवीमि न कंचिदर्थमुपलभ इति किं तूपलब्धिव्यतिरिक्तं नोपलभ इति ब्रवीमि। बाढमेवं ब्रवीषि, निरङ्कुशत्वात्ते तुण्डस्य। नतु युक्त्युपेतं ब्रवीषि। यत उपलब्धिव्यतिरेकोऽपि बलादर्थस्याभ्युपगन्तव्य, उपलब्धेरेव। नहि कश्चिदुपलब्धिमेव स्तम्भः कुड्यं चेत्युपलभन्ते। उपलब्धिविषयत्वेनैव तु स्तम्भकुड्यादीन्सर्वे लौकिका उपलभन्ते। अतश्चैवमेव सर्वे लौकिका उपलभन्ते यत्प्रत्याचक्षाणा अपि बाह्यार्थमेव व्याचक्षते, यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद्बहिर्वदवभासत इति। तेऽपि सर्वलोकप्रसिद्धां बहिरवभासमानां संविदं प्रतिलभमानाः प्रत्याख्यातुकामाश्च बाह्यमर्थं बहिर्वदिति वत्कारं कुर्वन्ति। इतरथा हि कस्माद्बहिर्वदिति ब्रूयुः। नहि विष्णुमित्रो वन्ध्यापुत्रवदवभासत इति कश्चिदाचक्षीत। तस्माद्यथानुभवं तत्त्वमभ्युपगच्छद्भिर्बहिरेवावभासत इति युक्तमभ्युपगन्तुं, नतु बहिर्वदवभासत इति। ननु बाह्यस्यार्थस्यासंभवाद्बहिर्वदवभासत इत्यध्यवसितम्। नायं साधुरध्यवसायो, यतः प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्तिपूर्वकौ संभवासंभवाववधार्येते न पुनः संभवासंभवपूर्विके प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्ती। यद्धि प्रत्यक्षादीनामन्यतमेनापि प्रमाणेनोपलभ्यते, तत्संभवति। यत्तु न केनचिदपि प्रमाणेनोपलभ्यते, तन्न संभवति। इह तु यथास्वं सर्वैरेव प्रमाणैर्बाह्योऽर्थ उपलभ्यमानः कथं व्यतिरेकाव्यतिरेकादिविकल्पैर्न संभवतीत्युच्येतोपलब्धेरेव। नच ज्ञानस्य विषयसारूप्याद्विषयनाशो भवति, असति विषये विषयसारूप्यानुपपत्तेः, बहिरुपलब्धेश्च विषयस्य। अतएव सहोपलम्भनियमोऽपि प्रत्ययविषययोरुपायोपेयभावहेतुको, नाभेदहेतुक इत्यभ्युपगन्तव्यम्।

अपिच घटज्ञानं पटज्ञानमिति विशेषणयोरेव घटपटयोर्भेदो न विशेष्यस्य ज्ञानस्य, यथा शुक्लो गौः कृष्णो गौरिति शौक्ल्यकार्ष्ण्ययोरेव भेदो न गोत्वस्य। द्वाभ्यां च भेद एकस्य सिद्धो भवत्येकस्माच्च द्वयोः। तस्मादर्थज्ञान-

योर्भेदः। तथा घटदर्शनं घटस्मरणमित्यत्रापि प्रतिपत्तव्यम्। अत्रापि हि विशेष्ययोरेव दर्शनस्मरणयोर्भेदो न विशेषणस्य घटस्य। यथा क्षीरगन्धः क्षीररस इति विशेष्ययोरेव गन्धरसयोर्भेदो न विशेषणस्य क्षीरस्य, तद्वत्। अपिच द्वयोर्विज्ञानयोः पूर्वोत्तरकालयोः स्वसंवेदनेनैवोपक्षीणयोरितरेतरग्राह्यग्राहकत्वानुपपत्तिः। ततश्च विज्ञानभेदप्रतिज्ञा, क्षणिकत्वादिधर्मप्रतिज्ञा, स्वलक्षणसामान्यलक्षणवास्यवासकत्वाऽविद्योपप्लवसदसद्धर्मबन्धमोक्षादिप्रतिज्ञाश्च स्वशास्त्रगतास्ता हीयेरन्। किंचान्यत्? विज्ञानं विज्ञानमित्यभ्युपगच्छता बाह्योऽर्थः स्तम्भः कुड्यमित्येवंजातीयकः कस्मान्नाभ्युपगम्यत इति वक्तव्यम्। विज्ञानमनुभूयत इति चेत्। बाह्योऽप्यर्थोऽनुभूयत एवेति युक्तमभ्युपगन्तुम्। अथ विज्ञानं प्रकाशात्मकत्वात्प्रदीपवत्स्वयमेवानुभूयते न तथा बाह्योऽप्यर्थ इति चेत्। अत्यन्तविरुद्धां स्वात्मनि क्रियामभ्युपगच्छस्यग्निरात्मानं दहतीतिवत्, अविरुद्धं तु लोकप्रसिद्धं स्वात्मव्यतिरिक्तेन विज्ञानेन बाह्योऽर्थोऽनुभूयत इति नेच्छस्यहो पाण्डित्यं महद्दर्शितम्। नचार्थाव्यतिरिक्तमपि विज्ञानं स्वयमेवानुभूयते, स्वात्मनि क्रियाविरोधादेव।

ननु विज्ञानस्य स्वरूपव्यतिरिक्तग्राह्यत्वे तदप्यन्येन ग्राह्यं तदप्यन्येनेत्यनवस्था प्राप्नोति। अपिच प्रदीपवदवभासात्मकत्वाज्ज्ञानस्य ज्ञानान्तरं कल्पयतः समत्वादवभास्यावभासकभावानुपपत्तेः कल्पनानर्थक्यमिति। तदुभयमप्यसत्। विज्ञानग्रहणमात्र एव विज्ञानसाक्षिणो ग्रहणाकाङ्क्षानुत्पादादनवस्थाशङ्कानुपपत्तेः। साक्षिप्रत्यययोश्च स्वभाववैषम्यादुपलब्ध्युपलभ्यभावोपपत्तेः। स्वयंसिद्धस्य च साक्षिणोऽप्रत्याख्येयत्वात्। किंचान्यत् प्रदीपवद्विज्ञानमवभासकान्तरनिरपेक्षं स्वयमेव प्रथत इति ब्रुवताऽप्रमाणगम्यं विज्ञानमनवगन्तृकमित्युक्तं स्यात्। शिलाघनमध्यस्थप्रदीपसहस्रप्रथनवत्। बाढमेवम्, अनुभवरूपत्वात्तु विज्ञानस्येष्टो नः पक्षस्त्वयाऽनुज्ञायत इति चेत्। न। अन्यस्यावगन्तुश्चक्षुःसाधनस्य प्रदीपादिप्रथनदर्शनात्। अतो विज्ञानस्याप्यवभास्यत्वाविशेषात्सत्येवान्यस्मिन्नवगन्तरि प्रथनं प्रदीपवदित्यवगम्यते। साक्षिणोऽवगन्तुः स्वयंसिद्धतामुपक्षिपता स्वयं प्रथते विज्ञानमित्येष एव मम पक्षस्त्वया वाचोयुक्त्यन्तरेणाश्रित इति चेत्। न। विज्ञानस्योत्पत्तिप्रध्वंसानेकत्वादिविशेषवत्त्वाभ्युपगमात्। अतः प्रदीपवद्विज्ञानस्यापि व्यतिरिक्तावगम्यत्वमस्माभिः प्रसाधितम्॥२८॥

(२००) वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्॥२९॥

यदुक्तं बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन भवेयुः, प्रत्ययत्वाविशेषादिति। तत्प्रतिवक्तव्यम्।

अत्रोच्यते—न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति। कस्मात्? वैधर्म्यात्। वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः। किं पुनर्वैधर्म्यम्। बाधाबाधाविति ब्रूमः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य, मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति, नह्यस्ति मम महाजनसमागमो, निद्राग्लानं तु मे मनो बभूव, तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति। एवं मायादिष्वपि भवति यथायथं बाधः। नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्यते। अपिच स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम्। उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्। स्मृत्युपलब्ध्योश्च प्रत्यक्षमन्तरं स्वयमनुभूयतेऽर्थविप्रयोगसंप्रयोगात्मकमिष्टं पुत्रं स्मरामि नोपलभ, उपलब्धुमिच्छामीति। तत्रैवंसति न शक्यते वक्तुं मिथ्या जागरितोपलब्धिरुपलब्धित्वात्स्वप्नोपलब्धिवदित्युभयोरन्तरं स्वयमनुभवता। नच स्वानुभवापलापः प्राज्ञमानिभिर्युक्तः कर्तुम्। अपिचानुभवविरोधप्रसङ्गाज्जागरितप्रत्ययानां स्वतो निरालम्बनतां वक्तुमशक्नुवता स्वप्नप्रत्ययसाधर्म्याद्वक्तुमिष्यते। नच यो यस्य स्वतो धर्मो न संभवति, सोऽन्यस्य साधर्म्यात्तस्य संभविष्यति। नह्यग्निरुष्णोऽनुभूयमान उदकसाधर्म्याच्छीतो भविष्यति। दर्शितं तु वैधर्म्यं स्वप्नजागरितयोः॥२९॥

(२०१) न भावोऽनुपलब्धेः॥३०॥

यदप्युक्तं विनाप्यर्थेन ज्ञानवैचित्र्यं वासनावैचित्र्यादेवावकल्प्यत इति। तत्प्रतिवक्तव्यम्। अत्रोच्यते—न भावो वासनानामुपपद्यते त्वत्पक्षेऽनुपलब्धेर्बाह्यानामर्थानाम्। अर्थोपलब्धिनिमित्ता हि प्रत्यर्थं नानारूपा वासना भवन्ति। अनुपलभ्यमानेषु त्वर्थेषु किंनिमित्ता विचित्रा वासना भवेयुः। अनादित्वेऽप्यन्धपरंपरान्यायेनाप्रतिष्ठैवानवस्था व्यवहारलोपिनी स्यान्नाभिप्रायसिद्धिः।

यावप्यन्वयव्यतिरेकावर्थापलापिनोपन्यस्तौ वासनानिमित्तमेवेदं ज्ञानजातं नार्थनिमित्तमिति, तावप्येवंसति प्रत्युक्तौ द्रष्टव्यौ। विनार्थोपलब्ध्या वासनानुपपत्तेः। अपिच विनापि वासनाभिरर्थोपलब्ध्युपगमाद्विना त्वर्थोपलब्ध्या वासनोत्पत्त्यन-

भ्युपगमादर्थसद्भावमेवान्वयव्यतिरेकावपि प्रतिष्ठापयतः। अपिच वासना नाम संस्कारविशेषाः। संस्काराश्च नाश्रयमन्तरेणावकल्पन्ते। एवं लोके दृष्टत्वात्। नच तव वासनाश्रयः कश्चिदस्ति प्रमाणतोऽनुपलब्धेः॥३०॥

(२०२) क्षणिकत्वाच्च॥३१॥

यदप्यालयविज्ञानं नाम वासनाश्रयत्वेन परिकल्पितं, तदपि क्षणिकत्वाभ्युपगमादनवस्थितस्वरूपं सत्प्रवृत्तिविज्ञानवन्न वासनानामधिकरणं भवितुमर्हति। नहि कालत्रयसंबन्धिन्येकस्मिन्नन्वयिन्यसति कूटस्थे वा सर्वार्थदर्शिनि देशकालनिमित्तापेक्षवासनाधानस्मृतिप्रतिसंधानादिव्यवहारः संभवति। स्थिरस्वरूपत्वे त्वालयविज्ञानस्य सिद्धान्तहानिः। अपिच विज्ञानवादेऽपि क्षणिकत्वाभ्युपगमस्य समानत्वाद्यानि बाह्यार्थवादे क्षणिकत्वनिबन्धनानि दूषणान्युद्भावितानि 'उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्' इत्येवमादीनि, तानीहाप्यनुसंधातव्यानि। एवमेतौ द्वावपि वैनाशिकपक्षौ निराकृतौ बाह्यार्थवादिपक्षो विज्ञानवादिपक्षश्च। शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते। नह्ययं सर्वप्रमाणप्रसिद्धो लोकव्यवहारोऽन्यत्तत्त्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुमपवादाभाव उत्सर्गप्रसिद्धेः॥३१॥

(२०३) सर्वथानुपपत्तेश्च॥३२॥

किं बहुना? सर्वप्रकारेण यथायथायं वैनाशिकसमय उपपत्तिमत्त्वाय परीक्ष्यते, तथा तथा सिकताकूपवद्विदीर्यत एव। न कांचिदप्यत्रोपपत्तिं पश्यामः। अतश्चानुपपन्नो वैनाशिकतन्त्रव्यवहारः। अपिच बाह्यार्थविज्ञानशून्यवादत्रयमितरेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसंबद्धप्रलापित्वं, प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमाः प्रजा इति। सर्वथाप्यनादरणीयोऽयं सुगतसमयः श्रेयस्कामैरित्यभिप्रायः॥३२॥

(५८) एकस्मिन्नसंभवाधिकरणम्॥६॥ (सू० ३३-३६)

(२०४) नैकस्मिन्नसंभवात्॥३३॥

निरस्तः सुगतसमयः। विवसनसमय इदानीं निरस्यते। सप्त चैषां पदार्थाः संमता— जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षा नाम। संक्षेपतस्तु द्वावेव पदार्थौ जीवाजीवाख्यौ। यथायोगं तयोरेवेतरान्तर्भावादिति मन्यन्ते। तयोरिममपरं प्रपञ्चमाचक्षते

पञ्चास्तिकाया नाम, जीवास्तिकायः पुद्गलास्तिकायो, धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकायश्चेति। सर्वेषामप्येषामवान्तरप्रभेदान्बहुविधान्स्वसमयपरिकल्पितान्वर्णयन्ति। सर्वत्र चेमं सप्तभङ्गीनयं नाम न्यायमवतारयन्ति।

स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्चेति। एवमेवैकत्वनित्यत्वादिष्वपीमं सप्तभङ्गीनयं योजयन्ति।

अत्राचक्ष्महे—नायमभ्युपगमो युक्त इति। कुतः। एकस्मिन्नसंभवात्। नह्येकस्मिन्धर्मिणि युगपत्सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः संभवति शीतोष्णवत्। य एते सप्तपदार्था निर्धारिता एतावन्त एवंरूपाश्चेति ते तथैव वा स्युर्नैव वा तथा स्युः। इतरथा हि तथा वा स्युरतथा वेत्यनिर्धारितरूपं ज्ञानं संशयज्ञानवदप्रमाणमेव स्यात्।

नन्वनेकात्मकं वस्त्विति निर्धारितरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यमानं संशयज्ञानवन्नाप्रमाणं भवितुमर्हति। नेति ब्रूमः। निरङ्कुशं ह्यनेकान्तत्वं सर्ववस्तुषु प्रतिजानानस्य निर्धारणस्यापि वस्तुत्वाविशेषात्स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यादिविकल्पोपनिपातादनिर्धारणात्मकतैव स्यात्। एवं निर्धारयितुर्निर्धारणफलस्य च स्यात्पक्षेऽस्तिता, स्याच्च पक्षे नास्तितेति। एवंसति कथं प्रमाणभूतः संस्तीर्थकरः प्रमाणप्रमेयप्रमातृप्रमितिष्वनिर्धारितासूपदेष्टुं शक्नुयात्। कथं वा तदभिप्रायानुसारिणस्तदुपदिष्टेऽर्थेऽनिर्धारितरूपे प्रवर्तेरन्। ऐकान्तिकफलत्वनिर्धारणे हि सति तत्साधनानुष्ठानाय सर्वो लोकोऽनाकुलः प्रवर्तते, नान्यथा। अतश्चानिर्धारितार्थं शास्त्रं प्रणयन्मत्तोन्मत्तवदनुपादेयवचनः स्यात्। तथा पञ्चानामस्तिकायानां पञ्चत्वसंख्यास्ति वा नास्ति वेति विकल्प्यमाना स्यात्तावदेकस्मिन्पक्षे, पक्षान्तरे तु न स्यादित्यतो न्यूनसंख्यात्वमधिकसंख्यात्वं वा प्राप्नुयात्। नचैषां पदार्थानामवक्तव्यत्वं संभवति। अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरन्। उच्यन्ते चावक्तव्याश्चेति विप्रतिषिद्धम्। उच्यमानाश्च तथैवावधार्यन्ते नावधार्यन्त इति च। तथा तदवधारणफलं सम्यग्दर्शनमस्ति वा नास्ति वा, एवं तद्विपरीतमसम्यग्दर्शनमप्यस्ति वा नास्ति वेति प्रलपन्मत्तोन्मत्तपक्षस्यैव स्यान्न प्रत्यायितव्यपक्षस्य। स्वर्गापवर्गयोश्च पक्षे भावः पक्षे चाभावस्तथा पक्षे नित्यता पक्षे चानित्यतेत्यनवधारणायां प्रवृत्त्यनुपपत्तिः। अनादिसिद्धजीवप्रभृतीनां च स्वशास्त्रा-

वधृतस्वभावानामयथावधृतस्वभावत्वप्रसङ्गः। एवं जीवादिषु पदार्थेष्वेकस्मिन्धर्मिणि सत्त्वासत्त्वयोर्विरुद्धयोर्धर्मयोरसंभवात्सत्त्वे चैकस्मिन्धर्मेऽसत्त्वस्य धर्मान्तरस्यासंभवादसत्त्वे चैवं सत्त्वस्यासंभवादसंगतमिदमार्हतं मतम्। एतेनैकानेकनित्यानित्यव्यतिरिक्ताव्यतिरिक्ताद्यनेकान्ताभ्युपगमा निराकृता मन्तव्याः। यत्तु पुद्गलसंज्ञकेभ्योऽणुभ्यः संघाताः संभवन्तीति कल्पयन्ति, तत्पूर्वेणैवाणुवादनिराकरणेन निराकृतं भवतीत्यतो न पृथक्तन्निराकरणाय प्रयत्यते॥३३॥

(२०५) एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम्॥३४॥

यथैकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धधर्मासंभवो दोषः स्याद्वादे प्रसक्त, एवमात्मनोऽपि जीवस्याकार्त्स्न्यमपरो दोषः प्रसज्येत। कथम्? शरीरपरिमाणो हि जीव इत्यार्हता मन्यन्ते। शरीरपरिमाणतायां च सत्यामकृत्स्नोऽसर्वगतः परिच्छिन्न आत्मेत्यतो घटादिवदनित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत। शरीराणां चानवस्थितपरिमाणत्वान्मनुष्यजीवो मनुष्यशरीरपरिमाणो भूत्वा पुनः केनचित्कर्मविपाकेन हस्तिजन्म प्राप्नुवन्न कृत्स्नं हस्तिशरीरं व्याप्नुयात्। पुत्तिकाजन्म च प्राप्नुवन्न कृत्स्नः पुत्तिकाशरीरे संमीयेत। समान एष एकस्मिन्नपि जन्मनि कौमारयौवनस्थाविरेषु दोषः। स्यादेतत्। अनन्तावयवो जीवस्तस्य त एवावयवा अल्पे शरीरे संकुचेयुर्महति च विकसेयुरिति। तेषां पुनरनन्तानां जीवावयवानां समानदेशत्वं प्रतिविहन्यते वा न वेति वक्तव्यम्। प्रतिघाते तावन्नानन्तावयवाः परिच्छिन्ने देशे संमीयेरन्। अप्रतिघातेऽप्येकावयवदेशत्वोपपत्तेः सर्वेषामवयवानां प्रथिमानुपपत्तेर्जीवस्याणुमात्रत्वप्रसङ्गः स्यात्। अपिच शरीरमात्रपरिच्छिन्नानां जीवावयवानामानन्त्यं नोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम्॥३४॥

अथ पर्यायेण बृहच्छरीरप्रतिपत्तौ केचिज्जीवावयवा उपगच्छन्ति, तनुशरीरप्रतिपत्तौ च केचिदपगच्छन्तीत्युच्येत, तत्राप्युच्यते—

(२०६) नच पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः॥३५॥

न च पर्यायेणाप्यवयवोपगमापगमाभ्यामेतद्देहपरिमाणत्वं जीवस्याविरोधेनोपपादयितुं शक्यते। कुतः? विकारादिदोषप्रसङ्गात्। अवयवोपगमापगमाभ्यां ह्यनिशमापूर्यमाणस्यापक्षीयमाणस्य च जीवस्य विक्रियावत्त्वं तावदपरिहार्यम्, विक्रियावत्त्वे च चर्मादिवदनित्यत्वं प्रसज्येत। ततश्च बन्धमोक्षाभ्युपगमो बाध्येत, कर्माष्टक-

परिवेष्टितस्य जीवस्यालाबुवत्संसारसागरे निमग्नस्य बन्धनोच्छेदादूर्ध्वगामित्वं भवतीति। किंचान्यत्। आगच्छतामपगच्छतां चावयवानामागमापायधर्मवत्त्वादेवानात्मत्वं शरीरादिवत्। ततश्चावस्थितः, कश्चिदवयव आत्मेति स्यात्। नच स निरूपयितुं शक्यतेऽयमसाविति। किंचान्यत्। आगच्छन्तश्चैते जीवावयवाः कुतः प्रादुर्भवन्त्यपगच्छन्तश्च क्व वा लीयन्त इति वक्तव्यम्। नहि भूतेभ्यः प्रादुर्भवेयुर्भूतेषु च निलीयेरन्, अभौतिकत्वाज्जीवस्य। नापि कश्चिदन्यः साधारणोऽसाधारणो वा जीवानामवयवाधारो निरूप्यते, प्रमाणाभावात्। किंचान्यत्। अनवधृतस्वरूपश्चैवंसत्यात्मा स्यात्। आगच्छतामपगच्छतां चावयवानामनियतपरिमाणत्वात्। अत एवमादिदोषप्रसङ्गान्न पर्यायेणाप्यवयवोपगमापगमावात्मन आश्रयितुं शक्येते।

अथवा पूर्वेण सूत्रेण शरीरपरिमाणस्यात्मन उपचितापचितशरीरान्तरप्रतिपत्तावकात्स्न्यर्प्रसञ्जनद्वारेणानित्यतायां चोदितायां पुनः पर्यायेण परिमाणानवस्थानेऽपि स्रोतःसंताननित्यतान्यायेनात्मनो नित्यता स्यात्। यथा रक्तपटानां विज्ञानानवस्थानेऽपि तत्संताननित्यता तद्वद्विसिचामपीत्याशङ्क्यानेन सूत्रेणोत्तरमुच्यते। संतानस्य तावदवस्तुत्वे नैरात्म्यवादप्रसङ्गः। वस्तुत्वेऽप्यात्मनो विकारादिदोषप्रसङ्गादस्य पक्षस्यानुपपत्तिरिति॥३५॥

(२०७) अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः॥३६॥

अपिचान्त्यस्य मोक्षावस्थाभाविनो जीवपरिमाणस्य नित्यत्वमिष्यते जैनैः। तद्वत्पूर्वयोरप्याद्यमध्यमयोर्जीवपरिमाणयोर्नित्यत्वप्रसङ्गादविशेषप्रसङ्गः स्यात्। एकशरीरपरिमाणतैव स्यान्नोपचितापचितशरीरान्तरप्राप्तिः। अथवान्त्यस्य जीवपरिमाणस्यावस्थितत्वात्पूर्वयोरप्यवस्थयोरवस्थितपरिमाण एव जीवः स्यात्, ततश्चाविशेषेण सर्वदैवाणुर्महान्वा जीवोऽभ्युपगन्तव्यो न शरीरपरिमाणः। अतश्च सौगतवदार्हतमपि मतमसंगतमित्युपेक्षितव्यम्॥३६॥

(५९) पत्यधिकरणम्॥७॥ (सू० ३७-४१)

(२०८) पत्युरसामञ्जस्यात्॥३७॥

इदानीं केवलाधिष्ठात्रीश्वरकारणवादः प्रतिषिध्यते। तत्कथमवगम्यते? 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्', 'अभिध्योपदेशाच्च' (ब्र० १/४/२३, २४) इत्यत्र प्रकृति-

भावेनाधिष्ठातृभावेन चोभयस्वभावस्येश्वरस्य स्वयमेवाचार्येण प्रतिष्ठापितत्वात्। यदि पुनरविशेषेणेश्वरकारणवादमात्रमिह प्रतिषिध्येत पूर्वोत्तरविरोधाद्व्याहताभिव्याहारः सूत्रकार इत्येतदापद्येत। तस्मादप्रकृतिरधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वर इत्येष पक्षो वेदान्तविहितब्रह्मैकत्वप्रतिपक्षत्वाद्यत्नेनात्र प्रतिषिध्यते। सा चेयं वेदबाह्येश्वरकल्पनानेकप्रकारा। केचित्तावत्सांख्ययोगव्यपाश्रयाः कल्पयन्ति प्रधानपुरुषयोरधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वर इतरेतरविलक्षणाः प्रधानपुरुषेश्वरा इति। माहेश्वरास्तु मन्यन्ते कार्यकारणयोगविधिदुःखान्ताः पञ्च पदार्थाः पशुपतिनेश्वरेण पशुपाशविमोक्षणायोपदिष्टाः, पशुपतिरीश्वरो निमित्तकारणमिति वर्णयन्ति। तथा वैशेषिकादयोऽपि केचित्कथंचित्स्वप्रक्रियानुसारेण निमित्तकारणमीश्वर इति वर्णयन्ति।

अत उत्तरमुच्यते—'पत्युरसामञ्जस्यात्' इति। पत्युरीश्वरस्य प्रधानपुरुषयोरधिष्ठातृत्वेन जगत्कारणत्वं नोपपद्यते। कस्मात्? असामञ्जस्यात्। किं पुनरसामञ्जस्यम्? हीनमध्यमोत्तमभावेन हि प्राणिभेदान्विदधत ईश्वरस्य रागद्वेषादिदोषप्रसक्तेरस्मदादिवदनीश्वरत्वं प्रसज्येत। प्राणिकर्मापेक्षितत्वाददोष इति चेत्। न। कर्मेश्वरयोः प्रवर्त्यप्रवर्तयितृत्वे इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्। नानादित्वादिति चेत्। न। वर्तमानकालवदतीतेष्वपि कालेष्वितरेतराश्रयदोषाविशेषादन्धपरम्परान्यायापत्तेः। अपिच 'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः' (न्याय० सू० १/१/१८) इति न्यायवित्समयः। नहि कश्चिददोषप्रयुक्तः स्वार्थे परार्थे वा प्रवर्तमानो दृश्यते। स्वार्थप्रयुक्त एव च सर्वो जनः परार्थेऽपि प्रवर्तत इत्येवमप्यसामञ्जस्यं, स्वार्थवत्त्वादीश्वरस्यानीश्वरत्वप्रसङ्गात्। पुरुषविशेषत्वाभ्युपगमाच्चेश्वरस्य पुरुषस्य चौदासीन्याभ्युपगमादसामञ्जस्यम्॥ ३७॥

(२०९) संबन्धानुपपत्तेश्च॥३८॥

पुनरप्यसामञ्जस्यमेव। नहि प्रधानपुरुषव्यतिरिक्त ईश्वरोऽन्तरेण संबन्धं प्रधानपुरुषयोरीशिता। न तावत्संयोगलक्षणः संबन्धः संभवति, प्रधानपुरुषेश्वराणां सर्वगतत्वान्निरवयवत्वाच्च। नापि समवायलक्षणः संबन्धः, आश्रयाश्रयिभावानिरूपणात्। नाप्यन्यः कश्चित्कार्यगम्यः संबन्धः शक्यते कल्पयितुं, कार्यकारणभावस्यैवाद्याप्यसिद्धत्वात्।

ब्रह्मवादिनः कथमिति चेत्। न। तस्य तादात्म्यलक्षणसंबन्धोपपत्तेः। अपिचागमबलेन ब्रह्मवादी कारणादिस्वरूपं निरूपयतीति नावश्यं तस्य यथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्तव्यमिति नियमोऽस्ति। परस्य तु दृष्टान्तबलेन कारणादिस्वरूपं निरूपयतो यथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्तव्यमित्ययमस्त्यतिशयः। परस्यापि सर्वज्ञप्रणीतागमसद्भावात्समानमागमबलमिति चेत्। न। इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गादागमप्रत्ययात्सर्वज्ञत्वसिद्धिः, सर्वज्ञप्रत्ययाच्चागमसिद्धिरिति। तस्मादनुपपन्ना सांख्ययोगवादिनामीश्वरकल्पना। एवमन्यास्वपि वेदबाह्यास्वीश्वरकल्पनासु यथासंभवमसामञ्जस्यं योजयितव्यम्॥३८॥

(२१०) अधिष्ठानानुपपत्तेश्च॥३९॥

इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य। स हि परिकल्प्यमानः कुम्भकार इव मृदादीनि प्रधानादीन्यधिष्ठाय प्रवर्तयेत्। नचैवमुपपद्यते। नह्यप्रत्यक्षं रूपादिहीनं च प्रधानमीश्वरस्याधिष्ठेयं संभवति, मृदादिवैलक्षण्यात्॥३९॥

(२११) करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः॥४०॥

स्यादेतत्। यथा करणग्रामं चक्षुरादिकमप्रत्यक्षं रूपादिहीनं च पुरुषोऽधितिष्ठत्येवं प्रधानमपीश्वरोऽधिष्ठास्यतीति। तथापि नोपपद्यते। भोगादिदर्शनाद्धि करणग्रामस्याधिष्ठितत्वं गम्यते। नचात्र भोगादयो दृश्यन्ते। करणग्रामसाम्ये वाभ्युपगम्यमाने संसारिणामिवेश्वरस्यापि भोगादयः प्रसज्येरन्।

अन्यथा वा सूत्रद्वयं व्याख्यायते—'अधिष्ठानानुपपत्तेश्च' इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य। साधिष्ठानो हि लोके सशरीरो राजा राष्ट्रस्येश्वरो दृश्यते, न निरधिष्ठानः। अतश्च तद्दृष्टान्तवशेनादृष्टमीश्वरं कल्पयितुमिच्छत ईश्वरस्यापि किंचिच्छरीरं करणायतनं वर्णयितव्यं स्यात्। नच तद्वर्णयितुं शक्यते। सृष्ट्युत्तरकालभावित्वाच्छरीरस्य प्राक्सृष्टेस्तदनुपपत्तेः। निरधिष्ठानत्वे चेश्वरस्य प्रवर्तकत्वानुपपत्तिः। एवं लोके दृष्टत्वात्। 'करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः'। अथ लोकदर्शनानुसारेणेश्वरस्यापि किंचित्करणानामायतनं शरीरं कामेन कल्प्येत। एवमपि नोपपद्यते। सशरीरत्वे हि सति संसारिवद्भोगादिप्रसङ्गादीश्वरस्याप्यनीश्वरत्वं प्रसज्येत॥४०॥

(२१२) अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ४१ ॥

इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य। स हि सर्वज्ञस्तैरभ्युपगम्यतेऽनन्तश्च। अनन्तं च प्रधानमनन्ताश्च पुरुषा मिथो भिन्ना अभ्युपगम्यन्ते। तत्र सर्वज्ञेनेश्वरेण प्रधानस्य पुरुषाणामात्मनश्चेयत्ता परिच्छिद्येत वा न वा परिच्छिद्येत। उभयथापि दोषोऽनुषक्त एव। कथम्? पूर्वस्मिंस्तावद्विकल्प इयत्तापरिच्छिन्नत्वात्प्रधानपुरुषेश्वराणामन्तवत्त्वमवश्यंभाव्येवं लोके दृष्टत्वात्। यद्धि लोक इयत्तापरिच्छिन्नं वस्तु घटादि, तदन्तवद्दृष्टं, तथा प्रधानपुरुषेश्वरत्रयमपीयत्तापरिच्छिन्नत्वादन्तवत्स्यात्। संख्यापरिमाणं तावत्प्रधानपुरुषेश्वरत्रयरूपेण परिच्छिन्नम्। स्वरूपपरिमाणमपि तद्गतमीश्वरेण परिच्छिद्येतेति। पुरुषगता च महासंख्या। ततश्चेयत्तापरिच्छिन्नानां मध्ये ये संसारिणः संसारान्मुच्यन्ते, तेषां संसारोऽन्तवान्संसारित्वं च तेषामन्तवत्। एवमितरेष्वपि क्रमेण मुच्यमानेषु संसारस्य संसारिणां चान्तवत्त्वं स्यात्। प्रधानं च सविकारं पुरुषार्थमीश्वरस्याधिष्ठेयं संसारित्वेनाभिमतं तच्छून्यतायामीश्वरः किमधितिष्ठेत्। किंविषये वा सर्वज्ञतेश्वरते स्याताम्। प्रधानपुरुषेश्वराणां चैवमन्तवत्त्वे सत्यादिमत्त्वप्रसङ्गः। आद्यन्तवत्त्वे च शून्यवादप्रसङ्गः। अथ मा भूदेष दोष इत्युत्तरो विकल्पोऽभ्युपगम्येत, न प्रधानस्य पुरुषाणामात्मनश्चेयत्तेश्वरेण परिच्छिद्यत इति, तत ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वाभ्युपगमहानिरपरो दोषः प्रसज्येत। तस्मादप्यसंगतस्तार्किकपरिगृहीत ईश्वरकारणवादः ॥ ४१ ॥

(६०) उत्पत्त्यसंभवाधिकरणम् ॥ ८ ॥ (सू० ४२-४५)

(२१३) उत्पत्त्यसंभवात् ॥ ४२ ॥

येषामप्रकृतिरधिष्ठाता केवलनिमित्तकारणमीश्वरोऽभिमतस्तेषां पक्षः प्रत्याख्यातः। येषां पुनः प्रकृतिश्चाधिष्ठाता चोभयात्मकं कारणमीश्वरोऽभिमतस्तेषां पक्षः प्रत्याख्यायते।

ननु श्रुतिसमाश्रयणेनाप्येवंरूप एवेश्वरः प्राङ्निर्धारितः प्रकृतिश्चाधिष्ठाता चेति। श्रुत्यनुसारिणी च स्मृतिः प्रमाणमिति स्थितिः। तत्कस्य हेतोरेष पक्षः प्रत्याचिख्यासित इति। उच्यते—यद्यप्येवंजातीयकोंऽशः समानत्वान्न विसंवादगोचरो भवत्यस्तित्वंशान्तरं विसंवादस्थानमित्यतस्तत्प्रत्याख्यानायारम्भः। तत्र भागवता मन्यन्ते—भगवानेवैको वासुदेवो निरञ्जनज्ञानस्वरूपः परमार्थतत्त्वं, स चतुर्धात्मानं

प्रविभज्य प्रतिष्ठितो वासुदेवव्यूहरूपेण संकर्षणव्यूहरूपेण प्रद्युम्नव्यूहरूपेणानिरुद्ध-व्यूहरूपेण च। वासुदेवो नाम परमात्मोच्यते। संकर्षणो नाम जीवः। प्रद्युम्नो नाम मनः। अनिरुद्धो नामाहंकारः। तेषां वासुदेवः परा प्रकृतिरितरे संकर्षणादयः कार्यम्। तमित्थंभूतं परमेश्वरं भगवन्तमभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगैर्वर्षशतमिष्ट्वा क्षीण-क्लेशो भगवन्तमेव प्रतिपद्यत इति। तत्र यत्तावदुच्येत, योऽसौ नारायणः परोऽव्यक्ता-त्प्रसिद्धः परमात्मा सर्वात्मा, स आत्मनात्मानमनेकधा व्यूह्यावस्थित इति, तन्न निरा-क्रियते, 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा० ७/२६/२) इत्यादिश्रुतिभ्यः परमात्मनोऽनेकधाभावास्याधिगतत्वात्। यदपि तस्य भगवतोऽभिगमनादिलक्षण-माराधनमजस्रमनन्यचित्ततयाभिप्रेयते, तदपि न प्रतिषिध्यते। श्रुतिस्मृत्योरीश्वर-प्रणिधानस्य प्रसिद्धत्वात्। यत्पुनरिदमुच्यते वासुदेवात्संकर्षण उत्पद्यते संकर्षणाच्च प्रद्युम्नः प्रद्युम्नाच्चानिरुद्ध इति। अत्र ब्रूमः—न वासुदेवसंज्ञकात्परमात्मनः संकर्षण-संज्ञकस्य जीवस्योत्पत्तिः संभवति। अनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात्। उत्पत्तिमत्त्वे हि जीवस्यानित्यत्वादयो दोषाः प्रसज्येरन्। ततश्च नैवास्य भगवत्प्राप्तिर्मोक्षः स्यात्। कारणप्राप्तौ कार्यस्य प्रविलयप्रसङ्गात्। प्रतिषेधिष्यति चाचार्यो जीवस्योत्पत्तिम्—'नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' (ब्र० सू० २/३/१७) इति। तस्मादसंगतैषा कल्पना॥४२॥

(२१४) नच कर्तुः करणम्॥४३॥

इतश्चासंगतैषा कल्पना। यस्मान्न हि लोके कर्तुर्देवदत्तादेः करणं परश्वाद्यु-त्पद्यमानं दृश्यते। वर्णयन्ति च भागवताः कर्तुर्जीवात्संकर्षणसंज्ञकात्करणं मनः प्रद्युम्नसंज्ञकमुत्पद्यते। कर्तृजाच्च तस्मादनिरुद्धसंज्ञकोऽहंकार उत्पद्यत इति। नचै-तद्दृष्टान्तमन्तरेणाध्यवसातुं शक्नुमः। नचैवंभूतां श्रुतिमुपलभामहे॥४३॥

(२१५) विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः॥४४॥

अथापि स्यान्न चैते संकर्षणादयो जीवादिभावेनाभिप्रेयन्ते, किं तर्हीश्वरा एवैते सर्वे ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिरैश्वरैर्धर्मैरन्विता अभ्युपगम्यन्ते वासुदेवा एवैते सर्वे निर्दोषा निरधिष्ठाना निरवद्याश्चेति। तस्मान्नायं यथावर्णित उत्पत्त्यसंभवो दोषः प्राप्नोतीति। अत्रोच्यते—एवमपि तदप्रतिषेध उत्पत्त्यसंभवस्याप्रतिषेधः, प्राप्नो-

त्येवायमुत्पत्त्यसंभवो दोषः प्रकारान्तरेणेत्यभिप्रायः। कथम्? यदि तावदयमभिप्रायः—परस्परभिन्ना एवैते वासुदेवादयश्चत्वार ईश्वरास्तुल्यधर्माणो, नैषामेकात्मकत्वमस्तीति, ततोऽनेकेश्वरकल्पनानर्थक्यम्, एकेनैवेश्वरेणेश्वरकार्यसिद्धेः। सिद्धान्तहानिश्च। भगवानेवैको वासुदेवः परमार्थतत्त्वमित्यभ्युपगमात्। अथायमभिप्राय एकस्यैव भगवत एते चत्वारो व्यूहास्तुल्यधर्माण इति, तथापि तदवस्थ एवोत्पत्त्यसंभवः। नहि वासुदेवात्संकर्षणस्योत्पत्तिः संभवति, संकर्षणाच्च प्रद्युम्नस्य, प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धस्य, अतिशयाभावात्। भवितव्यं हि कार्यकारणयोरतिशयेन, यथा मृद्घटयोः। नह्यसत्यतिशये कार्यं कारणमित्यवकल्पते। नच पञ्चरात्रसिद्धान्तिभिर्वासुदेवादिष्वेकस्मिन्सर्वेषु वा ज्ञानैश्वर्यादितारतम्यकृतः कश्चिद्भेदोऽभ्युपगम्यते। वासुदेवा एव हि सर्वे व्यूहा निर्विशेषा इष्यन्ते। नचैते भगवद्व्यूहाश्चतुःसंख्यायामेवावतिष्ठेरन्, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य समस्तस्यैव जगतो भगवद्व्यूहत्वावगमात्॥४४॥

(२१६) विप्रतिषेधाच्च॥४५॥

विप्रतिषेधश्चास्मिञ्छास्त्रे बहुविध उपलभ्यते गुणगुणित्वकल्पनादिलक्षणः। ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजांसि गुणाः, आत्मान एवैते भगवन्तो वासुदेवा इत्यादिदर्शनात्। वेदविप्रतिषेधश्च भवति। चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवानित्यादिवेदनिन्दादर्शनात्। तस्मादसंगतैषा कल्पनेति सिद्धम्॥४५॥

विश्रामः॥१६॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः॥२॥

ॐ

॥ द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः ॥

(अत्रपादे महाभूतजीवादिश्रुतीनां विरोधपरिहारः)

(६१) वियदधिकरणम् ॥१॥ (सू० १-७)

(२१७) न वियदश्रुतेः ॥ १ ॥

वेदान्तेषु तत्र तत्र भिन्नप्रस्थाना उत्पत्तिश्रुतय उपलभ्यन्ते। केचिदाकाशस्योत्पत्तिमामनन्ति, केचिन्न। तथा केचिद्वायोरुत्पत्तिमामनन्ति, केचिन्न। एवं जीवस्य प्राणानां च। एवमेव क्रमादिद्वारकोऽपि विप्रतिषेधः श्रुत्यन्तरेषूपलक्ष्यते। विप्रतिषेधाच्च परपक्षाणामनपेक्षित्वं स्थापितं, तद्वत्स्वपक्षस्यापि विप्रतिषेधादेवानपेक्षितत्वमाशङ्क्येतेत्यतः सर्ववेदान्तगतसृष्टिश्रुत्यर्थनिर्मलत्वाय परः प्रपञ्च आरभ्यते। तदर्थनिर्मलत्वे च फलं यथोक्ताशङ्कानिवृत्तिरेव।

तत्र प्रथमं तावदाकाशमाश्रित्य चिन्त्यते, किमस्याकाशस्योत्पत्तिरस्त्युत नास्तीति। तत्र तावत्प्रतिपद्यते—'न वियदश्रुतेः' इति। न खल्वाकाशमुत्पद्यते। कस्मात्? अश्रुतेः। न ह्यस्योत्पत्तिप्रकरणे श्रवणमस्ति। छान्दोग्ये हि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६/२/१) इति सच्छब्दवाच्यं ब्रह्म प्रकृत्य 'तदैक्षत', ' तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६/२/३) इति च पञ्चानां महाभूतानां मध्यमं तेज आदिं कृत्वा त्रयाणां तेजोबन्नानामुत्पत्तिः श्राव्यते। श्रुतिश्च नः प्रमाणमतीन्द्रियार्थविज्ञानोत्पत्तौ। न चात्र श्रुतिरस्त्याकाशस्योत्पत्तिप्रतिपादिनी। तस्मान्नास्त्याकाशस्योत्पत्तिरिति॥ १ ॥

(२१८) अस्ति तु॥२॥

तुशब्दः पक्षान्तरपरिग्रहे। मा नामाकाशस्य छान्दोग्ये भूदुत्पत्तिः, श्रुत्यन्तरे त्वस्ति। तैत्तिरीयका हि समामनन्ति—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति प्रकृत्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २/१) इति। ततश्च श्रुत्योर्विप्रतिषेधः—क्वचित्तेजःप्रमुखासृष्टिः, क्वचिदाकाशप्रमुखेति। नन्वेकवाक्यताऽनयोः श्रुत्योर्युक्ता। सत्यं सा युक्ता; नतु सावगन्तुं शक्यते। कुतः? 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६/२/

३) इति सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयेन संबन्धानुपपत्तेः 'तत्तेजोऽसृजत', 'तदाकाशमसृजत' इति। ननु सकृच्छ्रुतस्यापि कर्तुः कर्तव्यद्वयेन संबन्धो दृश्यते, यथा सूपं पक्त्वौदनं पचतीति, एवं तदाकाशं सृष्ट्वा तत्तेजोऽसृजतेति योजयिष्यामि। नैं युज्यते; प्रथमजत्वं हि छान्दोग्ये तेजसोऽवगम्यते, तैत्तिरीयके चाकाशस्य। न चोभयोः प्रथमजत्वं संभवति। एतेनेतरश्रुत्यक्षरविरोधोऽपि व्याख्यातः। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २/१) इत्यत्रापि तस्मादाकाशः संभूतस्तस्मात्तेजः संभूतमिति सकृच्छ्रुतस्यापादानस्य संभवनस्य च वियत्तेजोभ्यां युगपत्संबन्धानुपपत्तेः। 'वायोरग्निः' (तै० २/१) इति च पृथगाम्नानात्॥ २॥

अस्मिन्विप्रतिषेधे कश्चिदाह—

(२१९) गौण्यसंभवात्॥ ३॥

नास्ति वियत उत्पत्तिरश्रुतेरेव। या त्वितरा वियदुत्पत्तिवादिनी श्रुतिरुदाहृता, सा गौणी भवितुमर्हति। कस्मात्? असंभवात्। न ह्याकाशस्योत्पत्तिः संभावयितुं शक्या श्रीमत्कणभुगभिप्रायानुसारिषु जीवत्सु। ते हि कारणसामग्र्यसंभवादाकाशस्योत्पत्तिं वारयन्ति। समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणेभ्यो हि किल सर्वमुत्पद्यमानं समुत्पद्यते। द्रव्यस्य चैकजातीयकमनेकं च द्रव्यं समवायिकारणं भवति। न चाकाशस्यैकजातीयकमनेकं च द्रव्यमारम्भकमस्ति, यस्मिन्समवायिकारणे सति, असमवायिकारणे च तत्संयोगे, आकाश उत्पद्येत। तदभावात्तु तदनुग्रहप्रवृत्तं निमित्तकारणं दूरापेतमेवाकाशस्य भवति। उत्पत्तिमतां च तेजःप्रभृतीनां पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः संभाव्यते—प्रागुत्पत्तेः प्रकाशादिकार्यं न बभूव, पश्चाच्च भवतीति। आकाशस्य पुनर्न पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः संभावयितुं शक्यते। किं हि प्रागुत्पत्तेरनवकाशमसुषिरमच्छिद्रं बभूवेति शक्यतेऽध्यवसातुम्? पृथिव्यादिवैधर्म्याच्च विभुत्वादिलक्षणादाकाशस्याजत्वसिद्धिः। तस्माद्यथा लोक आकाशं कुरु, आकाशो जात इत्येवंजातीयको गौणः प्रयोगो भवति, यथा च घटाकाशः करकाकाशो गृहाकाश इत्येकस्याप्याकाशस्यैवंजातीयको भेदव्यपदेशो गौणो भवति, वेदेऽपि 'आरण्यानाकाशेष्वालभेरन्' इति, एवमुत्पत्तिश्रुतिरपि गौणी द्रष्टव्या॥ ३॥

(२२०) शब्दाच्च॥ ४॥

शब्दः खल्वाकाशस्याजत्वं ख्यापयति। यत आह—'वायुश्चान्तरिक्षं चैतद-

मृतम्' (बृ० २/३/३) इति। न ह्यमृतस्योत्पत्तिरुपपद्यते। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' (छा० ३/१४/३) इति चाकाशेन ब्रह्म सर्वगतत्वनित्यत्वाभ्यां धर्माभ्यामुपमिमान आकाशस्यापि तौ धर्मौ सूचयति। न च तादृशस्योत्पत्तिरुपपद्यते। 'स यथानन्तोऽयमाकाश एवमनन्त आत्मा वेदितव्यः' इति चोदाहरणम्। 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तै० १/६/२), 'आकाश आत्मा' (तै० १/७/१) इति च। न ह्याकाशस्योत्पत्तिमत्त्वे ब्रह्मणस्तेन विशेषणं संभवति, नीलेनेवोत्पलस्य। तस्मान्नित्यमेवाकाशेन साधारणं ब्रह्मेति गम्यते॥४॥

(२२१) स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत्॥५॥

इदं पदोत्तरं सूत्रम्। स्यादेतत्,—कथं पुनरेकस्य संभूतशब्दस्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २/१) इत्यस्मिन्नधिकारे परेषु तेजःप्रभृतिष्वनुवर्तमानस्य मुख्यत्वं संभवत्याकाशे च गौणत्वमिति। अत उत्तरमुच्यते—स्याच्चैकस्यापि संभूतशब्दस्य विषयविशेषवशाद्गौणो मुख्यश्च प्रयोगो ब्रह्मशब्दवत्। यथैकस्यापि ब्रह्मशब्दस्य 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म' (तै० ३/२) इत्यस्मिन्नधिकारेऽन्नादिषु गौणः प्रयोग, आनन्दे च मुख्यः। यथा च तपसि ब्रह्मविज्ञानसाधने ब्रह्मशब्दो भक्त्या प्रयुज्यतेऽञ्जसा तु विज्ञेये ब्रह्मणि, तद्वत्। कथं पुनरनुत्पत्तौ नभसः 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६/२/१) इतीयं प्रतिज्ञा समर्थ्यते। ननु नभसा द्वितीयेन सद्वितीयं ब्रह्म प्राप्नोति। कथं च ब्रह्मणि विदिते सर्वं विदितं स्यादिति? तदुच्यते,—एकमेवेति तावत्स्वकार्यापेक्षयोपपद्यते। यथा लोके कश्चित्कुम्भकारकुले पूर्वेद्युर्मृद्दण्डचक्रादीनि चोपलभ्यापरेद्युश्च नानाविधान्यमत्राणि प्रसारितान्युपलभ्य ब्रूयात्-मृदेवैकाकिनी पूर्वेद्युरासीदिति, स च तयावधारणया मृत्कार्यजातमेव पूर्वेद्युर्नासीदित्यभिप्रेयान्न दण्डचक्रादि, तद्वदद्वितीयश्रुतिरधिष्ठात्रन्तरं वारयति। यथा मृदोऽमत्रप्रकृतेः कुम्भकारोऽधिष्ठाता दृश्यते, नैवं ब्रह्मणो जगत्प्रकृतेरन्योऽधिष्ठातास्तीति। न च नभसापि द्वितीयेन सद्वितीयं ब्रह्म प्रसज्यते। लक्षणान्यत्वनिमित्तं हि नानात्वम्। न च प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मनभसोर्लक्षणान्यत्वमस्ति; क्षीरोदकयोरिव संसृष्टोर्व्यापित्वामूर्तत्वादिधर्मसामान्यात्। सर्गकाले तु ब्रह्म जगदुत्पादयितुं यतते स्तिमितमितरवत्तिष्ठति। तेनान्यत्वमवसीयते। तथा च 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तै० १/६/२) इत्यादिश्रुतिभ्योऽपि ब्रह्माकाशयोरभेदोपचारसिद्धिः। अत एव च

ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानसिद्धिः। अपि च सर्वं कार्यमुत्पद्यमानमाकाशेनाव्यतिरिक्तदेशकालमेवोत्पद्यते, ब्रह्मणा चाव्यतिरिक्तदेशकालमेवाकाशं भवतीति, अतो ब्रह्मणा तत्कार्येण च विज्ञातेन सह विज्ञातमेवाकाशं भवति। यथा क्षीरपूर्णे घटे कतिचिदब्बिन्दवः प्रक्षिप्ताः सन्तः क्षीरग्रहणेनैव गृहीता भवन्ति, नहि क्षीरग्रहणादब्बिन्दुग्रहणं परिशिष्यते, एवं ब्रह्मणा तत्कार्यैश्चाव्यतिरिक्तदेशकालत्वाद्गृहीतमेव ब्रह्मग्रहणेन नभो भवति। तस्माद्भाक्तं नभसः संभवश्रवणमिति॥५॥

एवं प्राप्त इदमाह—

(२२२) प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥६॥

'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६/१/१) इति, 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्' (बृ० ४/५/६) इति, 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मुण्ड० १/१/३) इति, 'न काचन मद्बहिर्धा विद्यास्ति' इति चैवंरूपा प्रतिवेदान्तं प्रतिज्ञा विज्ञायते। तस्याः प्रतिज्ञाया एवमहानिरनुपरोधः स्यात्, यद्यव्यतिरेकः कृत्स्नस्य वस्तुजातस्य विज्ञेयाद्ब्रह्मणः स्यात्। व्यतिरेके हि सत्येकविज्ञानेन सर्वं विज्ञायत इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत। स चाव्यतिरेक एवमुपपद्यते। यदि कृत्स्नं वस्तुजातमेकस्माद्ब्रह्मण उत्पद्येत। शब्देभ्यश्च प्रकृतिविकाराव्यतिरेकन्यायेनैव प्रतिज्ञासिद्धिरवगम्यते। तथा हि—'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इति प्रतिज्ञाय मृदादिदृष्टान्तैः कार्यकारणाभेदप्रतिपादनपरैः प्रतिज्ञैषा समर्थ्यते। तत्साधनायैव चोत्तरे शब्दाः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६/२/१), 'तदैक्षत', 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६/२/३) इत्येवं कार्यजातं ब्रह्मणः प्रदर्श्याव्यतिरेकं प्रदर्शयन्ति—'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा० ६/८/७) इत्यारभ्याप्रपाठकपरिसमाप्तेः। तद्यद्याकाशं न ब्रह्मकार्यं स्यान्न ब्रह्मणि विज्ञात आकाशं विज्ञायेत, ततश्च प्रतिज्ञाहानिः स्यात्। नच प्रतिज्ञाहान्या वेदस्याप्रामाण्यं युक्तं कर्तुम्। तथा हि—प्रतिवेदान्तं ते ते शब्दास्तेन तेन दृष्टान्तेन तामेव प्रतिज्ञां ख्यापयन्ति 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २/४/६), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मुण्ड० २/२/११) इत्येवमादयः। तस्माज्ज्वलनादिवदेव गगनमप्युत्पद्यते। यदुक्तमश्रुतेर्न वियदुत्पद्यत इति, तदयुक्तम्; वियदुत्पत्तिविषयश्रुत्यन्तरस्य दर्शितत्वात् 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २/१) इति। सत्यं दर्शितम्; विरुद्धं तु 'तत्तेजोऽसृजत'

इत्यनेन श्रुत्यन्तरेण। न; एकवाक्यत्वात्स.. ुतीनाम्। भवत्वेकवाक्यत्वमविरुद्धानाम्; इह तु विरोध उक्तः, सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयसंबन्धासंभवाद्द्वयोश्च प्रथमजत्वासंभवाद्विकल्पासंभवाच्चेति। नैष दोषः। तेजःसर्गस्य तैत्तिरीयके तृतीयत्वश्रवणात् 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः' (तै० २/१) इति। अशक्या हीयं श्रुतिरन्यथा परिणेतुम्, शक्या तु परिणेतुं छान्दोग्यश्रुतिस्तदाकाशं वायुं च सृष्ट्वा 'तत्तेजोऽसृजत' इति। न हीयं श्रुतिस्तेजोजनिप्रधाना सती श्रुत्यन्तरप्रसिद्धामाकाशस्योत्पत्तिं वारयितुं शक्नोति; एकस्य वाक्यस्य व्यापारद्वयासंभवात्। स्रष्टा त्वेकोऽपि क्रमेणानेकं स्रष्टव्यं सृजेत्। इत्येकवाक्यत्वकल्पनायां संभवन्त्यां न विरुद्धार्थत्वेन श्रुतिर्हातव्या। न चास्माभिः सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयसंबन्धोऽभिप्रेयते; श्रुत्यन्तरवशेन स्रष्टव्यान्तरोपसंग्रहात्। यथा च 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' (छा० ३/१४/१) इत्यत्र साक्षादेव सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मजत्वं श्रूयमाणं न प्रदेशान्तरविहितं तेजःप्रमुखमुत्पत्तिक्रमं वारयति, एवं तेजसोऽपि ब्रह्मजत्वं श्रूयमाणं न श्रुत्यन्तरविहितं नभःप्रमुखमुत्पत्तिक्रमं वारयितुमर्हति।

ननु शमविधानार्थमेतद्वाक्यम्, 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' इति श्रुतेः, नैतत्सृष्टिवाक्यं, तस्मादेतन्न प्रदेशान्तरप्रसिद्धं क्रममुपरोद्धुमर्हतीति। 'तत्तेजोऽसृजत' इत्येतत्सृष्टिवाक्यम्। तस्मादत्र यथाश्रुति क्रमो ग्रहीतव्य इति। नेत्युच्यते, नहि तेजः प्राथम्यानुरोधेन श्रुत्यन्तरप्रसिद्धो वियत्पदार्थः परित्यक्तव्यो भवति, पदार्थधर्मत्वात्क्रमस्य। अपि च 'तत्तेजोऽसृजत' इति नात्र क्रमस्य वाचकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति। अर्थात्तु क्रमोऽवगम्यते। स च 'वायोरग्निः' इत्यनेन श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेन क्रमेण निवार्यते। विकल्पसमुच्चयौ तु वियत्तेजसोः प्रथमजत्वविषयावसंभवानभ्युपगमाभ्यां निवारितौ। तस्मान्नास्ति श्रुत्योर्विप्रतिषेधः।

अपि च छान्दोग्ये 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इत्येतां प्रतिज्ञां वाक्योपक्रमे श्रुतां समर्थयितुमसमाम्नातमपि वियदुत्पत्तावुपसंख्यातव्यं, किमङ्ग पुनस्तैत्तिरीयके समाम्नातं नभो न संगृह्यते? यच्चोक्तमाकाशस्य सर्वेणानन्यदेशकालत्वाद्ब्रह्मणा तत्कार्यैश्च सह विदितमेव तद्भवत्यतो न प्रतिज्ञा हीयते, नच 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिकोपो भवति, क्षीरोदकवद्ब्रह्मनभसोरव्यतिरेकोपपत्तेरिति। अत्रोच्यते, न क्षीरोदकन्यायेनेद-

मेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं नेतव्यम्। मृदादिदृष्टान्तप्रणयनाद्धि प्रकृतिविकारन्यायेनैवेदं सर्वविज्ञानं नेतव्यमिति गम्यते। क्षीरोदकन्यायेन च सर्वविज्ञानं कल्प्यमानं न सम्यग्विज्ञानं स्यात्। नहि क्षीरज्ञानगृहीतस्योदकस्य सम्यग्विज्ञानगृहीतत्वमस्ति। नच वेदस्य पुरुषाणामिव मायालीकवञ्चनादिभिरर्थावधारणमुपपद्यते। सावधारणाचेयम् 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिः क्षीरोदकन्यायेन नीयमाना पीड्येत। नच स्वकार्यापेक्षयेदं वस्त्वेकदेशविषयं सर्वविज्ञानमेकमेवाद्वितीयतावधारणं चेति न्याय्यं, मृदादिष्वपि हि तत्संभवान्न तदपूर्ववदुपन्यसितव्यं भवति 'श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० ६/१/१) इत्यादिना। तस्मादशेषवस्तुविषयमेवेदं सर्वं विज्ञानं सर्वस्य ब्रह्मकार्यतापेक्षयोपन्यस्यत इति द्रष्टव्यम्॥६॥

यत्पुनरेतदुक्तमसंभवाद्गौणी गगनस्योत्पत्तिश्रुतिरिति, अत्र ब्रूमः—

(२२३) यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्॥७॥

तुशब्दोऽसंभवाशङ्काव्यावृत्त्यर्थः। न खल्वाकाशोत्पत्तावसंभवाशङ्का कर्तव्या। यतो यावत्किंचिद्विकारजातं दृश्यते घटघटिकोदञ्चनादि वा, कटककेयूरकुण्डलादि वा, सूचीनाराचनिस्त्रिंशादि वा तावानेव विभागो लोके लक्ष्यते। न त्वविकृतं किंचित्कुतश्चिद्विभक्तमुपलभ्यते। विभागश्चाकाशस्य पृथिव्यादिभ्योऽवगम्यते। तस्मात्सोऽपि विकारो भवितुमर्हति। एतेन दिक्कालमनःपरमाण्वादीनां कार्यत्वं व्याख्यातम्। नन्वात्माप्याकाशादिभ्यो विभक्त इति, तस्यापि कार्यत्वं घटादिवत्प्राप्नोति, न; 'आत्मन आकाशः संभूतः' (तै० २/१) इति श्रुतेः। यदि ह्यात्मापि विकारः स्यात्तस्मात्परमन्यन्न श्रुतमित्याकाशादि सर्वं कार्यं निरात्मकमात्मनः कार्यत्वे स्यात्। तथा च शून्यवादः प्रसज्येत। आत्मत्वाच्चात्मनो निराकरणशङ्कानुपपत्तिः। न ह्यात्मागन्तुकः कस्यचित्; स्वयंसिद्धत्वात्। न ह्यात्मात्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिध्यति। तस्य हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्यप्रसिद्धप्रमेयसिद्धय उपादीयन्ते। न ह्याकाशादयः पदार्थाः प्रमाणनिरपेक्षाः स्वयंसिद्धाः केनचिदभ्युपगम्यन्ते। आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात्प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात्सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं संभवति। आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते, न स्वरूपम्। य एव हि निराकर्ता, तदेव तस्य स्वरूपम्। न ह्यग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते। तथाऽहमेवेदानीं जानामि वर्तमानं वस्त्वहमेवाती-

तमतीततरं चाज्ञासिषमहमेवानागतमनागततरं च ज्ञास्यामीत्यतीतानागवर्तमानभावेनाऽन्यथाभवत्यपि ज्ञातव्ये न ज्ञातुरन्यथाभावोऽस्ति; सर्वदा वर्तमानस्वभावत्वात्। तथा भस्मीभवत्यपि देहे नात्मन उच्छेदो वर्तमानस्वभावादन्यथास्वभावत्वं वा न संभावयितुं शक्यम्। एवमप्रत्याख्येयस्वभावत्वादेवाकार्यत्वमात्मनः कार्यत्वं चाकाशस्य।

यत्तूक्तं समानजातीयमनेकं कारणद्रव्यं व्योम्नो नास्तीति, तत्प्रत्युच्यते—न तावत्समानजातीयमेवारभते न भिन्नजातीयमिति नियमोऽस्ति। नहि तन्तूनां तत्संयोगानां च समानजातीयत्वमस्ति; द्रव्यगुणत्वाभ्युपगमात्। नच निमित्तकारणानामपि तुरीवेमादीनां समानजातीयत्वनियमोऽस्ति। स्यादेतत्,—समवायिकारणविषय एव समानजातीयत्वाभ्युपगमो न कारणान्तरविषय इति। तदप्यनैकान्तिकम्; सूत्रगोवालैर्ह्यनेकजातीयैरेका रज्जुः सृज्यमाना दृश्यते। तथा सूत्रैरूर्णादिभिश्च विचित्रान्कम्बलान्वितन्वते। सत्त्वद्रव्यत्वाद्यपेक्षया वा समानजातीयत्वे कल्प्यमाने नियमानर्थक्यम्, सर्वस्य सर्वेण समानजातीयकत्वात्। नाप्यनेकमेवारभते, नैकमिति नियमोऽस्ति, अणुमनसोराद्यकर्मारम्भाभ्युपगमात्। एकैको हि परमाणुर्मनश्चाद्यं स्वकर्मारभते न द्रव्यान्तरैः संहत्येत्यभ्युपगम्यते।

द्रव्यारम्भ एवानेकारम्भकत्वनियम इति चेत्,—न; परिणामाभ्युपगमात्। भवेदेष नियमो यदि संयोगसचिवं द्रव्यं द्रव्यान्तरस्यारम्भकमभ्युपगम्येत। तदेव तु द्रव्यं विशेषवदवस्थान्तरमापद्यमानं कार्यं नामाभ्युपगम्यते। तच्च क्वचिदनेकं परिणमते मृद्बीजादि अङ्कुरादिभावेन; क्वचिदेकं परिणमते क्षीरादि दध्यादिभावेन। नेश्वरशासनमस्त्यनेकमेव कारणं कार्यं जनयतीति, अतः श्रुतिप्रामाण्यादेकस्माद्ब्रह्मण आकाशादिमहाभूतोत्पत्तिक्रमेण जगज्जातमिति निश्चीयते। तथा चोक्तम्—'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि' (ब्र० सू० २/१/२४) इति।

यच्चोक्तमाकाशस्योत्पत्तौ न पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः संभावयितुं शक्यत इति, तदयुक्तम्; येनैव हि विशेषेण पृथिव्यादिभ्यो व्यतिरिच्यमानं नभः स्वरूपवदिदानीमध्यवसीयते, स एव विशेषः प्रागुत्पत्तेर्नासीदिति गम्यते। यथा च ब्रह्म न स्थूलादिभिः पृथिव्यादिस्वभावैः स्वभाववत्, 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३/८/८) इत्यादिश्रुतिभ्यः, एवमाकाशस्वभावेनापि न स्वभाववदनाकाशमिति श्रुतेरवगम्यते। तस्मात्प्रागुत्पत्तेरनाकाशमिति स्थितम्। यदप्युक्तं पृथिव्यादिवैधर्म्यादाकाशस्याजत्वमिति, तद-

प्यसत्; श्रुतिविरोधे सत्युत्पत्त्यसंभवानुमानस्याभासत्वोपपत्तेः, उत्पत्त्यनुमानस्य च दर्शितत्वात्, अनित्यमाकाशमनित्यगुणाश्रयत्वाद्घटादिवदित्यादिप्रयोगसंभवाच्च। आत्मन्यनैकान्तिकमिति चेत्,—न; तस्यौपनिषदं प्रत्यनित्यगुणाश्रयत्वासिद्धेः, विभुत्वादीनां चाकाशस्योत्पत्तिवादिनं प्रत्यसिद्धत्वात्। यच्चोक्तमेतच्छब्दाच्चेति, तत्रामृतत्वश्रुतिस्तावद्वियत्यमृता दिवौकस इतिवद्द्रष्टव्या; उत्पत्तिप्रलययोरुपपादितत्वात्। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इत्यपि प्रसिद्धमहत्त्वेनाकाशेनोपमानं क्रियते, निरतिशयमहत्त्वाय, नाकाशसमत्वाय। यथेषुरिव सविता धावतीति क्षिप्रगतित्वायोच्यते, नेषुतुल्यगतित्वाय, तद्वत्। एतेनानन्तत्वोपमानश्रुतिर्व्याख्याता। 'ज्यायानाकाशात्' इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ब्रह्मण सकाशादाकाशस्योनपरिमाणत्वसिद्धिः। 'न तस्य प्रतिमास्ति' (श्वे० ४/१९) इति च ब्रह्मणोऽनुपमानत्वं दर्शयति। 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३/४/२) इति च ब्रह्मणोऽन्येषामाकाशादीनामार्तत्वं दर्शयति। तपसि ब्रह्मशब्दवदाकाशस्य जन्मश्रुतेर्गौणत्वमित्येतदाकाशसंभवश्रुत्यनुमानाभ्यां परिहृतम्। तस्माद्ब्रह्मकार्यं वियदिति सिद्धम्॥७॥

(६२) मातरिश्वाधिकरणम्॥२॥ (सू० ८)

(२२४) एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः॥८॥

अतिदेशोऽयम्। एतेन वियद्व्याख्यानेन मातरिश्वापि वियदाश्रयो वायुर्व्याख्यातः। तत्राप्येते यथायोगं पक्षा रचयितव्याः। न वायुरुत्पद्यते छान्दोगानामुत्पत्तिप्रकरणेऽनाम्नानादित्येकः पक्षः। अस्ति तु तैत्तिरीयाणामुत्पत्तिप्रकरण आम्नानम्, 'आकाशाद्वायुः' (तै० २/१) इति पक्षान्तरम्। ततश्च श्रुत्योर्विप्रतिषेधे सति गौणी वायोरुत्पत्तिश्रुतिः, असंभवादित्यपरोऽभिप्रायः। असंभवश्च 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' (बृ० १/५/२२) इत्यस्तमयप्रतिषेधात्, अमृतत्वादिश्रवणाच्च। प्रतिज्ञानुपरोधाद्यावद्विकारं च विभागाभ्युपगमादुत्पद्यते वायुरिति सिद्धान्तः। अस्तमयप्रतिषेधोऽपरविद्याविषय आपेक्षिकः; अग्न्यादीनामिव वायोरस्तमयाभावात्। कृतप्रतिविधानं चामृतत्वादिश्रवणम्।

ननु वायोराकाशस्य च तुल्ययोरुत्पत्तिप्रकरणे श्रवणाश्रवणयोरेकमेवाधिकरणमुभयविषयस्तु किमतिदेशेनासति विशेष इति। उच्यते,—सत्यमेवमेतत्। तथापि

मन्दधियां शब्दमात्रकृताशङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयमतिदेशः क्रियते; संवर्गविद्यादिषु ह्युपास्यतया वायोर्महाभागत्वश्रवणात्, अस्तमयप्रतिषेधादिभ्यश्च भवति नित्यत्वाशङ्का कस्यचिदिति ॥ ८ ॥

(६३) असंभवाधिकरणम् ॥ ३ ॥ (सू० ९)

(२२५) असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ ९ ॥

वियत्पवनयोरसंभाव्यमानजन्मनोरप्युत्पत्तिमुपश्रुत्य ब्रह्मणोऽपि भवेत्कुतश्चिदुत्पत्तिरिति स्यात्कस्यचिन्मतिः। तथा विकारेभ्य एवाकाशादिभ्य उत्तरेषां विकाराणामुत्पत्तिमुपश्रुत्याकाशस्यापि विकारादेव ब्रह्मण उत्पत्तिरिति कश्चिन्मन्येत। तामाशङ्कामपनेतुमिदं सूत्रम्—'असंभवस्तु' इति।

न खलु ब्रह्मणः सदात्मकस्य कुतश्चिदन्यतः संभव उत्पत्तिराशङ्कितव्या। कस्मात्? अनुपपत्तेः। सन्मात्रं हि ब्रह्म। न तस्य सन्मात्रादेवोत्पत्तिः संभवति; असत्यतिशये प्रकृतिविकारभावानुपपत्तेः। नापि सद्विशेषाद्दृष्टविपर्ययात्। सामान्याद्धि विशेषा उत्पद्यमाना दृश्यन्ते, मृदादेर्घटादयो नतु विशेषेभ्यः सामान्यम्। नाप्यसतः; निरात्मकत्वात्। 'कथमसतः सज्जायेत' (छा० ८/७/१) इति चाक्षेपश्रवणात्। 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे० ६/९) इति च ब्रह्मणो जनयितारं वारयति। वियत्पवनयोः पुनरुत्पत्तिः प्रदर्शिता, नतु ब्रह्मणः सास्तीति वैषम्यम्।

नच विकारेभ्यो विकारान्तरोत्पत्तिदर्शनाद्ब्रह्मणोऽपि विकारत्वं भवितुमर्हति; मूलप्रकृत्यनभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। या मूलप्रकृतिरभ्युपगम्यते, तदेव च नो ब्रह्मेत्यविरोधः ॥ ९ ॥

(६४) तेजोऽधिकरणम् ॥ ४ ॥ (सू० १०)

(२२६) तेजोऽतस्तथाह्याह ॥ १० ॥

छान्दोग्ये सन्मूलत्वं तेजसः श्रावितं, तैत्तिरीयके तु वायुमूलत्वम्। तत्र तेजोयोनिं प्रति श्रुतिविप्रतिपत्तौ सत्यां प्राप्तं तावद्ब्रह्मयोनिकं तेज इति। कुतः? 'सदेव' इत्युपक्रम्य 'तत्तेजोऽसृजत' इत्युपदेशात्। सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाश्च ब्रह्मप्रभवत्वे सर्वस्य

संभवात्। 'तज्जलान्' (छा० ८/७/१) इति चाविशेषश्रुतेः, 'एतस्माज्जायते प्राणः' (मुण्ड० २/१/३) इति चोपक्रम्य श्रुत्यन्तरे सर्वस्याविशेषेण ब्रह्मजत्वोपदेशात्, तैत्तिरीयके च 'स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किंच' (तै० ३/६/१) इत्यविशेषश्रवणात्। तस्मात् 'वायोरग्निः' इति क्रमोपदेशो द्रष्टव्यो वायोरनन्तरमग्निः संभूत इति। एवं प्राप्त उच्यते,—तेजोऽतो मातरिश्वनो जायत इति। कस्मात्? तथा ह्याह—'वायोरग्निः' इति। अव्यहिते हि तेजसो ब्रह्मजत्वे सति, असति वायुजत्वे वायोरग्निरितीयं श्रुतिः कदर्थिता स्यात्। ननु क्रमार्थैषा भविष्यतीत्युक्तम्। नेति ब्रूमः—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २/१/१) इति पुरस्तात्संभवत्यपादानस्यात्मनः पञ्चमीनिर्देशात्, तस्यैव च संभवतेरिहाधिकारात्, परस्तादपि च तदधिकारे 'पृथिव्या ओषधयः' (तै० २/१/१) इत्यपादानपञ्चमीदर्शनाद्वायोरग्निरित्यपादानपञ्चम्येवैषेति गम्यते। अपिच वायोरूर्ध्वमग्निः संभूत इति कल्प्य उपपदार्थयोगः, क्लृप्तस्तु कारकार्थयोगो वायोरग्निः संभूत इति। तस्मादेषा श्रुतिर्वायुयोनित्वं तेजसोऽवगमयति।

नन्वितरापि श्रुतिर्ब्रह्मयोनित्वं तेजसोऽवगमयति 'तत्तेजोऽसृजत' इति, न; तस्याः पारम्पर्यजत्वेऽप्यविरोधात्। यदापि ह्याकाशं वायुं च सृष्ट्वा वायुभावान्नं ब्रह्म तेजोऽसृजतेति कल्प्यते, तदापि ब्रह्मजत्वं तेजसो न विरुध्यते, यथा तस्याः शृतं तस्या दधि तस्या आमिक्षेत्यादि। दर्शयति च ब्रह्मणो विकारात्मनावस्थानं 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २/७/१) इति। तथा चेश्वरस्मरणं भवति—'बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः' (भ० गी० १०/४) इत्याद्यनुक्रम्य 'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः' (भ० गी० १०/५) इति। यद्यपि बुद्ध्यादयः स्वकारणेभ्यः प्रत्यक्षं भवन्तो दृश्यन्ते; तथापि सर्वस्य भावजातस्य साक्षात्प्रणाड्या वेश्वरवंश्यत्वात्। एतेनाक्रमवत्सृष्टिवादिन्यः श्रुतयो व्याख्याताः; तासां सर्वथोपपत्तेः, क्रमवत्सृष्टिवादिनीनां त्वन्यथानुपपत्तेः। प्रतिज्ञापि सद्वंश्यत्वमात्रमपेक्षते, नाव्यवहितजन्यत्वमित्यविरोधः॥ १०॥

(६५) अबधिकरणम् ॥५॥ (सू० ११)

(२२७) आपः ॥ ११ ॥

'अतस्तथा ह्याह' इत्यनुवर्तते। आपोऽतस्तेजसो जायन्ते। कस्मात्? तथा ह्याह—'तदपोऽसृजत' इति 'अग्नेरापः' इति च। सति वचने नास्ति संशयः। तेजसस्तु

सृष्टिं व्याख्याय पृथिव्या व्याख्यास्यन्नपोऽन्तरियामित्याप इति सूत्रयांबभूव॥ ११॥

(६६) पृथिव्यधिकरणम् ॥६॥ (सू० १२)

(२२८) पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥१२॥

'ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त' (छा० ६/२/४) इति श्रूयते। तत्र संशयः—किमनेनान्नशब्देन व्रीहियवाद्यभ्यवहार्यं वौदनाद्युच्यते, किंवा पृथिवीति। तत्र प्राप्तं तावद्व्रीहियवाद्योदनादि वा परिग्रहीतव्यमिति। तत्र ह्यन्नशब्दः प्रसिद्धो लोके, वाक्यशेषोऽप्येतमर्थमुपोद्बलयति। 'तस्माद्यत्र क्वच वर्षति तदेव भूयिष्टमन्नं भवती'ति। व्रीहियवाद्येव हि सति वर्षणे बहु भवति न पृथिवीति॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः—पृथिव्येवेयमन्नशब्देनाद्भ्यो जायमाना विवक्ष्यत इति। कस्मात्? अधिकाराद्रूपाच्छब्दान्तराच्च। अधिकारस्तावत् 'तत्तेजोऽसृजत', 'तदपोऽसृजत' इति महाभूतविषयो वर्तते। तत्र क्रमप्राप्तां पृथिवीं महाभूतं विलङ्घ्य नाकस्माद्व्रीह्यादिपरिग्रहो न्याय्यः। तथा रूपमपि वाक्यशेषे पृथिव्यनुगुणं दृश्यते—'यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति। न ह्योदनादेरभ्यवहार्यस्य कृष्णत्वनियमोऽस्ति, नापि व्रीह्यादीनाम्।

ननु पृथिव्या अपि नैव कृष्णत्वनियमोऽस्ति; पयःपाण्डुरस्याङ्गाररोहितस्य च क्षेत्रस्य दर्शनात्। नायं दोषः; बाहुल्यापेक्षत्वात्। भूयिष्ठं हि पृथिव्याः कृष्णं रूपं, न तथा श्वेतरोहिते। पौराणिका अपि पृथिवीछायां शर्वरीमुपदिशन्ति। सा च कृष्णाभासेत्यतः कृष्णं रूपं पृथिव्या इति श्लिष्यते। श्रुत्यन्तरमपि समानाधिकारम् अद्भ्यः पृथिवीति भवति। 'तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्' (बृ० १/२/२) इति च। पृथिव्यास्तु व्रीह्यादेरुत्पत्तिं दर्शयति—'पृथिव्या ओषधयः ओषधीभ्योऽन्नम्' इति च। एवमधिकारादिषु पृथिव्याः प्रतिपादकेषु सत्सु कुतो व्रीह्यादिप्रतिपत्तिः? प्रसिद्धिरप्यधिकारादिभिरेव बाध्यते। वाक्यशेषोऽपि पार्थिवत्वादन्नाद्यस्य तद्द्वारेण पृथिव्या एवाद्भ्यःप्रभवत्वं सूचयतीति द्रष्टव्यम्। तस्मात्पृथिवीयमन्नशब्देति॥ १२॥

(६७) तदभिध्यानाधिकरणम् ॥७॥ (सू० १३)

(२२९) तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥१३॥

किमिमानि वियदादीनि भूतानि स्वयमेव स्वविकारान्सृजन्ति, आहोस्वित्परमेश्वर एव तेन तेनात्मनावतिष्ठमानोऽभिध्यायंस्तं तं विकारं सृजतीति संदेहे सति, प्राप्तं तावत्—स्वयमेव सृजन्तीति। कुतः? 'आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः' इत्यादिस्वातन्त्र्यश्रवणात्।

नन्वचेतनानां स्वतन्त्राणां प्रवृत्तिः प्रतिषिद्धा। नैष दोषः; 'तत्तेज ऐक्षत'; 'ता आप ऐक्षन्त' (छा० ६/२/४) इति च भूतानामपि चेतनत्वश्रवणादिति। एवं प्राप्तेऽभिधीयते—स एव परमेश्वरस्तेन तेनात्मनावतिष्ठमानोऽभिध्यायंस्तं तं विकारं सृजतीति। कुतः? तल्लिङ्गात्। तथा हि शास्त्रम्—'यः पृथिव्यां तिष्ठन्यः पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति' (बृ० ३/७/३) इत्येवंजातीयकं साध्यक्षाणामेव भूतानां प्रवृत्तिं दर्शयति। तथा 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति प्रस्तुत्य 'सच्च त्यच्चाभवत्। तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २/६/१) इति च तस्यैव च सर्वात्मभावं दर्शयति। यत्त्वीक्षणश्रवणमप्तेजसोस्तत्परमेश्वरावेशवशादेव द्रष्टव्यम्; 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३/७/२३) इतीक्षित्रन्तरप्रतिषेधात्, प्रकृतत्वाच्च सत ईक्षितुः 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा० ६/२/३) इत्यत्र॥१३॥

(६८) विपर्ययाधिकरणम्॥८॥ (सू० १४)

(२३०) विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च॥१४॥

भूतानामुत्पत्तिक्रमश्चिन्तितः। अथेदानीमप्ययक्रमश्चिन्त्यते। किमनियतेन क्रमेणाप्ययः, उतोत्पत्तिक्रमेणाथवा तद्विपरीतेनेति? त्रयोऽपि चोत्पत्तिस्थितिप्रलया भूतानां ब्रह्मायत्ताः श्रूयन्ते—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० ३/१/१) इति। तत्रानियमोऽविशेषादिति प्राप्तम्। अथवोत्पत्तेः क्रमस्य श्रुतत्वात्प्रलयस्यापि क्रमाकाङ्क्षिणः स एव क्रमः स्यादिति। एवं प्राप्ते ततो ब्रूमः—विपर्ययेण तु प्रलयक्रमोऽत उत्पत्तिक्रमाद्भवितुमर्हति। तथा हि लोके दृश्यते-येन क्रमेण सोपानमारूढस्ततो विपरीतेन क्रमेणावरोहतीति। अपि च दृश्यते मृदो जातं घटशरावाद्यप्ययकाले मृद्भावमप्येति-अद्भ्यश्च जातं हिमकरकाद्यब्भावमप्येतीति। अतश्चोपपद्यत एतत्-यत्पृथिव्यद्भ्यो जाता सती स्थितिकालव्यतिक्रान्तावपोऽपीयादापश्च तेजसो जाताः सत्यस्तेजोऽपीयुः। एवं क्रमेण सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं चानन्तरमनन्तरं कारणमपीत्य सर्वं कार्यजातं परमकारणं परमसूक्ष्मं च ब्रह्माप्येतीति वेदितव्यम्। नहि स्वकारणव्यतिक्रमेण कारणकारणे कार्याप्ययो न्याय्यः। स्मृतावप्युत्पत्तिक्रमविपर्ययेणैवाप्ययक्रमस्तत्र तत्र दर्शितः—'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते। ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते' इत्येवमादौ। उत्पत्ति-

क्रमस्तूत्पत्तावेव श्रुतत्वान्नाप्यये भवितुमर्हति। न चासावयोग्यत्वादप्ययेनाकाङ्क्ष्यते। नहि कार्ये ध्रियमाणे कारणस्याप्ययो युक्तः; कारणाप्यये कार्यस्यावस्थानानुपपत्तेः, कार्याप्यये तु कारणस्यावस्थानं युक्तं, मृदादिष्वेवं दृष्टत्वात्॥१४॥

(६१) *अन्तराविज्ञानाधिकरणम्॥९॥* (सू० १५)

(२३१) अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात्॥१५॥

भूतानामुत्पत्तिप्रलयावनुलोमप्रतिलोमक्रमाभ्यां भवत इत्युक्तम्। आत्मादिरुत्पत्तिः प्रलयश्चात्मान्त इत्यप्युक्तम्। सेन्द्रियस्य तु मनसो बुद्धेश्च सद्भावः प्रसिद्धः श्रुतिस्मृत्योः। 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च। इन्द्रियाणि हयानाहुः' (कठ० ३/३) इत्यादिलिङ्गेभ्यः। तयोरपि कस्मिंश्चिदन्तराले क्रमेणोत्पत्तिप्रलयावुपसंग्राह्यौ; सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मजत्वाभ्युपगमात्। अपि चाथर्वण उत्पत्तिप्रकरणे भूतानामात्मनश्चान्तराले करणान्यनुक्रम्यन्ते। 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' (मुण्ड० २/१/३) इति। तस्मात्पूर्वोक्तोत्पत्तिप्रलयक्रमभङ्गप्रसङ्गो भूतानामिति चेत्।

न; अविशेषात्। यदि तावद्भौतिकानि करणानि, ततो भूतोत्पत्तिप्रलयाभ्यामेवैषामुत्पत्तिप्रलयौ भवत इति नैतयोः क्रमान्तरं मृग्यम्। भवति च भौतिकत्वे लिङ्गं करणानाम्। 'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' (छा० ६/५/४) इत्येवंजातीयकम्। व्यपदेशोऽपि क्वचिद्भूतानां करणानां च ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन नेतव्यः। अथ त्वभौतिकानि करणानि, तथापि भूतोत्पत्तिक्रमो न करणैर्विशेष्यते। प्रथमं करणान्युत्पद्यन्ते चरमं भूतानि, प्रथमं वा भूतान्युत्पद्यन्ते चरमं वा करणानीति। आथर्वणे तु समाम्नायक्रममात्रं करणानां भूतानां च, न तत्रोत्पत्तिक्रम उच्यते। तथान्यत्रापि पृथगेव भूतक्रमात्करणक्रम आम्नायते—'प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत्स आत्मानमैक्षत स मनोऽसृजत तन्मन एवासीत्तदात्मानमैक्षत' इत्यादिना। तस्मान्नास्ति भूतोत्पत्तिक्रमस्य भङ्गः॥१५॥

विश्रामः॥१७॥

****

(७०) चराचरव्यपाश्रयाधिकरणम् ॥१०॥ (सू० १६)

(२३२) चराचरव्यापाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ १६ ॥

स्तो जीवस्याप्युत्पत्तिप्रलयौ, जातो देवदत्तो मृतो देवदत्त इत्येवंजातीयकाल्लौकिकव्यपदेशात्, जातकर्मादिसंस्कारविधानाच्चेति स्यात्कस्यचिद्भ्रान्तिस्तामपनुदामः। न जीवस्योत्पत्तिप्रलयौ स्तः; शास्त्रफलसंबन्धोपपत्तेः। शरीरानुविनाशिनि हि जीवे शरीरान्तरगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थौ विधिप्रतिषेधावनर्थकौ स्याताम्। श्रूयते च— 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' (छा० ६/११/३) इति।

ननु लौकिको जन्ममरणव्यपदेशो जीवस्य दर्शितः। सत्यं दर्शितः। भाक्तस्त्वेष जीवस्य जन्ममरणव्यपदेशः। किमाश्रयः पुनरयं मुख्यो, यदपेक्षया भाक्त इति? उच्यते,—चराचरव्यपाश्रयः। स्थावरजङ्गमशरीरविषयौ जन्ममरणशब्दौ। स्थावरजङ्गमानि हि भूतानि जायन्ते च म्रियन्ते च, अतस्तद्विषयौ जन्ममरणशब्दौ; मुख्यौ सन्तौ तत्स्थे जीवात्मन्युपचर्येते; तद्भावभावित्वात्। शरीरप्रादुर्भावतिरोभावयोर्हि सतोर्जन्ममरणशब्दौ भवतः, नासतोः। नहि शरीरसंबन्धादन्यत्र जीवो जातो मृतो वा केनचिल्लक्ष्यते। 'स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः' (बृ० ४/३/८) इति च शरीरसंयोगवियोगनिमित्तावेव जन्ममरणशब्दौ दर्शयति। जातकर्मादिविधानमपि देहप्रादुर्भावापेक्षमेव द्रष्टव्यम्। अभावाज्जीवप्रादुर्भावस्य। जीवस्य परस्मादात्मन उत्पत्तिर्वियदादीनामिवास्ति नास्ति वेत्येतदुत्तरेण सूत्रेण वक्ष्यति। देहाश्रयौ तावज्जीवस्य स्थूलावुत्पत्तिप्रलयौ न स्त इत्येतदनेन सूत्रेणावोचत् ॥ १६ ॥

(७१) आत्माधिकरणम् ॥११॥ (सू० १७)

(२३३) नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ १७ ॥

अस्त्यात्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षः कर्मफलसंबन्धी। स किं व्योमादिवदुत्पद्यते ब्रह्मणः, आहोस्विद्ब्रह्मवदेव नोत्पद्यत इति श्रुतिविप्रतिपत्तेर्विशयः। कासुचिच्छ्रुतिष्वग्निविस्फुलिङ्गादिनिदर्शनैर्जीवात्मनः परस्माद्ब्रह्मण उत्पत्तिराम्नायते, कासु-

चित्त्वविकृतस्यैव परस्य ब्रह्मणः कार्यप्रवेशेन जीवभावो विज्ञायते, न चोत्पत्तिराम्नायत इति। तत्र प्राप्तं तावदुत्पद्यते जीव इति। कुतः? प्रतिज्ञानुपरोधादेव।

'एकस्मिन्विदिते सर्वमिदं विदितम्' इतीयं प्रतिज्ञा सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मप्रभवत्वे सति नोपरुध्येत, तत्त्वान्तरत्वे तु जीवस्य प्रतिज्ञेयमुपरुध्येत। न चाविकृतः परमात्मैव जीव इति शक्यते विज्ञातुं; लक्षणभेदात्। अपहतपाप्मत्वादिधर्मको हि परमात्मा, तद्विपरीतो हि जीवः। विभागाच्चास्य विकारत्वसिद्धिः। यावान्ह्याकाशादिः प्रविभक्तः स सर्वो विकारः। तस्य चाकाशादेरुत्पत्तिः समधिगता। जीवात्मापि पुण्यापुण्यकर्मा सुखदुःखभाक्प्रतिशरीरं प्रविभक्त इति तस्यापि प्रपञ्चोत्पत्त्यवसर उत्पत्तिर्भवितुमर्हति। अपि च 'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' (बृ० २/१/२०) इति प्राणादेर्भोग्यजातस्य सृष्टिं शिष्ट्वा 'सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति' इति भोक्तृणामात्मनां पृथक्सृष्टिं शास्ति। 'यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' (मुण्ड० २/१/१) इति च जीवात्मनामुत्पत्तिप्रलयावुच्येते। सरूपवचनात्; जीवात्मानो हि परमात्मना सरूपा भवन्ति; चैतन्ययोगात्। नच क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं वारयितुमर्हति; श्रुत्यन्तरगतस्याप्यविरुद्धस्याधिकस्यार्थस्य सर्वत्रोपसंहर्तव्यत्वात्। प्रवेशश्रुतिरप्येवं सति विकारभावापत्त्यैव व्याख्यातव्या, 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यादिवत्। तस्मादुत्पद्यते जीव इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नात्मा जीव उत्पद्यत इति। कस्मात्? अश्रुतेः। न ह्यस्योत्पत्तिप्रकरणे श्रवणमस्ति भूयःसु प्रदेशेषु। ननु क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं न वारयतीत्युक्तम्। सत्यमुक्तम्। उत्पत्तिरेव त्वस्य न संभवतीति वदामः। कस्मात्? नित्यत्वाच्च ताभ्यः चशब्दादजत्वादिभ्यश्च। नित्यत्वं ह्यस्य श्रुतिभ्योऽवगम्यते, तथाऽजत्वमविकारित्वमविकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवात्मनावस्थानं ब्रह्मात्मना चेति। न चैवंरूपस्योत्पत्तिरुपपद्यते। ताः काः श्रुतयः? 'न जीवो म्रियते' (छा० ६/११/३), 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४/४/२५), 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (कठ० २/१८), 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (कठ० २/१८), 'तत्सृष्ट्वा तेदवानुप्राविशत्' (तै० २/६/१), 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६/३/२), 'स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः'

(बृ० १/४/७), 'तत्त्वमसि' (छा० ६/८/७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १/४/१०), 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २/५/१९), इत्येवमाद्या नित्यत्ववादिन्यः सत्यो जीवस्योत्पत्तिं प्रतिबध्नन्ति।

ननु प्रविभक्तत्वाद्विकारो विकारत्वाच्चोत्पद्यत इत्युक्तम्, अत्रोच्यते,—नास्य प्रविभागः स्वतोऽस्ति; 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे० ६/११) इति श्रुतेः। बुद्ध्याद्युपाधिनिमित्तं त्वस्य प्रविभागप्रतिभानमाकाशस्येव घटादिसंबन्धनिमित्तम्। तथा च शास्त्रम्—'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' (बृ० ४/४/५) इत्येवमादि ब्रह्मण एवाविकृतस्य सतोऽप्येकस्यानेकबुद्ध्यादिमयत्वं दर्शयति। तन्मयत्वं चास्य विविक्तस्वरूपानभिव्यक्तया तदुपरक्तस्वरूपत्वं स्त्रीमयो जाल्म इत्यादिवद्द्रष्टव्यम्। यदपि क्वचिदस्योत्पत्तिप्रलयश्रवणं, तदप्यत एवोपाधिसंबन्धान्नेतव्यम्। उपाध्युत्पत्त्याऽस्योत्पत्तिस्तत्प्रलयेन च प्रलय इति। तथा च दर्शयति—'प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' (बृ० ४/५/१३) इति। तथोपाधिप्रलय एवायं, नात्मविलय इत्येतदपि 'अत्रैव मा भगवान्मोहान्तमापीपन्न वा अहमिमं विजानामि न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति प्रश्नपूर्वकं प्रतिपादयति—'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' (बृ० ४/५/१४) इति; प्रतिज्ञानुपरोधोऽप्यविकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवभावाभ्युपगमात्। लक्षणभेदोऽप्यनयोरुपाधिनिमित्त एव; 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' (बृ० ४/३/१५) इति च प्रकृतस्यैव विज्ञानमयस्यात्मनः सर्वसंसारधर्मप्रत्याख्यानेन परमात्मभावप्रतिपादनात्। तस्मान्नैवात्मोत्पद्यते प्रविलीयते चेति॥ १७॥

(७२) ज्ञाधिकरणम् ॥१२॥ (सू० १८)

(२३४) ज्ञोऽत एव॥ १८॥

स किं काणभुजानामिवागन्तुकचैतन्यः स्वतोऽचेतनः, आहोस्वित्सांख्यानामिव नित्यचैतन्यस्वरूप एवेति वादिविप्रतिपत्तेः संशयः। किं तावत्प्राप्तम्? आगन्तुकमात्मनश्चैतन्यमात्ममनःसंयोगजमग्निघटसंयोगजरोहितादिगुणवदिति प्राप्तम्। नित्यचैतन्यत्वे हि सुप्तमूर्च्छितग्रहाविष्टानामपि चैतन्यं स्यात्। ते पृष्टाः सन्तो न किंचिद्वयम-

चेतयामहीति जल्पन्ति, स्वस्थाश्च चेतयमाना दृश्यन्ते। अतः कादाचित्कचैतन्यत्वादागन्तुकचैतन्य आत्मेति।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते,—ज्ञो नित्यचैतन्योऽयमात्माऽत एव, यस्मादेव नोत्पद्यते परमेव ब्रह्माविकृतमुपाधिसंपर्काज्जीवभावेनावतिष्ठते। परस्य हि ब्रह्मणश्चैतन्यस्वरूपत्वमाम्नातम्—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३/९/२८), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २/१/१), 'अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४/५/१३), इत्यादिषु श्रुतिषु। तदेव चेत्परं ब्रह्म जीवस्तस्माज्जीवस्यापि नित्यचैतन्यस्वरूपत्वमग्न्यौष्ण्यप्रकाशवदिति गम्यते। विज्ञानमयप्रक्रियायां च श्रुतयो भवन्ति—'असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति' (बृ० ४/३/११) 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' (बृ० ४/३/९) इति, 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृ० ४/३/३०) इत्येवंरूपाः। 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा' (छा० ८/१२/४) इति च सर्वैः करणद्वारैरिदं वेदेदं वेदेति विज्ञानेनानुसंधानात्तद्रूपत्वसिद्धिः। नित्यस्वरूपचैतन्यत्वे घ्राणाद्यानर्थक्यमिति चेत्,—न; गन्धादिविषयविशेषपरिच्छेदार्थत्वात्। तथा हि दर्शयति—'गन्धाय घ्राणम्' इत्यादि। यत्तु सुप्तादयो न चेतयन्त इति तस्य श्रुत्यैव परिहारोऽभिहितः। सुषुप्तं प्रकृत्य 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' (बृ० ४/३/२३) इत्यादिना। एतदुक्तं भवति—विषयाभावादियमचेतयमानता, न चैतन्याभावादिति। यथा वियदाश्रयस्य प्रकाशस्य प्रकाश्याभावादनभिव्यक्तिर्न स्वरूपभावात्तद्वत्। वैशेषिकादि तर्कश्च श्रुतिविरोध आभासीभवति। तस्मान्नित्यचैतन्यस्वरूप एवात्मेति निश्चिनुमः॥१८॥

(७३) उत्क्रान्तिगत्यधिकरणम्॥१३॥ (सू० १९-३२)

(२३५) उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्॥१९॥

इदानीं तु किंपरिमाणो जीव इति चिन्त्यते। किमणुपरिमाण, उत मध्यमपरिमाण, आहोस्विन्महापरिमाण इति। ननु च नात्मोत्पद्यते नित्यचैतन्यश्चायमित्युक्तम्। अतश्च पर एवात्मा जीव इत्यापतति। परस्य चात्मनोऽनन्तत्वमाम्नातं, तत्र कुतो जीवस्य परिमाणचिन्तावतार इति? उच्यते,—सत्यमेतत्। उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रवणानि तु

जीवस्य परिच्छेदं प्रापयन्ति। स्वशब्देन चास्य क्वचिदणुपरिमाणत्वमाम्नायते। तस्य सर्वस्यानाकुलत्वोपपादनायायमारम्भः। तत्र प्राप्तं तावदुत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात्परिच्छिन्नोऽणुपरिमाणो जीव इति। उत्क्रान्तिस्तावत्—'स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति' (कौषीत० ३/३) इति। गतिरपि 'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (कौषीत० १/२) इति। आगतिरपि 'तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृ० ४/४/६) इति। आसामुत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात्परिच्छिन्नस्तावज्जीव इति प्राप्नोति। नहि विभोश्चलनमवकल्पत इति। सति परिच्छेदे शरीरपरिमाणत्वस्यार्हतपरीक्षायां निरस्तत्वादणुरात्मेति गम्यते॥१९॥

(२३६) स्वात्मना चोत्तरयोः॥२०॥

उत्क्रान्तिः कदाचिदचलतोऽपि ग्रामस्वाम्यनिवृत्तिवद्देहस्वाम्यनिवृत्त्या कर्मक्षयेणावकल्पेत। उत्तरे तु गत्यागती नाचलतः संभवतः। स्वात्मना हि तयोः संबन्धो भवति; गमेः कर्तृस्थक्रियात्वात्। अमध्यमपरिमाणस्य च गत्यागती अणुत्व एव संभवतः। सत्योश्च गत्यागत्योरुत्क्रान्तिरप्यपसृप्तिरेव देहादिति प्रतीयते। न ह्यनपसृप्तस्य देहाद्गत्यागती स्याताम्। देहप्रदेशानां चोत्क्रान्तावपादानत्ववचनात्। 'चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' (बृ० ४/४/२) इति। 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' (बृ० ४/४/१), 'शुक्रमादाय पुनरेति स्थानम्' (बृ० ४/३/११) इति चान्तरेऽपि शरीरे शारीरस्य गत्यागती भवतः। तस्मादप्यस्याणुत्वसिद्धिः॥२०॥

(२३७) नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्॥२१॥

अथापि स्यान्नाणुरयमात्मा। कस्मात्? अतच्छ्रुतेः। अणुत्वविपरीतपरिमाणश्रवणादित्यर्थः। 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४/४/२२), 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २/१/१) इत्येवंजातीयका हि श्रुतिरात्मनोऽणुत्वे विप्रतिषिध्येतेति चेत्,—नैष दोषः; कस्मात्? इतराधिकारात्। परस्य ह्यात्मनः प्रक्रियायामेषा परिमाणान्तरश्रुतिः; परस्यैवात्मनः प्राधान्येन वेदान्तेषु वेदितव्यत्वेन प्रकृतत्वात्, विरजः पर आकाशादित्येवंविधाच्च परस्यैवात्मनस्तत्र तत्र विशेषाधिकारात्। ननु 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४/४/२२) इति शारीर एव महत्त्वसंबन्धित्वेन प्रतिनिर्दिश्यते। शास्त्रदृष्ट्या त्वेष निर्देशो

वामदेववद्द्रष्टव्यः। तस्मात्प्राज्ञविषयत्वात्परिमाणान्तरश्रवणस्य न जीवस्याणुत्वं विरुध्यते॥२१॥

(२३८) स्वशब्दोन्मानाभ्यां च॥२२॥

इतश्चाणुरात्मा, यतः साक्षादेवास्याणुत्ववाची शब्दः श्रूयते—'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश' (मुण्ड० ३/१/९) इति। प्राणसंबन्धाच्च जीव एवायमणुरभिहित इति गम्यते। तथोन्मानमपि जीवस्याणिमानं गमयति—'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः' (श्वे० ५/८) इति। 'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे० ५/८) इति चोन्मानान्तरम्॥२२॥

नन्वणुत्वे सत्येकदेशस्थस्य सकलदेहगतोपलब्धिर्विरुध्यते। दृश्यते च जाह्नवीह्रदनिमग्नानां सर्वाङ्गशैत्योपलब्धिर्निदाघसमये च सकलशरीरपरितापोपलब्धिरिति। अत उत्तरं पठति—

(२३९) अविरोधश्चन्दनवत्॥२३॥

यथा हि हरिचन्दनबिन्दुः शरीरैकदेशसंबद्धोऽपि सन्सकलदेहव्यापिनमाह्लादं करोति, एवमात्मापि देहैकदेशस्थः सकलदेहव्यापिनीमुपलब्धिं करिष्यति। त्वक्संबन्धाच्चास्य सकलशरीरगता वेदना न विरुध्यते। त्वगात्मनोर्हि संबन्धः कृत्स्नायां त्वचि वर्तते, त्वक्च कृत्स्नशरीरव्यापिनीति॥२३॥

(२४०) अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि॥२४॥

अत्राह—यदुक्तमविरोधश्चन्दनवदिति,—तदयुक्तं; दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरतुल्यत्वात्। सिद्धे ह्यात्मनो देहैकदेशस्थत्वे चन्दनदृष्टान्तो भवति, प्रत्यक्षं तु चन्दनस्यावस्थितिवैशेष्यमेकदेशस्थत्वं सकलदेहाह्लादनं च। आत्मनः पुनः सकलदेहोपलब्धिमात्रं प्रत्यक्षं नैकदेशवर्तित्वम्। अनुमेयं तु तदिति यदप्युच्येत। न चात्रानुमानं संभवति। किमात्मनः सकलशरीरगता वेदना त्वगिन्द्रियस्येव सकलदेहव्यापिनः सतः? किं वा विभोर्नभस इव, आहोस्विच्चन्दनबिन्दोरिवाणोरेकदेशस्थस्येति संशयातिवृत्तेरिति? अत्रोच्यते,—नायं दोषः; कस्मात्? अभ्युपगमात्। अभ्युपगम्यते ह्यात्मनोऽपि चन्दनस्येव देहैकदेशवृत्तित्वमवस्थितिवैशेष्यम्। कथमिति? उच्यते,— हृदि ह्येष

आत्मा पठ्यते वेदान्तेषु। 'हृदि ह्येष आत्मा' (प्रश्न० ३/६/), 'स वा एष आत्मा हृदि' (छा० ८/३/३), 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४/३/७) इत्याद्युपदेशेभ्यः। तस्माद्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरवैषम्याद्युक्तमेवैतदविरोधश्चन्दनवदिति॥२४॥

(२४१) गुणाद्वा लोकवत्॥२५॥

चैतन्यगुणव्याप्तेर्वाऽणोरपि सतो जीवस्य सकलदेहव्यापि कार्यं न विरुध्यते। यथा लोके मणिप्रदीपप्रभृतीनामपवरकैकदेशवर्तिनामपि प्रभाऽपवरकव्यापिनी सती कृत्स्नेऽपवरके कार्यं करोति, तद्वत्। स्यात्कदाचिच्चन्दनस्य सावयवत्वात्सूक्ष्मावयवविसर्पणेनापि सकलदेह आह्लादयितृत्वं न त्वणोर्जीवस्यावयवाः सन्ति, यैरयं सकलदेहं विप्रसर्पेदित्याशङ्क्य गुणाद्वा लोकवदित्युक्तम्॥२५॥

कथं पुनर्गुणो गुणिव्यतिरेकेणान्यत्र वर्तेत? न हि पटस्य शुक्लो गुणः पटव्यतिरेकेणान्यत्र वर्तमानो दृश्यते। प्रदीपप्रभावद्भवेदिति चेत्,—न; तस्या अपि द्रव्यात्वाभ्युपगमात्। निबिडावयवं हि तेजोद्रव्यं प्रदीपः, प्रविरलावयवं तु तेजोद्रव्यमेव प्रभेति। अत उत्तरं पठति—

(२४२) व्यतिरेको गन्धवत्॥२६॥

यथा गुणस्यापि सतो गन्धस्य गन्धवद्द्रव्यव्यतिरेकेण वृत्तिर्भवति। अप्राप्तेष्वपि कुसुमादिषु गन्धवत्सु कुसुमगन्धोपलब्धेः। एवमणोरपि सतो जीवस्य चैतन्यगुणव्यतिरेको भविष्यति। अतश्चानैकान्तिकमेतद्गुणत्वाद्रूपादिवदाश्रयविश्लेषानुपपत्तिरिति; गुणस्यैव सतो गन्धस्याश्रयविश्लेषदर्शनात्। गन्धस्यापि सहैवाश्रयेण विश्लेष इति चेत्—न; यस्मान्मूलद्रव्याद्विश्लेषस्तस्य क्षयप्रसङ्गात्। अक्षीयमाणमपि तत्पूर्वावस्थातो गम्यते। अन्यथा तत्पूर्वावस्थैर्गुरुत्वादिभिर्हीयेत। स्यादेतत्,—गन्धाश्रयाणां विश्लिष्टानामवयवानामल्पत्वात्सन्नपि विशेषो नोपलक्ष्यते। सूक्ष्मा हि गन्धपरमाणवः सर्वतो विप्रसृता गन्धबुद्धिमुत्पादयन्ति नासिकापुटमनुप्रविशन्त इति चेत्,—न; अतीन्द्रियत्वात्परमाणूनां स्फुटगन्धोपलब्धेश्च नागकेसरादिषु। न च लोके प्रतीतिर्गन्धवद्द्रव्यमाघ्रातमिति। गन्ध एवाघ्रात इति तु लौकिकाः प्रतियन्ति। रूपादिष्वाश्रयव्यतिरेकानुपलब्धेर्गन्धस्याप्ययुक्त आश्रयव्यतिरेक इति चेत्,—न; प्रत्यक्षत्वादनुमानाप्रवृत्तेः।

तस्माद्यद्यथा लोके दृष्टं, तत्तथैवानुमन्तव्यं निरूपकैर्नान्यथा। नहि रसो गुणो जिह्वयोपलभ्यत इत्यतो रूपादयोऽपि गुणा जिह्वयैवोपलभ्येरन्निति नियन्तुं शक्यते॥ २६॥

(२४३) तथा च दर्शयति॥२७॥

हृदयायतनत्वमणुपरिमाणत्वं चात्मनोऽभिधाय तस्यैव 'आ लोमभ्य आ नखाग्रेभ्यः' (छा० ८/८/१) इति चैतन्येन गुणेन समस्तशरीरव्यापित्वं दर्शयति॥ २७॥

(२४४) पृथगुपदेशात्॥२८॥

'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' (कौषी० ३/६) इति चात्मप्रज्ञयोः कर्तृकरणभावेन पृथगुपदेशाच्चैतन्यगुणेनैवास्य शरीरव्यापिता गम्यते। 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (बृ० २/१/१७) इति च कर्तुः शारीरात्पृथग्विज्ञानस्योपदेश एतमेवाभिप्रायमुपोद्बलयति। तस्मादणुरात्मेति॥ २८॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—

(२४५) तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्॥२९॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति-अणुरात्मेति। उत्पत्त्यश्रवणाद्धि परस्यैव तु ब्रह्मणः प्रवेशश्रवणात्तादात्म्योपदेशाच्च परमेव ब्रह्म जीव इत्युक्तम्। परमेव चेद्ब्रह्म जीवस्तस्माद्यावत्परं ब्रह्म, तावानेव जीवो भवितुमर्हति। परस्य च ब्रह्मणो विभुत्वमाम्नातम्। तस्माद्विभुर्जीवः। तथा च 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४/४/२२) इत्येवंजातीयका जीवविषया विभुत्ववादाः श्रौताः स्मार्ताश्च समर्थिता भवन्ति। न चाणोर्जीवस्य सकलशरीरगता वेदनोपपद्यते। त्वक्संबन्धात्स्यादिति चेत्,—न; कण्टकतोदनेऽपि सकलशरीरगतैव वेदना प्रसज्येत। त्वक्कण्टकयोर्हि संयोगः कृत्स्नायां त्वचि वर्तते त्वक्च कृत्स्नशरीरव्यापिनीति। पादतल एव तु कण्टकनुन्नो वेदनां प्रतिलभते। न चाणोर्गुणव्याप्तिरुपपद्यते; गुणस्य गुणिदेशत्वात्। गुणत्वमेव हि गुणिनमनाश्रित्य गुणस्य हीयेत। प्रदीपप्रभायाश्च द्रव्यान्तरत्वं व्याख्यातम्। गन्धोऽपि गुणत्वाभ्युपगमात्साश्रय एव संचरितुमर्हति। अन्यथा गुणत्वहानिप्रसङ्गात्। तथा चोक्तं द्वैपायनेन—'उपलभ्याप्सु चेद्गन्धं केचिद्ब्रूयुरनैपुणाः। पृथिव्यामेव तं विद्यादपो वायुं च संश्रितम्' इति। यदि च चैतन्यं जीवस्य समस्तं शरीरं व्याप्नुयान्नाणुर्जीवः स्यात्। चैतन्यमेव ह्यस्य स्व-

रूपमग्नेरिवौष्ण्यप्रकाशौ। नात्र गुणगुणिविभागो विद्यत इति। शरीरपरिमाणत्वं च प्रत्याख्यातम्। परिशेषाद्विभुर्जीवः।

कथं तर्ह्यणुत्वादिव्यपदेश इत्यत आह—'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः' इति। तस्या बुद्धेर्गुणास्तद्गुणा इच्छा द्वेषः सुखं दुःखमित्येवमादयस्तद्गुणाः सारः प्रधानं यस्यात्मनः संसारित्वे संभवति स तद्गुणसारस्तस्य भावस्तद्गुणसारत्वम्। नहि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्यात्मनः संसारित्वमस्ति। बुद्ध्युपाधिधर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं संसारित्वमकर्तुरभोक्तुश्चासंसारिणो नित्यमुक्तस्य सत आत्मनः। तस्मात्तद्गुणसारत्वाद्बुद्धिपरिमाणेनास्य परिमाणव्यपदेशः, तदुत्क्रान्त्यादिभिश्चास्योत्क्रान्त्यादिव्यपदेशो न स्वतः। तथा च-'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते' (श्वे० ५/९) इत्यणुत्वं जीवस्योक्त्वा तस्यैव पुनरानन्त्यमाह। तच्चैवमेव समञ्जसं स्याद्यद्यौपचारिकमणुत्वं जीवस्य भवेत्पारमार्थिकं चानन्त्यम्। न ह्युभयं मुख्यमवकल्पेत। न चानन्त्यमौपचारिकमिति शक्यं विज्ञातुम्; सर्वोपनिषत्सु ब्रह्मात्मभावस्य प्रतिपिपादयिषितत्वात्। तथेतरस्मिन्नप्युन्माने 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे० ६/८) इति च बुद्धिगुणसंबन्धेनैवाराग्रमात्रतां शास्ति न स्वेनैवात्मना। 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (मु० ३/१/९) इत्यत्रापि न जीवस्याणुपरिमाणत्वं शिष्यते; परस्यैवात्मनश्चक्षुराद्यनवग्राह्यत्वेन ज्ञानप्रसादगम्यत्वेन च प्रकृतत्वात्। जीवस्यापि च मुख्याणुपरिमाणत्वानुपपत्तेः। तस्माद्दुर्ज्ञानत्वाभिप्रायमिदमणुत्ववचनमुपाध्यभिप्रायं वा द्रष्टव्यम्। तथा 'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' (कौ० ३/६) इत्येवंजातीयकेष्वपि भेदोपदेशेषु बुद्ध्यैवोपाधिभूतया जीवः शरीरं समारुह्येत्येवं योजयितव्यम्। व्यपदेशमात्रं वा, शिलापुत्रकस्य शरीरमित्यादिवत्। नह्यत्र गुणगुणिविभागोऽपि विद्यत इत्युक्तम्; हृदयायतनत्ववचनमपि बुद्धेरेव तदायतनत्वात्। तथोत्क्रान्त्यादीनामप्युपाध्यायत्ततां दर्शयति—'कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति' (प्र० ६/३) 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६/४) इति। उत्क्रान्त्यभावे हि गत्यागत्योरप्यभावो विज्ञायते। न ह्यनपसृप्तस्य देहाद्गत्यागती स्याताम्। एवमुपाधिगुणसारत्वाज्जीवस्याणुत्वादिव्यपदेशः, प्राज्ञवत्। यथा प्राज्ञस्य परमात्मनः सगुणेषूपासनेषूपाधिगुणसारत्वादणीयस्त्वादिव्यपदेशः—'अणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा' (छा० ३/१४/३) 'मनोमयः

प्राणशरीरः सर्वगन्धः सर्वरसः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ३/१४/२) इत्येवंप्रकारस्तद्वत्॥२९॥

स्यादेतद्यदि बुद्धिगुणसारत्वादात्मनः संसारित्वं कल्प्येत, ततो बुद्ध्यात्मनोर्भिन्नयोः संयोगावसानमवश्यंभावीत्यतो बुद्धिवियोगे सत्यात्मनो विभक्तस्यानालक्ष्यत्वादसत्त्वमसंसारित्वं वा प्रसज्येतेति। अत उत्तरं पठति—

(२४६) यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्॥३०॥

नेयमनन्तरनिर्दिष्टदोषप्राप्तिराशङ्कनीया। कस्मात्? यावदात्मभावित्वाद्बुद्धिसंयोगस्य। यावदयमात्मा संसारी भवति, यावदस्य सम्यग्दर्शनेन संसारित्वं न निवर्तते, तावदस्य बुद्ध्या संयोगो न शाम्यति। यावदेव चायं बुद्ध्युपाधिसंबन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं संसारित्वं च। परमार्थतस्तु न जीवो नाम बुद्ध्युपाधिसंबन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेकेणास्ति। नहि नित्यमुक्तस्वरूपात्सर्वज्ञादीश्वरादन्यश्चेतनो धातुर्द्वितीयो वेदान्तार्थनिरूपणायामुपलभ्यते। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता' (बृ० ३/७/२३), 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ श्रोतृ मन्तृ विज्ञातृ' (छा० ६/८/७), 'तत्त्वमसि' (छा० ६/१/६), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १/४/७) इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः।

कथं पुनरवगम्यते यावदात्मभावी बुद्धिसंयोग इति? तद्दर्शनादित्याह। तथा हि शास्त्रं दर्शयति—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योति पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० ४/३/७) इत्यादि। तत्र विज्ञानमय इति बुद्धिमय इत्येतदुक्तं भवति; प्रदेशान्तरे 'विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' इति विज्ञानमयस्य मनआदिभिः सह पाठात्। बुद्धिमयत्वं च तद्गुणसारत्वमेवाभिप्रेयते। यथा लोके स्त्रीमयो देवदत्त इति स्त्रीरागादिप्रधानोऽभिधीयते, तद्वत्। 'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति' इति च लोकान्तरगमनेऽप्यवियोगं बुद्ध्या दर्शयति। केन समानः? तयैव बुद्ध्येति गम्यते; संनिधानात्। तच्च दर्शयति—'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० ४/३/७) इति। एतदुक्तं भवति—नायं स्वतो ध्यायति, नापि चलति, ध्यायन्त्यां बुद्धौ ध्यायतीव, चलन्त्यां बुद्धौ चलतीवेति। अपि च मिथ्याज्ञानपुरःसरोऽयमात्मनो बुद्ध्युपाधिसंबन्धः। नच मिथ्याज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानादन्यत्र निवृत्तिरस्तीत्यतो यावद्ब्रह्मात्मतानवबोधस्तावदयं बुद्ध्युपाधिसंबन्धो

न शाम्यति। दर्शयति च—'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३/८) इति॥ ३०॥

ननु सुषुप्तप्रलययोर्न शक्यते बुद्धिसंबन्ध आत्मनोऽभ्युपगन्तुम्। 'सता सोम्य तदासंपन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६/८/१) इति वचनात्। कृत्स्नविकारप्रलयाभ्युपगमाच्च। तत्कथं यावदात्मभावित्वं बुद्धिसंबन्धस्येति? अत्रोच्यते—

(२४७) पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्॥ ३१॥

यथा लोके पुंस्त्वादीनि बीजात्मना विद्यमानान्येव बाल्यादिष्वनुपलभ्यमानान्यविद्यमानवदभिप्रेयमाणानि यौवनादिष्वाविर्भवन्ति, नाविद्यमानान्युत्पद्यन्ते; षण्ढादीनामपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्,—एवमयमपि बुद्धिसंबन्धः शक्त्यात्मना विद्यमान एव सुषुप्तप्रलययोः पुनः प्रबोधप्रसवयोराविर्भवति। एवं ह्येतद्युज्यते। न ह्याकस्मिकी कस्यचिदुत्पत्तिः संभवति; अतिप्रसङ्गात्। दर्शयति च सुषुप्तादुत्थानमविद्यात्मकबीजसद्भावकारितम्—'सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति', 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा' (छा० ६/९/३) इत्यादिना। तस्मात्सिद्धमेतद्यावदात्मभावी बुद्ध्याद्युपाधिसंबन्ध इति॥ ३१॥

(२४८) नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा॥ ३२॥

तच्चात्मन उपाधिभूतमन्तःकरणं मनोबुद्धिर्विज्ञानं चित्तमिति चानेकधा तत्र तत्राभिलप्यते। क्वचिच्च वृत्तिविभागेन संशयादिवृत्तिकं मन इत्युच्यते, निश्चयादिवृत्तिकं बुद्धिरिति। तच्चैवंभूतमन्तःकरणमवश्यमस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा ह्यनभ्युपगम्यमाने तस्मिन्नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गः स्यात्। आत्मेन्द्रियविषयाणामुपलब्धिसाधनानां संनिधाने सति नित्यमेवोपलब्धिः प्रसज्येत। अथ सत्यपि हेतुसमवधाने फलाभावस्ततो नित्यमेवानुपलब्धिः प्रसज्येत। न चैवं दृश्यते। अथवान्यतरस्यात्मन इन्द्रियस्य वा शक्तिप्रतिबन्धः संभवति; अविक्रियत्वात्। नापीन्द्रियस्य। नहि तस्य पूर्वोत्तरयोः क्षणयोरप्रतिबद्धशक्तिकस्य सतोऽकस्माच्छक्तिः प्रतिबध्येत। तस्माद्यस्यावधानानवधानाभ्यामुपलब्ध्यनुपलब्धी भवतस्तन्मनः। तथा च श्रुतिः— 'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्' (बृ० १/५/३) इति, 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति' (बृ० १/५/३) इति। कामादयश्चास्य वृत्तय इति

दर्शयति 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ० १/५/३) इति। तस्माद्युक्तमेतत् 'तद्गुणसारत्वात्तद्व्यपदेशः' इति॥ ३२॥

(७४) *कर्त्रधिकरणम्*॥ १४॥ (सू० ३३-३९)

(२४९) कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्॥ ३३॥

तद्गुणसारत्वाधिकारेणैवापरोऽपि जीवधर्मः प्रपञ्च्यते। कर्ता चायं जीवः स्यात्। कस्मात्? शास्त्रार्थवत्त्वात्। एवं च 'यजेत', 'जुहुयात्', 'दद्यात्' इत्येवंविधं विधिशास्त्रमर्थवद्भवति। अन्यथा तदनर्थकं स्यात्। तद्धि कर्तुः सतः कर्तव्यविशेषमुपदिशति। न चाऽसति कर्तृत्वे तदुपपद्येत। तथेदमपि शास्त्रमर्थवद्भवति 'एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' (प्र० ५/९) इति॥ ३३॥

(२५०) विहारोपदेशात्॥ ३४॥

इतश्च जीवस्य कर्तृत्वं, यज्जीवप्रक्रियायां संध्ये स्थाने विहारमुपदिशति—'स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्' (बृ० ४/३/१२) इति, 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' (बृ० २/१/१८) इति च॥ ३४॥

(२५१) उपादानात्॥ ३५॥

इतश्चास्य कर्तृत्वं, यज्जीवप्रक्रियायामेव करणानामुपादानं संकीर्तयति—'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (बृ० २/१/१७) इति, 'प्राणान्गृहीत्वा' (बृ० २/१/१८) इति च॥ ३५॥

(२५२) व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः॥ ३६॥

इतश्च जीवस्य कर्तृत्वं, यदस्य लौकिकीषु वैदिकीषु च क्रियासु कर्तृत्वं व्यपदिशति शास्त्रम्—'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' (तै० २/५/१) इति। ननु विज्ञानशब्दो बुद्धौ समधिगतः। कथमनेन जीवस्य कर्तृत्वं सूच्यत इति? नेत्युच्यते। जीवस्यैवैष निर्देशो, न बुद्धेः। न चेज्जीवस्य स्यान्निर्देशविपर्ययः स्यात्। विज्ञानेनेत्येवं निरदेक्ष्यत्। तथा ह्यन्यत्र बुद्धिविवक्षायां विज्ञानशब्दस्य करणविभक्तिनिर्देशो दृश्यते 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (बृ० २/१/१७) इति। इह तु 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (तै० २/५/१) इति कर्तृसामानाधिकरण्यनिर्देशाद्बुद्धिव्यतिरिक्तस्यैवात्मनः कर्तृत्वं सूच्यत इत्यदोषः॥ ३६॥

अत्राह—यदि बुद्धिव्यतिरिक्तो जीवः कर्ता स्यात्स स्वतन्त्रः सन्प्रियं हितं चैवात्मनो नियमेन संपादयेन्न विपरीतम्। विपरीतमपि तु संपादयन्नुपलभ्यते। न च स्वतन्त्रस्यात्मन ईदृशी प्रवृत्तिरनियमेनोपपद्यत इति, अत उत्तरं पठति—

(२५३) उपलब्धिवदनियमः ॥ ३७ ॥

यथाऽयमात्मोपलब्धिं प्रति स्वतन्त्रोऽप्यनियमेनेष्टमनिष्टं चोपलभत, एवमनियमेनैवेष्टमनिष्टं च संपादयिष्यति। उपलब्धावप्यस्वातन्त्र्यमुपलब्धिहेतूपादानोपलम्भादिति चेत्,—न; विषयप्रकल्पनामात्रप्रयोजनत्वादुपलब्धिहेतूनाम, उपलब्धौ त्वनन्यापेक्षत्वमात्मनश्चैतन्ययोगात्। अपि चार्थक्रियायामपि नात्यन्तमात्मनः स्वातन्त्र्यमस्ति; देशकालनिमित्तविशेषापेक्षत्वात्। न च सहायापेक्षस्य कर्तुः कर्तृत्वं निवर्तते। भवति ह्येधोदकाद्यपेक्षस्यापि पक्तुः पक्तृत्वम्। सहकारिवैचित्र्याच्चेष्टानिष्टार्थक्रियायामनियमेन प्रवृत्तिरात्मनो न विरुध्यते॥ ३७॥

(२५४) शक्तिविपर्ययात् ॥ ३८ ॥

इतश्च विज्ञानव्यतिरिक्तो जीवः कर्ता भवितुमर्हति। यदि पुनर्विज्ञानशब्दवाच्या बुद्धिरेव कर्त्री स्यात्ततः शक्तिविपर्ययः स्यात्। करणशक्तिर्बुद्धेर्हीयेत कर्तृशक्तिश्चापद्येत। सत्यां च बुद्धेः कर्तृशक्तौ तस्या एवाहंप्रत्ययविषयत्वमभ्युपगन्तव्यम्; अहंकारपूर्विकाया एव प्रवृत्तेः सर्वत्र दर्शनात्। अहं गच्छाम्यहमागच्छाम्यहं भुञ्जेऽहं पिबामीति च। तस्याश्च कर्तृशक्तियुक्तायाः सर्वार्थकारि करणमन्यत्कल्पयितव्यम्। शक्तोऽपि हि सन्कर्ता करणमुपादाय क्रियासु प्रवर्तमानो दृश्यत इति। ततश्च संज्ञामात्रे विवादः स्यात्, न वस्तुभेदः कश्चित्; करणव्यतिरिक्तस्य कर्तृत्वाभ्युपगमात्॥ ३८॥

(२५५) समाध्यभावाच्च ॥ ३९ ॥

योऽप्ययमौपनिषदात्मप्रतिपत्तिप्रयोजनः समाधिरुपदिष्टो वेदान्तेषु—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः, सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (बृ० २/४/५), 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मनम्' (मुण्ड० २/२/६) इत्येवंलक्षणः, सोऽप्यसत्यात्मनः कर्तृत्वे नोपपद्येत। तस्मादप्यस्य कर्तृत्वसिद्धि॥ ३९॥

विश्रामः ॥ १८ ॥

****

(७५) तक्षाधिकरणम् ॥१५॥ (सू० ४०)

(२५६) यथा च तक्षोभयथा ॥४०॥

एवं तावच्छास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः कर्तृत्वं शारीरस्य प्रदर्शितं, तत्पुनः स्वाभाविकं वा स्यादुपाधिनिमित्तं वेति चिन्त्यते। तत्रैतैरेव शास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः स्वाभाविकं कर्तृत्वम्, अपवादहेत्वभावादिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः। न स्वाभाविकं कर्तृत्वमात्मनः संभवति, अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। कर्तृत्वस्वभावत्वे ह्यात्मनो न कर्तृत्वान्निर्मोक्षः संभवति, अग्नेरिवौष्ण्यात्। नच कर्तृत्वादनिर्मुक्तस्यास्ति पुरुषार्थसिद्धिः, कर्तृत्वस्य दुःखरूपत्वात्।

ननु स्थितायामपि कर्तृत्वशक्तौ कर्तृत्वकार्यपरिहारात्पुरुषार्थः सेत्स्यति। तत्परिहारश्च निमित्तपरिहारात्। यथाग्नेर्दहनशक्तियुक्तस्यापि काष्ठवियोगाद्दहनकार्याभावस्तद्वत्। न। निमित्तानामपि शक्तिलक्षणेन संबन्धेन संबद्धानामत्यन्तपरिहारासंभवात्। ननु मोक्षसाधनविधानान्मोक्षः सेत्स्यति। न। साधनायत्तस्यानित्यत्वात्। अपिच नित्यशुद्धबुद्धमुक्तात्मप्रतिपादनान्मोक्षसिद्धिरभिमता। तादृगात्मप्रतिपादनं च न स्वाभाविके कर्तृत्वेऽवकल्पेत। तस्मादुपाधिधर्माध्यासेनैवात्मनः कर्तृत्वं, न स्वाभाविकम्। तथाच श्रुतिः—'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० ४/३/७) इति। 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (क० ३/४) इति चोपाधिसंपृक्तस्यैवात्मनो भोक्तृत्वादिविशेषलाभं दर्शयति। नहि विवेकिनां परस्मादन्यो जीवो नाम कर्ता भोक्ता वा विद्यते। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ४/३/२३) इत्यादिश्रवणात्। पर एव तर्हि संसारी कर्ता भोक्ता च प्रसज्येत, परस्मादन्यश्चेच्चितिमाञ्जीवः कर्ता बुद्ध्यादिसंघातव्यतिरिक्तो न स्यात्। न। अविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः। तथाच शास्त्रम्—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० २/४/१४) इत्यविद्यावस्थायां कर्तृत्वभोक्तृत्वे दर्शयित्वा विद्यावस्थायां ते एव कर्तृत्वभोक्तृत्वे निवारयति—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २/४/१४) इति। तथा स्वप्नजागरितयोरात्मन उपाधिसंपर्ककृतं श्रमं श्येनस्येवाकाशे विपरिपततः श्रावयित्वा तदभावं सुषुप्तौ प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तस्य श्रावयति—'तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्' (बृ० ४/३/२१) इत्यारभ्य

'एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः' (बृ० ४/३/३२) इत्युपसंहारात्। तदेतदाहाचार्यः—यथा च तक्षोभयथा इति। त्वर्थे चायं चः पठितः।

नैवं मन्तव्यं स्वाभाविकमेवात्मनः कर्तृत्वमग्नेरिवौष्ण्यमिति। यथा तु तक्षा लोके वास्यादिकरणहस्तः कर्ता दुःखी भवति, स एव स्वगृहं प्राप्तो विमुक्तवास्यादिकरणः स्वस्थो निर्वृतो निर्व्यापारः सुखी भवत्येवमविद्याप्रत्युपस्थापितद्वैतसंपृक्त आत्मा स्वप्नजागरितावस्थयोः कर्ता दुःखी भवति, स तच्छ्रमापनुत्तये स्वमात्मानं परं ब्रह्म प्रविश्य विमुक्तकार्यकरणसंघातोऽकर्ता सुखी भवति संप्रसादावस्थायाम्। तथा मुक्त्यवस्थायामप्यविद्याध्वान्तं विद्याप्रदीपेन विधूयात्मैव केवलो निर्वृतः सुखी भवति। तक्षदृष्टान्तश्चैतावतांऽशेन द्रष्टव्यः। तक्षा हि विशिष्टेषु तक्षणादिव्यापारेष्वपेक्ष्यैव प्रतिनियतानि करणानि वास्यादीनि कर्ता भवति। स्वशरीरेण त्वकर्तैव। एवमयमात्मा सर्वव्यापारेष्वपेक्ष्यैव मनआदीनि करणानि कर्ता भवति, स्वात्मना त्वकर्तैवेति। न त्वात्मनस्तक्ष्ण इवावयवाः सन्ति, यैर्हस्तादिभिरिव वास्यादीनि तक्षा मनआदीनि करणान्यात्मोपाददीत न्यस्येद्वा।

यत्तूक्तं शास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः स्वाभाविकमात्मनः कर्तृत्वमिति। तन्न। विधिशास्त्रं तावद्यथाप्राप्तं कर्तृत्वमुपादाय कर्तव्यविशेषमुपदिशति, न कर्तृत्वमात्मनः प्रतिपादयति। नच स्वाभाविकमस्य कर्तृत्वमस्ति, ब्रह्मात्मत्वोपदेशादित्यवोचाम। तस्मादविद्याकृतं कर्तृत्वमुपादाय विधिशास्त्रं प्रवर्तिष्यते। 'कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष' इत्येवंजातीयकमपि शास्त्रमनुवादरूपत्वाद्यथाप्राप्तमेवाविद्याकृतं कर्तृत्वमनुवदिष्यति। एतेन विहारोपादाने परिहृते। तयोरप्यनुवादरूपत्वात्। ननु संध्ये स्थाने प्रसुप्तेषु करणेषु स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तत इति विहार उपदिश्यमानः केवलस्यात्मनःकर्तृत्वमावहति। तथोपादानेऽपि 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' इति करणेषु कर्मकरणविभक्ती श्रूयमाणे केवलस्यात्मनः कर्तृत्वं गमयत इति। अत्रोच्यते—न तावत्संध्ये स्थानेऽत्यन्तमात्मनः करणविरमणमस्ति। 'सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति' (बृ० ४/३/७) इति तत्रापि धीसंबन्धश्रवणात्। तथाच स्मरन्ति—'इन्द्रियाणामुपरमे मनोऽनुपरतं यदि। सेवते विषयानेव तद्विद्यात्स्वप्नदर्शनम्' इति। 'कामादयश्च मनसो वृत्तयः' इति श्रुतिः। ताश्च स्वप्ने दृश्यन्ते। तस्मात्समना एव

स्वप्ने विहरति। विहारोऽपि च तत्रत्यो वासनामय एव, नतु पारमार्थिकोऽस्ति। तथाच श्रुतिरिवाकारानुबद्धमेव स्वप्नव्यापारं वर्णयति—'उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्' (बृ० ४/३/१३) इति। लौकिका अपि तथैव स्वप्नं कथयन्ति—आरुक्षमिव गिरिशृङ्गमद्राक्षमिव वनराजिमिति। तथोपादानेऽपि यद्यपि करणेषु कर्मकरणविभक्तिनिर्देशस्तथापि तत्संपृक्तस्यैवात्मनः कर्तृत्वं द्रष्टव्यम्। केवले कर्तृत्वासंभवस्य दर्शितत्वात्। भवति च लोकेऽनेकप्रकारा विवक्षा योधा युध्यन्ते, योधै राजा युध्यत इति। अपिचास्मिन्नुपादाने करणव्यापारोपरममात्रं विवक्ष्यते, न स्वातन्त्र्यं कस्यचिदबुद्धिपूर्वकस्यापि स्वापे करणव्यापारोपरमस्य दृष्टत्वात्।

यस्त्वयं व्यपदेशो दर्शितः 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इति, स बुद्धेरेव कर्तृत्वं प्रापयति। विज्ञानशब्दस्य तत्र प्रसिद्धत्वात्। मनोऽन्तरं पाठाच्च। 'तस्य श्रद्धैव शिरः' (तै० २/४) इति च विज्ञानमयस्यात्मनः श्रद्धाद्यवयवत्वसंकीर्तनात्। श्रद्धादीनां च बुद्धिधर्मत्वप्रसिद्धेः। 'विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते' (तै० २/५/१) इति च वाक्यशेषात्। ज्येष्ठत्वस्य च प्रथमजत्वस्य बुद्धौ प्रसिद्धत्वात्। 'स एष वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरक्रमो यद्यज्ञः' इति च श्रुत्यन्तरे यज्ञस्य वाग्बुद्धिसाध्यत्वावधारणात्। नच बुद्धेः शक्तिविपर्ययः करणानां कर्तृत्वाभ्युपगमे भवति। सर्वकारकाणामेव स्वस्वव्यापारेषु कर्तृत्वस्यावश्यंभावित्वात्। उपलब्ध्यपेक्षं त्वेषां करणानां करणत्वं, सा चात्मनः। नच तस्यामप्यस्य कर्तृत्वमस्ति। नित्योपलब्धिस्वरूपत्वात्। अहंकारपूर्वकमपि कर्तृत्वं नोपलब्धुर्भवितुमर्हति। अहंकारस्याप्युपलभ्यमानत्वात्। नचैवं सति करणान्तरकल्पनाप्रसङ्गः। बुद्धेः करणत्वाभ्युपगमात्। समाध्यभावस्तु शास्त्रार्थवत्त्वेनैव परिहृतः। यथाप्राप्तमेव कर्तृत्वमुपादाय समाधिविधानात्। तस्मात्कर्तृत्वमप्यात्मन उपाधिनिमित्तमेवेति स्थितम्॥४०॥

(७६) परायत्ताधिकरणम्॥१६॥ (सू० ४१-४२)

(२५७) परात्तु तच्छ्रुतेः॥४१॥

यदिदमविद्यावस्थायामुपाधिनिबन्धनं कर्तृत्वं जीवस्याभिहितं, तत्किमनपेक्ष्येश्वरं भवत्याहोस्विदीश्वरापेक्षमिति भवति विचारणा। तत्र प्राप्तं तावन्नेश्वरमपेक्षते जीवः कर्तृत्व इति। कस्मात्? अपेक्षाप्रयोजनाभावात्। अयं हि जीवः स्वयमेव राग-

द्वेषादिदोषप्रयुक्तः कारकान्तरसामग्रीसंपन्नः कर्तृत्वमनुभवितुं शक्नोति। तस्य किमीश्वरः करिष्यति। नच लोके प्रसिद्धिरस्ति कृष्यादिकासु क्रियास्वनडुहादिवदीश्वरोऽपरोऽपेक्षितव्य इति। क्लेशात्मकेन च कर्तृत्वेन जन्तून्संसृजत नैर्घृण्यं प्रसज्येत, विषमफलं चैषां कर्तृत्वं विदधतो वैषम्यम्। ननु 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' (ब्र० २/१/३४) इत्युक्तम्। सत्यमुक्तं सति त्वीश्वरस्य सापेक्षत्वसंभवे। सापेक्षत्वं चेश्वरस्य संभवति सतोर्जन्तूनां धर्माधर्मयोस्तयोश्च सद्भावः सति जीवस्य कर्तृत्वे। तदेव चेत्कर्तृत्वमीश्वरापेक्षं स्यात्किंविषयमीश्वरस्य सापेक्षत्वमुच्येत। अकृताभ्यागमश्चैवं जीवस्य प्रसज्येत। तस्मात्स्वत एवास्य कर्तृत्वमिति।

एतां प्राप्तिं तुशब्देन व्यावर्त्य प्रतिजानीते—'परात्' इति। अविद्यावस्थायां कार्यकरणसंघाताविवेकदर्शिनो जीवस्याविद्यातिमिरान्धस्य सतः परस्मादात्मनः कर्माध्यक्षात्सर्वभूताधिवासात्साक्षिणश्चेतयितुरीश्वरात्तदनुज्ञया कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणस्य संसारस्य सिद्धिः, तदनुग्रहहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिर्भवितुमर्हति। कुतः? तच्छ्रुतेः। यद्यपि दोषप्रयुक्तः सामग्रीसंपन्नश्च जीवः, यद्यपि च लोके कृष्यादिषु कर्मसु नेश्वरकारणत्वं प्रसिद्धं, तथापि सर्वास्वेव प्रवृत्तिष्वीश्वरो हेतुकर्तेति श्रुतेरवसीयते। तथाहि श्रुतिर्भवति—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौषी० ३/८) इति। 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' इति चैवंजातीयका॥४१॥

नन्वेवमीश्वरस्य कारयितृत्वे सति वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामकृताभ्यागमश्च जीवस्येति। नेत्युच्यते—

(२५८) कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः॥४२॥

तुशब्दश्चोदितदोषव्यावर्तनार्थः। कृतो यः प्रयत्नो जीवस्य धर्माधर्मलक्षणस्तदपेक्ष एवैनमीश्वरः कारयति। ततश्चैते चोदिता दोषा न प्रसज्यन्ते। जीवकृतधर्माधर्मवैषम्यापेक्ष एव तत्तत्फलानि विषमं विभजतेपर्जन्यवदीश्वरो निमित्तत्वमात्रेण। यथा लोके नानाविधानां गुच्छगुल्मादीनां व्रीहियवादीनां चासाधारणेभ्यः स्वस्वबीजेभ्यो जायमानानां साधारणं निमित्तं भवति पर्जन्यः। नह्यसति पर्जन्ये रसपुष्पपलाशादिवैषम्यं तेषां जायते, नाप्यसत्सु स्वस्वबीजेषु। एवं जीवकृतप्रयत्नापेक्ष ईश्वरस्तेषां शुभाशुभं विदध्यादिति श्लिष्यते।

ननु कृतप्रयत्नापेक्षत्वमेव जीवस्य परायत्ते कर्तृत्वे नोपपद्यते। नैष दोषः। परायत्तेऽपि हि कर्तृत्वे करोत्येव जीवः। कुर्वन्तं हि तमीश्वरः कारयति। अपिच पूर्वप्रयत्नमपेक्ष्येदानीं कारयति, पूर्वतरं च प्रयत्नमपेक्ष्य पूर्वमकारयदित्यनादित्वात्संसारस्येत्यनवद्यम्। कथं पुनरवगम्यते कृतप्रयत्नापेक्ष ईश्वर इति; विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्य इत्याह। एवं हि 'स्वर्गकामो यजेत' 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्येवंजातीयकस्य विहितस्य प्रतिषिद्धस्य चावैयर्थ्यं भवति। अन्यथा तदनर्थकं स्यात्। ईश्वर एव विधिप्रतिषेधयोर्नियुज्येत। अत्यन्तपरतन्त्रत्वाज्जीवस्य। तथा विहितकारिणमप्यनर्थेन संसृजेत्प्रतिषिद्धकारिणमप्यर्थेन। ततश्च प्रामाण्यं वेदस्यास्तमियात्। ईश्वरस्य चात्यन्तानपेक्षत्वे लौकिकस्यापि पुरुषकारस्य वैयर्थ्यं, तथा देशकालनिमित्तानां पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गश्चेत्येवंजातीयकं दोषजातमादिग्रहणेन दर्शयति॥४२॥

(७७) अंशाधिकरणम्॥१७॥ (सू० ४३-५३)

(२५९) अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके॥४३॥

जीवेश्वरयोरुपकार्योपकारकभाव उक्तः। स च संबद्धयोरेव लोके दृष्टो, यथा स्वामिभृत्ययोर्यथा वाग्निविस्फुलिङ्गयोः। ततश्च जीवेश्वरयोरप्युपकार्योपकारकभावाभ्युपगमात्किं स्वामिभृत्यवत्संबन्ध, आहोस्विदग्निविस्फुलिङ्गवदित्यस्यां विचिकित्सायामनियमो वा प्राप्नोति। अथवा स्वामिभृत्यप्रकारेष्वेवेशित्रीशितव्यभावस्य प्रसिद्धत्वात्तद्विध एव संबन्ध इति प्राप्नोति। अतो ब्रवीत्यंश इति।

जीव ईश्वरस्यांशो भवितुमर्हति, यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गः। अंश इवांशः। नहि निरवयवस्य मुख्योंऽशः संभवति। कस्मात्पुनर्निरवयवत्वात्स एव न भवति। नानाव्यपदेशात्। 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८/७/१) 'एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति' 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' इति चैवंजातीयको भेदनिर्देशो नासति भेदे युज्यते। ननु चायं नानाव्यपदेशः सुतरां स्वामिभृत्यसारूप्ये युज्यत इत्यत आह—अन्यथा चापीति। नच नानाव्यपदेशादेव केवलादंशत्वप्रतिपत्तिः। किं तर्ह्यन्यथा चापि व्यपदेशो भवत्यनानात्वस्य प्रतिपादकः। तथाहि—एके शाखिनो दाशकितवादिभावं ब्रह्मण आमनन्त्याथर्वणिका ब्रह्मसूक्ते—'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा

ब्रह्मैवेमे कितवाः' इत्यादिना। दाशा य एते कैवर्ताः प्रसिद्धाः, ये चामी दासाः स्वामिष्वात्मानमुपक्षपयन्ति, ये चान्ये कितवा द्यूतकृतस्ते सर्वे ब्रह्मैवेति हीनजन्तूदाहरणेन सर्वेषामेव नामरूपकृतकार्यकरणसंघातप्रविष्टानां जीवानां ब्रह्मत्वमाह। तथान्यत्रापि ब्रह्मप्रक्रियायामेवायमर्थः प्रपञ्च्यते—'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः' (श्वे० ४/३) इति। 'सर्वाणिरूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' इति च। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३/७/२३) इत्यादिश्रुतिभ्यश्चास्यार्थस्य सिद्धिः। चैतन्यं चाविशिष्टं जीवेश्वरयोर्यथाऽग्निविस्फुलिङ्गयोरौष्ण्यम्। अतो भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वावगमः ॥४३॥

कुतश्चांशत्वावगमः—

(२६०) मन्त्रवर्णाच्च ॥४४॥

मन्त्रवर्णश्चैतमर्थमवगमयति 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३/१२/६) इति। अत्र भूतशब्देन जीवप्रधानानि स्थावरजङ्गमानि निर्दिशति। 'अहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः' इति प्रयोगात्। अंशः पादो भाग इत्यनर्थान्तरम्। तस्मादप्यंशत्वावगमः ॥४४॥

कुतश्चांशत्वावगमः—

(२६१) अपिच स्मर्यते ॥४५॥

ईश्वरगीतास्वपि चेश्वरांशत्वं जीवस्य स्मर्यते—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (१५/७) इति। तस्मादप्यंशत्वावगमः। यत्तूक्तं स्वामिभृत्यादिष्वेवेशित्रीशितव्यभावो लोके प्रसिद्ध इति। यद्यप्येषा लोके प्रसिद्धिस्तथापि शास्त्रात्त्वत्रांशांशित्वमीशित्रीशितव्यभावश्च निश्चीयते। निरतिशयोपाधिसंपन्नश्चेश्वरो निहीनोपाधिसंपन्नाञ्जीवान्प्रशास्तीति न किंचिद्विप्रतिषिध्यते ॥४५॥

अत्राह—ननु जीवस्येश्वरांशत्वाभ्युपगमे तदीयेन संसारदुःखोपभोगेनांशिन ईश्वरस्यापि दुःखित्वं स्यात्। यथा लोके हस्तपादाद्यन्यतमाङ्गगतेन दुःखेनाङ्गिनो देवदत्तस्य दुःखित्वं तद्वत्। ततश्च तत्प्राप्तानां महत्तरं दुःखं प्राप्नुयात्। अतो वरं पूर्वावस्थः संसार एवास्त्विति सम्यग्दर्शनानर्थक्यप्रसङ्गः स्यादिति। अत्रोच्यते—

(२६२) प्रकाशादिवन्नैवं परः॥४६॥

यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति नैवं पर ईश्वरोऽनुभवतीति प्रतिजानीमहे। जीवो ह्यविद्यावेशवशाद्देहाद्यात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन दुःख्यहमित्यविद्यया कृतं दुःखोपभोगमभिमन्यते। नैवं परमेश्वरस्य देहाद्यात्मभावो दुःखाभिमानो वास्ति। जीवस्याप्यविद्याकृतनामरूपनिर्वृत्तदेहेन्द्रियाद्युपाध्यविवेकभ्रमनिमित्त एव दुःखाभिमानो, नतु पारमार्थिकोऽस्ति। यथाच स्वदेहगतदाहच्छेदादिनिमित्तं दुःखं तदभिमानभ्रान्त्यानुभवति तथा पुत्रमित्रादिगोचरमपि दुःखं तदभिमानभ्रान्त्यैवानुभवत्यहमेव पुत्रोऽहमेव मित्रमित्येवं स्नेहवशेन पुत्रमित्रादिष्वभिनिविशमानः। ततश्च निश्चितमेतदवगम्यते—मिथ्याभिमानभ्रमनिमित्त एव दुःखानुभव इति। व्यतिरेकदर्शनाच्चैवमवगम्यते। तथाहि—पुत्रमित्रादिमत्सु बहुषूपविष्टेषु तत्संबन्धाभिमानिष्वितरेषु च पुत्रो मृतो मित्रं मृतमित्येवमाद्युद्घोषिते येषामेव पुत्रमित्रादिमत्त्वाभिमानस्तेषामेव तन्निमित्तं दुःखमुत्पद्यते नाभिमानहीनानां परिव्राजकादीनाम्। अतश्च लौकिकस्यापि पुंसः सम्यग्दर्शनार्थवत्त्वं दृष्टं, किमुत विषयशून्यादात्मनोऽन्यद्वस्त्वन्तरमपश्यतो नित्यचैतन्यमात्रस्वरूपस्येति। तस्मान्नास्ति सम्यग्दर्शनानर्थक्यप्रसङ्गः। प्रकाशादिवदिति निदर्शनोपन्यासः। यथा प्रकाशः सौरश्चान्द्रमसो वा वियद्व्याप्यावतिष्ठमानोऽङ्गुल्याद्युपाधिसंबन्धात्तेष्वृजुवक्रादिभावं प्रतिपद्यमानेषु तत्तद्भावमिव प्रतिपद्यमानोऽपि न परमार्थतस्तद्भावं प्रतिपद्यते। यथा चाकाशो घटादिषु गच्छत्सु गच्छन्निव विभाव्यमानोऽपि न परमार्थतो गच्छति, यथा चोदशरावादिकम्पनात्तद्गते सूर्यप्रतिबिम्बे कम्पमानेऽपि न तद्वान्सूर्यः कम्पते, एवमविद्याप्रत्युपस्थापिते बुद्ध्याद्युपहिते जीवाख्येंऽशे दुःखायमानेऽपि न तद्वानीश्वरो दुःखायते। जीवस्यापि तु दुःखप्राप्तिरविद्यानिमित्तैवेत्युक्तम्। तथाचाविद्यानिमित्तजीवभावव्युदासेन ब्रह्मभावमेव जीवस्य प्रतिपादयन्ति वेदान्ताः 'तत्त्वमसि' इत्येवमादयः। तस्मान्नास्ति जैवेन दुःखेन परमात्मनो दुःखित्वप्रसङ्गः॥४६॥

(२६३) स्मरन्ति च॥४७॥

स्मरन्ति च व्यासादयो यथा जैवेन दुःखेन न परमात्मा दुःखायत इति।

'तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः। न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा। कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते। स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः' इति। चशब्दात्समामनन्ति चेति वाक्यशेषः। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (श्वे० ४/६) इति। 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' (कठ० ५/११) इति च॥४७॥

(२६४) अनुज्ञापरिहारौ देहसंबन्धाज्ज्योतिरादिवत्॥४८॥

अत्राह—यदि तर्ह्येक एव सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा स्यात्कथमनुज्ञापरिहारौ स्यातां लौकिकौ वैदिकौ चेति। ननु चांशो जीव ईश्वरस्येत्युक्तम्। तद्भेदाच्चानुज्ञा-परिहारौ तदाश्रयावव्यतिकीर्णावुपपद्येते किमत्र चोद्यत इति। उच्यते—नैतदेवम्। अनंशत्वमपि हि जीवस्याभेदवादिन्यः श्रुतयः प्रतिपादयन्ति—'तत्सृष्ट्वा तदेवानु-प्राविशत्' (तै० २/६/१), 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३/७/२३), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४/४/१९), 'तत्त्वमसि' (छा० ६/८/७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १/४/१०) इत्येवंजातीयकाः। ननु भेदाभेदावगमा-भ्यामंशत्वं सिद्ध्यतीत्युक्तम्। स्यादेतदेवं यद्युभावपि भेदाभेदौ प्रतिपिपादयिषितौ स्याताम्, अभेद एव त्वत्र प्रतिपिपादयिषितो ब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तौ, पुरुषार्थसिद्धेः। स्वभावप्राप्तस्तु भेदोऽनूद्यते। नच निरवयवस्य ब्रह्मणो मुख्योंऽशो जीवः संभवती-त्युक्तम्। तस्मात्पर एवैकः सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा जीवभावेनावस्थित इत्यतो वक्तव्याऽनुज्ञापरिहारोपपत्तिः।

तां ब्रूमः—

'ऋतौ भार्यामुपेयात्' इत्यनुज्ञा। 'गुर्वङ्गनां नोपगच्छेत्' इति परिहारः। तथा 'अग्नीषोमीयं पशुं संज्ञपयेत्' इत्यनुज्ञा। 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति परिहारः। एवं लोकेऽपि मित्रमुपसेवितव्यमित्यनुज्ञा। शत्रुः परिहर्तव्य इति परिहारः। एवं-प्रकारावनुज्ञापरिहारावेकत्वेऽप्यात्मनो देहसंबन्धात्स्याताम्। देहैः संबन्धो देहसंबन्धः। कः पुनर्देहसंबन्धः। देहादिरयं संघातोऽहमेवेत्यात्मनि विपरीतप्रत्ययोत्पत्तिः। दृष्टा च सा सर्वप्राणिनामहं गच्छाम्यहमागच्छाम्यहमन्धोऽहमनन्धोऽहं मूढोऽहममूढ इतीत्येव-मात्मिका। नह्यस्याः सम्यग्दर्शनादन्यन्निवारकमस्ति। प्राक्तु सम्यग्दर्शनात्प्रततैषा भ्रान्तिः

सर्वजन्तुषु। तदेवमविद्यानिमित्तदेहाद्युपाधिसंबन्धकृताद्विशेषादैकात्म्याभ्युपगमेऽप्यनुज्ञापरिहारावववकल्प्येते। सम्यग्दर्शिनस्तर्ह्यनुज्ञापरिहारानर्थक्यं प्राप्तम्। न। तस्य कृतार्थत्वान्नियोज्यत्वानुपपत्तेः। हेयोपादेययोर्हि नियोज्यो नियोक्तव्यः स्यात्। आत्मनस्त्वतिरिक्तं हेयमुपादेयं वा वस्त्वपश्यन्कथं नियुज्येत। नचात्मात्मन्येव नियोज्यः स्यात्। शरीरव्यतिरेकदर्शिन एव नियोज्यत्वमिति चेत्। न। तत्संहतत्वाभिमानात्। सत्यं व्यतिरेकदर्शिनो नियोज्यत्वं, तथापि व्योमादिवद्देहाद्यसंहतत्वमपश्यत एवात्मनो नियोज्यत्वाभिमानः। नहि देहाद्यसंहतत्वदर्शिनः कस्यचिदपि नियोगो दृष्टः। किमुतैकात्म्यदर्शिनः। नच नियोगाभावात्सम्यग्दर्शिनो यथेष्टचेष्टाप्रसङ्गः। सर्वत्राभिमानस्यैव प्रवर्तकत्वादभिमानाभावाच्च सम्यग्दर्शिनः। तस्माद्देहसंबन्धादेवानुज्ञापरिहारौ। ज्योतिरादिवत्। यथा ज्योतिष एकत्वेऽप्यग्निः क्रव्यात्परिह्रियते, नेतरः। यथाच प्रकाश एकस्यापि सवितुरमेध्यदेशसंबद्धः परिह्रियते, नेतरः शुचिभूमिष्ठः। यथा भौमाः प्रदेशा वज्रवैडूर्यादय उपादीयन्ते। भौमा अपि सन्तो नरकलेवरादयः परिह्रियन्ते। यथा मूत्रपुरीषं गवां पवित्रतया परिगृह्यते, तदेव जात्यन्तरे परिवर्ज्यते तद्वत्॥४८॥

(२६५) असंततेश्चाव्यतिकरः॥४९॥

स्यातां नामानुज्ञापरिहारावेकस्याप्यात्मनो देहविशेषयोगात्। यस्त्वयं कर्मफलसंबन्धः स चैकात्म्याभ्युपगमे व्यतिकीर्येत, स्वाम्येकत्वादिति चेत्। नैतदेवम्। असंततेः। नहि कर्तुर्भोक्तुश्चात्मनः संततः सर्वैः शरीरैः संबन्धोऽस्ति। उपाधितन्त्रो हि जीव इत्युक्तम्। उपाध्यसंतानाच्च नास्ति जीवसंतानः। ततश्च कर्मव्यतिकरः फलव्यतिकरो वा न भविष्यति॥४९॥

(२६६) आभास एव च॥५०॥

आभास एव चैष जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः। न स एव साक्षात्। नापि वस्त्वन्तरम्। अतश्च यथा नैकस्मिञ्जलसूर्यके कम्पमाने जलसूर्यकान्तरं कम्पते, एवं नैकस्मिञ्जीवे कर्मफलसंबन्धिनि जीवान्तरस्य तत्संबन्धः। एवमप्यव्यतिकर एव कर्मफलयोः। आभासस्य चाविद्याकृतत्वात्तदाश्रयस्य संसारस्याविद्याकृतत्वोपपत्तिरिति। तद्व्युदासेन च पारमार्थिकस्य ब्रह्मात्मभावस्योपदेशोपपत्तिः।

येषां तु बहव आत्मानस्ते च सर्वे सर्वगतास्तेषामेवैष व्यतिकरः प्राप्नोति। कथम्? बहवो विभवश्चात्मानश्चैतन्यमात्रस्वरूपा निर्गुणा निरतिशयाश्च तदर्थं साधारणं प्रधानं, तन्निमित्तैषां भोगापवर्गसिद्धिरिति सांख्याः। सति बहुत्वे विभुत्वे च घटकुड्यादिसमाना द्रव्यमात्रस्वरूपा स्वतोऽचेतना आत्मानस्तदुपकरणानि चाणूनि मनांस्यचेतनानि। तत्रात्मद्रव्याणां मनोद्रव्याणां च संयोगान्नवेच्छादयो वैशेषिका आत्मगुणा उत्पद्यन्ते। ते चाव्यतिकरेण प्रत्येकमात्मसु समवयन्ति स संसारः। तेषां नवानामात्मगुणानामत्यन्तानुत्पादो मोक्ष इति काणादाः।

तत्र सांख्यानां तावच्चैतन्यस्वरूपत्वात्सर्वात्मनां संनिधानाद्यविशेषाच्चैकस्य सुखदुःखसंबन्धे सर्वेषां सुखदुःखसंबन्धः प्राप्नोति। स्यादेतत्। प्रधानप्रवृत्तेः पुरुषकैवल्यार्थत्वाद्व्यवस्था भविष्यति। अन्यथा हि स्वविभूतिख्यापनार्था प्रधानप्रवृत्तिः स्यात्। तथाचानिर्मोक्षः प्रसज्येतेति। नैतत्सारम्। नह्यभिलषितसिद्धिनिबन्धना व्यवस्था शक्या विज्ञातुम्। उपपत्त्या तु कयाचिद्व्यवस्थोच्येत। असत्यां पुनरुपपत्तौ कामं मा भूदभिलषितं पुरुषकैवल्यं, प्राप्नोति तु व्यवस्थाहेत्वभावाद्व्यतिकरः काणादानामपि यदैकेनात्मना मनः संयुज्यते, तदात्मान्तरैरपि नान्तरीयकः संयोगः स्यात्संनिधानाद्यविशेषात्। ततश्च हेत्वविशेषात्फलाविशेष इत्येकस्यात्मनः सुखदुःखयोगे सर्वात्मनामपि समानं सुखदुःखित्वं प्रसज्येत॥५०॥

स्यादेतत्। अदृष्टनिमित्तो नियमो भविष्यतीति। नेत्याह—

(२६७) अदृष्टानियमात्॥५१॥

बहुष्वात्मस्वाकाशवत्सर्वगतेषु प्रतिशरीरं बाह्याभ्यन्तराविशेषेण संनिहितेषु मनोवाक्कायैर्धर्माधर्मलक्षणमदृष्टमुपार्ज्यते। सांख्यानां तावत्तदनात्मसमवायि प्रधानवर्ति प्रधानसाधारण्यान्न प्रत्यात्मं सुखदुःखोपभोगस्य नियामकमुपपद्यते। काणादानामपि पूर्ववत्साधारणेनात्ममनःसंयोगेन निर्वर्तितस्यादृष्टस्याप्यस्यैवात्मन इदमदृष्टमिति नियमे हेत्वभावादेष एव दोषः॥५१॥

स्यादेतत्। अहमिदं फलं प्राप्नवानीदं परिहराणीत्थं प्रयता इत्थं करवाणीत्येवंविधा अभिसंध्यादयः प्रत्यात्मं प्रवर्तमाना अदृष्टस्यात्मनां च स्वस्वामिभावं नियंस्यन्तीति। नेत्याह—

(२६८) अभिसंध्यादिष्वपि चैवम् ॥५२॥

अभिसंध्यादीनामपि साधारणेनैवात्ममनःसंयोगेन सर्वात्मसंनिधौ क्रियमाणानां नियमहेतुत्वानुपपत्तेरुक्तदोषानुषङ्ग एव ॥५२॥

(२६९) प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥५३॥

अथोच्येत विभुत्वेऽप्यात्मनः शरीरप्रतिष्ठेन मनसा संयोगः शरीरावच्छिन्न एवात्मप्रदेशे भविष्यति। अतः प्रदेशकृता व्यवस्थाऽभिसंध्यादीनामदृष्टस्य सुखदुःखयोश्च भविष्यतीति। तदपि नोपपद्यते। कस्मात्। अन्तर्भावात्। विभुत्वाविशेषाद्धि सर्व एवात्मानः सर्वशरीरेष्वन्तर्भवन्ति। तत्र न वैशेषिकैः शरीरावच्छिन्नोऽप्यात्मनः प्रदेशः कल्पयितुं शक्यः। कल्प्यमानोऽप्ययं निष्प्रदेशस्यात्मनः प्रदेशः काल्पनिकत्वादेव न पारमार्थिकं कार्यं नियन्तुं शक्नोति। शरीरमपि सर्वात्मसंनिधावुत्पद्यमानमस्यैवात्मनो नेतरेषामिति न नियन्तुं शक्यम्। प्रदेशविशेषाभ्युपगमेऽपि च द्वयोरात्मनोः समानसुखदुःखभाजोः कदाचिदेकेनैव तावच्छरीरेणोपभोगसिद्धिः स्यात्। समानप्रदेशस्यापि द्वयोरात्मनोरदृष्टस्य संभवात्। तथाहि—देवदत्तो यस्मिन्प्रदेशे सुखदुःखमन्वभूत्तस्मात्प्रदेशादपक्रान्ते तच्छरीरे यज्ञदत्तशरीरे च तं प्रदेशमनुप्राप्ते तस्यापीतरेण समानः सुखदुःखानुभवो दृश्यते स न स्याद्यदि देवदत्तयज्ञदत्तयोः समानप्रदेशमदृष्टं न स्यात्। स्वर्गाद्यनुपभोगप्रसङ्गश्च प्रदेशवादिनः स्यात्। ब्राह्मणादिशरीरप्रदेशेष्वदृष्टनिष्पत्तेः प्रदेशान्तरवर्तित्वाच्च स्वर्गाद्युपभोगस्य। सर्वगतत्वानुपपत्तिश्च बहूनामात्मनां, दृष्टान्ताभावात्। वद तावत्त्वं के बहवः समानप्रदेशाश्चेति। रूपादय इति चेत्। न। तेषामपि धर्म्यंशेनाभेदाल्लक्षणभेदाच्च। नतु बहूनामात्मनां लक्षणभेदोऽस्ति। अन्त्यविशेषवशाद्भेदोपपत्तिरितिचेत्। न। भेदकल्पनाय अन्त्यविशेषकल्पनायाश्चेतरेतराश्रयत्वात्। आकाशादीनामपि विभुत्वं ब्रह्मवादिनोऽसिद्धं कार्यत्वाभ्युपगमात्, तस्मादात्मैकत्वपक्ष एव सर्वदोषाभाव इति सिद्धम् ॥५३॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥३॥

ॐ

॥ द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः ॥

(अत्रपादे लिङ्गदेहश्रुतिविरोधपरिहारः)

(७८) प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥१॥ (सू० १-४)

(२००) तथा प्राणाः ॥१॥

वियदादिविषयः श्रुतिविप्रतिषेधस्तृतीयेन पादेन परिहृतः। चतुर्थेनेदानीं प्राणविषयः परिह्रियते। तत्र तावत् 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६/२/३) इति, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २/१/१) इति चैवमादिषूत्पत्तिप्रकरणेषु प्राणानामुत्पत्तिर्नाम्नायते। क्वचिच्चानुत्पत्तिरेवैषामाम्नायते; 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तै० २/७) 'तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्। तदाहुः के ते ऋषय इति। प्राणा वाव ऋषयः' प्राणानां सद्भावश्रवणात्। अन्यत्र तु प्राणानामप्युत्पत्तिः पठ्यते—'यथाऽग्नेर्ज्वलतः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' इति, 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मु० २/१/३) इति, 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' (मु० २/१/८) इति, 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नम्' (प्र० ६/४) इति चैवमादिप्रदेशेषु। तत्र तत्र श्रुतिविप्रतिषेधादन्यतरनिर्धारणकारणानिरूपणाच्चाप्रतिपत्तिः प्राप्नोति। अथवा प्रागुत्पत्तेः सद्भावश्रवणाद्गौणी प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिरिति प्राप्नोति। अत उत्तरमिदं पठति—'तथा प्राणाः इति।'

कथं पुनरत्र तथेत्यक्षरानुलोम्यम्? प्रकृतोपमानाभावात्। सर्वगतात्मबहुत्ववादिदूषणमतीतानन्तरपादान्ते प्रकृतम्, तत्तावन्नोपमानं संभवति; सादृश्याभावात्। सादृश्ये हि सत्युपमानं स्यात्। यथा सिंहस्तथा बलवर्मेति। अदृष्टसाम्यप्रतिपादनार्थमिति यद्युच्येत, यथाऽदृष्टस्य सर्वात्मसंनिधावुत्पद्यमानस्यानियतत्वमेवं प्राणानामपि सर्वात्मनः प्रत्यनियतत्वमिति। तदपि देहानियमेनैवोक्तत्वात्पुनरुक्तं भवेत्। नच जीवेन प्राणा उपमीयेरन्; सिद्धान्तविरोधात्। जीवस्य ह्यनुत्पत्तिराख्याता। प्राणानां तूत्पत्तिर्व्याचिख्यासिता। तस्मात्तथेत्यसंबद्धमिव प्रतिभाति। न उदाहरणोपात्तेनाप्युपमानेन संबन्धोपपत्तेः। अत्र प्राणोत्पत्तिवादिवाक्यजातमुदाहरणम्—'एतस्मादात्मनः सर्वे

प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि च व्युच्चरन्ति' (बृ० २/१/२०) इत्येवंजातीयकम्। तत्र यथा लोकादयः परस्माद्ब्रह्मण उत्पद्यन्ते तथा प्राणा अपीत्यर्थः। तथा,—'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' (मु० २/१/३) इत्येवमादिष्वपि खादिवत्प्राणानामुत्पत्तिरिति द्रष्टव्यम्। अथवा 'पानव्यापच्च तद्वत्' (जै० अ० ३/४/१५) इत्येवमादिषु व्यवहितोपमानसंबन्धस्याप्याश्रितत्वात्। यथाऽतीतानन्तरपादादाद्युक्ता वियदादयः परस्य ब्रह्मणो विकाराः समधिगतास्तथा प्राणा अपि परस्य ब्रह्मणो विकारा इति योजयितव्यम्।

कः पुनः प्राणानां विकारत्वे हेतुः? श्रुतत्वमेव। ननु केषुचित्प्रदेशेषु न प्राणानामुत्पत्तिः श्रूयत इत्युक्तं, तदयुक्तम्; प्रदेशान्तरेषु श्रवणात्। नहि क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं निवारयितुमुत्सहते। तस्माच्छ्रुतत्वाविशेषादाकाशादिवत्प्राणा अप्युत्पद्यन्त इति सूक्तम्॥१॥

(२७१) गौण्यसंभवात्॥२॥

यत्पुनरुक्तं प्रागुत्पत्तेः सद्भावश्रवणाद्गौणी प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिरिति। तत्प्रत्याह—गौण्यसंभवादिति। गौण्या असंभवो गौण्यसंभवः। नहि प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिर्गौणी संभवति; प्रतिज्ञाहानिप्रसङ्गात्। 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु० १/१/३) इति ह्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय तत्साधनायेदमाम्नायते—'एतस्माज्जायते प्राणः' (मु० २/१/३) इत्यादि। सा च प्रतिज्ञा प्राणादेः समस्तस्य जगतो ब्रह्मविकारत्वे सति प्रकृतिव्यतिरेकेण विकाराभावात्सिध्यति। गौण्यां तु प्राणानामुत्पत्तिश्रुतौ प्रतिज्ञेयं हीयेत तथा च प्रतिज्ञातार्थमुपसंहरति—'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्' (मु० २/१/१०) इति 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' (मु० २/२/११) इति च। तथा 'आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' इत्येवंजातीयकासु श्रुतिष्वेषैव प्रतिज्ञा योजयितव्या। कथं पुनः प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावश्रवणम्? नैतन्मूलप्रकृतिविषयम्; 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः' (मु० २/१/२) इति मूलप्रकृतेः प्राणादिसमस्तविशेषरहितत्वावधारणात्। अवान्तरप्रकृतिविषयं त्वेतत्स्वविकारापेक्षं प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावावधारणमिति द्रष्टव्यम्; व्याकृतविषयाणामपि भूयसीनामवस्थानां श्रुतिस्मृत्योः प्रकृतिविकारभावप्रसिद्धेः।

वियदधिकरणे हि 'गौण्यसंभवात्' इति पूर्वपक्षसूत्रत्वाद्गौणी जन्मश्रुतिरसंभवादिति व्याख्यातम्। प्रतिज्ञाहान्या च तत्र सिद्धान्तोऽभिहितः। इह तु सिद्धान्तसूत्रत्वाद्गौण्या जन्मश्रुतेरसंभवादिति व्याख्यातम्। तदनुरोधेन त्विहापि गौणी जन्मश्रुतिरसंभवादिति व्याचक्षाणैः प्रतिज्ञाहानिरुपेक्षिता स्यात्॥ २॥

(२७२) तत्प्राक्श्रुतेश्च॥ ३॥

इतश्चाकाशादीनामिव प्राणानामपि मुख्यैव जन्मश्रुतिः। यत् 'जायते' इत्येकं जन्मवाचिपदं प्राणेषु प्राक्श्रुतं सदुत्तरेष्वप्याकाशादिष्वनुवर्तते। 'एतस्माज्जायते प्राणः' (मु० २/१/३) इत्यत्राकाशादिषु मुख्यं जन्मेति प्रतिष्ठापितं तत्सामान्यात्प्राणेष्वपि मुख्यमेव जन्म भवितुमर्हति। न ह्येकस्मिन्प्रकरण एकस्मिंश्च वाक्य एकः शब्दः सकृदुच्चरितो बहुभिः संबध्यमानः क्वचिन्मुख्यः क्वचिद्गौण इत्यध्यवसातुं शक्यम्; वैरूप्यप्रसङ्गात्। तथा 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' (प्रश्न० ६/४) इत्यत्रापि प्राणेषु श्रुतः सृजतिः परेष्वप्युत्पत्तिमत्सु श्रद्धादिष्वनुषज्यते। यत्रापि पश्चाच्छ्रुत उत्पत्तिवचनः शब्दः पूर्वैः संबध्यते, तत्राप्येष एव न्यायः। यथा 'सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति' इत्ययमन्ते पठितो व्युच्चरन्तिशब्दः पूर्वैरपि प्राणादिभिः संबध्यते॥ ३॥

(२७३) तत्पूर्वकत्वाद्वाचः॥४॥

यद्यपि 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६/२/३) इत्येतस्मिन्प्रकरणे प्राणानामुत्पत्तिर्न पठ्यते; तेजोबन्नानामेव च त्रयाणां भूतानामुत्पत्तिश्रवणात्। तथापि ब्रह्मप्रकृतिकतेजोबन्नपूर्वकत्वाभिधानाद्वाक्प्राणमनसां तत्सामान्याच्च सर्वेषामेव प्राणानां ब्रह्मप्रभवत्वं सिद्धं भवति। तथा हि—अस्मिन्नेव प्रकरणे तेजोबन्नपूर्वकत्वं वाक्प्राणमनसामाम्नायते—'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' (छा० ६/५/४) इति। तत्र यदि तावन्मुख्यमेवैषामन्नादिमयत्वं ततो वर्तत एव ब्रह्मप्रभवत्वम्। अथ भाक्तं, तथापि ब्रह्मकर्तृकायां नामरूपव्याक्रियायां श्रवणात्, 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० ६/१/३) इति चोपक्रमात् 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा० ६/८/७) इति चोपसंहाराच्छ्रुत्यन्तरप्रसिद्धेश्च ब्रह्मकार्यत्वप्रपञ्चनार्थमेव मनआदीनामन्नादिमयत्ववचनमिति गम्यते। तस्मादपि प्राणानां ब्रह्मविकारत्वसिद्धिः॥ ४॥

विश्रामः॥१९॥

*****

(७९) सप्तगत्यधिकरणम् ॥२॥ (सू० ५-६)

(२७४) सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥५॥

उत्पत्तिविषयः श्रुतिविप्रतिषेधः प्राणानां परिहृतः। संख्याविषय इदानीं परिह्रियते। तत्र मुख्यं प्राणमुपरिष्टाद्वक्ष्यति। संप्रति तु कतीतरे प्राणा इति संप्रधारयति। श्रुतिविप्रतिपत्तेश्चात्र विशयः। क्वचित्सप्तप्राणाः संकीर्त्यन्ते—'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' (मु० २/१/८) इति। क्वचिच्चाष्टौ प्राणा ग्रहत्वेन गुणेन संकीर्त्यन्ते—'अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः' (बृ० ३/२/१) इति। क्वचिन्नव—'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा द्वाववाञ्चौ' (तै० सं० ५/१/७/१) इति। क्वचिद्दश—'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी' इति। क्वचिदेकादश—'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः' (बृ० ३/९/४) इति। क्वचिद्द्वादश—'सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनम्' (बृ० २/४/११) इत्यत्र। क्वचित्त्रयोदश 'चक्षुश्च द्रष्टव्यं च' (प्र० ४/८) इत्यत्र। एवं हि विप्रतिपन्नाः प्राणेयत्तां प्रति श्रुतयः। किं तावत्प्राप्तम्? सप्तैव प्राणा इति। कुतः गतेः? यतस्तावन्तोऽवगम्यन्ते—'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' (मु० २/१/८) इत्येवंविधासु श्रुतिषु। विशेषिताश्चैते 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' इत्यत्र। ननु 'प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त' (मु० २/१/८) इति वीप्सा श्रूयते, सा सप्तभ्योऽतिरिक्तान्प्राणान्गमयतीति। नैष दोषः; पुरुषभेदाभिप्रायेयं वीप्सा प्रतिपुरुषं सप्त सप्त प्राणा इति, न तत्त्वभेदाभिप्राया सप्त सप्तान्येऽन्ये प्राणा इति। नन्वष्टत्वादिकापि संख्या प्राणेषूदाहृता, कथं सप्तैव स्युः? सत्यमुदाहृता, विरोधात्त्वन्यतमा संख्याऽध्यवसातव्या। तत्र स्तोककल्पनानुरोधात्सप्तसंख्याध्यवसानम्। वृत्तिभेदापेक्षं च संख्यान्तरश्रवणमिति मन्यते ॥५॥

(२७५) हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥६॥

अत्रोच्यते—

हस्तादयस्त्वपरे सप्तभ्योऽतिरिक्ताः प्राणाः श्रूयन्ते—'हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणाऽतिग्रहेण गृहीतो, हस्ताभ्यां हि कर्म करोति' (बृ० ३/२/८) इत्येवमाद्यासु श्रुतिषु। स्थिते च सप्तत्वातिरेके सप्तत्वमन्तर्भावाच्छक्यते संभावयितुम्। हीनाधिकसंख्याविप्रतिपत्तौ ह्यधिका संख्या संग्राह्या भवति, तस्यां हीनाऽन्तर्भवति, नतु हीनायामधिका।

अतश्च नैवं मन्तव्यं—स्तोककल्पनानुरोधात्सप्तैव प्राणाः स्युरिति। उत्तरसंख्यानुरोधात्त्वेकादशैव ते प्राणाः स्युः। तथा चोदाहृता श्रुतिः—'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः' (बृ० ३/९/४) इति। आत्मशब्देन चात्रान्तःकरणं परिगृह्यते; करणाधिकारात्। नन्वेकादशत्वादप्यधिके द्वादशत्रयोदशत्वे उदाहृते। सत्यमुदाहृते, न त्वेकादशभ्यः कार्यजातेभ्योऽधिकं कार्यजातमस्ति, यदर्थमधिकं करणं कल्प्येत। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविषयाः पञ्च बुद्धिभेदास्तदर्थानि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि। वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः पञ्च कर्मभेदास्तदर्थानि च पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। सर्वार्थविषयं त्रैकाल्यवृत्ति मनस्त्वेकमनेकवृत्तिकम्; तदेव वृत्तिभेदात् क्वचिद्भिन्नवद्व्यपदिश्यते—'मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं च' इति। तथा च श्रुतिः कामाद्या नानाविधा वृत्तीरनुक्रम्याह—'एतत्सर्वं मन एव' (बृ० १/५/३) इति। अपि च सप्तैव शीर्षण्यान्प्राणानभिमन्यमानस्य चत्वार एव प्राणा अभिमताः स्युः। स्थानभेदाद्ध्येते चत्वारः सन्तः सप्त गण्यन्ते—'द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी द्वे नासिके एका वाक्' इति। नच तावतामेव वृत्तिभेदा इतरे प्राणा इति शक्यते वक्तुं, हस्तादिवृत्तीनामत्यन्तविजातीयत्वात्। तथा 'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी' इत्यत्रापि देहच्छिद्रभेदाभिप्रायेणैव दश प्राणा उच्यन्ते, न प्राणतत्त्वभेदाभिप्रायेण; 'नाभिर्दशमी'ति वचनात्। नहि नाभिर्नाम कश्चित्प्राणः प्रसिद्धोऽस्ति। मुख्यस्य तु प्राणस्य भवति नाभिरप्येकं विशेषायतनमित्यतो नाभिर्दशमीत्युच्यते। क्वचिदुपासनार्थं कतिचित्प्राणा गण्यन्ते, क्वचित्प्रदर्शनार्थम्। तदेवं विचित्रे प्राणेयत्ताम्नाने सति क्व किंपरमाम्नानमिति विवेक्तव्यम्। कार्यजातवशात्त्वेकादशत्वाम्नानं प्राणविषयं प्रमाणमिति स्थितम्।

इयमपरा सूत्रद्वययोजना। सप्तैव प्राणाः स्युर्यतः सप्तानामेव गतिः श्रूयते 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४/४/२) इत्यत्र। ननु सर्वशब्दोऽप्यत्र पठ्यते, तत्कथं सप्तानामेव गतिः प्रतिज्ञायत इति? विशेषितत्वादित्याह। 'सप्तैव हि प्राणाश्चक्षुरादयस्त्वक्पर्यन्ता विशेषिता इह प्रकृताः 'स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ्पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति' (बृ० ४/४/१) 'एकीभवति न पश्यतीत्याहुः' (बृ० ४/४/२) इत्येवमादिनाऽनुक्रमणेन। प्रकृतगामी च सर्वशब्दो भवति, यथा सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इति, ये निमन्त्रिताः प्रकृता ब्राह्मणास्त एव सर्वशब्देनोच्यन्ते नान्ये। एवमिहापि ये प्रकृताः सप्त प्राणास्त एव

सर्वशब्देनोच्यन्ते, नान्य इति। नन्वत्र विज्ञानमष्टमनुक्रान्तं, कथं सप्तानामेवानुक्रमणम्? नैष दोषः; मनोविज्ञानयोस्तत्त्वाभेदाद्वृत्तिभेदेऽपि सप्तत्वोपपत्तेः।

तस्मात्सप्तैव प्राणा इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—हस्तादयस्त्वपरे सप्तेभ्योऽतिरिक्ताः प्राणाः प्रतीयन्ते—'हस्तौ वै ग्रहः' (बृ० ३/२/८) इत्यादिश्रुतिषु। ग्रहत्वं च बन्धनभावः, गृह्यते बध्यते क्षेत्रज्ञोऽनेन ग्रहसंज्ञकेन बन्धनेनेति, स च क्षेत्रज्ञो नैकस्मिन्नेव शरीरे बध्यते; शरीरान्तरेष्वपि तुल्यत्वाद्बन्धनस्य। तस्माच्छरीरान्तरसंचारीदं ग्रहसंज्ञकं बन्धनमित्यर्थादुक्तं भवति। तथा च स्मृतिः—'पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते। तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन च।' इति प्राङ्मोक्षाद्ग्रहसंज्ञकेनानेन बन्धनेनावियोगं दर्शयति। आथर्वणे च विषयेन्द्रियानुक्रमणे 'चक्षुश्च द्रष्टव्यं च' इत्यत्र तुल्यवद्धस्तादीनीन्द्रियाणि सविषयाण्यनुक्रामति—'हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च' (प्र० ४/८) इति। तथा 'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति' (बृ० ३/९/४) इत्येकादशानां प्राणानामुत्क्रान्तिं दर्शयति। सर्वशब्दोऽपि च प्राणशब्देन संबध्यमानोऽशेषान्प्राणानभिदधानो न प्रकरणवशेन सप्तस्वेवव्यवस्थापयितुं शक्यते; प्रकरणाच्छब्दस्य बलीयस्त्वात्। सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इत्यत्रापि सर्वेषामेवावनिवर्तिनां ब्राह्मणानां ग्रहणं न्याय्यम्; सर्वशब्दसामर्थ्यात्। सर्वभोजनासंभवात्तु तत्र निमन्त्रितमात्रविषया सर्वशब्दस्य वृत्तिराश्रिता, इह तु न किंचित्सर्वशब्दार्थसङ्कोचने कारणमस्ति। तस्मात्सर्वशब्देनात्राशेषाणां प्राणानां परिग्रहः। प्रदर्शनार्थं च सप्तानामनुक्रमणमित्यनवद्यम्। तस्मादेकादशैव प्राणाःशब्दतः कार्यतश्चेति सिद्धम्॥६॥

(८०) प्राणाणुत्वाधिकरणम्॥३॥ (सू० ७)

(२७६) अणवश्च॥७॥

अधुना प्राणानामेव स्वभावान्तरमभ्युच्चिनोति। अणवश्चैते प्रकृताः प्राणाः प्रतिपत्तव्याः। अणुत्वं चैषां सौक्ष्म्यपरिच्छेदौ न परमाणुतुल्यत्वम्; कृत्स्नदेहव्यापिकार्यानुपपत्तिप्रसङ्गात्। सूक्ष्मा एते प्राणाः, स्थूलाश्चेत्स्युर्मरणकाले शरीरान्निर्गच्छन्तो बिलादहिरिवोपलभ्येरन्म्रियमाणस्य पार्श्वस्थैः। परिच्छिन्नाश्चैते प्राणाः, सर्वगताश्चेत्स्युरुत्क्रान्ति-

गत्यागतिश्रुतिव्याकोपः स्यात्। तद्गुणसारत्वं च जीवस्य न सिध्येत्। सर्वगतानामपि वृत्तिलाभः शरीरदेशे स्यादिति चेत्,—न; वृत्तिमात्रस्य करणत्वोपपत्तेः। यदेव ह्युपलब्धिसाधनं वृत्तिरन्यद्वा, तस्यैव नः करणत्वं, संज्ञामात्रे विवाद इति करणानां व्यापित्वकल्पना निरर्थिका। तस्मात्सूक्ष्माः परिच्छिन्नाश्चैते प्राणा इत्यध्यवस्यामः॥७॥

(८१) प्राणश्रैष्ठ्याधिकरणम्॥४॥ (सू० ८)

(२७७) श्रेष्ठश्च॥८॥

मुख्यश्च प्राण इतरप्राणवद्ब्रह्मविकार इत्यतिदिशति। तच्चाविशेषेणैव सर्वप्राणानां ब्रह्मविकारत्वमाख्यातम्; 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मु० २/१/३) इति सेन्द्रियमनोव्यतिरेकेण प्राणस्योत्पत्तिश्रवणात्। 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६/४) इत्यादिश्रवणेभ्यश्च। किमर्थः पुनरतिदेशः? अधिकाशङ्काऽपाकरणार्थः। नासदासीये हि ब्रह्मप्रधाने सूक्ते मन्त्रवर्णो भवति 'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्नआसीत्प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास' (ऋ० सं० ८/७/१७) इति। आनीदिति प्राणकर्मोपादानात्प्रागुत्पत्तेः सन्तमिव प्राणं सूचयति। तस्मादजः प्राण इति जायते कस्यचिन्मतिः। तामतिदेशेनापनुदति। आनीच्छब्दोऽपि न प्रागुत्पत्तेः प्राणसद्भावं सूचयति; अवातमिति विशेषणात्, 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इति च मूलप्रकृते प्राणादिसमस्तविशेषरहितत्वस्य दर्शितत्वात्। तस्मात्कारणसद्भावप्रदर्शनार्थ एवायमानीच्छब्द इति।

श्रेष्ठ इति च मुख्यं प्राणमभिदधाति; 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्चश्रेष्ठश्च' (छा० ५/१/१) इति श्रुतिनिर्देशात्। ज्येष्ठश्च प्राणः; शुक्रनिषेककालादारभ्य तस्य वृत्तिलभात्। न चेत्तस्य तदानीं वृत्तिलाभः स्याद्योनौ निषिक्तं शुक्रं पूयेत, न संभवेद्वा। श्रोत्रादीनां तु कर्णशष्कुल्यादिस्थानविभागनिष्पत्तौ वृत्तिलाभान्न ज्येष्ठत्वम्। श्रेष्ठश्च प्राणः; गुणाधिक्यात्, 'न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुम्' (बृ० ६/१/१३) इति श्रुतेः॥८॥

(८२) न वायुक्रियाधिकरणम्॥५॥ (सू० ९-१२)

(२७८) न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्॥९॥

स पुनर्मुख्यः प्राणः किंस्वरूप इतीदानीं जिज्ञास्यते। तत्र प्राप्तं तावत्श्रुतेर्वायुः प्राण इति। एवं हि श्रूयते—'यः प्राणः स वायुः स एष वायुः पञ्चविधः प्राणोऽपानो

व्यान उदानः समानः' इति। अथवा तन्त्रान्तरीयाभिप्रायात्समस्तकरणवृत्तिः प्राण इति प्राप्तम्। एवं हि तन्त्रान्तरीया आचक्षते—'सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्चे'ति। अत्रोच्यते,—न वायुः प्राणो नापि करणव्यापारः; कुतः? पृथगुपदेशात्। वायोस्तावत्प्राणस्य पृथगुपदेशो भवति—'प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च' (छान्दो० ३/१८/४) इति। नहि वायुरेव सन् वायोः पृथगुपदिश्येत। तथा करणवृत्तेरपि पृथगुपदेशो भवति; वागादीनि करणान्यनुक्रम्य तत्र तत्र पृथक्प्राणस्यानुक्रमणात्, वृत्तिवृत्तिमतोश्चाभेदात्। नहि करणव्यापार एव सन् करणेभ्यः पृथगुपदिश्येत। तथा 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुः' (मु० २/१/३) इत्येवमादयोऽपि वायोः करणेभ्यश्च प्राणस्य पृथगुपदेशा अनुसर्तव्याः। नच समस्तानां करणानामेका वृत्तिः संभवति; प्रत्येकमेकैकवृत्तित्वात्समुदायस्य चाकारकत्वात्।

ननु पञ्जरचालनन्यायेनैतद्भविष्यति। यथैकपञ्जरवर्तिन एकादशपक्षिणः प्रत्येकं प्रतिनियतव्यापाराः सन्तः संभूयैकं पञ्जरं चालयन्ति, एवमेकशरीरवर्तिन एकादश प्राणाः प्रत्येकं प्रतिनियतवृत्तयः सन्तः संभूयैकां प्राणाख्यां वृत्तिं प्रतिलप्स्यन्त इति; नेत्युच्यते, युक्तं तत्र प्रत्येकवृत्तिभिरवान्तरव्यापारैः पञ्जरचालनानुरूपैरेवोपेताः पक्षिणः संभूयैकं पञ्जरं चालयेयुरिति; तथा दृष्टत्वात्। इह तु श्रवणाद्यवान्तरव्यापारोपेताः प्राणा न संभूय प्राण्युरिति युक्तम्; प्रमाणाभावात्, अत्यन्तविजातीयत्वाच्च श्रवणादिभ्यः प्राणनस्य। तथा प्राणस्य श्रेष्ठत्वाद्युद्घोषणं; गुणाभावोपगमश्च तं प्रति वागादीनां, न करणवृत्तिमात्रे प्राणेऽवकल्पते। तस्मादन्यो वायुक्रियाभ्यां प्राणः। कथं तर्हीयं श्रुतिः 'यः प्राणः स वायुः' इति? उच्यते,—वायुरेवायमध्यात्ममापन्नः पञ्चव्यूहो विशेषात्मनाऽवतिष्ठमानः प्राणो नाम भण्यते, न तत्त्वान्तरं, नापि वायुमात्रम्। अतश्चोभे अपि भेदाभेदश्रुती न विरुध्येते॥ ९॥

स्यादेतत्,-प्राणोऽपि तर्हि जीववदस्मिञ्शरीरे स्वातन्त्र्यं प्राप्नोति; श्रेष्ठत्वाद्गुणभावोपगमाच्च तं प्रति वागादीनामिन्द्रियाणाम्। तथा ह्यनेकविधा विभूतिः प्राणस्य श्राव्यते—'सुप्तेषु वागादिषु प्राण एवैको हि जागर्ति प्राण एको मृत्युनाऽनाप्तः; प्राणः संवर्गो वागादीन्संवृङ्क्ते प्राण इतरान्प्राणानरक्षति मातेव पुत्रान्' इति। तस्मात्प्राणस्यापि जीववत्स्वातन्त्र्यप्रसङ्गः। तं परिहरति—

(२७९) चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥१०॥

तुशब्दः प्राणस्य जीववत्स्वातन्त्र्यं व्यावर्तयति। यथा चक्षुरादीनि राजप्रकृतिवज्जीवस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च प्रत्युपकरणानि न स्वतन्त्राणि, तथा मुख्योऽपि प्राणो राजमन्त्रिवज्जीवस्य सर्वार्थकरत्वेनोपकरणभूतो न स्वतन्त्रः। कुतः ? तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः। तैश्चक्षुरादिभिः सहैव प्राणः शिष्यते प्राणसंवादादिषु। समानधर्माणां च सह शासनं युक्तं, बृहद्रथंतरादिवत्। आदिशब्देन संहतत्वाचेतनत्वादीन्प्राणस्य स्वातन्त्र्यनिराकरणहेतून्दर्शयति ॥१०॥

स्यादेतत्,—यदि चक्षुरादिवत्प्राणस्य जीवं प्रति करणभावोऽभ्युपगम्येत, विषयान्तरं रूपादिवत्प्रसज्येत। रूपाद्यालोचनादिभिर्वृत्तिभिर्यथास्वं चक्षुरादीनां जीवं प्रति करणभावो भवति। अपि चैकादशैव कार्यजातानि रूपालोचनादीनि परिगणितानि यदर्थमेकादश प्राणाः संगृहीताः; नतु द्वादशमपरं कार्यजातमधिगम्यते, यदर्थमयं द्वादशः प्राणः प्रतिज्ञायेतेति। अत उत्तरं पठति—

(२८०) अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ॥११॥

न तावद्विषयान्तरप्रसङ्गो दोषः; अकरणत्वात्प्राणस्य। नहि चक्षुरादिवत्प्राणस्य विषयपरिच्छेदेन करणत्वमभ्युपगम्यते। न चास्यैतावता कार्याभाव एव। कस्मात् ? तथा हि श्रुतिः प्राणान्तरेष्वसंभाव्यमानं मुख्यप्राणस्य वैशेषिकं कार्यं दर्शयति प्राणसंवादादिषु—'अथ ह प्राणा अहंश्रेयसि व्यूदिरे' इत्युपक्रम्य 'यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठः' (छा० ५/१/६,७) इति चोपन्यस्य प्रत्येकं वागाद्युत्क्रमणेन तद्वृत्तिमात्रहीनं यथापूर्वं जीवनं मुख्यप्राणस्य वैशेषिकं कार्यं दर्शयित्वा, प्राणोच्चिक्रमिषायां वागादिशैथिल्यापत्तिं शरीरपातप्रसङ्गं च दर्शयन्ती श्रुतिः प्राणनिमित्तां शरीरेन्द्रियस्थितिं दर्शयति। 'तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्वाणमवष्टभ्य विधारयामि' इति चैतमेवार्थं श्रुतिराह—'प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायम्' (बृ० ४/३/१२) इति च सुप्तेषु चक्षुरादिषु प्राणनिमित्तां शरीररक्षां दर्शयति। 'यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यति' (बृ० १/३/१९)। 'तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान्प्राणानवति' इति च प्राणनिमित्तां शरीरेन्द्रियपुष्टिं दर्शयति। 'कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते

प्रतिष्ठास्यामि' इति, 'स प्राणमसृजत' इति च प्राणनिमित्ते जीवस्योत्क्रान्तिप्रतिष्ठे दर्शयति॥११॥

(२८१) पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते॥१२॥

इतश्चास्ति मुख्यस्य प्राणस्य वैशेषिकं कार्यं, यत्कारणं पञ्चवृत्तिरयं व्यपदिश्यते श्रुतिषु—'प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः' (बृ० १/५/३) इति। वृत्तिभेदश्चायं कार्यभेदापेक्षः। प्राणः प्राग्वृत्तिरुच्छ्वासादिकर्मा। अपानोऽर्वाग्वृत्तिर्निःश्वासादिकर्मा। व्यानस्तयोः संधौ वर्तमानो वीर्यवत्कर्महेतुः। उदान ऊर्ध्ववृत्तिरुत्क्रान्त्यादिहेतुः। समानः समं सर्वेष्वङ्गेषु योऽन्नरसान्नयतीति एवं पञ्चवृत्तिः प्राणो मनोवत्। यथा मनसः पञ्च वृत्तय, एवं प्राणस्यापीत्यर्थः। श्रोत्रादिनिमित्ताः शब्दादिविषया मनसः पञ्च वृत्तयः प्रसिद्धाः, नतु कामः संकल्प इत्याद्याः परिपठिताः परिगृह्येरन्; पञ्चसंख्यातिरेकात्। नन्वत्रापि श्रोत्रादिनिरपेक्षा भूतभविष्यदादिविषयाऽपरा मनसो वृत्तिरस्तीति समानः पञ्चसंख्यातिरेकः। एवं तर्हि 'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतं भवति' इति न्यायादिहापि योगशास्त्रप्रसिद्धा मनसः पञ्च वृत्तयः परिगृह्यन्ते—'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः' (पात० योग० सू० १/१/६) नाम। बहुवृत्तित्वमात्रेण वा मनः प्राणस्य निदर्शनमिति द्रष्टव्यम्। जीवोपकरणत्वमपि प्राणस्य पञ्चवृत्तित्वान्मनोवदिति योजयितव्यम्॥१२॥

(८३) श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम्॥६॥ (सू० १३)

(२८२) अणुश्च॥१३॥

अणुश्चायं मुख्य प्राणः प्रत्येतव्यः, इतरप्राणवत्। अणुत्वं चेहापि सौक्ष्म्यपरिच्छेदौ, न परमाणुतुल्यत्वम्; पञ्चभिर्वृत्तिभिः कृत्स्नशरीरव्यापित्वात्, सूक्ष्मः प्राणः; उत्क्रान्तौ पार्श्वस्थेनानुपलभ्यमानत्वात् परिच्छिन्नश्चोत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिभ्यः। ननु विभुत्वमपि प्राणस्य समाम्नायते—'समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण' (बृ० १/३/२२) इत्येवमादिप्रदेशेषु। तदुच्यते—आधिदैविकेन समष्टिव्यष्टिरूपेण हैरण्यगर्भेण प्राणात्मनैवैतद्विभुत्वमाम्नायते, नाध्यात्मिकेन। अपि च समः प्लुषिणेत्यादिना साम्यवचनेन प्रतिप्राणिवर्तिनः प्राणस्य परिच्छेद एव प्रदर्श्यते तस्माददोषः॥१३॥

(८४) ज्योतिराद्यधिकरणम् ॥७॥ (सू० १४-१६)

(२८३) ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥१४॥

ते पुनः प्रकृताः प्राणाः किं स्वमहिम्नैव स्वस्मै स्वस्मै कार्याय प्रभवन्त्याहोस्विद्देवताधिष्ठिताः प्रभवन्तीति विचार्यते—तत्र प्राप्तं तावत्-यथास्वकार्यशक्तियोगात्स्वमहिम्नैव प्राणाः प्रवर्तेरन्निति। अपि च देवताधिष्ठितानां प्रणानां प्रवृत्तावभ्युपगम्यमानायां तासामेवाधिष्ठात्रीणां देवतानां भोक्तृत्वप्रसङ्गाच्छारीरस्य भोक्तृत्वं प्रलीयेत। अतः स्वमहिम्नैवैषां प्रवृत्तिरिति।

एवं प्राप्त इदमुच्यते—ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु इति। तुशब्देन पूर्वपक्षो व्यावर्त्यते। ज्योतिरादिभिरग्न्याद्यभिमानिनीभिर्देवताभिरधिष्ठितं वागादि करणजातं स्वकार्येषु प्रवर्तत इति प्रतिजानीते। हेतुं व्याचष्टे—तदामननादिति। तथा ह्यामनन्ति—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० २/४) इत्यादि। अग्नेश्चायं वाग्भावो मुखप्रवेशश्च देवतात्मनाऽधिष्ठातृत्वमङ्गीकृत्योच्यते। नहि देवतासंबन्धं प्रत्याख्यायाग्नेर्वाचि मुखे वा कश्चिद्विशेषसंबन्धो दृश्यते। तथा 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्' (ऐ० २/४) इत्येवमाद्यपि योजयितव्यम्। तथाऽन्यत्रापि 'वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च' (छा० ३/१८/३) इत्येवमादिना वागादीनामग्न्यादिज्योतिष्ट्वादिवचनेनैतमेवार्थं द्रढयति। 'स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा, यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्' (बृ० १/३/१२) इति चैवमादिना वागादीनामग्न्यादिभावापत्तिवचनेनैतमेवार्थं द्योतयति। सर्वत्र चाध्यात्माधिदैवतविभागेन वागाद्यग्न्याद्यनुक्रमणमनयैव प्रत्यासत्त्या भवति। स्मृतावपि—'वागध्यात्ममिति प्राहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः। वक्तव्यमधिभूतं तु वह्निस्तत्राधिदैवतम्।' इत्यादिना वागादीनामग्न्यादिदेवताधिष्ठितत्वं सप्रपञ्चं दर्शितम्। यदुक्तं स्वकार्यशक्तियोगात्स्वमहिम्नैव प्राणाः प्रवर्तेरन्निति, तदयुक्तम्; शक्तानामपि शकटादीनामनडुहाद्यधिष्ठितानां प्रवृत्तिदर्शनात्। उभयथोपपत्तौ चागमाद्देवताधिष्ठितत्वमेव निश्चीयते॥१४॥

यदप्युक्तं—देवतानामेवाधिष्ठात्रीणां भोक्तृत्वप्रसङ्गो न शारीरस्येति, तत्परिह्रियते—

(२८४) प्राणवता शब्दात् ॥१५॥

सतीष्वपि प्राणानामधिष्ठात्रीषु देवतासु प्राणवता कार्यकरणसंघातस्वामिना शारी-

रेणैवैषां प्राणानां संबन्धः श्रुतेरवगम्यते। तथा हि श्रुतिः—'अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्' (छा० ८/१२/४) इत्येवंजातीयका शारीरेणैव प्राणानां संबन्धं श्रावयति। अपि चानेकत्वात्प्रतिकरणमधिष्ठात्रीणां देवतानां न भोक्तृत्वमस्मिञ्शरीरेऽवकल्पते। एको ह्ययमस्मिञ्शरीरे शारीरो भोक्ता प्रतिसंधानादिसंभवादवगम्यते॥ १५॥

(२८५) तस्य च नित्यत्वात्॥१६॥

तस्य च शारीरस्यास्मिञ्शरीरे भोक्तृत्वेन नित्यत्वं पुण्यपापोपलेपसंभवात्सुखदुःखोपभोगसंभवाच्च, न देवतानाम्। ता हि परस्मिन्नैश्वर्ये पदेऽवतिष्ठमाना न हीनेऽस्मिञ्शरीरे भोक्तृत्वं प्रतिलब्धुमर्हन्ति। श्रुतिश्च भवति—'पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान्पापं गच्छति' (बृ० १/५/३) इति। शारीरेणैव च नित्यः प्राणानां संबन्ध उत्क्रान्त्यादिषु तदनुवृत्तिदर्शनात्। 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४/४/२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मात्सतीष्वपि करणानां नियन्त्रीषु देवतासु न शारीरस्य भोक्तृत्वमपगच्छति। करणपक्षस्यैव हि देवता, न भोक्तृपक्षस्येति॥ १६॥

(८५) इन्द्रियाधिकरणम्॥८॥ (सू० १७-१९)

(२८६) त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्॥१७॥

मुख्यश्चैक इतरे चैकादश प्राणा अनुक्रान्ताः। तत्रेदमपरं संदिह्यते—किं मुख्यस्यैव प्राणस्य वृत्तिभेदा इतरे प्राणा, आहोस्वित्तत्त्वान्तराणीति। किं तावत्प्राप्तम्? मुख्यस्यैवेतरे वृत्तिभेदा इति। कुतः? श्रुतेः। तथा हि श्रुतिर्मुख्यमितरांश्च प्राणान्संनिधाप्य मुख्यात्मतामितरेषां ख्यापयति—'हन्ताऽस्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्' (बृ० १/५/२१) इति। प्राणैकशब्दत्वाच्चैकत्वाध्यवसायः। इतरथा ह्यन्याय्यमनेकार्थत्वं प्राणशब्दस्य प्रसज्येत, एकत्र वा मुख्यत्वमितरत्र वा लाक्षणिकत्वमापद्येत। तस्माद्यथैकस्यैव प्राणस्य प्राणाद्याः पञ्चवृत्तय, एवं वागाद्या अप्येकादशेति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—तत्त्वान्तराण्येव प्राणाद्वागादीनीति। कुतः? व्यपदेशभेदात्। कोऽयं व्यपदेशभेदः? ते प्रकृताः प्राणाः श्रेष्ठं वर्जयित्वाऽवशिष्टा एकादशेन्द्रियाणी-

त्युच्यन्ते। श्रुतावेवं व्यपदेशदर्शनात्। 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मु० २/१/३) इति ह्येवंजातीयकेषु प्रदेशेषु पृथक्प्राणो व्यपदिश्यते, पृथक्चेन्द्रियाणि। ननु मनसोऽप्येवं सति वर्जनमिन्द्रियत्वेन प्राणवत्स्यात्; 'मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इति पृथग्व्यपदेशदर्शनात्। सत्यमेतत्,—स्मृतौ त्वेकादशेन्द्रियाणीति मनोऽपीन्द्रियत्वेन श्रोत्रादिवत्संगृह्यते। प्राणस्य त्विन्द्रियत्वं न श्रुतौ स्मृतौ वा प्रसिद्धमस्ति। व्यपदेशभेदश्चायं तत्त्वभेदपक्ष उपपद्यते। तत्त्वैकत्वे तु 'स एवैकः सन्प्राण इन्द्रियव्यपदेशं लभते न लभते चेति' विप्रतिषिद्धम्। तस्मात्तत्त्वान्तरभूता मुख्यादितरे॥ १७॥

कुतश्च तत्त्वान्तरभूताः ?—

(२८७) भेदश्रुतेः ॥१८॥

भेदेन वागादिभ्यः प्राण सर्वत्र श्रूयते—'ते ह वाचमूचुः' (बृ० १/३/२) इत्युपक्रम्य वागादीनसुरपाप्मविध्वस्तानुपन्यस्य, उपसंहृत्य वागादिप्रकरणम् 'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः' इत्यसुरविध्वंसिनो मुख्यस्य प्राणस्य पृथगुपक्रमणात्। तथा 'मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुत' इत्येवमाद्या अपि भेदश्रुतय उदाहर्तव्याः। तस्मादपि तत्त्वान्तरभूता मुख्यादितरे॥ १८॥

कुतश्च तत्त्वान्तरभूताः—

(२८८) वैलक्षण्याच्च॥१९॥

वैलक्षण्यं च भवति मुख्यप्राणस्येतरेषां च सुप्तेषु वागादिषु मुख्य एको जागर्ति स एव चैको मृत्युनाऽनाप्त आप्तास्त्वितरे। तस्यैव प्राणस्यावस्थित्युत्क्रान्तिभ्यां देहधारणपतनहेतुत्वं, नेन्द्रियाणाम्। विषयालोचनहेतुत्वं चेन्द्रियाणां न प्राणस्येत्येवंजातीयको भूयाँल्लक्षणभेदः प्राणेन्द्रियाणाम्। तस्मादप्येषां तत्त्वान्तरभावसिद्धिः। यदुक्तम्—'त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्' (बृ० १/५/२१) इति श्रुतेः प्राण एवेन्द्रियाणीति; तदयुक्तम्; तत्रापि पौर्वापर्यलोचनाद्भेदप्रतीतेः। तथा हि—'वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे' (बृ० १/५/२१) इति वागादीनीन्द्रियाण्यनुक्रम्य 'तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक्' इति च श्रमरूपेण मृत्युना ग्रस्तत्वं वागादीनामभिधाय 'अथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणः' (बृ० १/५/२१) इति पृथक्प्राणं मृत्युनानभिभूतमनुक्रामति। 'अयं वै नः श्रेष्ठः' (बृ० १/५/२१) इति च श्रेष्ठतामस्यावधारयति।

तस्मात्तदविरोधेन वागादिषु परिस्पन्दलाभस्य प्राणायत्तत्वं तद्रूपभवनं वागादीनामिति मन्तव्यं, न तु तादात्म्यम्। अत एव च प्राणशब्दस्येन्द्रियेषु लाक्षणिकत्वसिद्धिः। तथा च श्रुतिः—'त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्। तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणाः' (बृ० १/५/२१) इति मुख्यप्राणविषयस्यैव प्राणशब्दस्येन्द्रियेषु लाक्षणिकीं वृत्तिं दर्शयति। तस्मात्तत्त्वान्तराणि प्राणाद्वागादीनीन्द्रियाणीति॥ १९॥

(८६) संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम्॥९॥ (सू० २०-२२)

सत्प्रक्रियायां तेजोऽबन्नानां सृष्टिमभिधायोपदिश्यते—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति। तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति' (छा० ६/३/२)। तत्र संशयः—किं जीवकर्तृकमिदं नामरूपव्याकरणमाहोस्वित्परमेश्वरकर्तृकमिति। तत्र प्राप्तं तावत्-जीवकर्तृकमेवेदं नामरूपव्याकरणमिति। कुतः? 'अनेन जीवेनात्मना' इति विशेषणात्। यथा लोके चारेणाहं परसैन्यमनुप्रविश्य संकलयानीत्येवंजातीयके प्रयोगे चारकर्तृकमेव सत्सैन्यसंकलनं हेतुकर्तृत्वाद्राजाऽऽत्मन्यध्यारोपयति संकलयानीत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण, एवं जीवकर्तृकमेव सन्नामरूपव्याकरणं हेतुकर्तृत्वाद्देवतात्मन्यध्यारोपयति व्याकरवाणीत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण। अपि च डित्थडवित्थादिषु नामसु घटशरावादिषु च रूपेषु जीवस्यैव व्याकर्तृत्वं दृष्टम्। तस्माज्जीवकर्तृकमेवेदं नामरूपव्याकरणमित्येवं प्राप्तेऽभिधत्ते—'संज्ञामूर्तिक्लृप्तस्तु' त्रिवृत्कुर्वत इति।

(२८९) संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्॥ २०॥

तुशब्देन पक्षं व्यावर्तयति। संज्ञामूर्तिक्लृप्तिरिति नामरूपव्याक्रियेत्येतत्। त्रिवृत्कुर्वत इति परमेश्वरं लक्षयति; त्रिवृत्करणे तस्य निरपवादकर्तृत्वनिर्देशात्। येयं संज्ञाक्लृप्तिर्मूर्तिक्लृप्तिश्चाग्निरादित्यश्चन्द्रमा विद्युदिति, तथा कुशकाशपलाशादिषु पशुमृगमनुष्यादिषु च प्रत्याकृति प्रतिव्यक्ति चानेकप्रकारा, सा खलु परमेश्वरस्यैव तेजोबन्नानां निर्मातुः कृतिर्भवितुमर्हति। कुतः? उपदेशात्। तथा हि—'सेयं देवतैक्षत' इत्युपक्रम्य 'व्याकरवाणि' इत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण परस्यैव ब्रह्मणो व्याकर्तृत्वमिहोपदिश्यते।

ननु जीवेनेति विशेषणाज्जीवकर्तृकत्वं व्याकरणस्याध्यवसितम्,-नैतदेवम्; जीवेनेत्येतदनुप्रविश्येत्यनेन संबध्यत आनन्तर्यात्, न व्याकरवाणीत्यनेन। तेन हि संबन्धे

व्याकरवाणीत्ययं देवताविषय उत्तमपुरुष औपचारिकः कल्प्येत। नच गिरिनदी-समुद्रादिषु नानाविधेषु नामरूपेष्वनीश्वरस्य जीवस्य व्याकरणसामर्थ्यमस्ति; येष्वपि चास्ति सामर्थ्यं, तेष्वपि परमेश्वरायत्तमेव तत्। नच जीवो नाम परमेश्वरादत्यन्तभिन्नः चार इव राज्ञः; आत्मनेति विशेषणात्। उपाधिमात्रनिबन्धनत्वाच्च जीवभावस्य। तेन तत्कृतमपि नामरूपव्याकरणं परमेश्वरकृतमेव भवति। परमेश्वर एव च नामरूपयो-र्व्याकर्तेति सर्वोपनिषत्सिद्धान्तः; 'आकाशो ह वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' (छा० ८/१४/१) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मात्परमेश्वरस्यैव त्रिवृत्कुर्वतः कर्म नामरूपयोर्व्या-करणम्। त्रिवृत्करणपूर्वकमेवेदमिह नामरूपव्याकरणं विवक्ष्यते; प्रत्येकं नामरूप-व्याकरणस्य तेजोबन्नोत्पत्तिवचनेनैवोक्तत्वात्। तच्च त्रिवृत्करणमग्न्यादित्यचन्द्रविद्युत्सु श्रुतिर्दर्शयति—'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' (छा० ६/४/१) इत्यादिना। तत्राग्निरितीदं रूपं व्याक्रियते, सति च रूपव्याकरणे विषयप्रतिलम्भादग्निरितीदं नाम व्याक्रियते। एवमेवादित्यचन्द्रविद्युत्स्वपि द्रष्टव्यम्। अनेन चाग्न्याद्युदाहरणेन भौमाम्भसतैजसेषु त्रिष्वपि द्रव्येष्वविशेषेण त्रिवृत्करणमुक्तं भवति; उपक्रमोपसंहारयोः साधारणत्वात्। तथा ह्यविशेषेणैवोपक्रमः—'इमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति' (छा० ६/३/४) इति। अविशेषेणैव चोपसंहारः—'यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपम्' इत्येवमादिः, 'यदविज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समासः' (छा० ६/४/६,७) इत्येवमन्तः॥ २०॥

तासां तिसृणां देवतानां बहिस्त्रिवृत्कृतानां सतीनामध्यात्ममपरं त्रिवृत्करणमु-क्तम्—'इमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति' (छा० ६/४/७) इति। तदिदानीमाचार्यो यथाश्रुत्यैवोपदर्शयत्याशङ्कितं कंचिद्दोषं परिहरिष्यन्—

(२९०) मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च॥ २१॥

भूमेस्त्रिवृत्कृतायाः पुरुषेणोपभुज्यमानाया मांसादिकार्यं यथाशब्दं निष्पद्यते। तथा हि श्रुतिः—'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः' (छा० ६/५/१) इति। त्रिवृत्कृता भूमिरेवैषा व्रीहि-यवाद्यन्नरूपेणाद्यत इत्यभिप्रायः। तस्याश्च स्थविष्ठं रूपं पुरीषभावेन बहिर्निर्गच्छति। मध्यममध्यात्मं मांसं वर्धयति। अणिष्ठं तु मनः। एवमितरयोरप्तेजसोर्यथाशब्दं कार्यमव-गन्तव्यम्। एवं मूत्रं लोहितं प्राणश्चापां कार्यम्। अस्ति मज्जा वाक्तेजस इति॥ २१॥

अत्राह—यदि सर्वमेव त्रिवृत्कृतं भूतभौतिकमविशेषश्रुतेः 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्' इति। किं कृतस्तर्ह्ययं विशेषव्यपदेशः 'इदं तेज इमा आप इदमन्नम्' इति? तथा 'अध्यात्ममिदमन्नस्याशितस्य कार्यं मांसादि? इदमपां पीतानां कार्यं लोहितादि? इदं तेजसोऽशितस्य कार्यमस्थ्यादि' इति? अत्रोच्यते,—

(२९१) वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥२२॥

तुशब्देन चोदितं दोषमपनुदति। विशेषस्य भावो वैशेष्यम्। भूयस्त्वमिति यावत्। सत्यपि त्रिवृत्करणे क्वचित्कस्यचिद्भूतधातोर्भूयस्त्वमुपलभ्यते 'अग्नेस्तेजोभूयस्त्वमुदकस्याब्भूयस्त्वं पृथिव्या अन्नभूयस्त्वम्' इति। व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं चेदं त्रिवृत्करणम्। व्यवहारश्च त्रिवृत्कृतरज्जुवदेकत्वापत्तौ सत्यां, न भेदेन भूतत्रयगोचरो लोकस्य प्रसिध्येत्। तस्मात्सत्यपि त्रिवृत्करणे वैशेष्यादेष तेजोऽबन्नविशेषवादो भूतभौतिकविषय उपपद्यते। तद्वादस्तद्वाद इति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति॥२२॥

विश्रामः ॥२०॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्येऽविरोधाख्यो द्वितीयोऽध्यायः ॥

द्वितीयाध्यायस्य पादशोऽधिकरणसूत्राणां सङ्ग्रहः

पादः	अधिकरणानि	सूत्राणि
प्रथमः	१३	३७
द्वितीयः	८	४५
तृतीयः	१७	५३
चतुर्थः	९	२२
योगः	४७	१५७

ॐ

॥ अथ साधनाख्यतृतीयोऽध्यायः ॥

प्रथमः पादः

(अत्र तृतीये साधनाख्याध्याये सर्वसाधनानां विचारस्तत्र प्रथमपादे जीवस्य परलोकगत्यागतिचिन्ता च वैराग्यसम्पादनार्था)

(८७) तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ॥१॥ (सू० १-७)

द्वितीयेऽध्याये स्मृतिन्यायविरोधो वेदान्तविहिते ब्रह्मदर्शने परिहृतः। परपक्षाणां चानपेक्षत्वं प्रपञ्चितम्। श्रुतिविप्रतिषेधश्च परिहृतः। तत्र च जीवव्यतिरिक्तानि तत्त्वानि जीवोपकरणानि ब्रह्मणो जायन्त इत्युक्तम्। अथेदानीमुपकरणोपहितस्य जीवस्य संसारगतिप्रकारस्तदवस्थान्तराणि, ब्रह्मसतत्त्वं, विद्याभेदाभेदौ, गुणोपसंहारानुपसंहारौ, सम्यग्दर्शनात्पुरुषार्थसिद्धिः सम्यग्दर्शनोपायविधिप्रभेदो मुक्तिफलानियमश्चेत्येतदर्थजातं तृतीयेऽध्याये निरूपयिष्यते, प्रसङ्गागतं च किमप्यन्यत्।

तत्र प्रथमे तावत्पादे पञ्चाग्निविद्यामाश्रित्य संसारगतिप्रभेदः प्रदर्श्यते वैराग्य हेतोः। 'तस्माज्जुगुप्सेत' इति चान्ते श्रवणात्। जीवो मुख्यप्राणसचिवः सेन्द्रियः समनस्कोऽविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञापरिग्रहः पूर्वदेहं विहाय देहान्तरं प्रतिपद्यत इत्येतदवगतम्। 'अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति' इत्येवमादेः 'अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते' (बृ० ४/४/१,४) इत्येवमन्तात्संसारप्रकरणस्थाच्छब्दात्, धर्माधर्मफलोपभोगसंभवाच्च। स किं देहबीजैर्भूतसूक्ष्मैरसंपरिष्वक्तो गच्छत्याहोस्वित्संपरिष्वक्त इति चिन्त्यते। किं तावत्प्राप्तम्। असंपरिष्वक्त इति। कुतः? करणोपादानवद्भूतोपादानस्याश्रुतत्वात्। 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानः' (बृ० ४/४/१) इति ह्यत्र तेजोमात्राशब्देन करणानामुपादानं संकीर्तयति। वाक्यशेषे चक्षुरादिसंकीर्तनात्। नैवं भूतमात्रोपादानसंकीर्तनमस्ति। सुलभाश्च सर्वत्र भूतमात्राः। यत्रैव देह आरब्धव्यस्तत्रैव सन्ति। ततश्च तासां नयनं निष्प्रयोजनम्। तस्मादसंपरिष्वक्तो यातीति।

(२९२) तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥१॥

एवं प्राप्ते पठत्याचार्यः—तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्त इति। तदन्तरप्रतिपत्तौ देहान्तरप्रतिपत्तौ देहबीजैर्भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो रंहति गच्छतीत्यवग-

न्तव्यम्। कुतः? प्रश्ननिरूपणाभ्याम्। तथाहि प्रश्नः—'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५/३/३) इति। निरूपणं च प्रतिवचनं द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषित्सु पञ्चस्वग्निषु श्रद्धासोमवृष्ट्यन्नरेतोरूपाः पञ्चाहुतीर्दर्शयित्वा 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५/९/१) इति। तस्माददिः परिवेष्टितो जीवो रंहति व्रजतीति गम्यते।

नन्वन्या श्रुतिर्जलूकावत्पूर्वदेहं न मुञ्चति यावन्न देहान्तरमाक्रमतीति दर्शयति इति—'तद्यथा तृणजलायुका' (बृ० ४/४/३) इति। तत्राप्यपरिवेष्टितस्यैव जीवस्य कर्मोपस्थापितप्रतिपत्तव्यदेहविषयभावनादीर्घीभावमात्रं जलूकयोपमीयत इत्यविरोधः। एवं श्रुत्युक्ते देहान्तरप्रतिपत्तिप्रकारे सति याः पुरुषमतिप्रभवाः कल्पना व्यापिनां करणानामात्मनश्च देहान्तरप्रतिपत्तौ कर्मवशाद्वृत्तिलाभस्तत्र भवति। केवलस्यैवात्मनो वृत्तिलाभस्तत्र भवति। इन्द्रियाणि तु देहवदभिनवान्येव तत्र तत्र भोगस्थान उत्पद्यन्ते। मन एव वा केवलं भोगस्थानमभिप्रतिष्ठेत। जीव एवोत्प्लुत्य देहाद्देहान्तरं प्रतिपद्यते शुक इव वृक्षाद्वृक्षान्तरम् इत्येवमाद्याः सर्वा एवानादर्तव्याः, श्रुतिविरोधात्॥१॥

ननूदाहृताभ्यां प्रश्नपतिवचनाभ्यां केवलाभिरद्भिः संपरिष्वक्तो रंहतीति प्राप्नोति, अप्शब्दश्रवणसामर्थ्यात्। तत्र कथं सामान्येन प्रतिज्ञायते सर्वैरेव भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो रंहतीति। अत उत्तरं पठति—

(२९३) त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्॥२॥

तुशब्देन चोदितामाशङ्कामुच्छिनत्ति। त्र्यात्मिका ह्यापस्त्रिवृत्करणश्रुतेः। तास्वारम्भिकास्वभ्युपगतास्वितरदपि भूतद्वयमवश्यमभ्युपगन्तव्यं भवति। त्र्यात्मकश्च देहस्त्रयाणामपि तेजोबन्नानां तस्मिन्कार्योपलब्धेः। पुनश्च त्र्यात्मकस्त्रिधातुत्वात्त्रिभिर्वातपित्तश्लेष्मभिः। न स भूतान्तराणि प्रत्याख्याय केवलाभिरद्भिरारब्धुं शक्यते। तस्माद्भूयस्त्वापेक्षोऽयमापः पुरुषवचस इति। प्रश्नप्रतिवचनयोरप्शब्दो न कैवल्यापेक्षः। सर्वदेहेषु हि रसलोहितादिद्रवद्रव्यभूयस्त्वं दृश्यते। ननु पार्थिवो धातुर्भूयिष्ठो देहेषूपलक्ष्यते। नैष दोषः। इतरापेक्षयाप्यपां बाहुल्यं भविष्यति। दृश्यते च शुक्रशोणितलक्षणेऽपि देहबीजे द्रवबाहुल्यम्। कर्म च निमित्तकारणं देहान्तरारम्भे। कर्माणि चाग्निहोत्रादीनि सोमाज्यपयःप्रभृतिद्रवद्रव्यव्यपाश्रयाणि। कर्मसमवायिन्यश्चापः श्रद्धाशब्दोदिताः सह

कर्मभिर्द्युलोकाख्येऽग्नौ हूयन्त इति वक्ष्यति। तस्मादप्यपां बाहुल्यप्रसिद्धिः। बाहुल्याच्चाप्शब्देन सर्वेषामेव देहबीजानां भूतसूक्ष्माणामुपादानमिति निरवद्यम्॥ २॥

(२९४) प्राणगतेश्च॥ ३॥

प्राणानां च देहान्तरप्रतिपत्तौ गतिः श्राव्यते—'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४/४/२) इत्यादिश्रुतिभिः। सा च प्राणानां गतिर्नाश्रयमन्तरेण संभवतीत्यतः प्राणगतिप्रयुक्ता तदाश्रयभूतानामपामपि भूतान्तरोपसृष्टानां गतिरवगम्यते। नहि निराश्रयाः प्राणाः क्वचिद्गच्छन्ति तिष्ठन्ति वा, जीवतोऽदर्शनात्॥ ३॥

(२९५) अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात्॥ ४॥

स्यादेतत्। नैव प्राणा देहान्तरप्रतिपत्तौ सह जीवेन गच्छन्ति, अग्न्यादिगतिश्रुतेः। तथाहि श्रुतिर्मरणकाले वागादयः प्राणा अग्न्यादीन्देवान्गच्छन्तीति दर्शयति—'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणः' (बृ० ३/२/१३) इत्यादिनेति चेत्। न। भाक्तत्वात्। वागादीनामग्न्यादिगतिश्रुतिर्गौणी, लोमसु केशेषु चादर्शनात्। 'ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशाः' (बृ० ३/२/१३) इति हि तत्राम्नायते। नहि लोमानि केशाश्चोत्प्लुत्यौषधीर्वनस्पतींश्च गच्छन्तीति संभवति। नच जीवस्य प्राणोपाधिप्रत्याख्याने गमनमवकल्प्यते। नापि प्राणैर्विना देहान्तर उपभोग उपपद्यते। विस्पष्टं च प्राणानां सह जीवेन गमनमन्यत्र श्रावितम्। अतो वागाद्यधिष्ठात्रीणामग्न्यादिदेवतानां वागाद्युपकारिणीनां मरणकाल उपकारनिवृत्तिमात्रमपेक्ष्य वागादयोऽग्न्यादीन्गच्छन्तीत्युपचर्यते॥ ४॥

(२९६) प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः॥ ५॥

स्यादेतत्। कथं पुनः 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५/३/३) इत्येतन्निर्धारयितुं पार्यते। यावता नैव प्रथमेऽग्नावपां श्रवणमस्ति। इह हि द्युलोकप्रभृतयः पञ्चाग्नयः पञ्चानामाहुतीनामाधारत्वेनाधीताः। तेषां च प्रमुखे 'असौ वाव लोको गौतमाग्निः' (छा० ५/४/१) इत्युपन्यस्य 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति' (छा० ५/४/२) इति श्रद्धा हौम्यद्रव्यत्वेनावेदिता। न तत्रापो हौम्यद्रव्यतया श्रुताः। यदि नाम पर्जन्यादिषूत्तरेषु चतुर्ष्वग्निष्वपां हौम्यद्रव्यता परिकल्प्येत, परिक-

ल्प्यतां नाम। तेषु होतव्यतयोपात्तानां सोमादीनामब्बहुलत्वोपपत्तेः। प्रथमे त्वग्नौ श्रुतां श्रद्धां परित्यज्याश्रुता आपः परिकल्प्यन्त इति साहसमेतत्। श्रद्धा च नाम प्रत्ययविशेषः, प्रसिद्धिसामर्थ्यात्। तस्मादयुक्तः पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषभाव इति चेत्।

नैष दोषः। यतस्तत्रापि प्रथमेऽग्नौ ता एवापः श्रद्धाशब्देनाभिप्रेयन्ते। कुतः—उपपत्तेः। एवंह्यादिमध्यावसानसंगानादनाकुलमेतदेकवाक्यमुपपद्यते। इतरथा पुनः पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वप्रकारे पृष्टे प्रतिवचनावसरे प्रथमाहुतिस्थाने यद्यनपो हौम्यद्रव्यं श्रद्धां नामावतारयेत्ततोऽन्यथा प्रश्नोऽन्यथा प्रतिवचनमित्येकवाक्यता न स्यात्। 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इति चोपसंहरन्नेतदेव दर्शयति। श्रद्धाकार्यं च सोमवृष्ट्यादि स्थूलीभवदब्बहुलं लक्ष्यते। सा च श्रद्धाया अप्त्वे युक्तिः। कारणानुरूपं हि कार्यं भवति। नच श्रद्धाख्यः प्रत्ययो मनसो जीवस्य वा धर्मः सन्धर्मिणो निष्कृष्य होमायोपादातुं शक्यते पश्वादिभ्य इव हृदयादीनीत्याप एव श्रद्धाशब्दा भवेयुः। श्रद्वाशब्दश्चाप्सूपपद्यते, वैदिकप्रयोगदर्शनात् 'श्रद्धा वा आपः' इति। तनुत्वं श्रद्धासारूप्यं गच्छन्त्य आपो देहबीजभूता इत्यतः श्रद्धाशब्दाः स्युः। यथा सिंहपराक्रमो नरः सिंहशब्दो भवति। श्रद्धापूर्वककर्मसमवायाच्चाप्सु श्रद्धाशब्द उपपद्यते, मञ्चशब्द इव पुरुषेषु। श्रद्धाहेतुत्वाच्च श्रद्धाशब्दोपपत्तिः 'आपो हास्मै श्रद्धां संनमन्ते पुण्याय कर्मणे' इति श्रुतेः॥५॥

(२९७) अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः॥६॥

अथापि स्यात्प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां नामापः श्रद्धादिक्रमेण पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषाकारं प्रतिपद्येरन्। नतु तत्संपरिष्वक्ता जीवा रंहेयुः। अश्रुतत्वात्। नह्यत्रापामिव जीवानां श्रावयिता कश्चिच्छब्दोऽस्ति। तस्माद्रंहति संपरिष्वक्त इत्ययुक्तमिति चेत्। नैष दोषः। कुतः? इष्टादिकारिणां प्रतीतेः। 'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति' (छा० ५/१०/६) इत्युपक्रम्येष्टादिकारिणं धूमादिना पितृयाणेन पथा चन्द्रप्राप्तिं कथयति—'आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा' (छा० ५/१०/४) इति। त एवेहापि प्रतीयन्ते 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति' (छा० ५/४/२) इति श्रुतिसामान्यात्। तेषां चाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मसाधनभूता दधिपयःप्रभृतयो द्रवद्रव्यभूयस्त्वात्प्रत्यक्षमेवापः सन्ति। ता आहवनीये हुताः सूक्ष्मा आहुत्योऽपूर्वरूपाः सत्यस्तानिष्टादिकारिण आश्रयन्ति। तेषां च शरीरं नैधनेन विधानेनान्त्येऽग्नावृत्विजो जुह्वति 'असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा'

इति। ततस्ताः श्रद्धापूर्वककर्मसमवायिन्य आहुतिमय्य आपोऽपूर्वरूपाः सत्यस्तानिष्टादिकारिणो जीवान्परिवेष्ट्यामुं लोकं फलदानाय नयन्तीति यत्तदत्र जुहोतिनाभिधीयते—'श्रद्धां जुह्वति' (बृ० ६/२/९) इति। तथाचाग्निहोत्रे षट्प्रश्ननिर्वचनरूपेण वाक्यशेषेण 'ते वा एते आहुती उत्क्रामतः' इत्येवमादिनाग्निहोत्राहुत्योः फलारम्भाय लोकान्तरप्राप्तिः प्रदर्शिता। तस्मादाहुतीमयीभिरद्भिः संपरिष्वक्ता जीवा रंहन्ति स्वकर्मफलोपभोगायेति श्लिष्यते॥६॥

कथं पुनरिदमिष्टादिकारिणां स्वकर्मफलोपभोगाय रंहणं प्रतिज्ञायते। यावता तेषां धूमप्रतीकेन वर्त्मना चन्द्रमसमधिरूढानामन्नभावं दर्शयति—'एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति' (छा० ५/१०/४) इति 'ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ति' (बृ० ६/२/१६) इति च समानविषयं श्रुत्यन्तरम्। नच व्याघ्रादिभिरिव देवैर्भक्ष्यमाणानामुपभोगः संभवतीति। अत उत्तरं पठति—

(२९८) भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति॥७॥

वाशब्दश्चोदितदोषव्यावर्तनार्थः। भाक्तमेषामन्नत्वं, न मुख्यम्। मुख्ये ह्यन्नत्वे 'स्वर्गकामो यजेत' इत्येवंजातीयकाधिकारश्रुतिरुपरुध्येत। चन्द्रमण्डले चेदिष्टादिकारिणामुपभोगो न स्यात्किमर्थमधिकारिण इष्टाद्यायासबहुलं कर्म कुर्युः। अन्नशब्दश्चोपभोगहेतुत्वसामान्यादनन्नेऽप्युपचर्यमाणो दृश्यते। यथा विशोऽन्नं राज्ञां पशवोऽन्नं विशामिति। तस्मादिष्टस्त्रीपुत्रमित्रभृत्यादिभिरिव गुणभावोपगतैरिष्टादिकारिभिर्यत्सुखविहरणं देवानां, तदेवैषां भक्षणमभिप्रेतं, न मोदकादिवच्चर्वणं, निगरणं वा। 'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' (छा० ३/६/१) इति च देवानां चर्वणादिव्यापारं वारयति। तेषां चेष्टादिकारिणां देवान्प्रति गुणभावोपगतानामप्युपभोग उपपद्यते राजोपजीविनामिव परिजनानाम्। अनात्मवित्त्वाच्चेष्टादिकारिणां देवोपभोग्यभाव उपपद्यते। तथाहि श्रुतिरनात्मविदां देवोपभोग्यतां दर्शयति—'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्' (बृ० १/४/१०) इति। स चास्मिन्नपि लोक इष्टादिभिः कर्मभिः प्रीणयन्पशुवद्देवानामुपकरोत्यमुष्मिन्नपि लोके तदुपजीवी तदादिष्टं फलमुपभुञ्जानः पशुवद्देवानामुपकरोतीति गम्यते॥

अनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयतीत्यस्यापरा व्याख्या—अनात्मविदो ह्येते केवलकर्मिण इष्टादिकारिणो न ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठायिनः। पञ्चाग्निविद्यामिहात्मविद्येत्युपचरन्ति, प्रकरणात्। पञ्चाग्निविज्ञानविहीनत्वाच्चेदमिष्टादिकारिणां गुणवादेनान्नत्वमुद्भाव्यते पञ्चाग्निविज्ञानप्रशंसायै। पञ्चाग्निविद्या हीह विधित्सिता। वाक्यतात्पर्यावगमात्। तथाहि श्रुत्यन्तरं चन्द्रमण्डले भोगसद्भावं दर्शयति—'स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते' (प्र० ५/४) इति। तथान्यदपि श्रुत्यन्तरम् 'अथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्ते' (बृ० ४/३/३३) इतीष्टादिकारिणां देवैः सह संवसतां भोगप्राप्तिं दर्शयति। एवं भाक्तत्वादन्नभाववचनस्येष्टादिकारिणोऽत्र जीवा रंहन्तीति प्रतीयते। तस्माद्रंहति संपरिष्वक्त इति युक्तमेवोक्तम्॥७॥

(८८) कृतात्ययाधिकरणम्॥२॥ (सू० ८-११)

इष्टादिकारिणां धूमादिना वर्त्मना चन्द्रमण्डलमधिरूढानां भुक्तभोगानां ततः प्रत्यवरोह आम्नायते—'तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्' (छा० ५/१०/५) इत्यारभ्य यावद् 'रमणीयचरणा ब्राह्मणादियोनिमापद्यन्ते कपूयचरणाः श्वादियोनिनिम्' इति। तत्रेदं विचार्यते—किं निरनुशया भुक्तकृत्स्नकर्माणोऽवरोहन्त्याहोस्वित्सानुशया इति। किं तावत्प्राप्तम्। निरनुशय इति। कुतः? यावत्संपातमिति विशेषणात्। संपातशब्देनात्र कर्माशय उच्यते—संपतन्त्यनेनास्माल्लोकादमुं लोकं फलोपभोगायेति। यावत्संपातमुषित्वेति च कृत्स्नस्य तस्य कृतस्य तत्रैव भुक्ततां दर्शयति। 'तेषां यदा तत्पर्यवैति' (बृ० ६/२/१६) इति च श्रुत्यन्तरेणैष एवार्थः प्रदर्श्यते। स्यादेतत्। यावदमुष्मिंल्लोक उपभोक्तव्यं कर्म, तावदुपभुङ्क्ते इति कल्पयिष्यामीति। नैवं कल्पयितुं शक्यते, यत्किंचेत्यन्यत्र परामर्शात्। 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृ० ४/४/६) इति ह्यपरा श्रुतिर्यत्किंचेत्यविशेषपरामर्शेन कृत्स्नस्येह कृतस्य कर्मणस्तत्र क्षयितां दर्शयति। अपिच प्रायणमनारब्धफलस्य कर्मणोऽभिव्यञ्जकम्। प्राक्प्रायणादारब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्याभिव्यक्त्यनुपपत्तेः। तच्चाविशेषाद्यावत्किंचिदनारब्धफलं, तस्य सर्वस्याभिव्यञ्जकम्। नहि साधारणे निमित्ते नैमित्तिकमसाधारणं भवितुमर्हति। न ह्यविशिष्टे प्रदीपसंनिधौ घटोऽभिव्यज्यते न पट इत्युपपद्यते। तस्मान्निरनुशया अवरोहन्तीति।

(२९९) कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च॥८॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—कृतात्ययेऽनुशयवानिति। येन कर्मवृन्देन चन्द्रमसमारूढाः फलोपभोगाय, तस्मिन्नुपभोगेन क्षयिते तेषां यदम्मयं शरीरं चन्द्रमस्युपभोगायारब्धं, तदुपभोगक्षयदर्शनशोकाग्निसंपर्कात्प्रविलीयते। सवितृकिरणसंपर्कादिव हिमकरकाः। हुतभुगर्चिःसंपर्कादिव च घृतकाठिन्यम्। ततः कृतात्यये कृतस्येष्टादेः कर्मणः फलोपभोगेनोपक्षये सति सानुशया एवेममवरोहन्ति। केन हेतुना? दृष्टस्मृतिभ्यामित्याह। तथाहि प्रत्यक्षा श्रुतिः सानुशयानामवरोहं दर्शयति—'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा' (छा० ५/१०/७) इति। चरणशब्देनानुशयः सूच्यत इति वर्णयिष्यति। दृष्टश्चायं जन्मनैव प्रतिप्राण्युच्चावचरूप उपभोग प्रविभज्यमान, आकस्मिकत्वासंभवादनुशयसद्भावं सूचयति, अभ्युदयप्रत्यवाययोः सुकृतदुष्कृतहेतुत्वस्य सामान्यतः शास्त्रेणावगमितत्वात्। स्मृतिरपि 'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते' इति सानुशयानामेवावरोहं दर्शयति।

कः पुनरनुशयो नामेति। केचित्तावदाहुः—स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्यावशेषः कश्चिदनुशयो नाम भाण्डानुसारिस्नेहवत्। यथाहि स्नेहभाण्डं रिच्यमानं न सर्वात्मना रिच्यते भाण्डानुसार्येव कश्चित्स्नेहशेषोऽवतिष्ठते तथाऽनुशयोऽपीति। ननु कार्यविरोधित्वाददृष्टस्य न भुक्तफलस्यावशेषावस्थानं न्याय्यम्। नायं दोषः। नहि सर्वात्मना भुक्तफलत्वं कर्मणः प्रतिजानीमहे। ननु निरवशेषकर्मफलोपभोगाय चन्द्रमण्डलमारूढः। बाढम्। तथापि स्वल्पकर्मावशेषमात्रेण तत्रावस्थातुं न लभ्यते। यथा किल कश्चित्सेवकः सकलैः सेवोपकरणै राजकुलमुपसृप्तश्चिरप्रवासात्परिक्षीणबहूपकरणश्छत्रपादुकादिमात्रावशेषो न राजकुलेऽवस्थातुं शक्नोति। एवमनुशयमात्रपरिग्रहो न चन्द्रमण्डलेऽवस्थातुं शक्नोतीति।

नचैतद्युक्तमिव। नहि स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्यावशेषानुवृत्तिरुपपद्यते कार्यविरोधित्वादित्युक्तम्। नन्वेतदप्युक्तम्। न स्वर्गफलस्य कर्मणो निखिलस्य भुक्तफलत्वं भविष्यतीति। तदेतदपेशलम्। स्वर्गार्थं किल कर्म स्वर्गस्थस्यैव स्वर्गफलं निखिलं न जनयति स्वर्गच्युतस्यापि कंचित्फललेशं जनयतीति। न शब्दप्रमाण-

कानामीदृशी कल्पनाऽवकल्पते। स्नेहभाण्डे तु स्नेहलेशानुवृत्तिर्दृष्टत्वादुपपद्यते। तथा सेवकस्योपकरणलेशानुवृत्तिश्च दृश्यते। नत्विह तथा स्वर्गफलस्य कर्मणो लेशानुवृत्तिर्दृश्यते, नापि कल्पयितुं शक्यते, स्वर्गफलत्वशास्त्रविरोधात्। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्। न स्वर्गफलस्येष्टादेः कर्मणो भाण्डानुसारिस्नेहवदेकदेशोऽनुवर्तमानोऽनुशय इति। यदि हि येन सुकृतेन कर्मणेष्टादिना स्वर्गमन्वभूवंस्तस्यैव कश्चिदेकदेशोऽनुशयः कल्प्येत, ततो रमणीय एवैकोऽनुशयःस्यान्न विपरीतः। तत्रेयमनुशयविभागश्रुतिरुपरुध्येत—'तद्य इह रमणीयचरणा, अथ य इह कपूयचरणाः' (छा० ५/१०/७) इति। तस्मादामुष्मिकफले कर्मजात उपभुक्तेऽवशिष्टमैहिकफलं कर्मान्तरजातमनुशयस्तद्वन्तोऽवरोहन्तीति।

यदुक्तं यत्किंचेत्यविशेषपरामर्शात्सर्वस्येह कृतस्य कर्मणः फलोपभोगेनान्तं प्राप्य निरनुशया अवरोहन्तीति। नैतदेवम्। अनुशयसद्भावस्यावगमितत्वात्। यत्किंचिदिह कृतमामुष्मिकफलं कर्मारब्धभोगं तत्सर्वं फलोपभोगेन क्षपयित्वेति गम्यते। यदप्युक्तं प्रायणमविशेषादनारब्धफलं कृत्स्नमेव कर्माभिव्यनक्ति तत्र केनचित्कर्मणाऽमुष्मिंल्लोके फलमारभ्यते केनचिदस्मिन्नित्ययं विभागो न संभवतीति। तदप्यनुशयसद्भावप्रतिपादनेनैव प्रत्युक्तम्। अपिच केन हेतुना प्रायणमनारब्धफलस्य कर्मणोऽभिव्यञ्जकं प्रतिज्ञायत इति वक्तव्यम्। आरब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्येतरस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तेस्तदुपशमात्प्रायणकाले वृत्त्युद्भवो भवतीति यद्युच्येत। ततो वक्तव्यम्। यथैव तर्हि प्राक्प्रायणादारब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्येतरस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तिरित्येव प्रायणकालेऽपि निरुद्धफलस्यानेकस्य कर्मणो युगपत्फलारम्भासंभवाद्बलवता प्रतिबद्धस्य दुर्बलस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तिरिति। नह्यनारब्धफलत्वसामान्येन जात्यन्तरोपभोग्यफलमप्यनेकं कर्मैकस्मिन्प्रायणे युगपदभिव्यक्तं सदेकां जातिमारभत इति शक्यं वक्तुं, प्रतिनियतफलत्वविरोधात्। नापि कस्यचित्कर्मणः प्रायणेऽभिव्यक्तिः, कस्यचिदुच्छेद इति शक्यते वक्तुम्। ऐकान्तिकफलत्वविरोधात्। नहि प्रायश्चित्तादिभिर्हेतुभिर्विना कर्मणामुच्छेदः संभाव्यते। स्मृतिरपि विरुद्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्य कर्मान्तरस्य चिरमवस्थानं दर्शयति—'कदाचित्सुकृतं कर्म कूटस्थमिह तिष्ठति। मज्जमानस्य संसारे यावद्दुःखाद्विमुच्यते' इत्येवंजातीयका। यदि च कृत्स्नमनारब्धफलं कर्मैकस्मिन्प्रायणेऽभिव्यक्तं सदेकां जातिमारभेत, ततः स्वर्गनरकतिर्यग्योनिष्वधिकारानवगमाद्धर्माधर्मानुत्पत्तौ निमित्ताभावान्नोत्तरा जातिरुपपद्येत। ब्रह्महत्यादीनां

चैकैकस्य कर्मणोऽनेकजन्मनिमित्तत्वं स्मर्यमाणमुपरुध्येत। नच धर्माधर्मयोः स्वरूपफलसाधनादिसमधिगमे शास्त्रादतिरिक्तं कारणं शक्यं संभावयितुम्। नच दृष्टफलस्य कर्मणः कारीर्यादेः प्रायणमभिव्यञ्जकं संभवतीत्यव्यापिकाऽपीयं प्रायणस्याभिव्यञ्जकत्वकल्पना।

प्रदीपोपन्यासोऽपि कर्मबलाबलप्रदर्शनेनैव प्रतिनीतः। स्थूलसूक्ष्मरूपाभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिवच्चेदं द्रष्टव्यम्। यथाहि प्रदीपः समानेऽपि संनिधाने स्थूलं रूपमभिव्यनक्ति न सूक्ष्मम्। एवं प्रायणं समानेऽप्यनारब्धफलस्य कर्मजातस्य प्राप्तावसरत्वे बलवतः कर्मणो वृत्तिमुद्भावयति न दुर्बलस्येति। तस्माच्छ्रुतिस्मृतिन्यायविरोधादश्लिष्टोऽयमशेषकर्माभिव्यक्त्यभ्युपगमः। शेषकर्मसद्भावेऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्ययमप्यस्थाने संभ्रमः। सम्यग्दर्शनादशेषकर्मक्षयश्रुतेः। तस्मात्स्थितमेतदेवानुशयवन्तोऽवरोहन्तीति। ते चावरोहन्तो यथेतमनेवं चावरोहन्ति। यथेतमिति यथागतमित्यर्थः। अनेवमिति तद्विपर्ययेणेत्यर्थः। धूमाकाशयोः पितृयाणेऽध्वन्युपात्तयोरवरोहे संकीर्तनाद्यथेतंशब्दाच्च यथागतमिति प्रतीयते। रात्र्याद्यसंकीर्तनादभ्राद्युपसंख्यानाच्च विपर्ययोऽपि प्रतीयते॥८॥

(३००) चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः॥९॥

अथापि स्यात्। या श्रुतिरनुशयसद्भावप्रतिपादनायोदाहृता—'तद्य इह रमणीयचरणाः' (छा० ५/१०/७) इति। सा खलु चरणाद्योन्यापत्तिं दर्शयति, नानुशयात्। अन्यच्चरणमन्योऽनुशयः। चरणं चारित्रमाचारः शीलमित्यनर्थान्तरम्। अनुशयस्तु भुक्तफलात्कर्मणोऽतिरिक्तं कर्माभिप्रेतम्। श्रुतिश्च कर्मचरणे भेदेन व्यपदिशति—'यथाकारी यथाचारी तथा भवति' (बृ० ४/४/५) इति, 'यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि नो इतराणि, यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि' (तै० १/११/२) इति च। तस्माच्चरणाद्योन्यापत्तिश्रुतेर्नानुशयसिद्धिरितिचेत्। नैष दोषः। यतोऽनुशयोपलक्षणार्थैवैषा चरणश्रुतिरिति कार्ष्णाजिनिराचार्यो मन्यते॥९॥

(३०१) आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात्॥१०॥

स्यादेतत्। कस्मात्पुनश्चरणशब्देन श्रौतं शीलं विहाय लाक्षणिकोऽनुशयः प्रत्याय्यते। ननु शीलस्यैव श्रौतस्य विहितप्रतिषिद्धस्य साध्वसाधुरूपस्य शुभाशुभयोन्यापत्तिः फलं भविष्यति। अवश्यं च शीलस्यापि किंचित्फलमभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा ह्यानर्थक्यमेव शीलस्य प्रसज्येतेति चेत्। नैषः दोषः। कुतः? तदपेक्षत्वात्। इष्टादि

हि कर्मजातं चरणापेक्षम्। नहि सदाचारहीनः कश्चिदधिकृतः स्यात्—'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' इत्यादिस्मृतिभ्यः पुरुषार्थत्वेऽप्याचारस्य नानर्थक्यम्। इष्टादौ हि कर्मजाते फलमारभमाणे तदपेक्ष एवाचारस्तत्रैव कंचिदतिशयमारप्स्यते। कर्म च सर्वार्थकारीति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिः। तस्मात्कर्मैव शीलोपलक्षितमनुशयभूतं योन्यापत्तौ कारणमिति कार्ष्णाजिनेर्मतम्। नहि कर्मणि संभवति शीलाद्योन्यापत्तिर्युक्ता। नहि पद्भ्यां पलायितुं पारयमाणो जानुभ्यां रंहितुमर्हतीति॥१०॥

(३०२) सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः॥११॥

बादरिस्त्वाचार्यः सुकृतदुष्कृते एव चरणशब्देन प्रत्याय्येते इति मन्यते। चरणमनुष्ठानं कर्मेत्यनर्थान्तरम्। तथाहि—अविशेषेण कर्ममात्रे चरतिः प्रयुज्यमानो दृश्यते। यो हीष्टादिलक्षणं पुण्यं कर्म करोति तं लौकिका आचक्षते धर्मं चरत्येष महात्मेति। आचारोऽपि च धर्मविशेष एव। भेदव्यपदेशस्तु कर्मचरणयोर्ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेनाप्युपपद्यते। तस्माद्रमणीयचरणाः प्रशस्तकर्माणः कपूयचरणा निन्दितकर्माण इति निर्णयः॥११॥

(८९) अनिष्टादिकार्यधिकरणम्॥३॥ (सू० १२-२१)

(३०३) अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम्॥१२॥

इष्टादिकारिणश्चन्द्रमसं गच्छन्तीत्युक्तम्। ये त्वितरेऽनिष्टादिकारिणस्तेऽपि किं चन्द्रमसं गच्छन्त्युत न गच्छन्तीति चिन्त्यते। तत्र तावदाहुः—इष्टादिकारिण एव चन्द्रमसं गच्छन्तीत्येतन्न। कस्मात्? यतोऽनिष्टादिकारिणामपि चन्द्रमण्डलं गन्तव्यत्वेन श्रुतम्। यथाह्यविशेषेण कौषीतकिनः समामनन्ति—'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (कौषी० १/२) इति। देहारम्भोऽपि च पुनर्जायमानानां नान्तरेण चन्द्रप्राप्तिमवकल्पते। पञ्चम्यामाहुतावित्याहुतिसंख्यानियमात्। यस्मात्सर्व एव चन्द्रमसमासीदेयुः। इष्टादिकारिणामितरेषां च समानगतित्वं न युक्तमिति चेत्। न। इतरेषां चन्द्रमण्डले भोगाभावात्॥१२॥

(३०४) संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात्॥१३॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति सर्वे चन्द्रमसं गच्छन्तीति। कस्मात्? यतो भोगायैव चन्द्रारोहणं, न निष्प्रयोजनम्, नापि प्रत्यवरोहायैव। यथा कश्चि-

द्वृक्षमारोहति पुष्पफलोपादानायैव, न निष्प्रयोजनं, नापि पतनायैव। भोगश्चानिष्टादिकारिणां चन्द्रमसि नास्तीत्युक्तम्। तस्मादिष्टादिकारिण एव चन्द्रमसमारोहन्ति नेतरे। ते तु संयमनं यमालयमवगाह्य स्वदुष्कृतानुरूपा यामीर्यातना अनुभूय पुनरेवेमं लोकं प्रत्यवरोहन्ति। एवंभूतौ तेषामारोहावरोहौ भवतः। कुतः? तद्गतिदर्शनात्। तथाहि यमवचनसरूपा श्रुतिः प्रयतामनिष्टादिकारिणां यमवश्यतां दर्शयति—'न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे (क० २/६) इति। 'वैवस्वतं संगमनं जनानाम्' इत्येवंजातीयकं च बह्वेव यमवश्यताप्राप्तिलिङ्गं भवति॥१३॥

(३०५) स्मरन्ति च॥१४॥

अपिच मनुव्यासप्रभृतयः शिष्टाः संयमने पुरे यमायत्तं कपूयकर्मविपाकं स्मरन्ति नाचिकेतोपाख्यानादिषु॥१४॥

(३०६) अपिच सप्त॥१५॥

अपिच सप्त नरका रौरवप्रमुखा दुष्कृतफलोपभोगभूमित्वेन स्मर्यन्ते पौराणिकैः। ताननिष्टादिकारिणः प्राप्नुवन्ति। कुतस्ते चन्द्रं प्राप्नुयुरित्यभिप्रायः॥१५॥

ननु विरुद्धमिदं यमायत्ता यातनाः पापकर्माणोऽनुभवन्तीति। यावता तेषु रौरवादिष्वन्ये चित्रगुप्तादयो नानाधिष्ठातारः स्मर्यन्त इति। नेत्याह—

(३०७) तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः॥१६॥

तेष्वपि सप्तसु नरकेषु तस्यैव यमस्याधिष्ठातृत्वव्यापाराभ्युपगमादविरोधः। यमप्रयुक्ता एव हि ते चित्रगुप्तादयोऽधिष्ठातारः स्मर्यन्ते॥१६॥

(३०८) विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात्॥१७॥

पञ्चाग्निविद्यायाम् 'वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५/३/३) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनावसरे श्रूयते—'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति। जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५/१०/८) इति। तत्रैतयोः पथोरिति विद्याकर्मणोरित्येतत्। कस्मात्? प्रकृतत्वात्। विद्याकर्मणी हि देवयानपितृयाणयोः पथोः प्रतिपत्तौ प्रकृते। 'तद्य इत्थं विदुः' इति विद्या तया प्रतिपत्तव्यो देवयानः पन्थाः प्रकीर्तितः। 'इष्टापूर्ते

दत्तम्' (छा० ५/१०/१,३) इति कर्म, तेन प्रतिपत्तव्यः पितृयाणः पन्थाः प्रकीर्तितः। तत्प्रक्रियायाम्—'अथैतयोः पथोर्नकतरेणचन' इति श्रुतम्। एतदुक्तं भवति—ये न विद्यासाधनेन देवयाने पथ्यधिकृता, नापि कर्मणा पितृयाणे, तेषामेष क्षुद्रजन्तुलक्षणोऽसकृदावर्ती तृतीयः पन्था भवतीति। तस्मादपि नानिष्टादिकारिभिश्चन्द्रमाः प्राप्यते।

स्यादेतत्। तेऽपि चन्द्रबिम्बमारुह्य ततोऽवरुह्य क्षुद्रजन्तुत्वं प्रतिपत्स्यन्त इति। तदपि नास्ति। आरोहानर्थक्यात्। अपिच सर्वेषु प्रयत्सु चन्द्रलोकं प्राप्नुवत्स्वसौ लोकः प्रयद्भिः संपूर्येतेत्यतः प्रश्नविरुद्धं प्रतिवचनं प्रसज्येत। तथाहि प्रतिवचनं दातव्यं, यथाऽसौ लोको न संपूर्यते। अवरोहाभ्युपगमादसंपूर्णोपपत्तिरिति चेत्। न। अश्रुतत्वात्। सत्यमवरोहादप्यसंपूरणमुपपद्यते। श्रुतिस्तु तृतीयस्थानसंकीर्तनेनासंपूरणं दर्शयति—'एतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५/१०/८) इति। तेनानारोहादेवासंपूरणमिति युक्तम्। अवरोहस्येष्टादिकारिष्वप्यविशिष्टत्वे सति तृतीयस्थानोक्त्यानर्थक्यप्रसङ्गात्। तुशब्दस्तु शाखान्तरीयवाक्यप्रभवामशेषगमनाशङ्कामुच्छिनत्ति। एवं सत्यधिकृतापेक्षः शाखान्तरीये वाक्ये सर्वशब्दोऽवतिष्ठते। ये वै केचिदधिकृता अस्माल्लोकात्प्रयन्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्तीति॥१७॥

यत्पुनरुक्तं देहलाभोपपत्तये सर्वे चन्द्रमसं गन्तुमर्हन्ति, पञ्चम्यामाहुताविर्त्याहुतिसंख्यानियमादिति। तत्प्रत्युच्यते—

(३०९) न तृतीये तथोपलब्धेः॥१८॥

न तृतीये स्थाने देहलाभाय पञ्चसंख्यानियम आहुतीनामादर्तव्यः। कुतः ? तथोपलब्धेः। तथाह्यन्तरेणैवाहुतिसंख्यानियमं वर्णितेन प्रकारेण तृतीयस्थानप्राप्तिरुपलभ्यते 'जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्' (छा० ५/१०/८) इति। अपिच 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५/३/३) इति मनुष्यशरीरहेतुत्वेनाहुतिसंख्या संकीर्त्यते, न कीटपतङ्गादिशरीरहेतुत्वेन, पुरुषशब्दस्य मनुष्यजातिवचनत्वात्। अपिच पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वमुपदिश्यते नापञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचस्त्वं प्रतिषिध्यते, वाक्यस्य द्व्यर्थतादोषात्। तत्र येषामारोहावरोहौ संभवतस्तेषां पञ्चम्यामाहुतौ देह उद्भविष्यति। अन्येषां तु विनैवाहुतिसंख्यया भूतान्तरोपसृष्टाभिरद्भिर्देह आरप्स्यते॥१८॥

(३१०) स्मर्यतेऽपि च लोके॥१९॥

अपिच स्मर्यते लोके। द्रोणधृष्टद्युम्नप्रभृतीनां सीताद्रौपदीप्रभृतीनां चायो-

निजत्वम्। तत्र द्रोणादीनां योषिद्विषयैकाहुतिर्नास्ति। धृष्टद्युम्नादीनां तु योषित्पुरुषविषये द्वे अप्याहुती न स्तः। यथा च तत्राहुतिसंख्यानादरो भवत्येवमन्यत्रापि भविष्यति। बलाकाप्यन्तरेणैव रेतःसेकं गर्भं धत्त इति लोकरूढिः॥१९॥

(३११) दर्शनाच्च॥२०॥

अपिच चतुर्विधे भूतग्रामे जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जलक्षणे स्वेदजोद्भिज्जयोरन्तरेणैव ग्राम्यधर्ममुत्पत्तिदर्शनादाहुतिसंख्यानादरो भवति। एवमन्यत्रापि भविष्यति॥२०॥

ननु 'तेषां भूतानां खल्वेषां 'त्रीण्येव बीजानि भवन्ति' अण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (छा० ६/३/१) इति। अत्र त्रिविध एव भूतग्रामः श्रूयते, कथं चतुर्विधत्वं भूतग्रामस्य प्रतिज्ञातमिति। अत्रोच्यते—

(३१२) तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य॥२१॥

'अण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (छा० ६/३/१) इत्यत्र तृतीयेनोद्भिज्जशब्देनैव स्वेदजोपसंग्रहः कृतः प्रत्येतव्यः। उभयोरपि स्वेदजोद्भिज्जयोर्भूम्युदकोद्भेदप्रभवत्वस्य तुल्यत्वात्। स्थावरोद्भेदात्तु विलक्षणो जङ्गमोद्भेद इत्यन्यत्र स्वेदजोद्भिज्जयोर्भेदवाद इत्यविरोधः॥२१॥

(९०) साभाव्यापत्त्यधिकरणम्॥४॥ (सू० २२)

इष्टादिकारिणश्चन्द्रमसमारुह्य तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वा ततः सानुशया अवरोहन्तीत्युक्तम्। अथावरोहप्रकारः परीक्ष्यते। तत्रेयमवरोहश्रुतिर्भवति? 'अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति' (छा० ५/१०/५) इति। तत्र संशयः—किमाकाशादिस्वरूपमेवावरोहन्तः प्रतिपद्यन्ते, किंवाकाशादिसाम्यमिति। तत्र प्राप्तं तावदाकाशादिस्वरूपमेव प्रतिपद्यन्त इति। कुतः—एवं हि श्रुतिर्भवति। इतरथा लक्षणा स्यात्। श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या, न लक्षणा। तथाच वायुर्भूत्वा धूमो भवतीत्येवमादीन्यक्षराणि तत्तत्स्वरूपोपपत्तावाञ्जस्येनावकल्पन्ते। तस्मादाकाशादिस्वरूपप्रतिपत्तिरिति।

(३१३) साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः॥२२॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आकाशादिसाम्यं प्रतिपद्यन्त इति। चन्द्रमण्डले यदम्मयं

शरीरमुपभोगार्थमारब्धं, तदुपभोगक्षये सति प्रविलीयमानं सूक्ष्ममाकाशसमं भवति ततो वायोर्वशमेति ततो धूमादिभिः संपृच्यत इति। तदेतदुच्यते—'यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुम्' (छा० ५/१०/५) इत्येवमादिना। कुत एतत्? उपपत्तेः। एवं ह्येतदुपपद्यते। नह्यन्यस्यान्यभावो मुख्य उपपद्यते। आकाशस्वरूपप्रतिपत्तौ च वाय्वादिक्रमेणावरोहो नोपपद्यते। विभुत्वाच्चाकाशेन नित्यसंबन्धवत्त्वान्न तत्सादृश्यापत्तेरन्यस्तत्संबन्धो घटते। श्रुत्यसंभवे च लक्षणाश्रयणं न्याय्यमेव। अत आकाशादितुल्यतापत्तिरेवात्राकाशादिभाव इत्युपचर्यते॥२२॥

(११) नातिचिराधिकरणम्॥५॥ (सू० २३)

तत्राकाशादिप्रतिपत्तौ प्राग्व्रीह्यादिप्रतिपत्तेर्भवति विशयः। किं दीर्घं कालं पूर्वपूर्वसादृश्येनावस्थायोत्तरोत्तरसादृश्यं गच्छन्त्युताल्पमल्पमिति। तत्रानियमो, नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादिति।

(३१४) नातिचिरेण विशेषात्॥२३॥

एवं प्राप्त इदमाह—नातिचिरेणेति। अल्पमल्पं कालमाकाशादिभावेनावस्थाय वर्षधाराभिः सहेमां भुवमापतन्ति। कुत एतत्। विशेषदर्शनात्। तथाहि व्रीह्यादिभावापत्तेरनन्तरं विशिनष्टि—'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्' (छा० ५/१०/६) इति। तकार एकश्छान्दस्यां प्रक्रियायां लुप्तो मन्तव्यः। दुर्निष्प्रपतरं दुर्निष्क्रमतरं दुःखतरमस्माद्व्रीह्यादिभावान्निःसरणं भवतीत्यर्थः। तदत्र दुःखं निष्प्रपतनं प्रदर्शयन्पूर्वेषु सुखं निष्प्रपतं दर्शयति। सुखदुःखताविशेषश्चायं निष्प्रपतनस्य कालाल्पत्वदीर्घत्वनिमित्तः। तस्मिन्नवधौ शरीरानिष्पत्तेरुपभोगासंभवात्। तस्माद्व्रीह्यादिभावापत्तेः प्रागल्पेनैव कालेनावरोहः स्यादिति॥२३॥

(१२) अन्याधिष्ठिताधिकरणम्॥६॥ (सू० २४-२७)

तस्मिन्नेवावरोहे प्रवर्षणानन्तरं पठ्यते—'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते' (छा० ५/१०/६) इति। तत्र संशयः—किमस्मिन्नवधौ स्थावरजात्यापन्नाः स्थावरसुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्त्याहोस्वित्क्षेत्रज्ञान्तराधिष्ठितेषु स्थावरशरीरेषु संश्लेषमात्रं गच्छन्तीति। किं तावत्प्राप्तम्? स्थावरजात्यापन्नास्तत्सुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्तीति। कुत एतत्? जनेर्मुख्यार्थत्वोपपत्तेः स्थावरभावस्य

च श्रुतिस्मृत्योरुपभोगस्थानत्वप्रसिद्धेः। पशुहिंसादियोगाच्चेष्टादेः कर्मजातस्यानिष्टफलत्वोपपत्तेः। तस्मान्मुख्यमेवेदमनुशयिनां व्रीह्यादिजन्म। श्वादिजन्मवत्। यथा श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वेति मुख्यमेवानुशयिनां श्वादिजन्म तत्सुखदुःखान्वितं भवति। एवं व्रीह्यादिजन्मापीति।

(३१५) अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्॥२४॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—अन्यैर्जीवैरधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु संसर्गमात्रमनुशयिनः प्रतिपद्यन्ते न तत्सुखदुःखभाजो भवन्ति। पूर्ववत्। यथा वायुधूमादिभावोऽनुशयिनां तत्संश्लेषमात्रम्। एवं व्रीह्यादिभावोऽपि जातिस्थावरैः संश्लेषमात्रम्। कुत एतत्? तद्वदेवेहाप्यभिलापात्। कोऽभिलापस्य तद्वद्भावः। कर्मव्यापारमन्तरेण संकीर्तनम्। यथाकाशादिषु प्रवर्षणान्तेषु न कंचित्कर्मव्यापारं परामृशत्येवं व्रीह्यादिजन्मन्यपि। तस्मान्नास्त्यत्र सुखदुःखभाक्त्वमनुशयिनाम्। यत्र तु सुखदुःखभाक्त्वमभिप्रैति, परामृशति तत्र कर्मव्यापारं रमणीयचरणाः कपूयचरणा इति च।

अपिच मुख्येऽनुशयिनां व्रीह्यादिजन्मनि व्रीह्यादिषु लूयमानेषु कण्ड्यमानेषु पच्यमानेषु भज्यमानेषु भक्ष्यमाणेषु च तदभिमानिनोऽनुशयिनः प्रवसेयुः। यो हि जीवो यच्छरीरमभिमन्यते स तस्मिन्पीड्यमाने प्रवसतीति प्रसिद्धम्। तत्र व्रीह्यादिभावाद्रेतःसिग्भावोऽनुशयिनां नाभिलप्येत। अतः संसर्गमात्रमनुशयिनामन्याधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु भवति। एतेन जनेर्मुख्यार्थत्वं प्रतिब्रूयादुपभोगस्थानत्वं च स्थावरभावस्य। नच वयमुपभोगस्थानत्वं स्थावरभावस्यावजानीमहे। भवत्वन्येषां जन्तूनामपुण्यसामर्थ्येन स्थावरभावमुपगतानामेतदुपभोगस्थानम्। चन्द्रमसस्त्ववरोहन्तोऽनुशयिनो न स्थावरभावमुपभुञ्जत इत्याचक्ष्महे॥२४॥

(३१६) अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्॥२५॥

यत्पुनरुक्तं पशुहिंसादियोगादशुद्धमाध्वरिकं कर्म, तस्यानिष्टमपि फलमवकल्पत इत्यतो मुख्यमेवानुशयिनां व्रीह्यादिजन्मास्तु, तत्र गौणी कल्पनानर्थिकेति तत्परिह्रियते। न, शास्त्रहेतुत्वाद्धर्माधर्मविज्ञानस्य। अयं धर्मोऽयमधर्म इति शास्त्रमेव विज्ञाने कारणम्। अतीन्द्रियत्वात्तयोः, अनियतदेशकालनिमित्तत्वाच्च। यस्मिन्देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते, स एव देशकालनिमित्तान्तरेष्वधर्मो

भवति। तेन शास्त्रादृते धर्माधर्मविषयं विज्ञानं न कस्यचिदस्ति। शास्त्राच्च हिंसानुग्रहाद्यात्मको ज्योतिष्टोमो धर्म इत्यवधारितः, स कथमशुद्ध इति शक्यते वक्तुम्।

ननु 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति शास्त्रमेव भूतविषयां हिंसामधर्म इत्यवगमयति। बाढम्। उत्सर्गस्तु सः। अपवादः 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इति। उत्सर्गापवादयोश्च व्यवस्थितविषयत्वम्। तस्माद्विशुद्धं कर्म वैदिकं, शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वादनिन्द्यमानत्वाच्च। तेन न तस्य प्रतिरूपं फलं जातिस्थावरत्वम्। नच श्वादिजन्मवदपि व्रीह्यादिजन्म भवितुमर्हति। तद्धि कपूयचरणानधिकृत्योच्यते नैवमिह वैशेषिकः कश्चिदधिकारोऽस्ति। अतश्चन्द्रमण्डलस्खलितानामनुशयिनां व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं तद्भाव इत्युपचर्यते॥२५॥

(३१७) रेतःसिग्योगोऽथ॥२६॥

इतश्च व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं तद्भावो, यत्कारणं व्रीह्यादिभावस्यानन्तरमनुशयिनां रेतःसिग्भाव आम्नायते—'यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति' (छा० ५/१०/६) इति। नचात्र मुख्यो रेतःसिग्भावः संभवति। चिरजातो हि प्राप्तयौवनो रेतःसिग्भवति। कथमिवानुपचरितं तद्भावमद्यमानान्नानुगतोऽनुशयी प्रतिपद्यते। तत्र तावदवश्यं रेतःसिग्योग एव रेतःसिग्भावोऽभ्युपगन्तव्यः। तद्वद्व्रीह्यादिभावोऽपि व्रीह्यादियोग एवेत्यविरोधः॥२६॥

(३१८) योनेः शरीरम्॥२७॥

अथ रेतःसिग्भावस्यानन्तरं योनौ निषिक्ते रेतसि योनेरधिशरीरमनुशयिनामनुशयफलोपभोगाय जायत इत्याह शास्त्रम्—'तद्य इह रमणीयचरणाः' (छा० ५/१०/७) इत्यादि। तस्मादप्यवगम्यते नावरोहे व्रीह्यादिभावावसरे तच्छरीरमेव सुखदुःखान्वितं भवतीति। तस्माद्व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रमनुशयिनां तज्जन्मेति सिद्धम्॥२७॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः॥१॥

विश्रामः॥२१॥

* * * *

ॐ

॥ तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः ॥

(अत्र पादे पूर्वभागेन त्वंपदार्थस्योत्तरभागेन तत्पदार्थस्य च शोधनम्)

(१३) संध्याधिकरणम् ॥ १ ॥ (सू. १-६)

(३१९) संध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥

अतिक्रान्ते पादे पञ्चाग्निविद्यामुदाहृत्य जीवस्य संसारगतिप्रभेदः प्रपञ्चितः। इदानीं तु तस्यैवावस्थाभेदः प्रपञ्च्यते। इदमामनन्ति—'स यत्र प्रस्वपिति' (बृ० ४/३/९) इत्युपक्रम्य 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' (बृ० ४/३/१०) इत्यादि। तत्र संशयः—किं प्रबोध इव स्वप्नेऽपि पारमार्थिकी सृष्टिराहोस्विन्मायामयीति। तत्र तावत्प्रतिपद्यते संध्ये तथ्यरूपा सृष्टिरिति। संध्यमिति स्वप्नस्थानमाचष्टे, वेदे प्रयोगदर्शनात् 'संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्' (बृ० ४/३/९) इति। द्वयोर्लोकस्थानयोः प्रबोधसंप्रसादस्थानयोर्वा संधौ भवतीति संध्यम्। तस्मिन्संध्ये स्थाने तथ्यरूपैव सृष्टिर्भवितुमर्हति। कुतः? यतः प्रमाणभूता श्रुतिरेवमाह 'अथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते (बृ० ४/३/१०) इत्यादि। स हि कर्तेति चोपसंहारादेवमेवावगम्यते ॥ १ ॥

(३२०) निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

अपि चैके शाखिनोऽस्मिन्नेव संध्ये स्थाने कामानां निर्मातारमात्मानमामनन्ति—'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः' (क० ५/८) इति। पुत्रादयश्च तत्र कामा अभिप्रेयन्ते काम्यन्त इति। ननु कामशब्देनेच्छाविशेषा एवोच्येरन्। न। 'शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व' (क० १/२३) इति प्रकृत्यान्ते 'कामानां त्वा कामभाजं करोमि' (क० १/२४) इति प्रकृतेषु तत्र तत्र पुत्रादिषु कामशब्दस्य प्रयुक्तत्वात्। प्राज्ञं चैनं निर्मातारं प्रकरणवाक्यशेषाभ्यां प्रतीमः। प्राज्ञस्य हीदं प्रकरणम् 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २/१४) इत्यादि, तद्विषय एव च वाक्यशेषोऽपि—'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन' (क० ५/८) इति। प्राज्ञकर्तृका च सृष्टिस्तथ्यरूपा समधिगता जागरिताश्रया, तथा

स्वप्नाश्रयापि सृष्टिर्भवितुमर्हति। तथाच श्रुतिः—'अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैव इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्तः' (बृ० ४/३/१४) इति स्वप्नजागरितयोः समानन्यायतां श्रावयति। तस्मात्तथ्यरूपैव संध्ये सृष्टिरिति॥२॥

एवं प्राप्ते प्रत्याह—

(३२१) मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्॥३॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति, यदुक्तं संध्ये सृष्टिः पारमार्थिकीति। मायैव संध्ये सृष्टिर्न परमार्थगन्धोऽप्यस्ति। कुतः? कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्। नहि कार्त्स्न्येन परमार्थवस्तुधर्मेणाभिव्यक्तस्वरूपः स्वप्नः। किं पुनरत्र कार्त्स्न्यमभिप्रेतं, देशकालनिमित्तसंपत्तिरबाधश्च। नहि परमार्थवस्तुविषयाणि देशकालनिमित्तान्यबाधश्च स्वप्ने संभाव्यन्ते। न तावत्स्वप्ने रथादीनामुचितो देशः संभवति। नहि संवृते देहदेशे रथादयोऽवकाशं लभेरन्।

स्यादेतत्। बहिर्देहात्स्वप्नं द्रक्ष्यति, देशान्तरितद्रव्यग्रहणात्। दर्शयति च श्रुति-र्बहिर्देहात्स्वप्नम्—'बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा। स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्' (बृ० ४/३/१२) इति स्थितिगतिप्रत्ययभेदश्च नानिष्क्रान्ते जन्तौ सामञ्जस्यमश्नुवीतेति। नेत्यु-च्यते। नहि सुप्तस्य जन्तोः क्षणमात्रेण योजनशतान्तरितं देशं पर्येतुं विपर्येतुं च ततः सामर्थ्यं संभाव्यते। क्वचिच्च प्रत्यागमनवर्जितं स्वप्नं श्रावयति कुरुष्वहमद्य शयानो निद्रयाऽभिप्लुतः स्वप्ने पञ्चालानभिगतश्चास्मिन्प्रतिबुद्धश्चेति। देहाच्चेदपेया-त्पञ्चालेषु प्रतिबुध्येत तानसावभिगत इति कुरुष्वेव तु प्रतिबुध्यते। येन चायं देहेन देशान्तरमश्नुवानो मन्यते, तमन्ये पार्श्वस्थाः शयनदेश एव पश्यन्ति। यथाभूतानि चायं देशान्तराणि स्वप्ने पश्यति, न तानि तथाभूतान्येव भवन्ति। परिधावंश्चेत्पश्येज्जाग्रद्व-द्वस्तुभूतमर्थमाकलयेत्। दर्शयति च श्रुतिरन्तरेव देहे स्वप्नम्—'स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति' इत्युपक्रम्य 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' (बृ० २/१/१८) इति। अतश्च श्रुत्युपपत्तिविरोधाद्बहिष्कुलायश्रुतिर्गौणी व्याख्यातव्या बहिरिव कुलायादमृतश्च-रित्वेति। यो हि वसन्नपि शरीरे न तेन प्रयोजनं करोति स बहिरिव शरीराद्भवतीति। स्थितिगतिप्रत्ययभेदोऽप्येवं सति विप्रलम्भ एवाभ्युपगन्तव्यः। कालविसंवादोऽपि च स्वप्ने भवति—रजन्यां सुप्तो वासरं भारते वर्षे मन्यते। तथा मुहूर्तमात्रवर्तिनि स्वप्ने

कदाचिद्बहुवर्षपूगानतिवाहयति। निमित्तान्यपि च स्वप्ने न बुद्धये कर्मणे वोचितानि विद्यन्ते। करणोपसंहाराद्धि नास्य रथादिग्रहणाय चक्षुरादीनि सन्ति। रथादिनिर्वर्तनेऽपि कुतोऽस्य निमेषमात्रेण सामर्थ्यं दारूणि वा। बाध्यन्ते चैते रथादयः स्वप्नदृष्टाः प्रबोधे। स्वप्न एव चैते सुलभबाधा भवन्ति। आद्यन्तयोर्व्यभिचारदर्शनात्। रथोऽयमिति हि कदाचित्स्वप्ने निर्धारितः क्षणेन मनुष्यः संपद्यते मनुष्योऽयमिति निर्धारितः क्षणेन वृक्षः। स्पष्टं चाभावं रथादीनां स्वप्ने श्रावयति शास्त्रम्—'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति' (बृ० ४/३/१०) इत्यादि। तस्मान्मायामात्रं स्वप्नदर्शनम्॥३॥

(३२२) सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः॥४॥

मायामात्रत्वात्तर्हि न कश्चित्स्वप्ने परमार्थगन्धोऽस्तीति। नेत्युच्यते। सूचकश्च हि स्वप्नो भवति भविष्यतोः साध्वसाधुनोः। तथाहि श्रूयते—'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने' (छा० ५/२/९) तथा पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति' इत्येवमादिभिः स्वप्नैरचिरजीवित्वमावेद्यत इति श्रावयति। आचक्षते च स्वप्नाध्यायविदः—'कुञ्जरारोहणादीनि स्वप्ने धन्यानि खरयानादीन्यधन्यानि' इति। मन्त्रदेवताद्रव्यविशेषनिमित्ताश्च केचित्स्वप्नाः सत्यार्थगन्धिनो भवन्तीति मन्यन्ते। तत्रापि भवतु नाम सूच्यमानस्य वस्तुनः सत्यत्वं, सूचकस्य तु स्त्रीदर्शनादेर्भवत्येव वैतथ्यं, बाध्यमानत्वादित्यभिप्रायः। तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम्।

यदुक्तम् 'आह हि' इति तदेवं सति भाक्तं व्याख्यातव्यम्। यथा लाङ्गलं गवादीनुद्वहतीति निमित्तमात्रत्वादेवमुच्यते, नतु प्रत्यक्षमेव लाङ्गलं गवादीनुद्वहति। एवं निमित्तमात्रत्वात्सुप्तो रथादीन्सृजते स हि कर्तेति चोच्यते, नतु प्रत्यक्षमेव सुप्तो रथादीन्सृजति। निमित्तत्वं त्वस्य रथादिप्रतिभाननिमित्तमोदत्रासादिदर्शनात्तन्निमित्तभूतयोः सुकृतदुष्कृतयोः कर्तृत्वेनेति वक्तव्यम्। अपिच जागरिते विषयेन्द्रियसंयोगादादित्यादिज्योतिर्व्यतिकराच्चात्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वं दुर्विवेचनमिति तद्विवेचनाय स्वप्न उपन्यस्तः। तत्र यदि रथादिसृष्टिवचनं श्रुत्या नीयेत, तदा स्वयंज्योतिष्ट्वं न निर्णीतं स्यात्। तस्माद्रथाद्यभाववचनं श्रुत्या, रथादिसृष्टिवचनं तु भक्त्येति व्याख्येयम्। एतेन निर्माणश्रवणं व्याख्यातम्।

यदप्युक्तम्—'प्राज्ञमेनं निर्मातारमामनन्ति' इति। तदप्यसत्। श्रुत्यन्तरे 'स्वयं

विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति' (बृ० ४/३/९) इति जीवव्यापारश्रवणात्। इहापि 'य एष सुप्तेषु जागर्ति' (क० ५/८) इति प्रसिद्धानुवादाज्जीव एवायं कामानां निर्माता संकीर्त्यते। तस्य तु वाक्यशेषेण तदेव शुक्रं तद्ब्रह्मेति जीवभावं व्यावर्त्य ब्रह्मभाव उपदिश्यते—'तत्त्वमसि' (छा० ६/९/४) इत्यादिवदिति न ब्रह्मप्रकरणं विरुध्यते। नचास्माभिः स्वप्नेऽपि प्राज्ञव्यवहारः प्रतिषिध्यते। तस्य सर्वेश्वरत्वात्सर्वास्ववस्थास्वधिष्ठातृत्वोपपत्तेः। पारमार्थिकस्तु नायं संध्याश्रयः सर्गो वियदादिसर्गवदित्येतावत्प्रतिपाद्यते। नच वियदादिसर्गस्याप्यात्यन्तिकं सत्यत्वमस्ति। प्रतिपादितं हि 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २/१/१४) इत्यत्र समस्तस्य प्रपञ्चस्य मायामात्रत्वम्। प्राक्तु ब्रह्मात्मत्वदर्शनाद्वियदादिप्रपञ्चो व्यवस्थितरूपो भवति। संध्याश्रयस्तु प्रपञ्चः प्रतिदिनं बाध्यत इति। अतो वैशेषिकमिदं संध्यस्य मायामात्रत्वमुदितम्॥४॥

(३२३) पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ॥५॥

अथापि स्यात्परस्यैव तावदात्मनोंऽशो जीवोऽग्नेरिव विस्फुलिङ्गः। तत्रैवं सति यथाग्निविस्फुलिङ्गयोः समाने दहनप्रकाशनशक्ती भवत, एवं जीवेश्वरयोरपि ज्ञानैश्वर्यशक्ती, ततश्च जीवस्य ज्ञानैश्वर्यवशात्सांकल्पिकी स्वप्ने रथादिसृष्टिर्भविष्यतीति। अत्रोच्यते—सत्यपि जीवेश्वरयोरंशांशिभावे प्रत्यक्षमेव जीवस्येश्वरविपरीतधर्मत्वम्। किं पुनर्जीवस्येश्वरसमानधर्मत्वं नास्त्येव? न नास्त्येव। विद्यमानमपि तत्तिरोहितमविद्यादिव्यवधानात्। तत्पुनस्तिरोहितं सत्परमेश्वरमभिध्यायतो यतमानस्य जन्तोर्विधूतध्वान्तस्य तिमिरतिरस्कृतेव दृक्शक्तिरौषधवीर्यादीश्वरप्रसादात्संसिद्धस्य कस्यचिदेवाविर्भवति, न स्वभावत एव सर्वेषां जन्तूनाम्। कुतः? ततो हीश्वराद्धेतोरस्य जीवस्य बन्धमोक्षौ भवतः। ईश्वरस्वरूपापरिज्ञानाद्बन्धस्तत्स्वरूपपरिज्ञानात्तु मोक्षः। तथाच श्रुतिः—'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।' तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः' (श्वे० १/११) इत्येवमाद्या॥५॥

(३२४) देहयोगाद्वा सोऽपि॥६॥

कस्मात्पुनर्जीवः परमात्मांश एव संस्तिरस्कृतज्ञानैश्वर्यो भवति। युक्तं तु ज्ञानैश्वर्ययोरतिरस्कृतत्वं विस्फुलिङ्गस्येव दहनप्रकाशनयोरिति। उच्यते। सत्यमेवैतत्। सोऽपि

तु जीवस्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावो देहयोगाद्देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादियोगाद्भवति। अस्ति चात्रोपमा यथाग्नेर्दहनप्रकाशनसम्पन्नस्याप्यरणिगतस्य दहनप्रकाशने तिरोहिते भवतो, यथा वा भस्मच्छन्नस्य। एवमविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतदेहाद्युपाधियोगात्त-दविवेकभ्रमकृतो जीवस्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावः। वाशब्दो जीवेश्वरयोरन्यत्वाशङ्का-व्यावृत्त्यर्थः।

नन्वन्य एव जीव ईश्वरादस्तु, तिरस्कृतज्ञानैश्वर्यत्वात्किं देहयोगकल्पनया। नेत्युच्यते। नह्यन्यत्वं जीवस्येश्वरादुपपद्यते 'सेयं देवतैक्षत' (छा० ६/३/२) इत्यु-पक्रम्य 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' (छा० ६/३/२) इत्यात्मशब्देन जीवस्य परामर्शात्। 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६/९/४) इति च जीवायोपदिशतीश्वरात्मत्वम्। अतोऽनन्य एवेश्वराज्जीवः संदेहयोगात्तिरोहितज्ञानैश्वर्यो भवति। अतश्च न सांकल्पिकी जीवस्य स्वप्ने रथादिसृष्टिर्घटते। यदि च सांकल्पिकी स्वप्ने रथादिसृष्टिः स्यान्नैवानिष्टं कश्चित्स्वप्नं पश्येत्। नहि कश्चिदनिष्टं संकल्पयते।

यत्पुनरुक्तं जागरितदेशश्रुतिः स्वप्नस्य सत्यत्वं स्थापयतीति न तत्साम्यवचनं सत्यत्वाभिप्रायं, स्वयंज्योतिष्ट्वविरोधात्। श्रुत्यैव च स्वप्ने रथाद्यभावस्य दर्शितत्वात्। जागरितप्रभववासनानिर्मितत्वात्तु स्वप्नस्य तत्तुल्यनिर्भासत्वाभिप्रायं तत्। तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम्॥६॥

(१४) तदभावाधिकरणम्॥२॥ (सू० ७-८)

(३२५) तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च॥७॥

स्वप्नावस्था परीक्षिता, सुषुप्तावस्थेदानीं परीक्ष्यते। तत्रैताः सुषुप्तिविषयाः श्रुतयो भवन्ति। क्वचिच्छ्रूयते—'तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति' (छा० ८/६/३) इति। अन्यत्र तु नाडीरेवानुक्रम्य श्रूयते—'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' (बृ० २/१/१९) इति। तथान्यत्र नाडीरेवानुक्रम्य 'तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' (कौषी० ४/१९) इति। तथान्यत्र 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' (बृ० २/१/१७) इति। तथान्यत्र 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६/८/१) इति। प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम् (बृ० ४/

३/२१) इति च। तत्र संशयः—किमेतानि नाड्यादीनि परस्परनिरपेक्षाणि भिन्नानि सुषुप्तिस्थानान्याहोस्वित्परस्परापेक्षयैकं सुषुप्तिस्थानमिति।

किं तावत्प्राप्तं भिन्नानीति। कुतः? एकार्थत्वात्। नह्येकार्थानां क्वचित्परस्परापेक्षत्वं दृश्यते व्रीहियवादीनाम्। नाड्यादीनां त्वेकार्थता सुषुप्तौ दृश्यते—'नाडीषु सृप्तो भवति' (छा० ८/६/३) 'पुरीतति शेते' (बृ० २/१/१९) इति च तत्र तत्र सप्तमीनिर्देशस्य तुल्यत्वात्। ननु नैवं सति सप्तमीनिर्देशो दृश्यते—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६/८/१) इति। नैष दोषः। तत्रापि सप्तम्यर्थस्य गम्यमानत्वात्। वाक्यशेषो हि 'तत्रायतनैषी जीवः सदुपसर्पति' इत्याह—'अन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते' (छा० ६/८/२) इति प्राणशब्देन तत्र प्रकृतस्य सत उपादानात्। आयतनं च सप्तम्यर्थः। सप्तमीनिर्देशोऽपि तत्र वाक्यशेषे दृश्यते—'सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामहे' (छा० ६/९/२) इति। सर्वत्र च विशेषविज्ञानोपरमलक्षणं सुषुप्तं न विशिष्यते। तस्मादेकार्थत्वान्नाड्यादीनां विकल्पेन कदाचित्किंचित्स्थानं स्वापायोपसर्पतीति।

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—तदभावो नाडीष्वात्मनि चेति। तदभाव इति तस्य प्रकृतस्य स्वप्नदर्शनस्याभावः सुषुप्तमित्यर्थः। नाडीष्वात्मनि चेति समुच्चयेनैतानि नाड्यादीनि स्वापायोपैति, न विकल्पेनेत्यर्थः। कुतः? तच्छ्रुतेः। तथाहि—सर्वेषामेव नाड्यादीनां तत्र तत्र सुषुप्तिस्थानत्वं श्रूयते, तच्च समुच्चये संगृहीतं भवति। विकल्पे ह्येषां पक्षे बाधः स्यात्।

नन्वेकार्थत्वाद्विकल्पो नाड्यादीनां व्रीहियवादिवदित्युक्तम्। नेत्युच्यते। नह्येकविभक्तिनिर्देशमात्रेणैकार्थत्वं विकल्पश्चापतति। नानार्थत्वसमुच्चययोरप्येकविभक्तिनिर्देशदर्शनात्प्रासादे शेते पर्यङ्के शेत इत्येवमादिषु। तथेहापि नाडीषु पुरीतति ब्रह्मणि च स्वपितीत्येतदुपपद्यते समुच्चयः। तथाच श्रुतिः—'तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' (कौषी० ४/१९) इति समुच्चयं नाडीनां प्राणस्य च सुषुप्तौ श्रावयत्येकवाक्योपादानात्। प्राणस्य च ब्रह्मत्वं समधिगतम्—'प्राणस्तथानुगमात्' (ब्र० सू० १/१/२८) इत्यत्र। यत्रापि निरपेक्षा इव नाडीः सुप्तिस्थानत्वेन श्रावयति—'आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति' (छा० ८/६/३) इति। तत्रापि प्रदेशान्तरप्रसिद्धस्य ब्रह्मणोऽप्रतिषेधान्नाडीद्वारेणैव ब्रह्मण्ये-

वावतिष्ठत इति प्रतीयते। नचैवमपि नाडीषु सप्तमी विरुध्यते। नाडीद्वारापि ब्रह्मोपसर्पन्सुप्त एव नाडीषु भवति। यो हि गङ्गया सागरं गच्छति गत एव स गङ्गायां भवति। अपिचात्र रश्मिनाडीद्वारात्मकस्य ब्रह्मलोकमार्गस्य विवक्षितत्वान्नाडीस्तुत्यर्थं सुप्तिसंकीर्तनम्। 'नाडीषु सुप्तो भवति' (छा० ८/६/३) इत्युक्त्वा 'तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति' (छा ८/६/३) इति ब्रुवन्नाडीः प्रशंसति। ब्रवीति च पाप्मस्पर्शाभावे हेतुम्—'तेजसा हि तदा संपन्नो भवति' (छा० ८/६/३) इति। तेजसा नाडीगतेन पित्ताख्येनाभिव्याप्तकरणो न बाह्यान्विषयानीक्षत इत्यर्थः।

अथवा तेजसेति ब्रह्मण एवायं निर्देशः। श्रुत्यन्तरे—'ब्रह्मैव तेज एव' (बृ० ४/४/७) इति तेजःशब्दस्य ब्रह्मणि प्रयुक्तत्वात्। ब्रह्मणा हि तदा संपन्नो भवति नाडीद्वारेणातस्तं न कश्चन पाप्मा स्पृशतीत्यर्थः। ब्रह्मसंपत्तिश्च पाप्मस्पर्शाभावे हेतुः समधिगतः—'सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः' (छा० ८/४/२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। एवं च सति प्रदेशान्तरप्रसिद्धेन ब्रह्मणा सुषुप्तिस्थानेनानुगतो नाडीनां समुच्चयः समधिगतो भवति। तथा पुरीततोऽपि ब्रह्मप्रक्रियायां संकीर्तनात्तदनुगुणमेव सुप्तिस्थानत्वं विज्ञायते—'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' (बृ० २/१/१७) इति हृदयाकाशे सुप्तिस्थाने प्रकृत इदमुच्यते 'पुरीतति शेते' (बृ० २/१/१९) इति। पुरीतदिति हृदयपरिवेष्टनमुच्यते। तदन्तर्वर्तिन्यपि हृदयाकाशे शयानः शक्यते पुरीतति शेत इति वक्तुम्। प्राकारपरिक्षिप्तेऽपि पुरे वर्तमानः प्राकारे वर्तत इत्युच्यते। हृदयाकाशस्य च ब्रह्मत्वं समधिगतम्—'दहर उत्तरेभ्यः' (ब्रू० सू० १/३/१४) इत्यत्र। तथा नाडीपुरीतत्समुच्चयोऽपि—'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' (बृ० २/१/१९) इत्येकवाक्योपादानादवगम्यते। सत्प्राज्ञयोश्च प्रसिद्धमेव ब्रह्मत्वम्। एवमेतासु श्रुतिषु त्रीण्येव सुषुप्तिस्थानानि संकीर्तितानि नाड्यः पुरीतद्ब्रह्म चेति। तत्रापि द्वारमात्रं नाड्यः पुरीतच्च, ब्रह्मैव त्वेकं सुषुप्तिस्थानम्।

अपिच नाड्यः पुरीतद्वा जीवस्योपाध्याधार एव भवति, तत्रास्य करणानि वर्तन्त इति। नह्युपाधिसंबन्धमन्तरेण स्वत एव जीवस्याधारः कश्चित्संभवति, ब्रह्माव्यतिरेकेण स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वात्। ब्रह्माधारत्वमप्यस्य सुषुप्ते नैवाधाराधेयभेदाभिप्रायेणोच्यते। कथं तर्हि, तादात्म्याभिप्रायेण। यत आह—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६/८/१) इति। स्वशब्देनात्माभिलप्यते, स्वरूपमापन्नः सुप्तो भवतीत्यर्थः। अपिच न कदाचिज्जीवस्य ब्रह्मणा संपत्तिर्नास्ति, स्वरूपस्यानपायित्वात्।

स्वप्नजागरितयोस्तूपाधिसंपर्कवशात्पररूपापत्तिमिवापेक्ष्य तदुपशमात्सुषुप्तेः स्वरूपापत्तिर्वक्ष्यते। अतश्च सुप्तावस्थायां कदाचित्सता संपद्यते कदाचिन्न संपद्यत इत्ययुक्तम्।

अपि च स्थानविकल्पाभ्युपगमेऽपि विशेषविज्ञानोपशमलक्षणं तावत्सुषुप्तं न क्वचिद्विशिष्यते। तत्र सति संपन्नस्तावत्तदेकत्वान्नविजानातीति युक्तम्। 'तत्केन कं विजानीयात्' (बृ० २/४/१४) इति श्रुतेः। नाडीषु पुरीतति च शयानस्य न किंचिदविज्ञाने कारणं शक्यं विज्ञातुं, भेदविषयत्वात् 'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्' (बृ० ४/३/३१) इति श्रुतेः। ननु भेदविषयस्याप्यतिदूरादिकारणमविज्ञाने स्यात्। बाढम्। एवं स्याद्यदि जीवः स्वतःपरिच्छिन्नोऽभ्युपगम्येत, यथा विष्णुमित्रः प्रवासी स्वगृहं न पश्यति। नतु जीवस्योपाधिव्यतिरेकेण परिच्छेदो विद्यते। उपाधिगतमेवातिदूरादिकारणमविज्ञान इति यद्युच्येत तथाप्युपाधेरुपशान्तत्वात्सत्येव संपन्नो न विजानातीति युक्तम्। नच वयमिह तुल्यवन्नाड्यादिसमुच्चयं प्रतिपादयामः। नहि नाड्यः सुप्तिस्थानं पुरीतद्वेत्यनेन विज्ञानेन किंचित्प्रयोजनमस्ति। नह्येतद्विज्ञानप्रतिबद्धं किंचित्फलं श्रूयते। नाप्येतद्विज्ञानं फलवतः कस्यचिदङ्गमुपदिश्यते। ब्रह्म त्वनपायि सुप्तिस्थानमित्येतत्प्रतिपादयामः। तेन तु विज्ञानेन प्रयोजनमस्ति जीवस्य ब्रह्मात्मत्वावधारणं, स्वप्नजागरितव्यवहारविमुक्तत्वावधारणं च। तस्मादात्मैव सुप्तिस्थानम्॥७॥

(३२६) अतः प्रबोधोऽस्मात्॥८॥

यस्माच्चात्मैव सुप्तिस्थानमत एव च कारणान्नित्यवदेवास्मादात्मनः प्रबोधः स्वापाधिकारे शिष्यते—'कुत एतदागात्' (बृ० २/१/१६) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनावसर 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' (बृ० २/१/२०) इत्यादिना। 'सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे' (छा० ६/१०/२) इति च। विकल्प्यमानेषु तु सुषुप्तिस्थानेषु कदाचिन्नाडीभ्यः प्रतिबुध्यते, कदाचित्पुरीततः, कदाचिदात्मन इत्यशासिष्यत्। तस्मादप्यात्मैव सुप्तिस्थानमिति॥८॥

(९५) कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम्॥३॥ (सू० ९)

(३२७) स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः॥९॥

तस्याः पुनः सत्संपत्तेः प्रतिबुध्यमानः किं य एव सत्संपन्नः, स एव प्रतिबुध्यत, उत स वाऽन्यो वेति चिन्त्यते। तत्र प्राप्तं तावदनियम इति। कुतः? यदा हि

जलराशौ कश्चिज्जलबिन्दुः प्रक्षिप्यते जलराशिरेव स तदा भवति पुनरुद्धरणे च स एव जलबिन्दुर्भवतीति दुःसंपादम्। तद्वत्सुप्तः परेणैकत्वमापन्नः संप्रसीदतीति न स एव पुनरुत्थातुमर्हति। तस्मात्स एवेश्वरो वाऽन्यो वा जीवः प्रतिबुध्यत इत्येवं प्राप्त इदमाह—स एव तु जीवः सुप्तः स्वास्थ्यं गतः पुनरुत्तिष्ठति नान्यः। कस्मात्? कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः। विभज्य हेतुं दर्शयिष्यामि।

कर्मशेषानुष्ठानदर्शनात्तावत्स एवोत्थातुमर्हति नान्यः। तथाहि—पूर्वेद्युरनुष्ठितस्य कर्मणोऽपरेद्युः शेषमनुतिष्ठन्दृश्यते। नचान्येन सामिकृतस्य कर्मणोऽन्यः शेषक्रियायां प्रवर्तितुमर्हति। अतिप्रसङ्गात्। तस्मादेक एव पूर्वेद्युरपरेद्युश्चैकस्य कर्मणः कर्तेति गम्यते। इतश्च स एवोत्तिष्ठति, यत्कारणमतीतेऽहन्यहमदोऽद्राक्षमिति पूर्वानुभूतस्य पश्चात्स्मरणमन्यस्योत्थाने नोपपद्यते। नह्यन्यदृष्टमन्योऽनुस्मर्तुमर्हति। सोऽहमस्मीति चात्मानुस्मरणमात्मान्तरोत्थाने नावकल्पते।

शब्देभ्यश्च तस्यैवोत्थानमवगम्यते। तथाहि—'पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव' (बृ० ४/३/१६) 'सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' (छा० ८/३/२) 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तत्तदाभवन्ति' (छा० ६/९/३) इत्येवमादयः शब्दाः स्वापप्रबोधाधिकारे पठिता नात्मान्तरोत्थाने सामञ्जस्यमीयुः।

कर्मविद्याविधिभ्यश्चैवमेवावगम्यते। अन्यथा हि कर्मविद्याविधयोऽनर्थकाः स्युः। अन्योत्थानपक्षे हि सुप्तमात्रो मुच्यत इत्यापद्येत। एवं चेत्स्याद्वद—किं कालान्तरफलेन कर्मणा विद्यया वा कृतं स्यात्। अपिचान्योत्थानपक्षे यदि तावच्छरीरान्तरे व्यवहरमाणो जीव उत्तिष्ठेत्तत्रत्यव्यवहारलोपप्रसङ्गः स्यात्। अथ तत्र सुप्त उत्तिष्ठेत्कल्पनानर्थक्यं स्यात्। यो हि यस्मिञ्शरीरे सुप्तः स तस्मिन्नोत्तिष्ठत्यन्यस्मिञ्शरीरेसुप्तोऽन्यस्मिन्नुत्तिष्ठतीति कोऽस्यां कल्पनायां लाभः स्यात्। अथ मुक्त उत्तिष्ठेदन्तवान्मोक्ष आपद्येत। निवृत्ताविद्यस्य च पुनरुत्थानमनुपपन्नम्। एतेनेश्वरस्योत्थानं प्रत्युक्तम्। नित्यनिवृत्ताविद्यत्वात्। अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशौ च दुर्निवारावन्योत्थानपक्षे स्याताम्। तस्मात्स एवोत्तिष्ठति नान्य इति।

यत्पुनरुक्तं यथा जलराशौ प्रक्षिप्तो जलबिन्दुर्नोद्धर्तुं शक्यत, एवं सति संपन्नो जीवो नोत्पतितुमर्हतीति, तत्परिह्रियते। युक्तं तत्र विवेककारणाभावाज्जलबिन्दोर-

नुद्धरणम्। इह तु विद्यते विवेककारणं कर्म चाविद्या चेति वैषम्यम्। दृश्यते च दुर्विवेचयोरप्यस्मज्जातीयैः क्षीरोदकयोः संसृष्टयोर्हंसेन विवेचनम्। अपिच न जीवो नाम कश्चित्परस्मादन्यो विद्यते यो जलबिन्दुरिव जनराशेः सतो विविच्येत। सदेव तूपाधिसंपर्काज्जीव इत्युपचर्यत इत्यसकृत्प्रपञ्चितम्। एवं सति यावदेकोपाधिगता बन्धानुवृत्तिस्तावदेकजीवव्यवहारः। उपाध्यन्तरगतायां तु बन्धानुवृत्तौ जीवान्तरव्यवहारः। स एवायमुपाधिः स्वापप्रबोधयोर्बीजाङ्कुरन्यायेनेत्यतः स एव जीवः प्रतिबुध्यत इति युक्तम्॥९॥

(१६) मुग्धेऽर्धसंपत्त्यधिकरणम् ॥४॥ (सू० १०)

(३२८) मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात्॥१०॥

अस्ति मुग्धो नाम यं मूर्च्छित इति लौकिकाः कथयन्ति। स तु किमवस्थ इति परीक्षायामुच्यते। तिस्रस्तावदवस्थाः शरीरस्थस्य जीवस्य प्रसिद्धा, जागरितं, स्वप्नः, सुषुप्तमिति। चतुर्थी शरीरादपसृप्तिः। नतु पञ्चमी काचिदवस्था जीवस्य श्रुतौ स्मृतौ वा प्रसिद्धास्ति। तस्माच्चतसृणामेवावस्थानामन्यतमावस्था मूर्च्छेत्येवं प्राप्ते ब्रूमः— न तावन्मुग्धो जागरितावस्थो भवितुमर्हति। नह्ययमिन्द्रियैर्विषयानीक्षते। स्यादेतत्। इषुकारन्यायेन मुग्धो भविष्यति। यथेषुकारो जाग्रदपीष्वासक्तमनस्तया नान्यान्विषयानीक्षत; एवं मुग्धो मुसलसंपातादिजनितदुःखानुभवव्यग्रमनस्तया जाग्रदपि नान्यान्विषयानीक्षत इति। न। अचेतयमानत्वात्। इषुकारो हि व्यापृतमना ब्रवीतीषुमेवाहमेतावन्तं कालमुपलभमानोऽभूवमिति। मुग्धस्तु लब्धसंज्ञो ब्रवीत्यन्धे तमस्यहमेतावन्तं कालं प्रक्षिप्तोऽभूवं न किंचिन्मया चेतितमिति। जाग्रतश्चैकविषयविषक्तचेतसोऽपि देहो विध्रियते। मुग्धस्य तु देहो धरण्यां पतति। तस्मान्न जागर्ति नापि स्वप्नान्पश्यति, निःसंज्ञकत्वात्। नापि मृतः, प्राणोष्मणोर्भावात्। मुग्धे हि जन्तौ मृतोऽयं स्यान्न वा मृत इति संशयाना ऊष्मास्ति नास्तीति हृदयदेशमालभन्ते, निश्चयार्थं प्राणोऽस्ति नास्तीति च नासिकादेशम्। यदि प्राणोष्मणोरस्तित्वं नावगच्छन्ति, ततो मृतोऽयमित्यध्यवसाय दहनायारण्यं नयन्ति। अथ तु प्राणमूष्माणं वा प्रतिपद्यन्ते, ततो नायं मृत इत्यध्यवसाय संज्ञालाभाय भिषज्यन्ति। पुनरुत्थानाच्च न दिष्टं गतः। नहि यमराष्ट्रात्प्रत्यागच्छति।

अस्तु तर्हि सुषुप्तो निःसंज्ञत्वादमृतत्वाच्च। न। वैलक्षण्यात्। मुग्धः कदाचि-

च्चिरमपि नोच्छ्वसिति, सवेपथुरस्य देहो भवति, भयानकं च वदनं, विस्फारिते नेत्रे, सुषुप्तस्तु प्रसन्नवदनस्तुल्यकालं पुनः पुनरुच्छ्वसिति निमीलिते अस्य नेत्रे भवतः। नचास्य देहो वेपते। पाणिपेषणमात्रेण च सुषुप्तमुत्थापयन्ति, नतु मुग्धं मुद्गरघातेनापि। निमित्तभेदश्च भवति मोहस्वापयोः। मुसलसंपातादिनिमित्तत्वान्मोहस्य, श्रमादिनिमित्तत्वाच्च स्वापस्य। नच लोकेऽस्ति प्रसिद्धिर्मुग्धः सुप्त इति। परिशेषादर्धसंपत्तिर्मुग्धतेत्यवगच्छामः। निःसंज्ञत्वात्संपन्न इतरस्माद्वैलक्षण्यादसंपन्न इति। कथं पुनरर्धसंपत्तिर्मुग्धतेति शक्यते वक्तुम्। यावता सुप्तं प्रति तावदुक्तं श्रुत्या—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६/८/१) इति, 'अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति' (बृ० ४/३/२२), 'नैतं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम्' (छा० ८/४/१) इत्यादि। जीवे हि सुकृतदुष्कृतयोः प्राप्तिः सुखित्वदुःखित्वप्रत्ययोत्पादनेन भवति। नच सुखित्वप्रत्ययो दुःखित्वप्रत्ययो वा सुषुप्ते विद्यते, मुग्धेऽपि तौ प्रत्ययौ नैव विद्येते। तस्मादुपाध्युपशमात्सुषुप्तवन्मुग्धेऽपि कृत्स्नसंपत्तिरेव भवितुमर्हति नार्धसंपत्तिरिति। अत्रोच्यते—न ब्रूमो मुग्धेऽर्धसंपत्तिर्जीवस्य ब्रह्मणा भवतीति। किं तर्हि? अर्धेन सुषुप्तपक्षस्य भवति मुग्धत्वम्, अर्धेनावस्थान्तरपक्षस्येति ब्रूमः। दर्शिते च मोहस्य स्वापेन साम्यवैषम्ये, द्वारं चैतन्मरणस्य। यदास्य सावशेषं कर्म भवति तदा वाङ्मनसे प्रत्यागच्छतः। यदा तु निरवशेषं कर्म भवति, तदा प्राणोष्माणावपगच्छतः। तस्मादर्धसंपत्तिं ब्रह्मविद इच्छन्ति। यत्तूक्तं न पञ्चमी काचिदवस्था प्रसिद्धास्तीति। नैष दोषः। कादाचित्कीयमवस्थेति न प्रसिद्धा स्यात्। प्रसिद्धा चैषा लोकायुर्वेदयोः। अर्धसंपत्त्यभ्युपगमाच्च न पञ्चमी गण्यत इत्यनवद्यम्॥१०॥

(१७) उभयलिङ्गाधिकरणम्॥५॥ (सू० ११-२१)

(३२९) न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि॥११॥

येन ब्रह्मणा सुषुप्त्यादिषु जीव उपाध्युपशमात्संपद्यते, तस्येदानीं स्वरूपं श्रुतिवशेन निर्धार्यते। सन्त्युभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः— 'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' (छा० ३/१४/२) इत्येवमाद्याः सविशेषलिङ्गाः। 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३/८/८) इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गाः। किमासु श्रुतिषूभयलिङ्गं ब्रह्म प्रतिपत्तव्यमुतान्यतरलिङ्गम्। यदाप्यन्यतरलिङ्गं तदापि किं सविशेषमुत निर्विशेषमिति मीमांस्यते।

तत्रोभयलिङ्गश्रुत्यनुग्रहादुभयलिङ्गमेव ब्रह्मेत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावत्स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वमुपपद्यते। नह्येकं वस्तु स्वत एव रूपादिविशेषोपेतं, तद्विपरीतं चेत्यवधारयितुं शक्यं, विरोधात्। अस्तु तर्हि स्थानतःपृथिव्याद्युपाधियोगादिति। तदपि नोपपद्यते। नह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः संभवति। नहि स्वच्छः सन्स्फटिकोऽलक्तकाद्युपाधियोगादस्वच्छो भवति, भ्रममात्रत्वादस्वच्छताभिनिवेशस्य। उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्। अतश्चान्यतरलिङ्गपरिग्रहेऽपि समस्तविशेषरहितं निर्विकल्पकमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं, न तद्विपरीतम्। सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषु वाक्येषु 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (क० ३/१५ मुक्तिको० २/७२) इत्येवमादिष्वपास्तसमस्तविशेषमेव ब्रह्मोपदिश्यते॥११॥

(३३०) न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्॥१२॥

अथापि स्याद्यदुक्तं निर्विकल्पमेकलिङ्गमेव ब्रह्म, नास्य स्वतः, स्थानतो वोभयलिङ्गत्वमस्तीति। तन्नोपपद्यते। कस्मात्? भेदात्। भिन्ना हि प्रतिविद्यं ब्रह्मण आकारा उपदिश्यन्ते। 'चतुष्पाद्ब्रह्म षोडशकलं ब्रह्म' वामनीत्वादिलक्षणं ब्रह्म त्रैलोक्यशरीरवैश्वानरशब्दोदितं ब्रह्मेत्येवंजातीयकाः। तस्मात्सविशेषत्वमपि ब्रह्मणोऽभ्युपगन्तव्यम्। ननूक्तं नोभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणः संभवतीति। अयमप्यविरोधः। उपाधिकृतत्वादाकार भेदस्य। अन्यथा हि निर्विषयमेव भेदशास्त्रं प्रसज्येतेति चेत्। नेति ब्रूमः। कस्मात्। प्रत्येकमतद्वचनात्। प्रत्युपाधिभेदं ह्यभेदमेव ब्रह्मणः श्रावयति शास्त्रम्—'यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा' (बृ० २/५/१) इत्यादि। अतश्च न भिन्नाकारयोगो ब्रह्मणः शास्त्रीय इति शक्यते वक्तुम्। भेदस्योपासनार्थत्वादभेदे तात्पर्यात्॥१२॥

(३३१) अपिचैवमेके॥१३॥

अपिचैवं भेददर्शननिन्दापूर्वकमभेददर्शनमेवैके शाखिनः समामनन्ति— 'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (क० ४/११) इति। तथान्येऽपि 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म मे तत्' (श्वे० १/१२) इति समस्तस्य भोग्यभोक्तृनियन्तृलक्षणस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मैकस्वभावतामधीयते॥१३॥

कथं पुनराकारवदुपदेशिनीष्वनाकारोपदेशिनीषु च ब्रह्मविषयासु श्रुतिषु सतीष्वनाकारमेव ब्रह्मावधार्यते, न पुनर्विपरीतमिति। अत उत्तरं पठति—

(३३२) अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्॥१४॥

रूपाद्याकाररहितमेव ब्रह्मावधारयितव्यं, न रूपादिमत्। कस्मात्? तत्प्रधानत्वात्। 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३/८/८) 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (कठ० ३/१५/ मुक्ति० २/७२) 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' (छा० ८/१४/१), 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मु० २/१/२), 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २/५/१९) इत्येवमादीनि वाक्यानि निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वप्रधानानि नार्थान्तरप्रधानानीत्येतत्प्रतिष्ठापितं 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १/१/४) इत्यत्र। तस्मादेवंजातीयकेषु वाक्येषु यथाश्रुतं निराकारमेव ब्रह्मावधारयितव्यम्। इतराणि त्वाकारवद्ब्रह्मविषयाणि वाक्यानि, न तत्प्रधानानि। उपासनाविधिप्रधानानि हि तानि, तेष्वसति विरोधे यथाश्रुतमाश्रयितव्यम्। सति तु विरोधे तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसि भवन्तीति। एष विनिगमनायां हेतुः। येनोभयीष्वपि श्रुतिषु सतीष्वनाकारमेव ब्रह्मावधार्यते, न पुनर्विपरीतमिति॥१४॥

का तर्ह्याकारवद्विषयाणां श्रुतीनां गतिरित्यत आह—

(३३३) प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्॥१५॥

यथा प्रकाशः सौरश्चान्द्रमसो वा वियद्व्याप्यावतिष्ठमानोऽङ्गुल्याद्युपाधिसंबन्धात्तेष्वृजुवक्रादिभावं प्रतिपद्यमानेषु तद्भावमिव प्रतिपद्यते। एवं ब्रह्मापि पृथिव्याद्युपाधिसंबन्धात्तदाकारतामिव प्रतिपद्यते, तदालम्बनो ब्रह्मण आकारविशेषोपदेश उपासनार्थो न विरुध्यते। एवमवैयर्थ्यमाकारवद्ब्रह्मविषयाणामपि वाक्यानां भविष्यति। नहि वेदवाक्यानां कस्यचिदर्थवत्त्वं कस्यचिदनर्थवत्त्वमिति युक्तं प्रतिपत्तुं, प्रमाणत्वाविशेषात्।

नन्वेवमपि यत्पुरस्तात्प्रतिज्ञातं नोपाधियोगादप्युभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणोऽस्तीति तद्विरुध्यते। नेति ब्रूमः। उपाधिनिमित्तस्य वस्तुधर्मत्वानुपपत्तेः। उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्। सत्यामेव च नैसर्गिक्यामविद्यायां लोकवेदव्यवहारावतार इति तत्र तत्रावोचाम॥१५॥

(३३४) आह च तन्मात्रम्॥१६॥

आह च श्रुतिश्चैतन्यमात्रं विलक्षणरूपान्तररहितं निर्विशेषं ब्रह्म—'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४/५/१३) इति। एतदुक्तं भवति—नास्यात्मनोऽन्तर्बहिर्वा चैतन्यादन्यद्रूपमस्ति, चैतन्यमेव तु निरन्तरमस्य स्वरूपम्। यथा सैन्धवघनस्यान्तर्बहिश्च लवणरस एव निरन्तरो भवति, न रसान्तरं, तथैवेति॥१६॥

विश्रामः॥२२॥

* * * *

(३३५) दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते॥१७॥

दर्शयति च श्रुतिः पररूपप्रतिषेधेनैव ब्रह्म, निर्विशेषत्वात्—'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २/३/६) इति, 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (के० १/३) 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० २/४/१) इत्येवमाद्या। बाष्कलिना च बाध्वः पृष्टः सन्नवचनेनैव ब्रह्म प्रोवाचेति श्रूयते—'स होवाचाधीहि भो इति स तूष्णीं बभूव तं ह द्वितीये वा तृतीये वा वचन उवाच ब्रूमः खलु त्वं तु न विजानासि। उपशान्तोऽयमात्मा' इति। तथा स्मृतिष्वपि परप्रतिषेधेनैवोपदिश्यते—'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते। अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते' (गी० १३/१२) इत्येवमाद्यासु। तथा विश्वरूपधरो नारायणो नारदमुवाचेति स्मर्यते—'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद। सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां ज्ञातुमर्हसि'॥ (महा० शा० १२/३३९) इति॥१७॥

(३३६) अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्॥१८॥

यत एव चायमात्मा चैतन्यरूपो निर्विशेषो वाङ्मनसातीतः परप्रतिषेधोपदेश्योऽत एव चास्योपाधिनिमित्तामपारमार्थिकीं विशेषवत्तामभिप्रेत्य जलसूर्यकादिवदित्युपमोपादीयते मोक्षशास्त्रेषु—'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्। उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा' इति। 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' (ब्र० बिं० १२) इत्येवमादिषु॥१८॥

अत्र प्रत्यवस्थीयते—

(३३७) अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्॥१९॥

न जलसूर्यकादितुल्यत्वमिहोपपद्यते; तद्वदग्रहणात्। सूर्यादिभ्यो हि मूर्तेभ्यः पृथग्भूतं विप्रकृष्टदेशं मूर्तं जलं गृह्यते, तत्र युक्तः सूर्यादिप्रतिबिम्बोदयः, न त्वात्मा मूर्तो न चास्मात्पृथग्भूता विप्रकृष्टदेशाश्चोपाधयः; सर्वगतित्वात्सर्वानन्यत्वाच्च। तस्मादयुक्तोऽयं दृष्टान्त इति॥१९॥

अत्र प्रतिविधीयते—

(३३८) वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्॥२०॥

युक्त एव त्वयं दृष्टान्तः; विवक्षितांशसंभवात्। नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः क्वचित्कंचिद्विवक्षितांशं मुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिद्दर्शयितुं शक्यते। सर्वसारूप्ये हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोच्छेद एव स्यात्। न चेदं स्वमनीषया जलसूर्यकादिदृष्टान्तप्रणयनम्; शास्त्रप्रणीतस्य त्वस्य प्रयोजनमात्रमुपन्यस्यते। किं पुनरत्र विवक्षितं सारूप्यमिति? तदुच्यते—वृद्धिह्रासभाक्त्वमिति। जलगतं हि सूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते, जलह्रासे ह्रसति, जलचलने चलति, जलभेदे भिद्यत इत्येवं जलधर्मानुयायि भवति, नतु परमार्थतः सूर्यस्य तथात्वमस्ति। एवं परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमपि सद्ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद्भजत इवोपाधिधर्मान्वृद्धिह्रासादीन्। एवमुभयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सामञ्जस्यादविरोधः॥२०॥

(३३९) दर्शनाच्च॥२१॥

दर्शयति च श्रुतिः परस्यैव ब्रह्मणो देहादिषूपाधिष्वन्तरनुप्रवेशम्—'पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः। पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्' (बृ० २/५/१८) इति। 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' (छा० ६/३/२) इति च। तस्माद्युक्तमेतत्—'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' (ब्र० सू० ३/२/१८) इति। तस्मान्निर्विकल्पकैकलिङ्गमेव ब्रह्म नोभयलिङ्गं विपरीतलिङ्गं चेति सिद्धम्।

अत्र केचिद्द्वे अधिकरणे कल्पयन्ति। प्रथमं तावत्—किं प्रत्यस्तमिताशेषप्रपञ्चमेकाकारं ब्रह्मोत प्रपञ्चवदनेकाकारोपेतमिति? द्वितीयं तु—स्थिते प्रत्यस्तमित-

प्रपञ्चत्वे किं सल्लक्षणं ब्रह्मोत बोधलक्षणमुतोभयलक्षणमिति? अत्र वयं वदामः— सर्वथाप्यानर्थक्यमधिकरणान्तरारम्भस्येति। यदि तावदनेकलिङ्गत्वं परस्य ब्रह्मणो निराकर्तव्यमित्ययं प्रयासस्तत्पूर्वेणैव 'न स्थानतोऽपि' (ब्र० ३/२/११/५) इत्यनेनाधिकरणेन निराकृतमित्युत्तरमधिकरणं 'प्रकाशवच्च' (ब्र० ३/२/१५/५) एतद्व्यर्थमेव भवेत्। नच सल्लक्षणमेव ब्रह्म न बोधलक्षणमिति शक्यं वक्तुम्; 'विज्ञानघन एवे'त्यादिश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। कथं वा निरस्तचैतन्यं ब्रह्म चेतनस्य जीवस्यात्मत्वेनोपदिश्येत? नापि बोधलक्षणमेव ब्रह्म न सल्लक्षणमिति शक्यं वक्तुम्; 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (क० ६/१३) इत्यादिश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। कथं वा निरस्तसत्ताको बोधोऽभ्युपगम्येत? नाप्युभयलक्षणमेव ब्रह्मेति शक्यं वक्तुम्; पूर्वाभ्युपगमविरोधप्रसङ्गात्। सत्ताव्यावृत्तेन च बोधेन बोधव्यावृत्तया च सत्तयोपेतं ब्रह्म प्रतिजानानस्य तदेव पूर्वाधिकरणप्रतिषिद्धं सप्रपञ्चत्वं ब्रह्मणः प्रसज्येत।

श्रुतत्वाददोष इति चेत्-न; एकस्यानेकस्वभावत्वानुपपत्तेः। अथ सत्तैव बोधो बोध एव च सत्ता, नानयोः परस्परव्यावृत्तिरस्तीति यद्युच्येत, तथापि किं सल्लक्षणं ब्रह्मोत बोधलक्षणमुतोभयलक्षणमित्ययं विकल्पो निरालम्बन एव स्यात्। सूत्राणि त्वेकाधिकरणत्वेनैवास्माभिर्नीतानि। अपि च ब्रह्मविषयासु श्रुतिष्वाकारवदनाकारप्रतिपादनेन विप्रतिपन्नास्वनाकारे ब्रह्मणि परिगृहीतेऽवश्यं वक्तव्येतरासां श्रुतीनां गतिः। तादर्थ्येन प्रकाशवच्चेत्यादीनि सूत्राण्यर्थवत्तराणि संपद्यन्ते। यद्यप्याहुराकारवादिन्योऽपि श्रुतयः प्रपञ्चप्रविलयमुखेनानाकारप्रतिपत्त्यर्था एव न पृथगर्था इति, तदपि न समीचीनमिव लक्ष्यते। कथम्? ये हि परविद्याधिकारे केचित्प्रपञ्चा उच्यन्ते, यथा—'युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेत्ययं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च' (बृ० २/५/१९) इत्येवमादयस्ते भवन्ति प्रविलयार्थाः; 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० २/५/१९) इत्युपसंहारात्। ये पुनरुपासनाविधानाधिकारे प्रपञ्चा उच्यन्ते, यथा 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३/१४/२) इत्येवमादयो, न तेषां प्रविलयार्थत्वं न्याय्यम्; 'स क्रतुं कुर्वीत' (छा० ३/१४/१) इत्येवंजातीयकेन प्रकृतेनैवोपासनविधिना तेषां संबन्धात्। श्रुत्या चैवंजातीयकानां गुणानामुपासनार्थत्वेऽकल्प्यमाने न लक्षणया प्रविलयार्थत्वमवकल्पते। सर्वेषां च साधारणे प्रविलयार्थत्वे सति 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' (ब्र० सू०

३/२/१४) इति विनिगमनकारणवचनमनवकाशं स्यात्। फलमप्येषां यथोपदेशं क्वचिद्दुरितक्षयः, क्वचिदैश्वर्यप्राप्तिः, क्वचित्क्रममुक्तिरित्यवगम्यत एवेत्यतः पार्थगर्थ्यमेवोपासनावाक्यानां ब्रह्मवाक्यानां च न्याय्यं नैकवाक्यत्वम्।

कथं चैषामेकवाक्यतोत्प्रेक्ष्यत इति वक्तव्यम्। एकनियोगप्रतीतेः प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्यवदिति चेत्,-न; ब्रह्मवाक्येषु नियोगाभावात्। वस्तुमात्रपर्यवसायीनि हि ब्रह्मवाक्यानि न नियोगोपदेशीनीत्येतद्विस्तरेण प्रतिष्ठापितम्—'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १/१/४) इत्यत्र। किंविषयश्चात्र नियोगोऽभिप्रेयत इति वक्तव्यम्। पुरुषो हि नियुज्यमानः कुर्विति स्वव्यापारे कस्मिंश्चिन्नियुज्यते। ननु द्वैतप्रपञ्चविलयो न योगविषयो भविष्यति। अप्रविलापिते हि द्वैतप्रपञ्चे ब्रह्मतत्त्वावबोधो न भवत्यतो ब्रह्मतत्त्वावबोधप्रयत्नीकभूतो द्वैतप्रपञ्चः प्रविलाप्यः। यथा स्वर्गकामस्य यागोऽनुष्ठातव्य उपदिश्यत एवमपवर्गकामस्य प्रपञ्चप्रविलयः। यथा च तमसि व्यवस्थितं घटादितत्त्वमवबुभुत्समानेन तत्प्रत्यनीकभूतं तमः प्रविलाप्यत, एवं ब्रह्मतत्त्वमवबुभुत्समानेन तत्प्रत्यनीकभूतः प्रपञ्चः प्रविलापयितव्यः। ब्रह्मस्वभावो हि प्रपञ्चो न प्रपञ्चस्वभावं ब्रह्म, तेन नामरूपप्रपञ्चप्रविलापनेन ब्रह्मतत्त्वावबोधो भवतीति।

अत्र वयं पृच्छामः—कोऽयं प्रपञ्चप्रविलयो नाम? किमग्निप्रतापसंपर्काद्घृतकाठिन्यप्रविलय इव प्रपञ्चप्रविलयः कर्तव्य, आहोस्विदेकस्मिंश्चन्द्रे तिमिरकृतानेकचन्द्रप्रपञ्चवदविद्याकृतो ब्रह्मणि नामरूपप्रपञ्चो विद्यया प्रविलापयितव्य इति? तत्र यदि तावद्विद्यमानोऽयं प्रपञ्चो देहादिलक्षण आध्यात्मिको बाह्यश्च पृथिव्यादिलक्षणः प्रविलापयितव्य इत्युच्येत, स पुरुषमात्रेणाशक्यः प्रविलापयितुमिति तत्प्रविलयोपदेशोऽशक्यविषय एव स्यात्। एकेन चादिमुक्तेन पृथिव्यादिप्रविलयः कृत इतीदानीं पृथिव्यादिशून्यं जगदभविष्यत्। अथाविद्याध्यस्तो ब्रह्मण्येकस्मिन्नयं प्रपञ्चो विद्यया प्रविलाप्यत इति ब्रूयात्, ततो ब्रह्मैवाविद्याध्यस्तप्रपञ्चप्रत्याख्यानेनावेदयितव्यम् 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६/८/७) इति, तस्मिन्नावेदिते विद्या स्वयमेवोत्पद्यते, तया चाविद्या बाध्यते, ततश्चाविद्याध्यस्तः सकलोऽयं नामरूपप्रपञ्चः स्वप्नप्रपञ्चवत्प्रविलीयते। अनावेदिते तु ब्रह्मणि ब्रह्मविज्ञानं कुरु प्रपञ्चप्रविलयं चेति शतकृत्वोऽप्युक्ते, न ब्रह्मविज्ञानं प्रपञ्चप्रविलयो वा जायेत।

नन्वावेदिते ब्रह्मणि तद्विज्ञानविषयः प्रपञ्चविषयो वा नियोगः स्यात्, न; निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मत्वावेदनेनैवोभयसिद्धेः। रज्जुस्वरूपप्रकाशनेनैव हि तत्स्वरूपविज्ञानमविद्याध्यस्तसर्पादिप्रपञ्चप्रविलयश्च भवति। नच कृतमेव पुनः क्रियते।

नियोज्योऽपि च प्रपञ्चावस्थायां योऽवगम्यते जीवो नाम, स प्रपञ्चपक्षस्यैव वा स्याद्ब्रह्मपक्षस्यैव वा। प्रथमे विकल्पे निष्प्रपञ्चब्रह्मतत्त्वप्रतिपादनेन पृथिव्यादिवज्जीवस्यापि प्रविलापितत्वात्कस्य प्रपञ्चविलये नियोग उच्येत। कस्य वा नियोगनिष्ठतया मोक्षोऽवाप्तव्य उच्येत। द्वितीयेऽपि ब्रह्मैवानियोज्यस्वभावं जीवस्य स्वरूपं जीवत्वं त्वविद्याकृतमेवेति प्रतिपादिते ब्रह्मणि नियोज्याभावान्नियोगाभाव एव। द्रष्टव्यादिशब्दा अपि परविद्याधिकारपठितास्तत्त्वाभिमुखीकरणप्रधाना न तत्त्वावबोधविधिप्रधाना भवन्ति। लोकेऽपीदं पश्येदमाकर्णयेति चैवंजातीयकेषु निर्देशेषु प्रणिधानमात्रं कुर्वित्युच्यते, न साक्षाज्ज्ञानमेव कुर्विति। ज्ञेयाभिमुखस्यापि ज्ञानं कदाचिज्जायते कदाचिन्न जायते, तस्मात्तं प्रति ज्ञानविषय एव दर्शयितव्यो ज्ञापयितुकामेन। तस्मिन्दर्शिते स्वयमेव यथाविषयं यथाप्रमाणं च ज्ञानमुत्पद्यते। नच प्रमाणान्तरेणान्यथाप्रसिद्धेऽर्थेऽन्यथाज्ञानं नियुक्तस्याप्युपपद्यते। यदि पुनर्नियुक्तोऽहमित्यन्यथा ज्ञानं कुर्यान्न तु तज्ज्ञानं, किं तर्हि मानसी सा क्रिया। स्वमेव चेदन्यथोत्पद्येत; भ्रान्तिरेव स्यात्। ज्ञानं तु प्रमाणजन्यं यथाभूतविषयं च, न तन्नियोगशतेनापि कारयितुं शक्यते, नच प्रतिषेधशतेनापि वारयितुं शक्यते। नहि तत्पुरुषतन्त्रं, वस्तुतन्त्रमेव हि तत्। अतोऽपि नियोगाभावः। किंचान्यन्नियोगनिष्ठतयैव पर्यवस्यत्याम्नाये यदभ्युपगतमनियोज्यब्रह्मात्मत्वं जीवस्य, तदप्रमाणकमेव स्यात्। अथ शास्त्रमेवानियोज्यब्रह्मात्मत्वमप्याचक्षीत, तदवबोधे च पुरुषं नियुञ्जीत, ततो ब्रह्मशास्त्रस्यैकस्य द्व्यर्थपरता विरुद्धार्थपरता च प्रसज्येयाताम्। नियोगपरतायां च श्रुतहानिरश्रुतकल्पना कर्मफलवन्मोक्षस्यादृष्टफलत्वमनित्यत्वं चेत्येवमादयो दोषा न केनचित्परिहर्तुं शक्याः। तस्मादवगतिनिष्ठान्येव ब्रह्मवाक्यानि, न नियोगनिष्ठानि। अतश्चैकनियोगप्रतीतेरेकवाक्यतेत्ययुक्तम्।

अभ्युपगम्यमानेऽपि च ब्रह्मवाक्येषु नियोगसद्भावे तदेकत्वं निष्प्रपञ्चोपदेशेषु सप्रपञ्चोपदेशेषु चासिद्धम्। नहि शब्दान्तरादिभिः प्रमाणैर्नियोगभेदेऽवगम्यमाने सर्वत्रैको नियोग इति शक्यमाश्रयितुम्। प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्येषु त्वधिका-

रांशेनाभेदाद्युक्तमेकत्वम्, नत्विह सगुणनिर्गुणचोदनासु कश्चिदेकत्वाधिकारांशोऽस्ति। नहि भारूपत्वादयो गुणाः प्रपञ्चप्रवलियोपकारिणः। नापि प्रपञ्चप्रविलयो भारूपत्वादिगुणोपकारी; परस्परविरोधित्वात्। नहि कृत्स्नप्रपञ्चप्रविलापनं प्रपञ्चैकदेशापेक्षणं चैकस्मिन्धर्मिणि युक्तं समावेशयितुम्। तस्मादस्मदुक्त एव विभाग आकारवदनाकारोपदेशानां युक्ततर इति॥ २१॥

(१८) प्रकृतैतावत्त्वाधिकरणम्॥ ६॥ (सू० २२-३०)

(३४०) प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः॥ २२॥

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' (बृ० २/३/१) इत्युपक्रम्य पञ्चमहाभूतानि द्वैराश्येन प्रविभज्यामूर्तरसस्य च पुरुषशब्दोदितस्य माहारजनादीनि रूपाणि दर्शयित्वा पुनः पठ्यते—'अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति' (बृ० २/३/६) इति। तत्र कोऽस्य प्रतिषेधस्य विषय इति जिज्ञासामहे। न ह्यत्रेदं तदिति विशेषितं किंचित्प्रतिषेध्यमुपलभ्यते। इतिशब्देन त्वत्र प्रतिषेध्यं किमपि समर्प्यते 'नेति-नेति'-इतिपरत्वान्नञ्प्रयोगस्य। इतिशब्दश्चायं संनिहितालम्बन एवंशब्दसमानवृत्तिः प्रयुज्यमानो दृश्यते—'इति ह स्मोपाध्यायः कथयति' इत्येवमादिषु। संनिहितं चात्र प्रकरणसामर्थ्याद्रूपद्वयं सप्रपञ्चं ब्रह्मणः, तच्च ब्रह्म यस्यैते द्वे रूपे। तत्र नः संशय उपजायते—किमयं प्रतिषेधो रूपे रूपवच्चोभयमपि प्रतिषेधत्याहोस्विदेकतरम्। यदाप्येकतरं, तदापि किं ब्रह्म प्रतिषेधति, रूपे परिशिनष्टि, आहोस्विद्रूपे प्रतिषेधति, ब्रह्म परिशिनष्टीति? तत्र प्रकृतत्वाविशेषादुभयमपि प्रतिषेधतीत्याशङ्कामहे। द्वौ चैतौ प्रतिषेधौ; द्विर्नेतिशब्दप्रयोगात्। तयोरेकेन सप्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपं प्रतिषिध्यते, अपरेण रूपवद्ब्रह्मेति भवति मतिः। अथवा ब्रह्मैव रूपवत्प्रतिषिध्यते, तद्धि वाङ्मनसातीतत्वादसंभाव्यमानसद्भावं प्रतिषेधार्हम्; न तु रूपप्रपञ्चः प्रत्यक्षादिगोचरत्वात्प्रतिषेधार्हः। अभ्यासस्त्वादरार्थ इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावदुभयप्रतिषेध उपपद्यते; शून्यवादप्रसङ्गात्। कंचिद्धि परमार्थमालम्ब्यापरमार्थः प्रतिषिध्यते यथा रज्ज्वादिषु सर्पादयः। तच्च परिशिष्यमाणे कस्मिंश्चिद्भावेऽवकल्प्यते। उभयप्रतिषेधे तु कोऽन्यो भावः परिशिष्येत? अपरिशिष्यमाणे चान्यस्मिन्य इतरः प्रतिषेद्धुमारभ्यते, तस्य प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्तस्यैव परमार्थत्वापत्तेः प्रतिषेधानुपपत्तिः। नापि ब्रह्मप्रतिषेध उपपद्यते; 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' (बृ० २/

१/१) इत्याद्युपक्रमविरोधात्। 'असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्' (तै० २/६/१) इत्यादिनिन्दाविरोधात्, 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (क० ६/१३) इत्यवधारणविरोधात्, सर्ववेदान्तव्याकोपप्रसङ्गाच्च। वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावाभिप्रायेणाभिधीयते। नहि महता परिकरबन्धेन 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २/१/१), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २/१/१) इत्येवमादिना वेदान्तेषु ब्रह्म प्रतिपाद्य तस्यैव पुनरभावोऽभिलप्येत। 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति हि न्यायः। प्रतिपादनप्रक्रिया त्वेषा—'यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह' (तै० २/४/१) इति। एतदुक्तं भवति-वाङ्मनसातीतमविषयान्तःपाति प्रत्यगात्मभूतं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं ब्रह्मेति। तस्माद्ब्रह्मणो रूपप्रपञ्चं प्रतिषेधति, परिशिनष्टि ब्रह्मेत्यभ्युपगन्तव्यम्। तदेतदुच्यते-प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधतीति।

प्रकृतं यदेतावदियत्तापरिच्छिन्नं मूर्तामूर्तलक्षणं ब्रह्मणो रूपं, तदेष शब्दः प्रतिषेधति। तद्धि प्रकृतं प्रपञ्चितं च पूर्वस्मिन्ग्रन्थेऽधिदैवतमध्यात्मं च तज्जनितमेव च वासनालक्षणमपरं रूपममूर्तरसभूतं पुरुषशब्दोदितं लिङ्गात्मव्यपाश्रयं महारजनाद्युपमाभिर्दर्शितम्; अमूर्तरसस्य पुरुषस्य चक्षुर्ग्राह्यरूपयोगित्वानुपपत्तेः। तदेतत्सप्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपं संनिहितालम्बनेनेतिकरणेन प्रतिषेधकं नञं प्रत्युपनीयत इति गम्यते। ब्रह्म तु रूपविशेषणत्वेन षष्ठ्या निर्दिष्टं पूर्वस्मिन्ग्रन्थे, न स्वप्रधानत्वेन। प्रपञ्चिते च तदीये रूपद्वये रूपवतः स्वरूपजिज्ञासायामिदमुपक्रान्तम्—'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २/३/६) इति। तत्र कल्पितरूपप्रत्याख्यानेन ब्रह्मणः स्वरूपावेदनमिदमिति निर्णीयते। तदास्पदं हीदं समस्तं कार्यं नेति नेतीति प्रतिषिद्धम्। युक्तं च कार्यस्य वाचारम्भणशब्दादिभ्योऽसत्त्वमिति नेति नेतीति प्रतिषेधनं, नतु ब्रह्मणः; सर्वकल्पनामूलत्वात्। न चात्रेयमाशङ्का कर्तव्या—कथं हि शास्त्रं स्वयमेव ब्रह्मणो रूपद्वयं दर्शयित्वा स्वयमेव पुनः प्रतिषेधति—'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति। यतो नेदं शास्त्रं प्रतिपाद्यत्वेन ब्रह्मणो रूपद्वयं निर्दिशति, लोकप्रसिद्धं त्विदं रूपद्वयं ब्रह्मणि कल्पितं परामृशति प्रतिषेध्यत्वाय शुद्धब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनाय चेति निरवद्यम्। द्वौ चैतौ प्रतिषेधौ यथासंख्यन्यायेन द्वे अपि मूर्तामूर्ते प्रतिषेधतः। यद्वा पूर्वः प्रतिषेधो भूतराशिं प्रतिषेधति, उत्तरो वासनाराशिम्। अथवा,—'नेति नेति' (बृ० २/३/६) इति वीप्सेयमितीति यावत्किंचिदुत्प्रेक्ष्यते तत्सर्वं न भवतीत्यर्थः। परिगणितप्रतिषेधे हि क्रियमाणे यदि नैतद्ब्रह्म, किमन्यद्ब्रह्म भवेदिति जिज्ञासा

स्यात्। वीप्सायां तु सत्यां समस्तस्य विषयजातस्य प्रतिषेधादविषयः प्रत्यगात्मा ब्रह्मेति जिज्ञासा निवर्तते। तस्मात्प्रपञ्चमेव ब्रह्मणि कल्पितं प्रतिषेधति, परिशिनष्टि ब्रह्मेति निर्णयः। इतश्चैष एव निर्णयः। यतस्ततः प्रतिषेधाद्भूयो ब्रवीति—'अन्यत्परमस्ति' (बृ० २/३/६) इति। अभावावसाने हि प्रतिषेधे क्रियमाणे किमन्यत्परमस्तीति ब्रूयात्। तत्रैषाक्षरयोजना-नेति नेतीति ब्रह्मादिश्य तमेवादेशं पुनर्निर्वक्ति। नेति नेतीत्यस्य कोऽर्थः? न ह्येतस्माद्ब्रह्मणो व्यतिरिक्तमस्तीत्यतो नेति नेतीत्युच्यते, न पुनः स्वयमेव नास्तीत्यर्थः। तच्च दर्शयति-अन्यत्परमप्रतिषिद्धं ब्रह्मास्तीति। यदा पुनरेवमक्षराणि योज्यन्ते नह्येतस्मादिति नेति नेति, नहि प्रपञ्चप्रतिषेधरूपादादेशनादन्यत्परमादेशनं ब्रह्मणोऽस्तीति, तदा 'ततो ब्रवीति च भूय' इत्येतन्नामधेयविषयं योजयितव्यम्। अथ नामधेयम्—'सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' (बृ० २/१/२०) इति हि ब्रवीतीति। तच्च ब्रह्मावसाने प्रतिषेधे समञ्जसं भवति। अभावावसाने तु प्रतिषेधे किं सत्यस्य सत्यमित्युच्येत? तस्माद्ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधो नाभावावसान इत्यध्यवस्यामः॥२२॥

(३४१) तदव्यक्तमाह हि॥२३॥

यत्प्रतिषिद्धात्प्रपञ्चजातादन्यत्परं ब्रह्म तदस्ति चेत्कस्मान्न गृह्यत इति। उच्यते—तदव्यक्तमनिन्द्रियग्राह्यं, सर्वदृश्यसाक्षित्वात्। आह ह्येवं श्रुतिः—'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा' (मु० ३/१/८) 'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते' (बृ० ३/९/२६) 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' (मु० १/१/६) 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने' (तै० २/७/१) इत्याद्या। स्मृतिरपि—'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' (गी० २/२५) इत्याद्या॥२३॥

(३४२) अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्॥२४॥

अपि चैनमात्मानं निरस्तसमस्तप्रपञ्चमव्यक्तं संराधनकाले पश्यन्ति योगिनः। संराधनं च भक्तिध्यानप्रणिधानाद्यनुष्ठानम्। कथं पुनरवगम्यते संराधनकाले पश्यन्तीति। प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। तथा हि श्रुतिः—'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' (क० ४/१) इति। 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' (मु० ३/१/८) इति चैवमाद्या। स्मृतिरपि—'यं विनिद्रा

जितश्वासाः संतुष्टाः संयतेन्द्रियाः। ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः। योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्' इति चैवमाद्या॥ २४॥

ननु संराध्यसंराधकभावाभ्युपगमात्परेतरात्मनोरन्यत्वं स्यादिति। नेत्युच्यते—

(३४३) प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्॥ २५॥

यथा प्रकाशाकाशसवितृप्रभृतयोऽङ्गुलिकरकोदकप्रभृतिषु कर्मसूपाधिभूतेषु सविशेषा इवावभासन्ते, नच स्वाभाविकीमविशेषात्मतां जहति, एवमुपाधिनिमित्त एवायमात्मभेदः स्वतस्त्वैकात्म्यमेव। तथा हि—वेदान्तेष्वभ्यासेनासकृज्जीवप्राज्ञयोरभेदः प्रतिपाद्यते॥ २५॥

(३४४) अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम्॥ २६॥

अतश्च स्वाभाविकत्वादभेदस्याविद्याकृतत्वाच्च भेदस्य विद्ययाऽविद्यां विधूय जीवः परेणानन्तेन प्राज्ञेनात्मनैकतां गच्छति। तथा हि लिङ्गम्—'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३/२/९) 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४/४/६) इत्यादि॥ २६॥

(३४५) उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्॥ २७॥

तस्मिन्नेव संराध्यसंराधकभावे मतान्तरमुपन्यस्यति स्वमतविशुद्धये। क्वचिज्जीवप्राज्ञयोर्भेदो व्यपदिश्यते 'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' (मु० ३/१/८) इति ध्यातृध्यातव्यत्वेन द्रष्टृद्रष्टव्यत्वेन च। 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मु० ३/२/८) इति गन्तृगन्तव्यत्वेन। 'यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति' इति नियन्तृनियन्तव्यत्वेन, क्वचित्तु तयोरेवाभेदो व्यपदिश्यते 'तत्त्वमसि' (छा० ६/८/७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १/४/१०) 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३/४/१) 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३/४/७) इति। तत्रैवमुभयव्यपदेशे सति यद्यभेद एवैकान्ततो गृह्यते भेदव्यपदेशो निरालम्बन एव स्यात्। अत उभयव्यपदेशदर्शनादहिकुण्डलवदत्र तत्त्वं भवितुमर्हति। यथाहिरित्यभेदः कुण्डलाभोगप्रांशुत्वादीनीति तु भेद एवमिहापीति॥ २७॥

(३४६) प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्॥ २८॥

अथवा प्रकाशाश्रयवदेतत्प्रतिपत्तव्यम्। यथा प्रकाशः सावित्रस्तदाश्रयश्च सविता

नात्यन्तभिन्नौ, उभयोरपि तेजस्त्वाविशेषात्। अथ च भेदव्यपदेशभाजौ भवत, एवमिहापीति॥ २८॥

(३४७) पूर्ववद्वा॥२९॥

यथा वा पूर्वमुपन्यस्तं प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमिति तथैवैतद्भवितुमर्हति। तथाह्यविद्याकृतत्वाद्बन्धस्य विद्यया मोक्ष उपपद्यते। यदि पुनः परमार्थत एव बद्धः कश्चिदात्माहिकुण्डलन्यायेन परस्यात्मनः संस्थानभूतः प्रकाशाश्रयन्यायेन चैकदेशभूतोऽभ्युपगम्येत, ततः पारमार्थिकस्य बन्धस्य तिरस्कर्तुमशक्यत्वान्मोक्षशास्त्रवैयर्थ्यं प्रसज्येत, न चात्रोभावपि भेदाभेदौ श्रुतिस्तुल्यवद्व्यपदिशति। अभेदमेव हि प्रतिपाद्यत्वेन निर्दिशति, भेदं तु पूर्वप्रसिद्धमेवानुवदत्यर्थान्तरविवक्षया। तस्मात्प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमित्येष एव सिद्धान्तः॥ २९॥

(३४८) प्रतिषेधाच्च॥३०॥

इतश्चैष एव सिद्धान्तः। यत्कारणं परस्मादात्मनोऽन्यं चेतनं प्रतिषेधति शास्त्रम्—'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३/७/२३) इत्येवमादि। 'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २/३/६), 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० २/५/१९) इति च ब्रह्मव्यतिरिक्तप्रपञ्चनिराकरणाद्ब्रह्ममात्रपरिशेषाच्चैष एव सिद्धान्त इति गम्यते॥ ३०॥

(१९) पराधिकरणम्॥७॥ (सू० ३१-३७)

(३४९) परमतः सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः॥३१॥

यदेतन्निरस्तसमस्तप्रपञ्चं ब्रह्म निर्धारितम्, अस्मात्परमन्यत्तत्त्वमस्ति नास्तीति श्रुतिविप्रतिपत्तेः संशयः। कानिचिद्धि वाक्यान्यापातेनैव प्रतिभासमानानि ब्रह्मणोऽपि परमन्यत्तत्त्वं प्रतिपादयन्तीव। तेषां हि परिहारमभिधातुमयमुपक्रमः क्रियते। परमतो ब्रह्मणोऽन्यत्तत्त्वं भवितुमर्हति। कुतः? सेतुव्यपदेशादुन्मानव्यपदेशात् संबन्धव्यपदेशाद्भेदव्यपदेशाच्चेति। सेतुव्यपदेशस्तावत्—'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः' (छा० ८/४/१) इत्यात्मशब्दाभिहितस्य ब्रह्मणः सेतुत्वं संकीर्तयति। सेतुशब्दश्च हि लोके जलसंतानविच्छेदकरे मृद्दार्वादिप्रचये प्रसिद्धः, इह च सेतुशब्द आत्मनि प्रयुक्त इति लौकिकसेतोरिवात्मसेतोरन्यस्य वस्तुनोऽस्तित्वं गमयति; 'सेतुं तीर्त्वा' (छा० ८/४/२) इति च तरतिशब्दप्रयोगात्। यथा लौकिकं सेतुं तीर्त्वा जाङ्ग-

लमसेतुं प्राप्नोत्येवमात्मानं सेतुं तीर्त्वाऽनात्मानमसेतुं प्राप्नोतीति गम्यते। उन्मान-व्यपदेशश्च भवति—'तदेतद्ब्रह्म चतुष्पादष्टाशफं षोडशकलमि'ति। यच्च लोक उन्मितमेतावदिदमिति परिच्छिन्नं कार्षापणादि, ततोऽन्यद्वस्त्वस्तीति प्रसिद्धम्। तथा ब्रह्मणोऽप्युन्मानात्ततोऽन्येन वस्तुना भवितव्यमिति गम्यते। तथा संबन्धव्यपदेशोऽपि भवति—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६/८/१) इति 'शारीर आत्मा' (तै० २/३/१) 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः' (बृ० ४/३/२१) इति च। अमितानां च मितेन संबन्धो दृष्टो यथा नराणां नगरेण। जीवानां च ब्रह्मणा संबन्धं व्यपदिशति सुषुप्तौ। अतस्ततः परमन्यदमितमस्तीति गम्यते। भेदव्यपदेशश्चैनमेवार्थं गमयति। तथा हि—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा० १/६/६) इत्यादित्याधारमीश्वरं व्यपदिश्य ततो भेदेनाक्ष्याधारमीश्वरं व्यपदिशति—'अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० १/७/५) इति। अतिदेशं चास्यामुना रूपादिषु करोति—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम' (छा० १/७/५) इति। सावधिकं चेश्वरत्वमुभयोर्व्यपदिशति—'ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च' (छा० १/६/८) इत्येकस्य। 'ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च' (छा० १/७/६) इत्येकस्य। यथेदं मागधस्य राज्यमिदं वैदेहस्येति॥ ३१॥

एवमेतेभ्यः सेत्वादिव्यपदेशेभ्यो ब्रह्मणः परमस्तीत्येवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—

(३५०) सामान्यात्तु॥ ३२॥

तुशब्देन प्रदर्शितां प्राप्तिं निरुणद्धि। न ब्रह्मणोऽन्यत्किंचिद्भवितुमर्हति; प्रमाणाभावात्। न ह्यन्यस्यास्तित्वे किंचित्प्रमाणमुपलभामहे। सर्वस्य हि जनिमतो वस्तुजातस्य जन्मादि ब्रह्मणो भवतीति निर्धारितम्। अनन्यत्वं च कारणात्कार्यस्य। नच ब्रह्मव्यतिरिक्तं किंचिदजं संभवति; 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६/२/१) इत्यवधारणात्। एकविज्ञानेन च सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानान्न ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वमवकल्पते।

ननु सेत्वादिव्यपदेशाः ब्रह्मव्यतिरिक्तं तत्त्वं सूचयन्तीत्युक्तम्, नेत्युच्यते,- सेतुव्यपदेशस्तावन्न बाह्यस्य ब्रह्मणो सद्भावं प्रतिपादयितुं क्षमते। सेतुरात्मेति ह्याह, न पुनस्ततः परमस्तीति। तत्र परस्मिन्नसति सेतुत्वं नावकल्पत इति परं किमपि

कल्प्येत। न चैतन्न्याय्यम् हठो ह्यप्रसिद्धकल्पना। अपि च सेतुव्यपदेशादात्मनो लौकिकसेतुनिदर्शनेन सेतुबाह्यवस्तुतां प्रसञ्जयता मृद्दारुमयतापि प्रासङ्क्ष्यत। न चैतन्न्याय्यम्; अजत्वादिश्रुतिविरोधात्। सेतुसामान्यात्तु सेतुशब्द आत्मनि प्रयुक्त इति श्लिष्यते। जगतस्तन्मर्यादानां च विधारकत्वं सेतुसामान्यमात्मनः। अतः सेतुरिव सेतुरिति प्रकृत आत्मा स्तूयते। सेतुं तीर्त्वेत्यपि तरतेरतिक्रमासंभवात्प्राप्नोत्यर्थ एव वर्तते। यथा व्याकरणं तीर्ण इति प्राप्त इत्युच्यते नातिक्रान्तस्तद्वत्॥३२॥

(३५१) बुद्ध्यर्थः पादवत्॥३३॥

यदप्युक्तम्-उन्मानव्यपदेशादस्ति परमिति, तत्राभिधीयते-उन्मानव्यपदेशोऽपि न ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वप्रतिपत्त्यर्थः। किमर्थस्तर्हि? बुद्ध्यर्थः, उपासनार्थ इति यावत्। चतुष्पादष्टाशफं षोडशकलमित्येवंरूपा बुद्धिः कथं नु नाम ब्रह्मणि स्थिरा स्यादितिविकारद्वारेण ब्रह्मण उन्मानकल्पनैव क्रियते। न ह्यविकारेऽनन्ते ब्रह्मणि सर्वैः पुंभिः शक्या बुद्धिः स्थापयितुम्; मन्दमध्यमोत्तमबुद्धित्वात्पुंसामिति। पादवत्। यथा मनआकाशयोरध्यात्ममधिदैवतं च ब्रह्मप्रतीकयोराम्नातयोश्चत्वारो वागादयो मनःसंबन्धिनः पादाः कल्प्यन्ते, चत्वारश्चग्न्यादय आकाशसंबन्धिनः आध्यानाय, तद्वत्। अथवा, पादवदिति-यथा कार्षापणे पादविभागो व्यवहारप्राचुर्याय कल्प्यते। नहि सकलेनैव कार्षापणेन सर्वदा सर्वे जना व्यवहर्तुमीशते, क्रयविक्रये परिमाणानियमात्तद्वदित्यर्थः॥३३॥

(३५२) स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत्॥३४॥

इह सूत्रे द्वयोरपि संबन्धभेदव्यपदेशयोः परिहारो विधीयते। यदप्युक्तंसंबन्धव्यपदेशाद्भेदव्यपदेशाच्च परमतः स्यादिति,-तदप्यसत्; यत एकस्यापि स्थानविशेषापेक्षयैतौ व्यपदेशावुपपद्येते। संबन्धव्यपदेशे तावदयमर्थः-बुद्ध्याद्युपाधिस्थानविशेषयोगादुद्भूतस्य विशेषविज्ञानस्योपाध्युपशमे य उपशमः स परमात्मना संबन्ध इत्युपाध्यपेक्षयैवोपचर्यते, न परिमितत्त्वापेक्षया। तथा भेदव्यपदेशोऽपि ब्रह्मण उपाध्यपेक्षयैवोपचर्यते, न स्वरूपभेदापेक्षया। प्रकाशादिवदित्युपमोपादानम्। यथैकस्य प्रकाशस्य सौर्यस्य चान्द्रमसस्य वोपाधियोगादुपजातविशेषस्योपाध्युपशमात्संबन्धव्यपदेशो भवत्युपाधिभेदाच्च भेदव्यपदेशः। यथा वा सूचीपाशाकाशादिषूपाध्यपेक्षयैवैतौ संबन्धभेदव्यपदेशौ भवतस्तद्वत्॥३४॥

(३५३) उपपत्तेश्च॥३५॥

उपपद्यते चात्रेदृश एव संबन्धो नान्यादृशः, 'स्वमपीतो भवति' (छा० ६/८/१) इति हि स्वरूपसंबन्धमेनमामनन्ति; स्वरूपस्य चानपायित्वात्। न नरनगरन्यायेन संबन्धो घटते। उपाधिकृतस्वरूपतिरोभावात्तु—'स्वमपीतो भवति' (छा० ६/८/१) इत्युपपद्यते। तथा भेदोऽपि नान्यादृशः संभवति; बहुतरश्रुतिप्रसिद्धैकेश्वरत्वविरोधात्। तथा च श्रुतिरेकस्याप्याकाशस्य स्थानकृतं भेदव्यपदेशमुपपादयति— 'योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशः' (छा० ३/१२/७) 'योऽयमन्तः पुरुष आकाशः' (छा० ३/१२/८), 'योऽयमन्तर्हृदय आकाशः' (छा० ३/१२/९) इति च॥३५॥

(३५४) तथान्यप्रतिषेधात्॥३६॥

एवं सेत्वादिव्यपदेशान्परपक्षहेतूनुन्मथ्य संप्रति स्वपक्षं हेत्वन्तरेणोपसंहरति। तथान्यप्रतिषेधादपि न ब्रह्मणः परं वस्त्वन्तरमस्तीति गम्यते। तथा हि—'स एवाधस्तात्' (छा० ७/२५/१), 'अहमेवाधस्तात्' (छा० ७/२५/१), 'आत्मैवाधस्तात्' (छा० ७/२५/२), 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ० २/४/६), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्', 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७/२५/२), 'नेह नानास्ति किंचन' (बृ० ४/४/१९) 'यस्मात्परं नापरमस्ति किंचित्' (श्वे० ३/९), 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० २/५/१९) इत्येवमादिवाक्यानि स्वप्रकरणस्थान्यन्यार्थत्वेन परिणेतुमशक्यमानानि ब्रह्मव्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरं वारयन्ति। सर्वान्तरश्रुतेश्च न परमात्मनोऽन्योऽन्तरात्माऽस्तीत्यवधार्यते॥३६॥

(३५५) अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः॥३७॥

अनेन सेत्वादिव्यपदेशनिराकरणेनान्यप्रतिषेधसमाश्रयणेन च सर्वगतत्वमप्यात्मनः सिद्धं भवति। अन्यथा हि तन्न सिध्येत्। सेत्वादिव्यपदेशेषु हि मुख्येष्वङ्गीक्रियमाणेषु परिच्छेद आत्मनः प्रसज्येत; सेत्वादीनामेवमात्मकत्वात्। तथाऽन्यप्रतिषेधेऽप्यसति वस्तु वस्त्वन्तराद्व्यावर्तत इति परिच्छेद एवात्मनः प्रसज्येत। सर्वगतत्वं चास्यायामशब्दादिभ्यो विज्ञायते। आयामशब्दो व्याप्तिवचनः शब्दः। 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' (छा० ८/१/३), 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः,' 'ज्यायान्दिवः' (छा० ३/१४/३), 'ज्यायानाकाशात्', 'नित्यः सर्वगतः

स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' (गी० २/२४) इत्येवमादयो हि श्रुतिस्मृतिन्यायाः सर्वगतत्वमात्मनोऽवबोधयन्ति॥ ३७॥

(१००) फलाधिकरणम्॥ ८॥ (सू० ३८-४१)

(३५६) फलमत उपपत्तेः॥ ३८॥

तस्यैव ब्रह्मणो व्यावहारिक्यामीशित्रीशितव्यविभागावस्थायामयमन्यः स्वभावो वर्ण्यते। यदेतदिष्टानिष्टव्यामिश्रलक्षणं कर्मफलं संसारगोचरं त्रिविधं प्रसिद्धं जन्तूनां, किमेतत्कर्मणो भवत्याहोस्विदीश्वरादिति भवति विचारणा। तत्र तावत्प्रतिपद्यते फलमत ईश्वराद्भवितुमर्हति। कुतः? उपपत्तेः।

स हि सर्वाध्यक्षः सृष्टिस्थितिसंहारान्विचित्रान्विदधद्देशकालविशेषाभिज्ञत्वात्कर्मिणां कर्मानुरूपं फलं संपादयतीत्युपपद्यते। कर्मणस्त्वनुक्षणविनाशिनः कालान्तरभावि फलं भवतीत्यनुपपन्नम्; अभावाद्भावानुत्पत्तेः। स्यादेतत्कर्म विनश्यत् स्वकालमेव स्वानुरूपं फलं जनयित्वा विनश्यति, तत्फलं कालान्तरितं कर्त्रा भोक्ष्यत इति। तदपि न परिशुध्यति; प्राग्भोक्तृसंबन्धात्फलत्वानुपपत्तेः। यत्कालं हि यत्सुखं दुःखं वाऽऽत्मना भुज्यते, तस्यैव लोके फलत्वं प्रसिद्धम्। नह्यसंबद्धस्यात्मना सुखस्य दुःखस्य वा फलत्वं प्रतियन्ति लौकिकाः। अथोच्येत-मा भूत्कर्मानन्तरं फलोत्पादः। कर्मकार्यादपूर्वात्फलमुत्पत्स्यत इति, तदपि नोपपद्यते; अपूर्वस्याचेतनस्य काष्ठलोष्टसमस्य चेतनेनाप्रवर्तितस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः; तदस्तित्वे च प्रमाणाभावात्। अर्थापत्तिः प्रमाणमिति चेत्, न; ईश्वरसिद्धेरर्थापत्तिक्षयात्॥ ३८॥

(३५७) श्रुतत्वाच्च॥ ३९॥

न केवलमुपपत्तेरेवेश्वरं फलहेतुं कल्पयामः, किं तर्हि? श्रुतत्वादपीश्वरमेव फलहेतुं मन्यामहे। तथा च हि श्रुतिर्भवति—'स वा एष महानज आत्मान्नादो वसुदानः' (बृ० ४/४/२४) इत्येवंजातीयका॥ ३९॥

(३५८) धर्मं जैमिनिरत एव॥ ४०॥

जैमिनिस्त्वाचार्यो धर्मं फलस्य दातारं मन्यते। अत एव हेतोः श्रुतेरुपपत्तेश्च। श्रूयते तावदयमर्थः 'स्वर्गकामो यजेत' इत्येवमादिषु वाक्येषु। तत्र च विधि-

श्रुतेर्विषयभावोपगमाद्याग: स्वर्गस्योत्पादक इति गम्यते। अन्यथा ह्यननुष्ठातृको याग आपद्येत तत्रास्योपदेशवैयर्थ्यं स्यात्। नन्वनुक्षणविनाशिन: कर्मण: फलं नोपपद्यत इति, परित्यक्तोऽयं पक्ष:, नैष दोष:; श्रुतिप्रामाण्यात्। श्रुतिश्चेत्प्रमाणं यथाऽयं कर्मफलसंबन्ध: श्रुत उपपद्यते, तथा कल्पयितव्य:। न चानुत्पाद्य किमप्यपूर्वं कर्म विनश्यत्कालान्तरितं फलं दातुं शक्नोति। अत: कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था फलस्य वा पूर्वावस्थाऽपूर्वं नामास्तीति तर्क्यते। उपपद्यते चायमर्थ उक्तेन प्रकारेण। ईश्वरस्तु फलं ददातीत्यनुपपन्नम्; अविचित्रस्य कारणस्य विचित्रकार्यानुपपत्तेर्वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गादनुष्ठानवैयर्थ्यापत्तेश्च। तस्माद्धर्मादेव फलमिति॥ ४०॥

(३५९) पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात्॥४१॥

बादरायणस्त्वाचार्य: पूर्वोक्तमेवेश्वरं फलहेतुं मन्यते। केवलात्कर्मणोऽपूर्वाद्वा केवलात्फलमित्ययं पक्षस्तुशब्देन व्यावर्त्यते। कर्मापेक्षादपूर्वापेक्षाद्वा यथा तथाऽस्त्वीश्वरात्फलमिति सिद्धान्त: कुत:? हेतुव्यपदेशात्। धर्माधर्मयोरपि हि कारयितृत्वेनेश्वरो हेतुर्व्यपदिश्यते। फलस्य च दातृत्वेन 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' इति। स्मर्यते चायमर्थो भगवद्गीतासु—'यो यो यां यां तनुं भक्त: श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च तत: कामान्मयैव विहितान्हितान्' (७/२१,२२) इति। सर्ववेदान्तेषु चेश्वरहेतुका एव सृष्टयो व्यपदिश्यन्ते। तदेव चेश्वरस्य फलहेतुत्वं यत्स्वकर्मानुरूपा: प्रजा: सृजतीति। विचित्रकार्यानुपपत्त्यादयोऽपि दोषा: कृतप्रयत्नापेक्षत्वादीश्वरस्य न प्रसज्यन्ते॥ ४१॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ
श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य द्वितीय: पाद:॥२॥

विश्राम:॥२३॥

* * * *

ॐ

॥ तृतीयाध्याये तृतीयः पादः ॥

(अत्रपादे परापरब्रह्मविद्यागुणोपसंहारविवरणम्)

(१०१) सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ॥ १ ॥ (सू० १-४)

(३६०) सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥

व्याख्यातं विज्ञेयस्य ब्रह्मणस्तत्त्वम्। इदानीं तु प्रतिवेदान्तं विज्ञानानि भिद्यन्ते न वेति विचार्यते।

ननु विज्ञेयं ब्रह्म पूर्वापरादिभेदरहितमेकमेकरसं सैन्धवघनवदवधारितं, तत्र कुतो विज्ञानभेदाभेदचिन्तावतारः? नहि कर्मबहुत्ववद्ब्रह्मबहुत्वमपि वेदान्तेषु प्रतिपिपादयिषितमिति शक्यं वक्तुम्; ब्रह्मण एकत्वादेकरूपत्वाच्च। न चैकरूपे ब्रह्मण्यनेकरूपाणि विज्ञानानि संभवन्ति। न ह्यन्यथाऽर्थोऽन्यथा ज्ञानमित्यभ्रान्तं भवति। यदि पुनरेकस्मिन्ब्रह्मणि बहूनि विज्ञानानि वेदान्तान्तरेषु प्रतिपिपादयिषितानि, तेषामेकमभ्रान्तम्, भ्रान्तानीतराणीत्यनाश्वासप्रसङ्गो वेदान्तेषु। तस्मान्न तावत्प्रतिवेदान्तं ब्रह्मविज्ञानभेद आशङ्कितुं शक्यते। नाप्यस्य चोदनाद्यविशेषादभेद उच्येत; ब्रह्मविज्ञानस्याचोदनालक्षणत्वात्। अविधिप्रधानैर्हि वस्तुपर्यवसायिभिर्ब्रह्मवाक्यैर्ब्रह्मविज्ञानं जन्यत इत्यवोचदाचार्यः 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १/१/४) इत्यत्र। तत्कथमिमां भेदाभेदचिन्तामारभत इति? तदुच्यते,—सगुणब्रह्मविषया, प्राणादिविषया चेयं विज्ञानभेदाभेदचिन्तेत्यदोषः। अत्र हि कर्मवदुपासनानां भेदाभेदौ संभवतः, कर्मवदेव चोपासनानि दृष्टफलान्यदृष्टफलानि चोच्यन्ते। क्रममुक्तिफलानि च कानिचित्सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिद्वारेण। तेष्वेषा चिन्ता संभवति— किं प्रतिवेदान्तं विज्ञानभेद आहोस्विन्नेति? तत्र पूर्वपक्षहेतवस्तावदुपन्यस्यन्ते।

नाम्नस्तावद्भेदप्रतिपत्तिहेतुत्वं प्रसिद्धं ज्योतिरादिषु। अस्ति चात्र वेदान्तान्तरविहितेषु विज्ञानेष्वन्यदन्यन्नाम तैत्तिरीयकं, वाजसनेयकं, कौथुमकं, कौषीतकं, शाट्यायनकमित्येवमादि। तथा रूपभेदोऽपि कर्मभेदस्य प्रतिपादकः प्रसिद्धो वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनमित्येवमादिषु। अस्ति चात्र रूपभेदः। तद्यथा—केचिच्छाखिनः पञ्चाग्निविद्यायां षष्ठमपरमग्निमामनन्त्यपरे पुनः पञ्चैव पठन्ति। तथा

प्राणसंवादादिषु केचिदूनान्वागादीनामनन्ति, केचिदधिकान्। तथा धर्मविशेषोऽपि कर्मभेदस्य प्रतिपादक आशङ्कितः कारीर्यादिषु। अस्ति चात्र धर्मविशेषः, यथाथर्वणिकानां शिरोव्रतमिति। एवं पुनरुक्त्यादयोऽपि भेदहेतवो यथासंभवं वेदान्तान्तरेषु योजयितव्याः। तस्मात्प्रतिवेदान्तं विज्ञानभेद इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—सर्ववेदान्तप्रत्ययानि विज्ञानानि तस्मिंस्तस्मिन्वेदान्ते तानि तान्येव भवितुमर्हन्ति। कुतः? चोदनाद्यविशेषात्। आदिग्रहणेन शाखान्तराधिकरणसिद्धान्तसूत्रोदिता अभेदहेतव इहाकृष्यन्ते। संयोगरूपचोदनाख्याविशेषादित्यर्थः। यथैकस्मिन्नग्निहोत्रे शाखाभेदेऽपि पुरुषप्रयत्नस्तादृश एव चोद्यते जुहुयादिति। एवम् 'यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद' (बृ० ६/१/१, छा० ५/१/१) इति वाजसनेयिनां छन्दोगानां च तादृश्येव चोदना। प्रयोजनसंयोगोऽप्यविशिष्ट एव—'ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति' (बृ० ६/१/१) इति। रूपमप्युभयत्र तदेव विज्ञानस्य, यदुत ज्येष्ठश्रेष्ठादिगुणविशेषणान्वितं प्राणतत्त्वम्। यथा च द्रव्यदेवते यागस्य रूपम्, एवं विज्ञेयं रूपं विज्ञानस्य, तेन हि तद्रूप्यते। समाख्याऽपि सैव प्राणविद्येति। तस्मात्सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं विज्ञानानाम्। एवं पञ्चाग्निविद्या वैश्वानरविद्या शाण्डिल्यविद्येत्येवमादिषु योजयितव्यम्। ये तु नामरूपादयो भेदहेत्वाभासास्ते प्रथम एव काण्डे 'न नाम्ना स्यादचोदनाभिधानत्वात्' इत्यारभ्य परिहृताः॥ १॥

इहापि कंचिद्विशेषमाशङ्क्य परिहरति—

(३६१) भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि॥ २॥

स्यादेतत्। सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं विज्ञानानां गुणभेदान्नोपपद्यते। तथाहि वाजसनेयिनः पञ्चाग्निविद्यां प्रस्तुत्य षष्ठमपरमग्निमामनन्ति—'तस्याग्निरेवाग्निर्भवति' (बृ० ६/२/१४) इत्यादिना। छन्दोगास्तु तं नामनन्ति पञ्चसंख्ययैव च त उपसंहरन्ति—'अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन्वेद' (छा० ५/१०/१०) इति। येषां च स गुणोऽस्ति, येषां च नास्ति, कथमुभयेषामेका विद्योपपद्येत? न चात्र गुणोपसंहारः शक्यते प्रत्येतुं; पञ्चसंख्याविरोधात्। तथा प्राणसंवादे श्रेष्ठादन्यांश्चतुरः प्राणान्वाक्चक्षुःश्रोत्रमनांसि छन्दोगा आमनन्ति। वाजसनेयिनस्तु पञ्चममप्यामनन्ति—'रेतो वै प्रजापतिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद' (बृ० ६/१/६) इति। आवापोद्वापभेदाच्च वेद्यभेदो भवति, वेद्यभेदाच्च विद्याभेदः, द्रव्यदेवताभेदादिव

यागस्येति चेत्। नैष दोषः; यत एकस्यामपि विद्यायामेवंजातीयको गुणभेद उपपद्यते। यद्यपि षष्ठस्याग्नेरुपसंहारो न संभवति, तथापि द्युप्रभृतीनां पञ्चानामग्नीनामुभयत्र प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्न विद्याभेदो भवितुमर्हति। नहि षोडशिग्रहणाग्रहणयोरतिरात्रो भिद्यते। पठ्यतेऽपि च षष्ठोऽग्निश्छन्दोगैः—'तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एवं हरन्ति' (छा० ५/९/२) इति। वाजसनेयिनस्तु सांपादिकेषु पञ्चस्वग्निष्वनुवृत्तायाः समिद्धूमादिकल्पनाया निवृत्तये 'तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समित्' (बृ० ६/२/१४) इत्यादि समामनन्ति; स नित्यानुवादः। अथाप्युपासनार्थ एष वादस्तथापि स गुणः शक्यते छन्दोगैरप्युपसंहर्तुम्। न चात्र पञ्चसंख्याविरोध आशङ्क्यः, सांपादिकाग्न्यभिप्राया ह्येषा पञ्चसंख्या नित्यानुवादभूता, न विधिसमवायिनीत्यदोषः। एवं प्राणसंवादादिष्वप्यधिकस्य गुणस्येतरत्रोपसंहारो न विरुध्यते। न चावापोद्वापभेदाद्वेद्यभेदो विद्याभेदश्चाशङ्क्यः; कस्यचिद्वेद्यांशस्यावापोद्वापयोरपि भूयसो वेद्यराशेरभेदावगमात्। तस्मादैकविद्यमेव॥ २॥

(३६२) स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः॥ ३॥

यदप्युक्तम्-आथर्वणिकानां विद्यां प्रति शिरोव्रताद्यपेक्षणादन्येषां च तदनपेक्षणाद्विद्याभेद इति, तत्प्रत्युच्यते,-स्वाध्यायस्यैष धर्मो न विद्यायाः, कथमिदमवगम्यते? यतस्तथात्वेन स्वाध्यायधर्मत्वेन समाचारे वेदव्रतोपदेशपरे ग्रन्थे, आथर्वणिका इदमपि वेदव्रतत्वेन व्याख्यातमिति समामनन्ति। 'नैतदचीर्णव्रतोऽधीते' (मु० ३/२/११) इति चाधिकृतविषयादेतच्छब्दादध्ययनशब्दाच्च स्वोपनिषदध्ययनधर्म एवैष इति निर्धार्यते। ननु च 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्' (मु० ३/२/१०) इति ब्रह्मविद्यासंयोगश्रवणादेकैव सर्वत्र ब्रह्मविद्येति संकीर्येतैष धर्मः, न; तत्राप्येतामिति प्रकृतप्रत्यवमर्शात्। प्रकृतत्वं च ब्रह्मविद्याया ग्रन्थविशेषापेक्षमिति ग्रन्थविशेषसंयोग्येवैष धर्मः। सववच्च तन्नियम इति निदर्शननिर्देशः। यथा च सवाः सप्त सौर्यादयः शतौदनपर्यन्ता वेदान्तरोदितत्रेताग्न्यनभिसंबन्धादाथर्वणोदितैकाग्न्यभिसंबन्धाच्चाथर्वणिकानामेव नियम्यन्ते, तथैवायमपि धर्मः स्वाध्यायविशेषसंबन्धात्तत्रैव नियम्यते। तस्मादप्यनवद्यं विद्यैकत्वम्॥ ३॥

(३६३) दर्शयति च ॥४॥

दर्शयति च वेदोऽपि विद्यैकत्वं सर्ववेदान्तेषु; वेद्यैकत्वोपदेशात् 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (क० २/१५) इति। तथा 'एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः' इति च। तथा 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (क० ६/२) इति काठक उक्तस्येश्वरगुणस्य भयहेतुत्वस्य तैत्तिरीयके भेददर्शननिन्दायै परामर्शो दृश्यते—'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' (तै० २/७/१) इति। तथा वाजसनेयके प्रादेशमात्रसंपादितस्य वैश्वानरस्य छान्दोग्ये सिद्धवदुपादानम् 'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' (छा० ५/१८/१) इति। तथा सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वेनान्यत्र विहितानामुक्थादीनामन्यत्रोपासनविधानायोपादानात्प्रायदर्शनन्यायेनोपासनानामपि सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वसिद्धिः ॥४॥

(१०२) उपसंहाराधिकरणम् ॥२॥ (सू० ५)

(३६४) उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥५॥

इदं प्रयोजनसूत्रम्। स्थिते चैवं सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वे सर्वविज्ञानानामन्यत्रोदितानां विज्ञानगुणानामन्यत्रापि समाने विज्ञान उपसंहारो भवति; अर्थाभेदात्। य एव हि तेषां गुणानामेकत्रार्थो विशिष्टविज्ञानोपकारकः, स एवान्यत्रापि। उभयत्रापि हि तदेवैकं विज्ञानं, तस्मादुपसंहारः। विधिशेषवत्। यथा विधिशेषाणामग्निहोत्रादिधर्माणां तदेवैकमग्निहोत्रादि कर्म सर्वत्रेत्यर्थाभेदादुपसंहरणमेवमिहापि। यदि हि विज्ञानभेदो भवेत्ततो विज्ञानान्तरनिबद्धत्वाद्गुणानां प्रकृतिविकृतिभावाभावाच्च न स्यादुपसंहारः। विज्ञानैकत्वे तु नैवमिति। अस्यैव तु प्रयोजनसूत्रस्य प्रपञ्चः सर्वाभेदादित्यारभ्य भविष्यति ॥५॥

(१०३) अन्यथात्वाधिकरणम् ॥३॥ (सू० ६-८)

(३६५) अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥६॥

वाजसनेयके 'ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति' (बृ० १/३/१) 'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गाय' (बृ० १/३/२) इति प्रक्रम्य वागादीन्प्राणानसुरपाप्मविद्धत्वेन निन्दित्वा मुख्यप्राणपरिग्रहः पठ्यते—'अथ हेममासन्यं प्राणमू-

चुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायत्' (बृ० १/३/७) इति। तथा छान्दोग्येऽपि—'तद्ध देवा उद्गीथमाजग्मुरनेनैनानभिभविष्यामः' (छा० १/२/१) इति प्रक्रम्येतरान्प्राणानसुरपाप्मविद्धत्वेन निन्दित्वा तथैव मुख्यप्राणपरिग्रहः पठ्यते—'अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे' (छा० १/२/७) इति। उभयत्रापि च प्राणप्रशंसया प्राणविद्याविधिरध्यवसीयते। तत्र संशयः-किमत्र विद्याभेदः स्यादाहोस्विद्विद्यैकत्वमिति?

किं तावत्प्राप्तम्? पूर्वेण न्यायेन विद्यैकत्वमिति। ननु न युक्तं विद्यैकत्वं; प्रक्रमभेदात्। अन्यथा हि प्रक्रमन्ते वाजसनेयिनोऽन्यथा छन्दोगाः-'त्वं न उद्गाय' (बृ० १/३/२) इति वाजसनेयिन उद्गीथस्य कर्तृत्वेन प्राणमामनन्ति। छन्दोगास्तूद्गीथत्वेन 'तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे' (छा० १/२/७) इति। तत्कथं विद्यैकत्वं स्यादिति चेत्। नैष दोषः। न ह्येतावता विशेषेण विद्यैकत्वमपगच्छति; अविशेषस्यापि बहुतरस्य प्रतीयमानत्वात्। तथा हि—देवासुरसंग्रामोपक्रमत्वमसुरात्ययाभिप्राय उद्गीथोपन्यासो वागादिसंकीर्तनं तन्निन्दया मुख्यप्राणव्यपाश्रयस्तद्वीर्याच्चासुरविध्वंसनमश्ममृल्लोष्टनिदर्शनेनेत्येवं बहवोऽर्था उभयत्राप्यविशिष्टाः प्रतीयन्ते। वाजसनेयकेऽपि चोद्गीथसामानाधिकरण्यं प्राणस्य श्रुतम्—'एष उ वा उद्गीथः' (बृ० १/३/२३) इति। तस्माच्छान्दोग्येऽपि कर्तृत्वं लक्षयितत्वम्। तस्माच्च विद्यैकत्वमिति॥ ६॥

(३६६) न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत्॥७॥

न वा विद्यैकत्वमत्र न्याय्यं, विद्याभेद एवात्र न्याय्यः। कस्मात्? प्रकरणभेदादिति, प्रक्रमभेदादित्यर्थः। तथा हि—इह प्रक्रमभेदो दृश्यते। छान्दोग्ये तावत्— ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १/१/१) इत्येवमुद्गीथावयवस्योंकारस्योपास्यत्व प्रस्तुत्य रसतमादिगुणोपव्याख्यानं तत्र कृत्वा, 'अथ खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति' (छा० १/१/१०) इति पुनरपि तमेवोद्गीथावयवमोंकारमनुवर्त्य देवासुराख्यायिकाद्वारेण 'तम् प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे' (छा० १/२/२) इत्याह। तत्र यद्युद्गीथशब्देन सकला भक्तिरभिप्रेयेत, तस्याश्च कर्तोद्गातर्त्विक्तत उपक्रमश्चोपरुध्येत लक्षणा च प्रसज्येत। उपक्रमतन्त्रेण चैकस्मिन्वाक्य उपसंहारेण भवितव्यम्। तस्मादत्र

तावदुद्गीथावयव ओंकारे प्राणदृष्टिरुपदिश्यते। वाजसनेयके तूद्गीथशब्देनावयवग्रहणे कारणाभावात्सकलैव भक्तिरावेद्यते। 'त्वंन उद्गाय' (बृ० १/३/२) इत्यपि तस्याः कर्तोद्गातर्त्विक्प्राणत्वेन निरूप्यत इति प्रस्थानान्तरम्। यदपि तत्रोद्गीथसामानाधिकरण्यं प्राणस्य, तदप्युद्गातृत्वेनैव दिदर्शयिषितस्य प्राणस्य सर्वात्मत्वप्रतिपादनार्थमिति न विद्यैकत्वमावहति। सकलभक्तिविषय एव च तत्राप्युद्गीथ शब्द इति वैषम्यम्। नच प्राणस्योद्गातृत्वमसंभवेन हेतुना परित्यज्यते; उद्गीथभाववदुद्गातृभावस्याप्युपासनार्थ-त्वेनोपदिश्यमानत्वात्। प्राणवीर्येणैव चोद्गातौद्गात्रं करोतीति नास्त्यसंभवः। तथा च तत्रैव श्रावितम्—'वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायत्' (बृ० १/३/२४) इति। नच विवक्षितार्थभेदेऽवगम्यमाने वाक्यच्छायानुकारमात्रेण समानार्थत्वमध्यवसातुं युक्तम्। तथा ह्यभ्युदयवाक्ये पशुकामवाक्ये च—'त्रेधा तण्डुलान्विभजेद्ये मध्यमाः स्युस्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं कुर्यात्' इत्यादिनिर्देशसाम्येऽप्युपक्रमभेदाद-भ्युदयवाक्ये देवतापनयोऽध्यवसितः, पशुकामवाक्ये तु यागविधिः। तथेहाप्यु-पक्रमभेदाद्विद्याभेदः। परोवरीयस्त्वादिवत्। यथा परमात्मदृष्ट्यध्याससाम्येऽपि 'आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' (छा० १/९/१) 'स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः' (छा० १/९/२) इति परोवरीयस्त्वगुणविशिष्टमुद्गीथोपासनमक्ष्यादित्या-दिगतहिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणविशिष्टोद्गीथोपासनाद्भिन्नम्। न चेतरेतरगुणोपसंहार एक-स्यामपि शाखायां, तद्वच्छाखान्तरस्थेष्वप्येवं जातीयकेषूपासनेष्विति॥७॥

(३६७) संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि॥८॥

अथोच्येत—संज्ञैकत्वाद्विद्यैकत्वमत्र न्याय्यमुद्गीथविद्येत्युभयत्राप्येका संज्ञेति; तदपि नोपपद्यते, उक्तं ह्येतत्—'न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत्' (ब्र० सू० ३/३/७) इति। तदेव चात्र न्याय्यतरम्, श्रुत्यक्षरानुगतं हि; तत्संज्ञैकत्वं तु श्रुत्यक्षरबाह्यमुद्गीथशब्दमात्रप्रयोगाल्लौकिकैर्व्यवहर्तृभिरुपचर्यते। अस्ति चैतत्सं-ज्ञैकत्वं प्रसिद्धभेदेष्वपि परोवरीयस्त्वाद्युपासनेषूद्गीथविद्येति। तथा प्रसिद्धभेदानाम-प्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां काठकैकग्रन्थपरिपठितानां काठकसंज्ञैकत्वं दृश्यते, तथे-हापि भविष्यति। यत्र तु नास्ति कश्चिदेवंजातीयको भेदहेतुस्तत्र भवतु संज्ञैकत्वाद्वि-द्यैकत्वं—यथा संवर्गविद्यादिषु॥८॥

(१०४) व्याप्त्यधिकरणम् ॥४॥ (सू ९)

(३६८) व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥९॥

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १/१/१) इत्यत्राक्षरोद्गीथशब्दयोः सामानाधिकरण्ये श्रूयमाणेऽध्यासापवादैकत्वविशेषणपक्षाणां प्रतिभासनात्कतमोऽत्र पक्षो न्याय्यः स्यादिति विचारः।

तत्राध्यासो नाम—द्वयोर्वस्तुनोरनिवर्तितायामेवान्यतरबुद्धावन्यतरबुद्धिरध्यस्यते, यस्मिन्नितरबुद्धिरध्यस्यतेऽनुवर्तत एव तस्मिंस्तद्बुद्धिरध्यस्तेतरबुद्धावपि। यथा नाम्नि ब्रह्मबुद्धावध्यस्यमानायामप्यनुवर्तत एव नामबुद्धिर्न ब्रह्मबुद्ध्या निवर्तते। यथा वा प्रतिमादिषु विष्ण्वादिबुद्ध्यध्यासः। एवमिहाप्यक्षर उद्गीथबुद्धिरध्यस्यते, उद्गीथे वाऽक्षरबुद्धिरिति।

अपवादो नाम—यत्र कस्मिंश्चिद्वस्तुनि पूर्वनिविष्टायां मिथ्याबुद्धौ निश्चितायां पश्चादुपजायमाना यथार्था बुद्धिः पूर्वनिविष्टायां मिथ्याबुद्धेर्निवर्तिका भवति। यथा देहेन्द्रियसंघाते आत्मबुद्धिरात्मन्येवात्मबुद्ध्या पश्चाद्भाविन्या 'तत्त्वमसि' (छा० ६/८/७) इत्यनया यथार्थबुद्ध्या निवर्त्यते। यथा वा दिग्भ्रान्तिबुद्धिर्दिग्याथात्म्यबुद्ध्या निवर्त्यते।

एवमिहाप्यक्षरबुद्ध्योद्गीथबुद्धिर्निवर्त्येत, उद्गीथबुद्ध्या वाऽक्षरबुद्धिरिति। एकत्वं त्वक्षरोद्गीथशब्दयोरनतिरिक्तार्थवृत्तित्वम्-यथा द्विजोत्तमो ब्राह्मणो भूमिदेव इति।

विशेषणं पुनः सर्ववेदव्यापिन ओमित्येतस्याक्षरस्य ग्रहणप्रसङ्ग औद्गात्रविशेषस्य समर्पणम्-यथा नीलं यदुत्पलं तदानयेति। एवमिहाप्युद्गीथो य ॐकारस्तमुपासीतेति।

एवमेतस्मिन्सामानाधिकरण्यवाक्ये विमृश्यमाने एते पक्षाः प्रतिभान्ति; तत्रान्यतमनिर्धारणकारणाभावादनिर्धारणप्राप्ताविदमुच्यते—व्याप्तेश्च समञ्जसमिति। चशब्दोऽयं तुशब्दस्थाननिवेशी पक्षत्रयव्यावर्तनप्रयोजनः। तदिह त्रयः पक्षाः सावद्या इति पर्युदस्यन्ते। विशेषणपक्ष एवैको निरवद्य इत्युपादीयते। तत्राध्यासे तावद्या बुद्धिरितरत्राध्यस्यते तच्छब्दस्य लक्षणावृत्तित्वं प्रसज्येत, तत्फलं च कल्प्येत। श्रूयत एव फलम् 'आपयिता ह वै कामानां भवति' (छा० १/१/७) इत्यादीति चेत्। न, तस्यान्यफलत्वात्। आप्त्यादिदृष्टिफलं हि तन्नोद्गीथाध्यासफलम्। अपवादेऽपि

समानः फलाभावः। मिथ्याज्ञाननिवृत्तिः फलमिति चेत्, । न; पुरुषार्थोपयोगानवगमात्। नच कदाचिदप्योंकारादोंकारबुद्धिर्निवर्तते, उद्गीथाद्वोद्गीथबुद्धिः। न चेदं वाक्यं वस्तुतत्त्वप्रतिपादनपरम्; उपासनाविधिपरत्वात्। नाप्येकत्वपक्षः संगच्छते, निष्प्रयोजनं हि तदा शब्दद्वयोच्चारणं स्यात्; एकेनैव विवक्षितार्थसमर्पणात्। नच हौत्रविषय वाऽऽध्वर्यवविषये वाऽक्षर ओंकारशब्दवाच्य उद्गीथशब्दप्रसिद्धिरस्ति। नापि सकलायां साम्नो द्वितीयायां भक्तावुद्गीथशब्दवाच्यायामोंकारशब्दप्रसिद्धिर्येनानतिरिक्तार्थता स्यात्। परिशेषाद्विशेषणपक्षः परिगृह्यते। व्याप्तेः सर्ववेदसाधारण्यात्। सर्वव्याप्यक्षरमिह मा प्रसञ्जीत्यत उद्गीथशब्देनाक्षरं विशेष्यते। कथं नाम? उद्गीथावयवभूत ओंकारो गृह्येतेति; नन्वस्मिन्नपि पक्षे समाना लक्षणा; उद्गीथशब्दस्यावयवलक्षणार्थत्वात्। सत्यमेवमेतत्, लक्षणायामपि तु संनिकर्षविप्रकर्षौ भवत एव। अध्यासपक्षे ह्यर्थान्तरबुद्धिरर्थान्तरे निक्षिप्यत इति विप्रकृष्टा लक्षणा, विशेषणपक्षे त्ववयविवचनेन शब्देनावयवः समर्प्यत इति संनिकृष्टा, समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि प्रवर्तमाना दृष्टाः पटग्रामादिषु। अतश्च व्याप्तेर्हेतोरोमित्येतदक्षरमित्येतस्योद्गीथमित्येतद्विशेषणमिति समञ्जसमेतत्, निरवद्यमित्यर्थः॥ ९॥

(१०५) सर्वाभेदाधिकरणम् ॥५॥ (सू० १०)

(३६९) सर्वाभेदादन्यत्रेमे॥१०॥

वाजिनां छन्दोगानां च प्राणसंवादे श्रैष्ठ्यगुणान्वितस्य प्राणस्योपास्यत्वमुक्तम्। वागादयोऽपि हि तत्र वसिष्ठत्वादिगुणान्विता उक्ताः ते च गुणाः प्राणे पुनः प्रत्यर्पिताः—'यद्वा अहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसि' (बृ० ६/१/१४) इत्यादिना। अन्येषामपि तु शाखिनां कौषीतकिप्रभृतीनां प्राणसंवादेषु 'अथातो निःश्रेयसादानम्', 'एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' (कौ० २/१४) इत्येवंजातीयकेषु प्राणस्य श्रैष्ठ्यमुक्तम्, न त्विमे वसिष्ठत्वादयोऽपि गुणा उक्ताः। तत्र संशयः—किमिमे वसिष्ठत्वादयो गुणाः क्वचिदुक्ता अन्यत्राप्यस्येरन्नुत नास्येरन्निति। तत्र प्राप्तं तावन्नास्येरन्निति। कुतः? एवंशब्दसंयोगात्। 'अथो य एवं विद्वान्प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा' (कौ० २/१४) इति तत्र तत्रैवंशब्देन वेद्यं वस्तु निवेद्यते। एवंशब्दश्च संनिहितावलम्बनो न शाखान्तरपरिपठितमेवंजातीयकं गुणजातं शक्नोति निवेदयितुम्। तस्मात्स्वप्रकरणस्थैरेव गुणैर्निराकाङ्क्षत्वमिति।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—अस्येरन्निमे गुणाः क्वचिदुक्ता वसिष्ठत्वादयोऽन्यत्रापि। कुतः? सर्वाभेदात्। सर्वत्रैव हि तदेवैकं प्राणविज्ञानमभिन्नं प्रत्यभिज्ञायते; प्राणसंवादादि-सारूप्यात्। अभेदे च विज्ञानस्य कथमिमे गुणाः क्वचिदुक्ता अन्यत्र नास्येरन्? नन्वेवंशब्दस्तत्र तत्र भेदेनैवंजातीयकं गुणजातं वेद्यत्वाय समर्पयतीत्युक्तम्। अत्रोच्यते—यद्यपि कौषीतकिब्राह्मणगतेनैवंशब्देन वाजसनेयिब्राह्मणगतं गुणजातमसंशब्दितमसंनिहितत्वात्तथापि तस्मिन्नेव विज्ञाने वाजसनेयिब्राह्मणगतेनैवंशब्देन तत्संशब्दितमिति न परशाखागतमप्यभिन्नविज्ञानावरुद्धं गुणजातं स्वशाखागताद्विशिष्यते। न चैवं सति श्रुतिहानिरश्रुतकल्पना वा भवति। एकस्यामपि हि शाखायां श्रुता गुणाः श्रुता एव सर्वत्र भवन्ति; गुणवतो भेदाभावात्। नहि देवदत्तः शौर्यादिगुणत्वेन स्वदेशे प्रसिद्धो देशान्तरं गतस्तद्देश्यैरविभावितशौर्यादिगुणोऽप्यतद्गुणो भवति। यथा च तत्र परिचयविशेषाद्देशान्तरेऽपि देवदत्तगुणा विभाव्यन्ते। एवमभियोगविशेषाच्छाखान्तरेऽप्युपास्या गुणाः शाखान्तरेऽप्यस्येरन्। तस्मादेकप्रधानसंबद्धा धर्मा एकत्राप्युच्यमानाः सर्वत्रैवोपसंहर्तव्या इति॥ १०॥

(१०६) आनन्दाद्यधिकरणम्॥ ६॥ (सू० ११-१३)

(३७०) आनन्दादयः प्रधानस्य॥ ११॥

ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरासु श्रुतिष्वानन्दरूपत्वं विज्ञानघनत्वं सर्वगतत्वं सर्वात्मत्वमित्येवंजातीयका ब्रह्मणो धर्माः क्वचित्केचिच्छ्रूयन्ते। तेषु संशयः—किमानन्दादयो ब्रह्मधर्मा यत्र यावन्तः श्रूयन्ते, तावन्त एव तत्र प्रतिपत्तव्याः, किं वा सर्वे सर्वत्रेति। तत्र यथाश्रुतिविभागं धर्मपतिपत्तौ प्राप्तायामिदमुच्यते—आनन्दादयः प्रधानस्य ब्रह्मणो धर्माः सर्वे सर्वत्र प्रतिपत्तव्याः। कस्मात्? सर्वाभेदादेव। सर्वत्र हि तदेवैकं प्रधानं विशेष्यं ब्रह्म न भिद्यते। तस्मात्सार्वत्रिकत्वं ब्रह्मधर्माणां, तेनैव पूर्वाधिकरणोदितेन देवदत्तशौर्यादिनिदर्शनेन॥ ११॥

नन्वेवं सति प्रियशिरस्त्वादयोऽपि धर्माः सर्वे सर्वत्र संकीर्येरन्। तथा हि—तैत्तिरीयक आनन्दमयमात्मानं प्रक्रम्याम्नायते—'तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० २/५) इति। अत उत्तरं पठति—

(३७१) प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे॥१२॥

प्रियशिरस्त्वादीनां धर्माणां तैत्तिरीयक आम्नातानां नास्त्यन्यत्र प्राप्तिः। यत्कारणं- प्रियं मोदः प्रमोद आनन्द इत्येते परस्परापेक्षया भोक्त्रन्तरापेक्षया चोपचितापचितरूपा उपलभ्यन्ते। उपचयापचयौ च सति भेदे संभवतः, निर्भेदं तु ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६/२/१) इत्यादिश्रुतिभ्यः। न चैते प्रियशिरस्त्वादयो ब्रह्मधर्माः, कोशधर्मास्त्वेत इत्युपदिष्टमस्माभिः 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्र० सू० १/१/१२) इत्यत्र। अपि च परस्मिन्ब्रह्मणि चित्तावतारोपायमात्रत्वेनैते परिकल्प्यन्ते, न द्रष्टव्यत्वेन। एवमपि सुतरामन्यत्राप्राप्तिः प्रियशिरस्त्वादीनाम्। ब्रह्मधर्मांस्त्वेतान्कृत्वा न्यायमात्रमिदमाचार्येण प्रदर्शितं प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरिति। स च न्यायोऽन्येषु निश्चितेषु ब्रह्मधर्मेषूपासनायोपदिश्यमानेषु नेतव्यः संयद्वामादिषु सत्यकामादिषु च। तेषु हि सत्यप्युपास्यस्य ब्रह्मण एकत्वे, प्रक्रमभेदादुपासनाभेदे सति, नान्योऽन्यधर्माणामन्योऽन्यत्र प्राप्तिः। यथा च द्वे नार्यावेकं नृपतिमुपासाते छत्रेणान्या, चामरेणान्या। तत्रोपास्यैकत्वेऽप्युपासनाभेदो धर्मव्यवस्था च भवति, एवमिहापीति। उपचितापचितगुणत्वं हि सति भेदव्यवहारे सगुणे ब्रह्मण्युपपद्यते, न निर्गुणे परस्मिन्ब्रह्मणि। अतो न सत्यकामत्वादीनां धर्माणां क्वचिच्छ्रुतानां सर्वत्र प्राप्तिरित्यर्थः॥१२॥

(३७२) इतरे त्वर्थसामान्यात्॥१३॥

इतरे त्वानन्दादयो धर्मा ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनायैवोच्यमाना अर्थसामान्यात्प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणो धर्मिण एकत्वात्सर्वे सर्वत्र प्रतीयेरन्निति वैषम्यम्, प्रतिपत्तिमात्रप्रयोजना हि त इति॥१३॥

(१०७) आध्यानाधिकरणम्॥७॥ (सू० १४-१५)

(३७३) आध्यानाय प्रयोजनाभावात्॥१४॥

काठके हि पठ्यते—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिः' (क० ३/१०) इत्यारभ्य 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (क० ३/११) इति। तत्र संशयः—किमिमे सर्वे एवार्थादयस्ततस्ततः परत्वेन प्रतिपाद्यन्त, उत पुरुष एवैभ्यः सर्वेभ्यः परः प्रतिपाद्यत इति। तत्र तावत्सर्वेषामेवैषां परत्वेन प्रतिपादनमिति भवति मतिः। तथा हि श्रूयते—'इदमस्मात्परमिदमस्मात्परम्' इति। ननु बहुष्वर्थेषु परत्वेन प्रतिपिपादयिषितेषु वाक्यभेदः स्यात्, नैष दोषः;

वाक्यबहुत्वोपपत्तेः। बहून्येव ह्येतानि वाक्यानि प्रभवन्ति बहूनर्थान्परत्वोपेतान्प्रतिपादयितुम्। तस्मात्प्रत्येकमेषां परत्वप्रतिपादनमिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—पुरुष एव ह्येभ्यः सर्वेभ्यः परः प्रतिपाद्यत इति युक्तम्, न प्रत्येकमेषां परत्वप्रतिपादनम्। कस्मात्? प्रयोजनाभावात्। न हीतरेषु परत्वेन प्रतिपन्नेषु किंचित्प्रयोजनं दृश्यते, श्रूयते वा। पुरुषे त्विन्द्रियादिभ्यः परस्मिन्सर्वानर्थव्राताततीते प्रतिपन्ने दृश्यते प्रयोजनं मोक्षसिद्धिः। तथा च श्रुतिः—'निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' (क० ३/१५) इति। अपि च परप्रतिषेधेन काष्ठाशब्देन च पुरुषविषयमादरं दर्शयन्पुरुषप्रतिपत्त्यर्थैव पूर्वापरप्रवाहोक्तिरिति दर्शयति—आध्यानायेति। आध्यानपूर्वकाय सम्यग्दर्शनायेत्यर्थः। सम्यग्दर्शनार्थमेव हीहाध्यानमुपदिश्यते, न त्वाध्यानमेव स्वप्रधानम्॥१४॥

(३७४) आत्मशब्दाच्च॥१५॥

इतश्च पुरुषप्रतिपत्त्यर्थैवेयमिन्द्रियादिप्रवाहोक्तिः। यत्कारणम् 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' (कठ० ३/१२) इति प्रकृतं पुरुषमात्मेत्याह। अतश्चानात्मत्वमितरेषां विवक्षितमिति गम्यते। तस्यैव च दुर्विज्ञानतां संस्कृतमतिगम्यतां च दर्शयति। तद्विज्ञानायैव 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' (कठ० ३/१३) इत्याध्यानं विदधाति। तद्व्याख्यातम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' (ब्र० सू० १/४/१) इत्यत्र। एवमनेकप्रकार आशयातिशयः श्रुतेः पुरुषे लक्ष्यते, नेतरेषु। अपि च 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (क० ३/९) इत्युक्ते, किं तदध्वनः पारं, विष्णोः परमं पदमित्यस्यामाकाङ्क्षायामिन्द्रियाद्यनुक्रमणात्परमपदप्रतिपत्त्यर्थ एवायमायास इत्यवसीयते॥१५॥

(१०८) आत्मगृहीत्यधिकरणम्॥८॥ (सू० १६-१७)

(३७५) आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्॥१६॥

ऐतरेयके श्रूयते—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्स ईक्षत लोकान्नु सृजा' इति (ऐ० १/१) 'स इमाँल्लोकानसृजताम्भो मरीचीर्मरमापः' (ऐ० १/२) इत्यादि। तत्र संशयः—किं पर एवात्मेहात्मशब्देनाभिलप्यत, उतान्यः कश्चिदिति। किं तावत्प्राप्तम्? न परमात्मेहात्मशब्दाभिलप्यो भवितुमर्हतीति।

कस्मात्? वाक्यान्वयदर्शनात्। ननु वाक्यान्वयः सुतरां परमात्मविषयो दृश्यते; प्रागुत्पत्तेरात्मैकत्वावधारणात्, ईक्षणपूर्वकस्त्रष्टृत्ववचनाच्च। नेत्युच्यते; लोकसृष्टिवचनात्। परमात्मनि हि स्त्रष्टरि परिगृह्यमाणे महाभूतसृष्टिरादौ वक्तव्या, लोकसृष्टिस्त्विहादावुच्यते। लोकाश्च महाभूतसंनिवेशविशेषाः। तथा चाम्भःप्रभृतींल्लोकत्वेनैव निर्ब्रवीति—'अदोऽम्भः परेण दिवम्' (ऐ० १/२) इत्यादिना। लोकसृष्टिश्च परमेश्वराधिष्ठितेनापरेण केनचिदीश्वरेण क्रियत इति श्रुतिस्मृत्योरुपलभ्यते। तथा हि श्रुतिर्भवति—'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः' (बृ० १/४/१) इत्याद्या। स्मृतिरपि 'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते। आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत' इति। ऐतरेयिणोऽपि 'अथातो रेतसः सृष्टिः प्रजापते रेतो देवाः' इत्यत्र पूर्वस्मिन्प्रकरणे प्रजापतिकर्तृकां विचित्रां सृष्टिमामनन्ति आत्मशब्दोऽपि तस्मिन्प्रयुज्यमानो दृश्यते—'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः' (बृ० १/४/१) इत्यत्र। एकत्वावधारणमपि प्रागुत्पत्तेः स्वविकारापेक्षमुपपद्यते। ईक्षणमपि तस्य चेतनत्वाभ्युपगमादुपपन्नम्। अपि च 'ताभ्यो गामानयत्ताभ्योऽश्वमानयत्ताभ्यः पुरुषमानयत्ताश्च अब्रुवन्' इत्येवंजातीयको भूयान्व्यापारविशेषो लौकिकेषु विशेषवत्स्वात्मसु प्रसिद्ध इहानुगम्यते। तस्माद्विशेषवानेव कश्चिदिहात्मा स्यादिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—पर एवात्मेहात्मशब्देन गृह्यत, इतरवत्। यथेतरेषु सृष्टिश्रवणेषु 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २/१/१) इत्येवमादिषु परस्यात्मनो ग्रहणम्। यथा चेतरस्मिँल्लौकिकात्मशब्दप्रयोगे प्रत्यगात्मैव मुख्य आत्मशब्देन गृह्यते, तथेहापि भवितुमर्हति। यत्र तु 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' (बृ० १/४/१) इत्येवमादौ 'पुरुषविधः' (बृ० १/४/१) इत्येवमादि विशेषणान्तरं श्रूयते, भवेत्तत्र विशेषवत् आत्मनो ग्रहणम्। अत्र पुनः परमात्मग्रहणानुगुणमेव विशेषणमप्युत्तरमुपलभ्यते—'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' (ऐ० १/१) 'स इमाँल्लोकानसृजत' (ऐ० १/२) इत्येवमादि। तस्मात्तस्यैव ग्रहणमिति न्याय्यम्॥ १६॥

(३७६) अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात्॥ १७॥

वाक्यान्वयदर्शनान्न परमात्मग्रहणमिति पुनर्यदुक्तं तत्परिहर्तव्यमिति। अत्रोच्यते—स्यादवधारणादिति। भवेदुपपन्नं परमात्मनो ग्रहणम्। कस्मात्? अवधारणात्। परमात्मग्रहणे हि प्रागुत्पत्तेरात्मैकत्वावधारणमाञ्जसमवकल्पते। अन्यथा ह्यनाञ्जसं तत्परिकल्प्येत। लोकसृष्टिवचनं तु श्रुत्यन्तरप्रसिद्धमहाभूतसृष्ट्यनन्तरमिति योज-

यिष्यामि। यथा 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६/२/३) इत्येच्छ्रुत्यन्तरप्रसिद्धवियद्वायुसृष्ट्यनन्तरमित्ययूयुजमेवमिहापि। श्रुत्यन्तरप्रसिद्धो हि समानविषयो विशेषः श्रुत्यन्तरेषूपसंहर्तव्यो भवति। योऽप्ययं व्यापारविशेषानुगमस्ताभ्यो गामानयदित्येवमादिः सोऽपि विवक्षितार्थावधारणानुगुण्येनैव ग्रहीतव्यः। न ह्ययं सकलः कथाप्रबन्धो विवक्षित इति शक्यते वक्तुम्; तत्प्रतिपत्तौ पुरुषार्थाभावात्। ब्रह्मात्मत्वं त्विह विवक्षितम्। तथा हि अम्भःप्रभृतीनां लोकानां लोकपालानां चाग्न्यादीनां सृष्टिं शिष्ट्वा करणानि करणायतनं च शरीरमुपदिश्य स एव स्रष्टा 'कथं न्विदं मदृते स्यात्' (ऐ० ३/११) इति वीक्ष्येदं शरीरं प्रविवेशेति दर्शयति—'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' (ऐ० ३/१२) इति। पुनश्च 'यदि वाचाभिव्याहृतं, यदि प्राणेनाभिप्राणितम्' (ऐ० ३/११) इत्येवमादिना करणव्यापारविवेचनपूर्वकम् 'अथ कोऽहम्' (ऐ० ३/११) इति वीक्ष्य 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत्' (ऐ० ३/१३) इति ब्रह्मात्मत्वदर्शनमवधारयति। तथोपरिष्टात् 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः' (ऐ० ५/३) इत्यादिना समस्तभेदजातं सह महाभूतैरनुक्रम्य 'सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐ० ५/३) इति ब्रह्मात्मत्वदर्शनमेवावधारयति। तस्मादिहात्मगृहीतिरित्यनपवादम्।

अपरा योजना—आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्॥ वाजसनेयके 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४/३/७) इत्यात्मशब्देनोपक्रम्य तस्यैव सर्वसङ्गविनिर्मुक्तत्वप्रतिपादनेन ब्रह्मात्मतामवधारयति। तथा ह्युपसंहरति—'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४/४/२५) इति। छान्दोग्ये तु 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६/२/१) इत्यन्तरेणैवात्मशब्दमुपक्रम्योदर्के 'स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६/८/७) इति तादात्म्यमुपदिशति। तत्र संशयः—तुल्यार्थत्वं किमनयोराम्नानयोः स्यादतुल्यार्थत्वं वेति। अतुल्यार्थत्वमिति तावत्प्राप्तमतुल्यत्वादाम्नानयोः। न ह्याम्नानवैषम्ये सत्यर्थसाम्यं युक्तं प्रतिपत्तुम्; आम्नानतन्त्रत्वादर्थपरिग्रहस्य। वाजसनेयके चात्मशब्दोपक्रमादात्मतत्त्वोपदेश इति गम्यते। छान्दोग्ये तूपक्रमविपर्ययादुपदेशविपर्ययः। ननु छन्दोगानामप्यस्त्युदर्के तादात्म्योपदेश इत्युक्तम्। सत्यमुक्तम्; उपक्रमतन्त्रत्वादुपसंहारस्य, तादात्म्यसंपत्तिः सेति मन्यते।

तथा प्राप्तेऽभिधीयते—आत्मगृहीतिः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६/२/१) इत्यत्र छन्दोगानामपि भवितुमर्हति, इतरवत्। यथा 'कतम आत्मा' (बृ० ४/३/७) इत्यत्र वाजसनेयिनामात्मगृहीतिस्तथैव। कस्मात्? उत्तरात्तादात्म्योपदेशात्। अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात्। यदुक्तम्—उपक्रमान्वयादुपक्रमे चात्मशब्दश्रवणाभावान्नात्मगृहीतिरिति तस्य कः परिहार इति चेत्,—सोऽभिधीयते स्यादवधारणादिति। भवेदुपपन्नेहात्मगृहीतिः। अवधारणात्। तथा हि—'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६/१/३) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमवधार्य तत्संपिपादयिषया 'सदेव' इत्याह। तच्चात्मगृहीतौ सत्यां संपद्यते। अन्यथा हि योऽयं मुख्य आत्मा स न विज्ञात इति नैव सर्वविज्ञानं संपद्येत। तथा प्रागुत्पत्तेरेकत्वावधारणं जीवस्य चात्मशब्देन परामर्शः स्वापावस्थायां च तत्स्वभावसंपत्तिकथनं परिचोदनापूर्वकं च पुनः पुनः 'तत्त्वमसि' (छा० ६/८/७) इत्यवधारणम्-इति च सर्वमेतत्तादात्म्यप्रतिपादनायामेवावकल्पते, न तादात्म्यसंपादनायाम्। न चात्रोपक्रमतन्त्रत्वोपन्यासो न्याय्यः। न ह्युपक्रम आत्मत्वसंकीर्तनमनात्मत्वसंकीर्तनं वाऽस्ति। सामान्योपक्रमश्च न वाक्यशेषगतेन विशेषेण विरुध्यते; विशेषाकाङ्क्षित्वात्सामान्यस्य। सच्छब्दार्थोऽपि च पर्यालोच्यमानो न मुख्यादात्मनोऽन्यः संभवति, अतोऽन्यस्य वस्तुजातस्यारम्भणशब्दादिभ्योऽनृतत्वोपपत्तेः। आम्नानवैषम्यमपि नावश्यमर्थवैषम्यमावहति; आहर पात्रं पात्रमाहरेत्येवमादिष्वर्थसाम्येऽपि तद्दर्शनात्। तस्मादेवंजातीयकेषु वाक्येषु प्रतिपादनप्रकारभेदेऽपि प्रतिपाद्यार्थाभेद इति सिद्धम्॥१७॥

विश्रामः॥२४॥

* * * *

(१०९) कार्याख्यानाधिकरणम्॥९॥ (सू० १८)

(३७७) कार्याख्यानादपूर्वम्॥१८॥

छन्दोगा वाजसनेयिनश्च प्राणसंवादे श्वादिमर्यादं प्राणस्यान्नमाम्नाय तस्यैवापो वास आमनन्ति। अनन्तरं च छन्दोगा आमनन्ति—'तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति' (छा० ५/२/२) इति। वाजसनेयिनस्त्वामनन्ति—'तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाऽऽचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो

मन्यन्ते' (बृ० ६/१/१४) 'तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुते' इति। तत्र त्वाचमनमनग्नताचिन्तनं च प्राणस्य प्रतीयते, तत्किमुभयमपि विधीयत, उताचमनमेवोतानग्नताचिन्तनमेवेति विचार्यते। किं तावत्प्राप्तम्? उभयमपि विधीयत इति। कुतः? उभयस्याप्यवगम्यमानत्वात्। उभयमपि चैतदपूर्वत्वाद्विध्यर्हम्। अथवाऽऽचमनमेव विधीयते, विस्पष्टा हि तस्मिन्विधिविभक्तिस्तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदिति। तस्यैव स्तुत्यर्थमनग्नतासंकीर्त्तनमिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नाचमनस्य विधेयत्वमुपपद्यते; कार्याख्यानात्। प्राप्तमेव हीदं कार्यत्वेनाचमनं प्रायत्यार्थं स्मृतिप्रसिद्धमन्वाख्यायते। नन्वियं श्रुतिस्तस्याः स्मृतेर्मूलं स्यात्, नेत्युच्यते; विषयनानात्वात्। सामान्यविषया हि स्मृतिः पुरुषमात्रसंबद्धं प्रायत्यार्थमाचमनं प्रापयति। श्रुतिस्तु प्राणविद्याप्रकरणपठिता तद्विषयमेवाचमनं विदधती विदध्यात्। नच भिन्नविषययोः श्रुतिस्मृत्योर्मूलमूलिभावोऽवकल्पते। न चेयं श्रुतिः प्राणविद्यासंयोग्यपूर्वमाचमनं विधास्यतीति शक्यमाश्रयितुम्। पूर्वस्यैव पुरुषमात्रसंयोगिन आचमनस्येह प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। अत एव च नोभयविधानम्। उभयविधाने च वाक्यं भिद्येत। तस्मात्प्राप्तमेवाशिशिषतामशितवतां चोभयत आचमनमनूद्य 'एतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते' (बृ० ६/१/१४) इति प्राणस्यानग्नताकरणसंकल्पोऽनेन वाक्येनाचमनीयास्वप्सु प्राणविद्यासंबन्धित्वेनापूर्व उपदिश्यते। न चायमनग्नतावाद आचमनस्तुत्यर्थ इति न्याय्यम्; आचमनस्याविधेयत्वात्, स्वयं चानग्नतासंकल्पस्य विधेयत्वप्रतीतेः। न चैवं सत्येकस्याचमनस्योभयार्थताभ्युपगता भवति—प्रायत्यार्थता परिधानार्थता चेति; क्रियान्तरत्वाभ्युपगमात्। क्रियान्तरमेव ह्याचमनं नाम प्रायत्यार्थं पुरुषस्याभ्युपगम्यते, तदीयासु त्वप्सु वासःसंकल्पनं नाम क्रियान्तरमेव परिधानार्थं प्राणस्याभ्युपगम्यत इत्यनवद्यम्। अपि च 'यदिदं किंचाश्वभ्य आकृमिभ्य आकीटपतंगेभ्यस्तत्तेऽन्नम्' (बृ० ६/१/१४) इत्यत्र तावन्न सर्वान्नाभ्यवहारश्चोद्यत इति शक्यं वक्तुम्; अशब्दत्वादशक्यत्वाच्च। सर्वं तु प्राणस्यान्नमितीयमन्नदृष्टिश्चोद्यते, तत्साहचर्याच्चापो वास इत्यत्रापि नापामाचमनं चोद्यते, प्रसिद्धास्वेव त्वाचमनीयास्वप्सु परिधानदृष्टिश्चोद्यत इति युक्तम्। न ह्यर्धवैशसं संभवति। अपि चाचामन्तीति वर्तमानापदेशित्वान्नायं शब्दो विधिक्षमः। ननु मन्यन्त इत्यपि समानं वर्तमानापदेशित्वम्। सत्यमेव तत्; अवश्यविधेये त्वन्यतरस्मिन्वासः कार्याख्यानादपां वासः संकल्पनमेवापूर्वं विधीयते, नाचमनं, पूर्ववद्धि तत्इत्युपपादितम्।

यदप्युक्तम्-विस्पष्टा चाचमने विधिविभक्तिरिति, तदपि पूर्ववत्त्वेनैवाचमनस्य प्रत्युक्तम्। अत एवाचमनस्याविधित्सितत्वादेतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्त इत्यत्रैव काण्वाः पर्यवस्यन्ति, नामनन्ति 'तस्मादेवंवित्' इत्यादि। तस्मान्माध्यंदिनानामपि पाठ आचमनानुवादेनैवंवित्त्वमेव प्रकृतप्राणवासोवित्त्वं विधीयत इति प्रतिपत्तव्यम्। योऽप्ययमभ्युपगमः क्वचिदाचमनं विधीयताम्, क्वचिद्वासोविज्ञानमितिसोऽपि न साधुः; आपो वास इत्यादिकाया वाक्यप्रवृत्तेः सर्वत्रैकरूप्यात्, तस्माद्वासोविज्ञानमेवेह विधीयते, नाचमनमिति न्याय्यम्॥१८॥

(११०) समानाधिकरणम्॥१०॥ (सू० १९)

(३७८) समान एवं चाभेदात्॥१९॥

वाजसनेयिशाखायामग्निरहस्ये शाण्डिल्यनामाङ्किता विद्या विज्ञाता। तत्र च गुणाः श्रूयन्ते—'स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपम्' इत्येवमादयः। तस्यामेव शाखायां बृहदारण्यके पुनः पठ्यते—'मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच' (बृ० ५/६/१) इति। तत्र संशयः—किमियमेका विद्याऽग्निरहस्यबृहदारण्यकयोर्गुणोपसंहारश्च, उत द्वे इमे विद्ये गुणानुपसंहारश्चेति। किं तावत्प्राप्तम्? विद्याभेदो गुणव्यवस्था चेति। कुतः? पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्। भिन्नासु हि शाखास्वध्येतृवेदितृभेदात्पौनरुक्त्यपरिहारमालोच्य विद्यैकत्वमध्यवसायैकत्रातिरिक्ता गुणा इतरत्रोपसंह्रियन्ते प्राणसंवादादिष्वित्युक्तम्। एकस्यां पुनः शाखायामध्येतृवेदितृभेदाभावादशक्यपरिहारे पौनरुक्त्ये न विप्रकृष्टदेशस्थैका विद्या भवितुमर्हति। न चात्रैकमाम्नानं विद्याविधानार्थमपरं गुणविधानार्थमिति विभागः संभवति; तदा ह्यतिरिक्ता एव गुणा इतरत्रेतरत्र चाम्नायेरन् असमानाः। समाना अपि तूभयत्राम्नायन्ते मनोमयत्वादयः। तस्मान्नान्योन्यं गुणोपसंहार इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमहे—यथा भिन्नासु शाखासु विद्यैकत्वं गुणोपसंहारश्च भवत्येवमेकस्यामपि शाखायां भवितुमर्हति; उपास्याभेदात्। तदेव हि ब्रह्म मनोमयत्वादिगुणकमुभयत्राप्युपास्यमभिन्नं प्रत्यभिजानीमहे। उपास्यं च रूपं विद्यायाः। नच विद्यमाने रूपाभेदे विद्याभेदमध्यवसातुं शक्नुमः। नापि विद्याऽभेदे गुणव्यवस्थानम्। ननु पौनरुक्त्यप्रसङ्गाद्विद्याभेदोऽध्यवसितः, नेत्युच्यते; अर्थविभागोपपत्तेः।

एकं ह्याम्नानं विद्याविधानार्थमपरं गुणविधानार्थमिति न किंचिन्नोपपद्यते। नन्वेवं सति यदपठितमग्निरहस्ये, तदेव बृहदारण्यके पठितव्यम्—'स एष सर्वस्येशानः' इत्यादि। यत्तु पठितमेव मनोमय इत्यादि, तन्न पठितव्यम्। नैष दोषः; तद्बलेनैव प्रदेशान्तरपठितविद्याप्रत्यभिज्ञानात्। समानगुणाम्नानेन हि विप्रकृष्टदेशां शाण्डिल्यविद्यां प्रत्यभिज्ञाप्य तस्यामीशानत्वाद्युपदिश्यते। अन्यथा हि कथं तस्यामयं गुणविधिरभिधीयते? अपि चाप्राप्तांशोपदेशेनार्थवति वाक्ये संजाते प्राप्तांशपरामर्शस्य नित्यानुवादतयाऽप्युपपद्यमानत्वान्न तद्बलेन प्रत्यभिज्ञोपोहितुं शक्यते। तस्मादत्र समानायामपि शाखायां विद्यैकत्वं गुणोपसंहारश्चेत्युपपन्नम्॥१९॥

(१११) संबन्धाधिकरणम्॥११॥ (सू० २०-२१)

(३७९) संबन्धादेवमन्यत्रापि॥२०॥

बृहदारण्यके 'सत्यं ब्रह्म' (बृ० ५/५/१) इत्युपक्रम्य 'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' (बृ० ५/५/२) इति तस्यैव सत्यस्य ब्रह्मणोऽधिदैवतमध्यात्मं चायतनविशेषमुपदिश्य व्याहृतिशरीरत्वं च संपाद्य द्वे उपनिषदावुपदिश्येते। तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतम्। तस्योपनिषदहमित्यध्यात्मम्। तत्र संशयः—किमविभागेनैवोभे अप्युपनिषदावुभयत्रानुसंधातव्ये, उत विभागेनैकाऽधिदैवमेकाऽध्यात्ममिति।

तत्र सूत्रेणैवोपक्रमते—

यथा शाण्डिल्यविद्यायां विभागेनाप्यधीतायां गुणोपसंहार उक्त, एवमन्यत्राप्येवंजातीयके विषये भवितुमर्हति; एकविद्याभिसंबन्धात्। एका हीयं सत्यविद्याऽधिदैवमध्यात्मं चाधीता; उपक्रमाभेदाद्व्यतिषक्तपाठाच्च। कथं तस्यामुदितो धर्मस्तस्यामेव न स्यात्? यो ह्याचार्ये कश्चिदनुगमनादिराचारश्चोदितः, स ग्रामगतेऽरण्यगते च तुल्यवदेव भवति। तस्मादुभयोरप्युपनिषदोरुभयत्र प्राप्तिरिति॥२०॥

एवं प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

(३८०) न वा विशेषात्॥२१॥

नैवोभयोरुभयत्र प्राप्तिः। कस्मात्? विशेषात्। उपासनस्थानविशेषोपनिबन्धादित्यर्थः। कथं स्थानविशेषोपनिबन्ध इति? उच्यते—'य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः'

(बृ० ५/५/३) इति ह्याधिदैविकं पुरुषं प्रकृत्य तस्योपनिषदहरिति श्रावयति। 'योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' (बृ० ५/५/४) इति ह्याध्यात्मिकं पुरुषं प्रकृत्य तस्योपनिषदहमिति। तस्येति चैतत्संनिहितावलम्बनं सर्वनाम, तस्मादायतनविशेषव्यपाश्रयेणैवैते उपनिषदावुपदिश्येते। कुत उभयोरुभयत्र प्राप्तिः।

नन्वेक एवायमधिदैवतमध्यात्मं च पुरुषः; एकस्यैव सत्यस्य ब्रह्मण आयतनद्वयप्रतिपादनात्। सत्यमेवमेतत्; एकस्यापि त्ववस्थाविशेषोपादानेनैवोपनिद्विशेषोपदेशात्तदवस्थस्यैव सा भवितुमर्हति। अस्ति चायं दृष्टान्त—सत्यप्याचार्यस्वरूपानपाये, यदाचार्यस्यासीनस्यानुवर्तनमुक्तं न तत्तिष्ठतो भवति। यच्च तिष्ठत उक्तं, न तदासीनस्येति। ग्रामारण्ययोस्त्वाचार्यस्वरूपानपायात्तत्स्वरूपानुबद्धस्य च धर्मस्य ग्रामारण्यकृतविशेषाभावादुभयत्र तुल्यवद्भाव इत्यदृष्टान्तः सः। तस्माद्व्यवस्थाऽनयोरुपनिषदोः॥२१॥

(३८१) दर्शयति च॥२२॥

अपि चैवंजातीयकानां धर्माणां व्यवस्थेति लिङ्गदर्शनं भवति—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम' (छा० १/७/५) इति कथमस्य लिङ्गत्वमिति? तदुच्यते—अक्ष्यादित्यस्थानभेदभिन्नान्धर्मानन्योन्यस्मिन्ननुपसंहार्यान्पश्यन्निहातिदेशेनादित्यपुरुषगतान्रूपादीनक्षिपुरुष उपसंहरति—'तस्यैतस्य तदेव रूपम्' (छा० १/७/५) इत्यादिना। तस्माद्व्यवस्थिते एवैते उपनिषदाविति निर्णयः॥२२॥

(११२) संभृत्यधिकरणम्॥१२॥ (सू० २३)

(३८२) संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः॥२३॥

'ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान' इत्येवं राणायनीयानां खिलेषु वीर्यसंभृतिद्युनिवेशप्रभृतयो ब्रह्मणो विभूतयः पठ्यन्ते। तेषामेव चोपनिषदि शाण्डिल्यविद्याप्रभृतयो ब्रह्मविद्याः पठ्यन्ते। तासु ब्रह्मविद्यासु ता ब्रह्मविभूतय उपसंह्रियेरन्न वेति विचारणायां ब्रह्मसंबन्धादुपसंहारप्राप्तावेवं पठति।

संभृतिद्युव्याप्तिप्रभृतयो विभूतयः शाण्डिल्यविद्याप्रभृतिषु नोपसंहर्तव्याः; अत एव चायतनविशेषयोगात्। तथा हि शाण्डिल्यविद्यायां हृदयायतनत्वं ब्रह्मण उक्तम्—'एष म आत्माऽन्तर्हृदये' (छा० ३/१४/३) इति। तद्वदेव दहरविद्यायामपि 'दहरं

पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छा० ८/१/१) इति। उपकोसलविद्यायां त्वक्ष्यायतनत्वम् 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० ४/१५/१) इति। एवं तत्र तत्र तत्तदाध्यात्मिकमायतनमेतासु विद्यासु प्रतीयते। आधिदैविक्यस्त्वेता विभूतयः संभृतिद्युव्याप्तिप्रभृतयः, तासां कुत एतासु प्राप्तिः?

नन्वेतास्वप्याधिदैविक्यो विभूतयः श्रूयन्ते—'ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' (छा० ३/१४/३) 'एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति' (छा० ४/१५/४) 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (छा० ८/१/३) इत्येवमाद्याः। सन्ति चान्या आयतनविशेषहीना अपीह ब्रह्मविद्याः षोडशकलाद्याः। सत्यम्, एवमेतत्; तथाप्यत्र विद्यते विशेषः संभृत्याद्यनुपसंहारहेतुः। समानगुणाम्नानेन हि प्रत्युपस्थापितासु विप्रकृष्टदेशास्वपि विद्यासु विप्रकृष्टदेशा गुणा उपसंह्रियेरन्निति युक्तम्, संभृत्यादयस्तु शाण्डिल्यादिवाक्यगोचराश्च मनोमयत्वादयो गुणाः परस्परव्यावृत्तस्वरूपत्वान्न प्रदेशान्तरवर्तिविद्याप्रत्युपस्थापनक्षमाः। नच ब्रह्मसंबन्धमात्रेण प्रदेशान्तरवर्तिविद्याप्रत्युपस्थापनमित्युच्यते; विद्याभेदेऽपि तदुपपत्तेः। एकमपि हि ब्रह्म विभूतिभेदैरनेकधोपास्यत इति स्थितिः; परोवरीयस्त्वादिवद्भेददर्शनात्। तस्माद्वीर्यसंभृत्यादीनां शाण्डिल्यविद्यादिष्वनुपसंहार इति॥ २३॥

(११३) पुरुषविद्याधिकरणम् ॥ १३॥ (सू० २४)

(३८३) पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात्॥२४॥

अस्ति ताण्डिनां पैङ्गिनां च रहस्यब्राह्मणे पुरुषविद्या। तत्र पुरुषो यज्ञः कल्पितः। तदीयमायुस्त्रेधा विभज्य सवनत्रयं कल्पितम्। अशिशिषादीनि च दीक्षादिभावेन कल्पितानि। अन्ये च धर्मास्तत्र समधिगता आशीर्मन्त्रप्रयोगादयः। तैत्तिरीयका अपि कंचित्पुरुषयज्ञं कल्पयन्ति—'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी' (नार० उ० ८०) इत्येतेनानुवाकेन। तत्र संशयः—किं य इतरत्रोक्ता पुरुषयज्ञस्य धर्मास्ते तैत्तिरीयकेषूपसंहर्तव्याः, किं वा नोपसंहर्तव्या इति? पुरुषयज्ञत्वाविशेषादुपसंहारप्राप्तावाचक्ष्महे—नोपसंहर्तव्या इति। कस्मात्? तद्रूपप्रत्यभिज्ञानाभावात्। तदाहाचार्यः—पुरुषविद्यायामिवेति।

यथैकेषां शाखिनां ताण्डिनां पैङ्गिनां च पुरुषविद्यायामाम्नानं नैवमितरेषां तैत्तिरी-

याणामाम्नानमस्ति। तेषां हीतरविलक्षणमेव यज्ञसंपादनं दृश्यते; पत्नीयजमानवेदिवेद-बर्हिर्यूपाज्यपश्वृत्विगाद्यनुक्रमणात्। यदपि सवनसंपादनं तदपीतरविलक्षणमेव—'यत्प्रातर्मध्यंदिनꣳसायं च तानि' (ना० उ० ८०) इति। यदपि किंचिन्मरणावभृथत्वादि-साम्यं, तदप्यल्पीयस्त्वाद्भूयसा वैलक्षण्येनाभिभूयमानं न प्रत्यभिज्ञापनक्षमम्। नच तैत्तिरीयके पुरुषस्य यज्ञत्वं श्रूयते; विदुषो यज्ञस्येति हि नचैते समानाधिकरणे षष्ठ्यौ विद्वानेव यो यज्ञस्तस्येति। नहि पुरुषस्य मुख्यं यज्ञत्वमस्ति। व्यधिकरणे त्वेते षष्ठ्यौ विदुषो यो यज्ञस्तस्येति। भवति हि पुरुषस्य मुख्यो यज्ञसंबन्धः। सत्यां च गतौ मुख्य एवार्थ आश्रयितव्यो न भाक्तः। आत्मा यजमान इति च यजमानत्वं पुरुषस्य निर्ब्रुवन्वैयधिकरण्येनैवास्य यज्ञसंबन्धं दर्शयति। अपि च तस्यैवंविदुष इति सिद्धवदनुवादश्रुतौ सत्यां पुरुषस्य यज्ञभावमात्मादीनां च यजमानादिभावं प्रतिपित्स-मानस्य वाक्यभेदः स्यात्। अपि च ससंन्यासामात्मविद्यां पुरस्तादुपदिश्यानन्तरं तस्यैवंविदुष इत्याद्यनुक्रमणं पश्यन्तः पूर्वशेष एवैष आम्नायो न स्वतन्त्र इति प्रतीमः। तथा चैकमेव फलमुभयोरप्यनुवाकयोरुपलभामहे—'ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति' (ना० उ० ८०) इति। इतरेषां त्वनन्यशेषः पुरुषविद्याम्नायः, आयुरभिवृद्धिफलो ह्यसौ; 'स ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद' (छा० ३/१६/७) इति समभिव्याहारात्। तस्माच्छाखान्तराधीतानां पुरुषविद्याधर्माणामाशीर्मन्त्रादीनामप्राप्तिस्तैत्तिरीयके॥ २४॥

(११४) वेधाद्यधिकरणम्॥१४॥ (सू० २५)

(३८४) वेधाद्यर्थभेदात्॥२५॥

अस्त्याथर्वणिकानामुपनिषदारम्भे मन्त्रसमाम्नायः—'सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्य शिरोऽभिप्रवृज्य त्रिधा विपृक्तः' इत्यादिः। ताण्डिनाम्—'देव सवितः प्रसुव यज्ञम्' इत्यादिः। शाट्यायनिनाम्—'श्वेताश्वो हरितनीलोऽसि' इत्यादिः। कठानां तैत्तिरीयाणां च—'शं नो मित्रः शं वरुणः' (तै० १/१/१) इत्यादिः। वाजसनेयिनां तूपनिषदारम्भे प्रवर्ग्यब्राह्मणं पठ्यते—'देवा ह वै सत्रं निषेदुः' इत्यादि। कौषीतकि-नामप्यग्निष्टोमब्राह्मणम्—'ब्रह्म वा अग्निष्टोमो ब्रह्मैव तदहर्ब्रह्मणैव ते ब्रह्मोपयन्ति तेऽमृतत्वमाप्नुवन्ति य एतदहरुपयन्ति' इति। किमिमे सर्वे प्रविध्यादयो मन्त्राः प्रवर्ग्यादीनि च कर्माणि विद्यासूपसंह्रियेरन्किं वा नोपसंह्रियेरन्निति मीमांसामहे।

किं तावन्नः प्रतिभाति? उपसंहार एवैषां विद्यास्विति। कुतः? विद्याप्रधानानामु-

पनिषद्ग्रन्थानां समीपे पाठात्। नन्वेषां विद्यार्थतया विधानं नोपलभामहे, बाढम्,-अनुपलभमाना अपि त्वनुमास्यामहे; संनिधिसामर्थ्यात्। नहि संनिधेरर्थवत्त्वे संभवत्यकस्मादसावनाश्रयितुं युक्तः। ननु नैषां मन्त्राणां विद्याविषयं किंचित्सामर्थ्यं पश्यामः। कथं च प्रवर्ग्यादीनि कर्माण्यन्यार्थत्वेनैव विनियुक्तानि सन्ति विद्यार्थत्वेनापि प्रतिपद्येमहीति? नैष दोषः। सामर्थ्यं तावन्मन्त्राणां विद्याविषयमपि किंचिच्छक्यं कल्पयितुम्; हृदयादिसंकीर्तनात्। हृदयादीनि हि प्रायेणोपासनेष्वायतनादिभावेनोपदिष्टानि, तद्द्वारेण च हृदयं प्रविध्येत्येवंजातीयकानां मन्त्राणामुपपन्नमुपासनाङ्गत्वम्। दृष्टश्चोपासनेष्वपि मन्त्रविनियोगः—'भूः प्रपद्येऽमुनामुनामुना' (छा० ३/१५/३) इत्येवमादिः। तथा प्रवर्ग्यादीनां कर्मणामन्यत्रापि विनियुक्तानां सतामविरुद्धो विद्यासु विनियोगो वाजपेय इव बृहस्पतिसवस्येति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नैषामुपसंहारो विद्यास्विति। कस्मात्? वेधाद्यर्थभेदात्। हृदयं प्रविध्येत्येवंजातीयकानां हि मन्त्राणां येऽर्था हृदयवेधादयो भिन्ना अनभिसंबद्धास्त उपनिषदुदिताभिर्विद्याभिः। न तेषां ताभिः संगन्तुं सामर्थ्यमस्ति। ननु हृदयस्योपासनेष्वप्युपयोगात्तद्द्वारक उपासनासंबन्ध उपन्यस्तः, नेत्युच्यते; हृदयमात्रसंकीर्तनस्य ह्येवमुपयोगः कथंचिदुत्प्रेक्ष्येत। नच हृदयमात्रमत्र मन्त्रार्थः। हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्येत्येवंजातीयको हि न सकलो मन्त्रार्थो विद्याभिरभिसंबध्यते। आभिचारिकविषयो ह्येषोऽर्थः। तस्मादाभिचारिकेण कर्मणा सर्वं प्रविध्येत्येतस्य मन्त्रस्याभिसंबन्धः। तथा 'देव सवितः प्रसुव यज्ञम्' इत्यस्य यज्ञप्रसवलिङ्गत्वाद्यज्ञेन कर्मणाभिसंबन्धः, तद्विशेषसंबन्धस्तु प्रमाणान्तरादनुसर्तव्यः। एवमन्येषामपि मन्त्राणां केषांचिल्लिङ्गेन, केषांचिद्वचनेन, केषांचित्प्रमाणान्तरेणेत्येवमर्थान्तरेषु विनियुक्तानां रहस्यपठितानामपि सतां न संनिधिमात्रेण विद्याशेषत्वोपपत्तिः। दुर्बलो हि संनिधिः श्रुत्यादिभ्य इत्युक्तं प्रथमे तन्त्रे—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै० सू० ३/३/१३) इत्यत्र। तथा कर्मणामपि प्रवर्ग्यादीनामन्यत्र विनियुक्तानां न विद्याशेषत्वोपपत्तिः। न ह्येषां विद्यादिभिः सहैकार्थ्यं किंचिदस्ति। वाजपेये तु बृहस्पतिसवस्य स्पष्टं विनियोगान्तरम्—'वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत' इति। अपि चैकोऽयं प्रवर्ग्यः सकृदुत्पन्नो बलीयसा प्रमाणेनान्यत्र विनियुक्तो न दुर्बलेन प्रमाणेनान्यत्रापि विनियोगमर्हति। अगृह्यमाणविशेषत्वे हि प्रमाणयोरेतदेवं स्यान्नतु बलवदबलवतोः प्रमाणयोरगृह्यमाणविशेषता संभवति; बलवदबलवत्त्वविशेषादेव।

तस्मादेवंजातीयकानां मन्त्राणां कर्मणां वा न संनिधिपाठमात्रेण विद्याशेषत्वमाशङ्कितव्यम्। अरण्यानुवचनादिधर्मसामान्यात्तु संनिधिपाठ इति संतोष्टव्यम्॥ २५॥

(११५) हान्यधिकरणम्॥१५॥ (सू० २६)

(३८५) हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम्॥ २६॥

अस्ति ताण्डिनां श्रुतिः—'अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि' (छा० ८/१३/१) इति। तथाऽऽथर्वणिकानाम् 'तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मु० ३/२/८) इति। तथा शाट्यायनिनः पठन्ति—'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति। तथैव कौषीतकिनः 'तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्' (कौ० १/४) इति। तदिह क्वचित्सुकृतदुष्कृतयोर्हानं श्रूयते, क्वचित्तयोरेव विभागेन प्रियैरप्रियैश्चोपायनम्; क्वचित्तूभयमपि हानमुपायनं च। तद्यत्रोभयं श्रूयते, तत्र तावन्न किंचिद्वक्तव्यमस्ति। यत्राप्युपायनमेव श्रूयते, न हानं, तत्राप्यर्थादेव हानं संनिपतति। अन्यैरात्मीययोः सुकृतदुष्कृतयोरुपेयमानयोरावश्यकत्वात्तद्धानस्य। यत्र तु हानमेव श्रूयते नोपायनं, तत्रोपायनं संनिपतेद्वा न वेति विचिकित्सायामश्रवणादसंनिपातः। विद्यान्तरगोचरत्वाच्च शाखान्तरीयस्य श्रवणस्य। अपि चात्मकर्तृकं सुकृतदुष्कृतयोर्हानम्, परकर्तृकं तूपायनम्, तयोरसत्यावश्यकभावे कथं हानेनोपायनमाक्षिप्येत? तस्मादसंनिपातो हानावुपायनस्येति।

अस्यां प्राप्तौ पठति—हानौ त्विति। हानौ त्वेतस्यां केवलायामपि श्रूयमाणायामुपायनं संनिपतितुमर्हति। तच्छेषत्वात्। हानशब्दशेषो ह्युपायनशब्दः समधिगतः कौषीतकिरहस्ये। तस्मादन्यत्र केवलहानशब्दश्रवणेऽप्युपायनानुवृत्तिः। यदुक्तमश्रवणाद्विद्यान्तरगोचरत्वादनावश्यकत्वाच्चासंनिपात इति, तदुच्यते। भवेदेषा व्यवस्थोक्तिर्यद्यनुष्ठेयं किंचिदन्यत्र श्रुतमन्यत्र निनीष्येत। नत्विह हानमुपायनं वानुष्ठेयत्वेन संकीर्त्यते। विद्यास्तुत्यर्थं त्वनयोः संकीर्तनम्। इत्थं महाभागा विद्या, यत्सामर्थ्यादस्य विदुषः सुकृतदुष्कृते संसारकारणभूते विधूयेते, ते चास्य सुहृद्द्विषत्सु निविशेते इति। स्तुत्यर्थे चास्मिन्संकीर्तने हानानन्तरभावित्वेनोपायनस्य क्वचिच्छ्रुतत्वादन्यत्रापि हानश्रुतावुपा-

यनानुवृत्तिं मन्यते स्तुतिप्रकर्षलाभाय। प्रसिद्धा चार्थवादान्तरापेक्षार्थवादान्तरप्रवृत्तिः —'एकविंशो वा इतोऽसावादित्यः' (छा० २/१०/५) इत्येवमादिषु। कथं हीहैकविंशतादित्यस्याभिधीयेतानपेक्ष्यमाणेऽर्थवादान्तरे 'द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः' इत्येतस्मिन्। तथा 'त्रिष्टुभौ भवतः सेन्द्रियत्वाय' इत्येवमादिवादेषु 'इन्द्रियं वै त्रिष्टुप्' इत्येवमाद्यर्थवादान्तरापेक्षा दृश्यते। विद्यास्तुत्यर्थत्वाच्चास्योपायनवादस्य कथमन्यदीये सुकृतदुष्कृते अन्यैरुपेयेते इति नातीवाभिनिवेष्टव्यम्। उपायनशब्दशेषत्वादिति हेतौ तु शब्दं समुच्चारयन्स्तुत्यर्थमेव हानावुपायनानुवृत्तिं सूचयति। गुणोपसंहारविवक्षायां ह्युपायनार्थस्यैव हानानुवृत्तिं ब्रूयात्। तस्माद्गुणोपसंहारविचारप्रसङ्गेन स्तुत्युपसंहारप्रदर्शनार्थमिदं सूत्रम्। कुशाछन्दस्तुत्युपगानवदित्युपमोपादानम्। तद्यथा भाल्लविनाम्—'कुशा वानस्पत्याः स्थ ता मा पात' इत्येतस्मिन्निगमे कुशानामविशेषेण वनस्पतियोनित्वेन श्रवणे शाट्यायनिनामौदुम्बराः कुशा इति विशेषवचनादौदुम्बर्यः कुशा आश्रीयन्ते। यथाच क्वचिद्देवासुरच्छन्दसामविशेषेण पौर्वापर्यप्रसङ्गे 'देवच्छन्दांसि पूर्वाणि' इति पैङ्ग्याम्नानात्प्रतीयन्ते। यथाच षोडशिस्तोत्रे केषांचित्कालाविशेषप्राप्तौ 'समयाध्युषिते सूर्ये' इत्यार्चश्रुतेः कालविशेषप्रतिपत्तिः। यथैव चाविशेषेणोपगानं केचित्समामनन्ति विशेषेण भाल्लविनः। यथैतेषु कुशादिशु श्रुत्यन्तरगतविशेषान्वय, एवं हानावप्युपायनान्वय इत्यर्थः। श्रुत्यन्तरकृतं हि विशेषं श्रुत्यन्तरेऽनभ्युपगच्छतः सर्वत्रैव विकल्पः स्यात्। स चान्याय्यः सत्यां गतौ। तदुक्तं द्वादशलक्षण्याम्—'अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः स्यात्प्रतिषेधे विकल्पः स्यात्' (जै० १०/८/१५) इति।

अथवैतास्वेव विधूननश्रुतिष्वेतेन सूत्रेणैतच्चिन्तयितव्यम्। किमनेन विधूननवचनेन सुकृतदुष्कृतयोर्हानमभिधीयते, किंवाऽर्थान्तरमिति। तत्र चैवं प्रापयितव्यम्। न हानं विधूननमभिधीयते 'धूञ् कम्पने' इति स्मरणात्। 'दोधूयन्तेध्वजाग्राणी'ति च वायुना चाल्यमानेषु ध्वजाग्रेषु प्रयोगदर्शनात्। तस्माच्चालनं विधूननमभिधीयते। चालनं तु सुकृतदुष्कृतयोः कंचित्कालं फलप्रतिबन्धनादित्येवं प्रापय्य प्रतिवक्तव्यम्।

हानावेवैष विधूननशब्दोवर्तितुमर्हति उपायनशब्दशेषत्वात्। नहि परपरिग्रहभूतयोः सुकृतदुष्कृतयोरप्रहीणयोः परैरुपायनं संभवति। यद्यपीदं परकीययोः सुकृतदुष्कृतयोः

परैरुपायनं नाञ्जसं संभाव्यते, तथापि तत्संकीर्तनात्तावत्तदानुगुण्येन हानमेव विधूननं नामेति निर्णेतुं शक्यते। क्वचिदपि चेदं विधूननसंनिधावुपायनं श्रूयमाणं कुशाछन्दस्तुत्युपगानवद्विधूननश्रुत्या सर्वत्रापेक्षमाणं सार्वत्रिकं निर्णयकारणं संपद्यते। नच चालनं ध्वजाग्रवत्सुकृतदुष्कृतयोर्मुख्यं संभवति। अद्रव्यत्वात्। अश्वश्च रोमाणि विधून्वानस्त्यजन्रजः सहैव तेन रोमाण्यपि जीर्णानि शातयति 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' (छा० ८/१३/१) इति च ब्राह्मणम्। अनेकार्थत्वाभ्युपगमाच्च धातूनां न स्मरणविरोधः। तदुक्तमिति व्याख्यातम्॥२६॥

(११६) साम्परायाधिकरणम्॥१६॥ (सू० २७-२८)

(३८६) साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये॥२७॥

देवयानेन पथा पर्यङ्कस्थं ब्रह्माभिप्रतिस्थितस्य व्यध्वनि सुकृतदुष्कृतयोर्वियोगं कौषीतकिनः पर्यङ्कविद्यायामामनन्ति 'स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति' (कौ० १/३) इत्युपक्रम्य 'स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते' (कौ० १/४) इति। तत्किं यथाश्रुतं व्यध्वन्येव वियोगवचनं प्रतिपत्तव्यमाहोस्विदादावेव देहादपसर्पण इति विचारणायां श्रुतिप्रामाण्याद्यथाश्रुतिप्रतिपत्तिप्रसक्तौ पठति—सांपराय इति। सांपराये गमन एव देहादपसर्पण इदं विद्यासामर्थ्यात्सुकृतदुष्कृतहानं भवतीति प्रतिजानीते। हेतुं चाचष्टे तर्तव्याभावादिति। नहि विदुषः संपरेतस्य विद्यया ब्रह्म संप्रेप्सतोऽन्तराले सुकृतदुष्कृताभ्यां किंचित्प्राप्तव्यमस्ति यदर्थं कतिचित्क्षणानक्षीणे ते कल्पेयाताम्। विद्याविरुद्धफलत्वात्तु विद्यासामर्थ्येन तयोः क्षयः, स च यदैव विद्या फलाभिमुखी तदैव भवितुमर्हति। तस्मात्प्रागेव सन्नयं सुकृतदुष्कृतक्षयः पश्चात्पठ्यते। तथा ह्यन्येऽपि शाखिनस्ताण्डिनः शाट्यायनिनश्च प्रागवस्थायामेव सुकृतदुष्कृतहानमामनन्ति 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' (छा० ८/१३/१) इति, 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधु कृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति च॥२७॥

(३८७) छन्दत उभयाविरोधात्॥२८॥

यदि च देहादपसृप्तस्य देवयानेन पथा प्रस्थितस्यार्धपथे सुकृतदुष्कृतक्षयोऽभ्युपगम्येत, ततः पतिते देहे यमनियमविद्याभ्यासात्मकस्य सुकृतदुष्कृतक्षयहेतोः पुरुषप्रयत्नस्येच्छातोऽनुष्ठानानुपपत्तेरनुपपत्तिरेव तद्धेतुकस्य सुकृतदुष्कृतक्षयस्य स्यात्। तस्मा-

त्पूर्वमेव साधकावस्थायां छन्दतोऽनुष्ठानं तस्य स्यात्। तत्पूर्वकं च सुकृतदुष्कृतहानमिति द्रष्टव्यम्। एवं निमित्तनैमित्तिकयोरुपपत्तिस्ताण्डिशाट्यायनिश्रुत्योश्च संगतिरिति॥२८॥

(११७) गतेरर्थवत्त्वाधिकरणम्॥१७॥ (सू० २९-३०)

(३८८) गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः॥२९॥

क्वचित्पुण्यपापहानसंनिधौ देवयानः पन्थाः श्रूयते, क्वचिन्न। तत्र संशयः— किं हानावविशेषेणैव देवयानः पन्थाः संनिपतेदुत विभागेन क्वचित्संनिपतेत् क्वचिन्नेति। यथा तावद्धानावविशेषेणैवोपायनानुवृत्तिरुक्तैवं देवयानानुवृत्तिरपि भवितुमर्हतीत्यस्यां प्राप्तावाचक्ष्महे।

गतेर्देवयानस्य पथोऽर्थवत्त्वमुभयथा विभागेन भवितुमर्हति। क्वचिदर्थवती गतिः क्वचिन्नेति, नाविशेषेण। अन्यथा ह्यविशेषेणैवैतस्यां गतावङ्गीक्रियमाणायां विरोधः स्यात्। 'पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु० ३/१/३) इत्यस्यां श्रुतौ देशान्तरप्रापणी गतिर्विरुध्येत। कथं हि निरञ्जनोऽगन्ता देशान्तरं गच्छेत्। गन्तव्यं च परमं साम्यं न देशान्तरप्राप्त्यायत्तमित्यानर्थक्यमेवात्र गतेर्मन्यामहे॥२९॥

(३८९) उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत्॥३०॥

उपपन्नश्चायमुभयथाभावः क्वचिदर्थवती गतिः, क्वचिन्नेति। तल्लक्षणार्थोपलब्धेः। गतिकारणभूतो ह्यर्थः पर्यङ्कविद्यादिषु सगुणेषूपासनेषूपलभ्यते। यत्र हि पर्यङ्कारोहणं, पर्यङ्कस्थेन ब्रह्मणा संवदनं, विशिष्टगन्धादिप्राप्तिश्चेत्येवमादि बहुदेशान्तरप्राप्त्यायत्तं फलं श्रूयते, तत्रार्थवती गतिः। नहि सम्यग्दर्शने तल्लक्षणार्थोपलब्धिरस्ति। नह्यात्मैकत्वदर्शिनामाप्तकामानामिहैव दग्धाशेषक्लेशबीजानामारब्धभोगकर्माशयक्षपणव्यतिरेकेणापेक्षितव्यं किंचिदस्ति, तत्रानर्थिका गतिः। लोकवच्चैष विभागो द्रष्टव्यो, यथा लोके ग्रामप्राप्तौ देशान्तरप्रापणः पन्था अपेक्ष्यते, नारोग्यप्राप्तावेवमिहापीति। भूयश्चैनं विभागं चतुर्थाध्याये निपुणतरमुपपादयिष्यामः॥३०॥

(११८) अनियमाधिकरणम्॥१८॥ (सू० ३१)

(३९०) अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम्॥३१॥

सगुणासु विद्यासु गतिरर्थवती, न निर्गुणायां परमात्मविद्यायामित्युक्तम्। सगुणास्वपि विद्यासु कासुचिद्गतिः श्रूयते यथा पर्यङ्कविद्यायामुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्नि-

विद्यायां दहरविद्यायामिति। नान्यासु यथा मधुविद्यायां शाण्डिल्यविद्यायां षोडशकलविद्यायां वैश्वानरविद्यायामिति। तत्र संशयः—किं यास्वेवैषा गतिः श्रूयते, तास्वेव नियम्येतोतानियमेन सर्वाभिरेवंजातीयकाभिर्विद्याभिरभिसंबध्येतेति। किं तावत्प्राप्तं; नियम इति। यत्रैव श्रूयते तत्रैव भवितुमर्हति। प्रकरणस्य नियामकत्वात्। यद्यन्यत्र श्रूयमाणाऽपि गतिर्विद्यान्तरं गच्छेच्छ्रुत्यादीनां प्रामाण्यं हीयेत, सर्वस्य सर्वार्थत्वप्रसङ्गात्। अपिचार्चिरादिकैकैव गतिरुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां च तुल्यवत्पठ्यते, तत्सर्वार्थत्वेऽनर्थकं पुनर्वचनं स्यात्। तस्मान्नियम इति।

एवं प्राप्ते पठति—अनियम इति। सर्वासामेवाभ्युदयप्राप्तिफलानां सगुणानां विद्यानामविशेषेणैषा देवयानाख्या गतिर्भवितुमर्हति। नन्वनियमाभ्युपगमे प्रकरणविरोध उक्तः। नैषोऽस्ति विरोधः शब्दानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। तथाहि श्रुतिः—'तद्य इत्थं विदुः' (छा० ५/१०/१) इति पञ्चाग्निविद्यावतां देवयानं पन्थानमवतारयन्ती 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' (छा० ५/१०/१) इति विद्यान्तरशीलिनामपि पञ्चाग्निविद्याविद्भिः समानमार्गतां गमयति। कथं पुनरवगम्यते विद्यान्तरशीलिनामियं गतिरिति। ननु श्रद्धातपःपरायणानामेव स्यात्तन्मात्रश्रवणात्। नैष दोषः। नहि केवलाभ्यां श्रद्धातपोभ्यामन्तरेण विद्याबलमेषा गतिर्लभ्यते, 'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः। न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः' इति श्रुत्यन्तरात्। तस्मादिह श्रद्धातपोभ्यां विद्यान्तरोपलक्षणम्।

वाजसनेयिनस्तु पञ्चाग्निविद्याधिकारेऽधीयते—'य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते' (बृ० ६/२/१५) इति। तत्र श्रद्धालवो ये सत्यं ब्रह्मोपासत इति व्याख्येयम्। सत्यशब्दस्य ब्रह्मण्यसकृत्प्रयुक्तत्वात्। पञ्चाग्निविद्याविदां चेत्थंवित्तयैवोपात्तत्वाद्विद्यान्तरपरायणानामेवैतदुपादानं न्याय्यम्। 'अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम्' (बृ० ६/२/१६) इति च मार्गद्वयभ्रष्टानां कष्टामधोगतिं गमयन्ती श्रुतिर्देवयानपितृयाणयोरेवैनानन्तर्भावयति। तत्रापि विद्याविशेषादेषां देवयानप्रतिपत्तिः। स्मृतिरपि—'शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते। एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः' (गी० ८/२६) इति। यत्पुनर्देवयानस्य पथो द्विराम्नानमुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां च, तदुभयत्राप्यनुचिन्तनार्थम्। तस्मादनियमः ॥३१॥

विश्रामः ॥२५॥

* * * *

(११९) यावदधिकाराधिकरणम् ॥१९॥ (सू० ३२)

(३९१) यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥३२॥

विदुषो वर्तमानदेहपातानन्तरं देहान्तरमुत्पद्यते न वेति चिन्त्यते। ननु विद्यायाः साधनभूतायाः संपत्तौ कैवल्यनिर्वृत्तिः स्यान्न वेति। नेयं चिन्तोपपद्यते। नहि पाकसाधनसंपत्तावोदनो भवेन्न वेति चिन्ता संभवति। नापि भुञ्जानस्तृप्येन्न वेति चिन्त्यते। उपपन्ना त्वियं चिन्ता ब्रह्मविदामपि केषांचिदितिहासपुराणयोर्देहान्तरोत्पत्तिदर्शनात्। तथाह्यपान्तरतमा नाम वेदाचार्यः पुराणर्षिर्विष्णुनियोगात्कलिद्वापरयोः संधौ कृष्णद्वैपायनः संबभूवेति स्मरन्ति। वसिष्ठश्च ब्रह्मणो मानसः पुत्रः सन्निमिशापादपगतपूर्वदेहः पुनर्ब्रह्मादेशान्मित्रावरुणाभ्यां संबभूवेति। भृग्वादीनामपि ब्रह्मण एव मानसपुत्राणां वारुणे यज्ञे पुनरुत्पत्तिः श्रूयते। सनत्कुमारोऽपि ब्रह्मण एव मानसः पुत्रः स्वयं रुद्राय वरप्रदानात्स्कन्दत्वेन प्रादुर्बभूव। एवमेव दक्षनारदप्रभृतीनां भूयसी देहान्तरोत्पत्तिः कथ्यते तेन तेन निमित्तेन स्मृतौ। श्रुतावपि मन्त्रार्थवादयोः प्रायेणोपलभ्यते। ते च केचित्पतिते पूर्वदेहे देहान्तरमाददते, केचित्तु स्थित एव तस्मिन्योगैश्वर्यवशादनेकदेहादानन्यायेन। सर्वे चैते समधिगतसकलवेदार्थाः स्मर्यन्ते। तदेतेषां देहान्तरोत्पत्तिदर्शनात्प्राप्तं ब्रह्मविद्यायाः पाक्षिकं मोक्षहेतुत्वमहेतुत्वं वेति।

अत उत्तरमुच्यते। न। तेषामपान्तरतमभृतीनां वेदप्रवर्तनादिषु लोकस्थितिहेतुष्वधिकारेषु नियुक्तानामधिकारतन्त्रत्वात्स्थितेः। यथासौ भगवान्सविता सहस्त्रयुगपर्यन्तं जगतोऽधिकारं चरित्वा तदवसान उदयास्तमयवर्जितं कैवल्यमनुभवति 'अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता' (छा० ३/११/१) इति श्रुतेः। यथाच वर्तमाना ब्रह्मविद प्रारब्धभोगक्षये कैवल्यमनुभवन्ति। 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६/१४/२) इति श्रुतेः। एवमपान्तरतमःप्रभृतयोऽपीश्वराः परमेश्वरेण तेषु तेष्वधिकारेषु नियुक्ताः सन्तः सत्यपि सम्यग्दर्शने कैवल्यहेतावक्षीणकर्माणो यावदधिकारमवतिष्ठन्ते, तदवसाने चापवृज्यन्त इत्यविरुद्धम्। सकृत्प्रवृत्तमेव हि तेऽधिकारं फलदानाय कर्माशयमतिवाहयन्तः स्वातन्त्र्येणैव गृहादिव गृहान्तरमन्यमन्यं देहं संचरन्तः स्वाधिकारनिर्वर्तनायापरिमुषितस्मृतय एव देहेन्द्रियप्रकृतिवशित्वान्निर्माय देहान्युगपत्क्रमेण वाधितिष्ठन्ति। नचैते जातिस्मरा इत्युच्यन्ते 'त एवैते' इति स्मृतिप्रसिद्धेः। यथाहि सुलभा नाम ब्रह्मवादिनी जनकेन विवदितुकामाव्युदस्य स्वयं देहं जानकं देहमाविश्य व्युद्य तेन पश्चात्स्वमेव देहमा-

विवेशेति स्मर्यते। यदि ह्युपयुक्ते सकृत्प्रवृत्ते कर्मणि कर्मान्तरं देहान्तरारम्भकारणमाविर्भवेत्ततोऽन्यदप्यदग्धबीजं कर्मान्तरं तद्वदेव प्रसज्येतेति ब्रह्मविद्यायाः पाक्षिकं मोक्षहेतुत्वमहेतुत्वं वा शङ्क्येत, नत्वियमाशङ्का युक्ता, ज्ञानात्कर्मबीजदाहस्य श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धत्वात्। तथाहि श्रुतिः—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मुण्ड० २/२/८) इति। 'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छा० ७/२६/२) इति चैवमाद्या। स्मृतिरपि—'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (गी० ४/३७) 'बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः। ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संपद्यते पुनः' इति चैवमाद्या। नचाविद्यादिक्लेशदाहे सति क्लेशबीजस्य कर्माशयस्यैकदेशदाह एकदेशप्ररोहश्चेत्युपपद्यते। नह्यग्निदग्धस्य शालिबीजस्यैकदेशप्ररोहो दृश्यते। प्रवृत्तफलस्य तु कर्माशयस्य मुक्तेषोरिव वेगक्षयान्निवृत्तिः। 'तस्य तावदेव चिरम्' (छा० ६/१४/२) इति शरीरपातावधिक्षेपकरणात्। तस्मादुपपन्ना यावदधिकारमाधिकारिकाणामवस्थितिः। नच ज्ञानफलस्यानैकान्तिकता। तथाच श्रुतिरविशेषेणैव सर्वेषां ज्ञानान्मोक्षं दर्शयति 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत, स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ० १/४/१०) इति। ज्ञानान्तरेषु चैश्वर्यादिफलेष्वासक्ताः स्युर्महर्षयः। ते पश्चादैश्वर्यक्षयदर्शनेन निर्विण्णाः परमात्मज्ञाने परिनिष्ठाः कैवल्यं प्रापुरित्युपपद्यते। 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' इति स्मरणात्। प्रत्यक्षफलत्वाच्च ज्ञानस्य फलविरहाशङ्कानुपपत्तिः। कर्मफले हि स्वर्गादावनुभवानारूढे स्यादपि कदाचिदाशङ्का भवेद्वा न वेति। अनुभवारूढं तु ज्ञानफलम् 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ० ३/४/१) इति श्रुतेः 'तत्त्वमसि' (६/८/७) इति च सिद्धवदुपदेशात्। नहि 'तत्त्वमसि' इत्यस्य वाक्यस्यार्थस्तत्त्वं मृतो भविष्यसीत्येवं परिणेतुं शक्यः। 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' (बृ० १/४/१०) इति च सम्यग्दर्शनकालमेव तत्फलं सर्वात्मत्वं दर्शयति। तस्मादैकान्तिकी विदुषः कैवल्यसिद्धिः॥३२॥

(१२०) अक्षरध्यधिकरणम्॥२०॥ (सू० ३३)

(३९२) अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्॥३३॥

वाजसनेयके श्रूयते—'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्व-

ह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहम्' (बृ० ३/८/८) इत्यादि। तथाथर्वणे श्रूयते—'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्' (मु० १/१/५) इत्यादि। तथैवान्यत्रापि विशेषनिराकरणद्वारेणाक्षरं परं ब्रह्म श्राव्यते। तत्र च क्वचित्केचिदतिरिक्ता विशेषाः प्रतिषिध्यन्ते। तासां विशेषप्रतिषेधबुद्धीनां किं सर्वासां सर्वत्र प्राप्तिरुत व्यवस्थेति संशये श्रुतिविभागाद्व्यवस्थाप्राप्तावुच्यते—अक्षरविषयास्तु विशेषप्रतिषेधबुद्धयः सर्वाः सर्वत्रावरोद्धव्याः सामान्यतद्भावाभ्याम्—समानो हि सर्वत्र विशेषनिराकरणरूपो ब्रह्मप्रतिपादनप्रकारः। तदेव च सर्वत्र प्रतिपाद्यं ब्रह्माभिन्नं प्रत्यभिज्ञायते। तत्र किमित्यन्यत्र कृता बुद्धयोऽन्यत्र न स्युः। तथाच 'आनन्दादयः प्रधानस्य' (ब्र० सू० ३/३/११) इत्यत्र व्याख्यातम्। तत्र विधिरूपाणि विशेषणानि चिन्तितानीह प्रतिषेधरूपाणीति विशेषः, प्रपञ्चार्थश्चायं चिन्ताभेदः। औपसदवदिति निदर्शनम्। यथा जामदग्न्येऽहीने पुरोडाशिनीषूपसत्सु चोदितासु पुरोडाशप्रदानमन्त्राणाम् 'अग्नेर्वेहोत्रं वेरध्वरम्' इत्येवमादीनामुद्गातृवेदोत्पन्नानामप्यध्वर्युभिरभिसंबन्धो भवति। अध्वर्युकर्तृकत्वात्पुरोडाशप्रदानस्य प्रधानतन्त्रत्वाच्चाङ्गानाम्। एवमिहाप्यक्षरतन्त्रत्वात्तद्विशेषणानां यत्र क्वचिदप्युत्पन्नानामक्षरेण सर्वत्राभिसंबन्ध इत्यर्थः। तदुक्तं प्रथमे काण्डे—'गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः' (जै० सू० ३/३/८) इत्यत्र॥३३॥

(१२१) इयदधिकरणम्॥२१॥ (सू० ३४)

(३९३) इयदामननात्॥३४॥

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (मु० ३/१/१) इत्यध्यात्माधिकारे मन्त्रमाथर्वणिकाः श्वेताश्वतराश्च पठन्ति। तथा कठाः 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः' (क० ३/१) इति। किमत्र विद्यैकत्वमुत विद्यानानात्वमिति संशयः। किं तावत्प्राप्तं, विद्यानानात्वमिति। कुतः ? विशेषदर्शनात्। द्वा सुपर्णेत्यत्र ह्येकस्य भोक्तृत्वं दृश्यते, एकस्य चाभोक्तृत्वं। ऋतं पिबन्तावित्यत्रोभयोरपि भोक्तृत्वमेव दृश्यते, तद्वेद्यरूपं भिद्यमानं विद्यां भिन्द्यादित्येवं प्राप्ते ब्रवीति विद्यैकत्वमिति।

कुतः ? यत उभयोरप्यनयोर्मन्त्रयोरियत्तापरिच्छिन्नं द्वित्वोपेतं वेद्यरूपमभिन्नमाम-

नन्ति। ननु दर्शितो रूपभेदः। नेत्युच्यते। उभावप्येतौ मन्त्रौ जीवद्वितीयमीश्वरं प्रतिपादयतो नार्थान्तरम्। 'द्वा सुपर्णा' इत्यत्र तावत् 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इत्यशनायाद्यतीतः परमात्मा प्रतिपाद्यते। वाक्यशेषेऽपि च स एव प्रतिपाद्यमानो दृश्यते। 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानम्' (श्वे० ४/७) इति। 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यत्र तु जीवे पिबत्यशनायाद्यतीतः परमात्मापि साहचर्याच्छत्रिन्यायेन पिबतीत्युपचर्यते। परमात्मप्रकरणं ह्येतत् 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २/१४) इत्युपक्रमात्। तद्विषय एव चात्रापि वाक्यशेषो भवति 'यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्' (क० ३/२) इति। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि' (ब्र० सू० १/२/११) इत्यत्र चैतत्प्रपञ्चितम्। यस्मान्नास्ति वेद्यभेदस्तस्माच्च विद्यैकत्वम्। अपिच त्रिष्वप्येतेषु वेदान्तेषु पौर्वापर्यालोचने परमात्मविद्यैवावगम्यते। तादात्म्यविवक्षयैव जीवोपादानं, नार्थान्तरविवक्षया। नच परमात्मविद्यायां भेदाभेदविचारावतारोऽस्तीत्युक्तम्। तस्मात्प्रपञ्चार्थ एवैष योगः। तस्माच्चाधिकधर्मोपसंहार इति॥३४॥

(१२२) अन्तराधिकरणम् ॥२२॥ (सू० ३५-३६)

(३९४) अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः॥३५॥

'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३/४/१-३/५/१) इत्येवं द्विरुषस्तिकहोलप्रश्नयोर्नैरन्तर्येण वाजसनेयिनः समामनन्ति। तत्र संशयः—विद्यैकत्वं वा स्याद्विद्यानानात्वं वेति। किं तावत्प्राप्तम्? विद्यानानात्वमिति तावत्प्राप्तम्। अभ्याससामर्थ्यात्। अन्यथा ह्यन्यूनानतिरिक्तार्थं द्विराम्नानमनर्थकमेव स्यात्। तस्माद्यथाभ्यासात्कर्मभेद, एवमभ्यासाद्विद्याभेद इति।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—अन्तराम्नानाविशेषात्स्वात्मनो विद्यैकत्वमिति। सर्वान्तरो हि स्वात्मोभयत्राप्यविशिष्टः पृच्छ्यते च प्रत्युच्यते च। नहि द्वावात्मानावेकस्मिन्देहे सर्वान्तरौ संभवतः। तदा ह्येकस्याञ्जसं सर्वान्तरत्वमवकल्प्येत। एकस्य तु भूतग्रामवन्नैव सर्वान्तरत्वं स्यात्। यथाच पञ्चभूतसमूहे देहे पृथिव्या आपोऽन्तरा अद्भ्यस्तेजोऽन्तरमिति सत्यप्यापेक्षिकेऽन्तरत्वे नैव मुख्यं सर्वान्तरत्वं भवति, तथेहापीत्यर्थः। अथवा भूतग्रामवदिति श्रुत्यन्तरं निदर्शयति। यथा—'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे० ६/११) इत्यस्मिन्मन्त्रे समस्तेषु भूतग्रामेष्वेक एव सर्वान्तर आत्माऽऽम्नायते। एवमनयोरपि ब्राह्मणयोरित्यर्थः। तस्माद्वेद्यैक्याद्विद्यैकत्वमिति॥३५॥

(३९५) अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥

अथ यदुक्तमनभ्युपगम्यमाने विद्याभेद आम्नानभेदानुपपत्तिरिति तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—नायं दोषः। उपदेशान्तरवदुपपत्तेः। यथा ताण्डिनामुपनिषदि षष्ठे प्रपाठके —'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६/८/७) इति नवकृत्वोऽप्युपदेशे न विद्याभेदो भवत्येवमिहापि भविष्यति। कथं च नवकृत्वोऽप्युपदेशे विद्याभेदो न भवति? उपक्रमोपसंहाराभ्यामेकार्थतावगमात्। 'भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु' (छा० ६/५/४) इति चैकस्यैवार्थस्य पुनः पुनः प्रतिपिपादयिषितव्यत्वेनोपक्षेपात्। आशङ्कान्तरनिराकरणेन चासकृदुपदेशोपपत्तेः। एवमिहापि प्रश्नरूपाभेदात् 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३/४/२-३/५/१) इति च परिसमाप्त्यविशेषादुपक्रमोपसंहारौ तावदेकार्थविषयौ दृश्येते। 'यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ० ३/५/१) इति द्वितीये प्रश्न एवकारं प्रयुञ्जानः पूर्वप्रश्नगतमेवार्थमुत्तरत्रानुकृष्यमाणं दर्शयति। पूर्वस्मिंश्च ब्राह्मणे कार्यकरणव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः कथ्यते। उत्तरस्मिंस्तु तस्यैवाशनायादिसंसारधर्मातीतत्वं कथ्यते। इत्येकार्थतोपपत्तिः। तस्मादेका विद्येति ॥ ३६ ॥

(१२३) व्यतिहाराधिकरणम् ॥ २३ ॥ (सू० ३७)

(३९६) व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥

यथा—'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्' इत्यादित्यपुरुषं प्रकृत्यैतरेयिणः समामनन्ति, तथा जाबलाः 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि' इति। तत्र संशयः—किमिह व्यतिहारेणोभयरूपा मतिः कर्तव्योतैकरूपैवेति। एकरूपैवेति तावदाह। नह्यत्रात्मन ईश्वरेणैकत्वं मुक्त्वान्यत्किंचिच्चिन्तयितव्यमस्ति। यदि चैवं चिन्तयितव्यो विशेषः परिकल्प्येत, संसारिणश्चेश्वरात्मत्वमीश्वरस्य संसार्यात्मत्वमिति। तत्र संसारिणस्तावदीश्वरात्मत्व उत्कर्षो भवेदीश्वरस्य तु संसार्यात्मत्वे निकर्षः कृतः स्यात्। तस्मादैकरूप्यमेव मतेः। व्यतिहाराम्नायस्त्वेकत्वदृढीकारार्थ इति।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—व्यतिहारोऽयमाध्यानायाम्नायते इतरवत्। यथेतरे गुणाः सर्वात्मत्वप्रभृतय आध्यानायाम्नायन्ते, तद्वत्। तथाहि विशिंषन्ति समाम्नातार उभयोच्चारणेन 'त्वमहमस्म्यहं च त्वमसि' इति। तच्चोभयरूपायां मतौ कर्तव्यायामर्थवद्भवति।

अन्यथा हीदं विशेषेणोभयाम्नानमनर्थकं स्यात्। एकेनैव कृतत्वात्। ननूभयाम्नानस्यार्थ-विशेषे परिकल्प्यमाने देवतायाः संसार्यात्मत्वापत्तेर्निकर्षः प्रसज्येतेत्युक्तम्। नैष दोषः। ऐकात्म्यस्यैवानेन प्रकारेणानुचिन्त्यमानत्वात्। नन्वेवं सति स एवैकत्वदृढीकार आपद्येत। न वयमेकत्वदृढीकारं वारयामः, किं तर्हि व्यतिहारेणेह द्विरूपा मतिः कर्तव्या, वचनप्रामाण्यान्नैकरूपेत्येतावदुपपादयामः। फलतस्त्वेकत्वमपि दृढीभवति। यथाध्यानार्थेऽपि सत्यकामादिगुणोपदेशे तद्गुण ईश्वरः प्रसिद्ध्यति, तद्वत्। तस्मादयमा-ध्यातव्यो व्यतिहारः समाने च विषय उपसंहर्तव्यो भवतीति॥३७॥

(१२४) सत्याद्यधिकरणम्॥२४॥ (सू० ३८)

(३९७) सैव हि सत्यादयः॥३८॥

'स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्म' (बृ० ५/४/१) इत्यादिना वाजसनेयके सत्यविद्यां सनामाक्षरोपासनां विधायानन्तरमाम्नायते—'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो, यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' (बृ० ५/५/२) इत्यादि। तत्र संशयः—किं द्वे एते सत्यविद्ये, किंवैकैवेति। द्वे इति ताव-त्प्राप्तम्। भेदेन हि फलसंयोगो भवति 'जयतीमाँल्लोकान्' (बृ० ५/४/१) इति पुरस्तात्। 'हन्ति पाप्मानं जहाति च' (बृ० ५/५/३,४) इत्युपरिष्टात्। प्रकृताकर्षणं तूपास्यैकत्वादिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—एकैवेयं सत्यविद्येति। कुतः? 'तद्यत्तत्सत्यम्' (बृ० ५/५/२) इति प्रकृताकर्षणात्। ननु विद्याभेदेऽपि प्रकृताकर्षणमुपास्यैकत्वादुपपद्यत इत्यु-क्तम्। नैतदेवम्। यत्र तु विस्पष्टात्कारणान्तराद्विद्याभेदः प्रतीयते, तत्रैतदेवं स्यात्। अत्र तूभयथा संभवे तद्यत्तत्सत्यमिति प्रकृताकर्षणात्पूर्वविद्यासंबद्धमेव सत्यमुत्तरत्रा-कृष्यत इत्येकविद्यात्वनिश्चयः। यत्पुनरुक्तं फलान्तरश्रवणाद्विद्यान्तरमिति। अत्रोच्यते—तस्योपनिषदहरहमिति चाङ्गान्तरोपदेशस्य स्तावकमिदं फलान्तरश्रवणमित्यदोषः। अपिचार्थवादादेव फले कल्पयितव्ये सति विद्यैकत्वे चावयवेषु श्रूयमाणानि बहून्यपि फलान्यवयविन्यामेव विद्यायामुपसंहर्तव्यानि भवन्ति। तस्मात्सैवेयमेका सत्यविद्या तेन तेन विशेषेणोपेताम्नातेत्यतः सर्व एव सत्यादयो गुणा एकस्मिन्नेव प्रयोग उपसंहर्तव्याः।

केचित्पुनरस्मिन्सूत्र इदं च वाजसनेयकमक्ष्यादित्यपुरुषविषयं वाक्यम्, छान्दोग्ये

च—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा० १/६/६) 'अथ य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० ४/१५/१) इत्युदाहृत्य सैवेयमक्ष्यादित्यपुरुषविषया विद्योभयत्रैकैवेति कृत्वा सत्यादीन्गुणान्वाजसनेयिभ्यश्छन्दोगानामुपसंहार्यान्मन्यन्ते। तन्न साधु लक्ष्यते। छान्दोग्ये हि ज्योतिष्टोमकर्मसंबन्धिनीयमुद्गीथव्यापाश्रया विद्या विज्ञायते। तत्र ह्यादिमध्यावसानेषु हि कर्मसंबन्धिचिह्नानि भवन्ति 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १/६/१) इत्युपक्रमे, 'तस्यर्क् च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथः' (छा० १/६/८) इति मध्ये, 'य एवं विद्वान्साम गायति' (छा० १/७/९) इत्युपसंहारे। नैवं वाजसनेयके किंचित्कर्मसंबन्धि चिह्नमस्ति। तत्र प्रक्रमभेदाद्विद्याभेदे सति गुणव्यवस्थैव युक्तेति॥३८॥

(१२५) कामाद्यधिकाराधिकरणम्॥२५॥ (सू० ३९)

(३९८) कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः॥३९॥

'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छा० ८/१/१) इति प्रस्तुत्य छन्दोगा अधीयते—'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८/१/४) इत्यादि। तथा वाजसनेयिनः—'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी' (बृ० ४/४/२२) इत्यादि। तत्र विद्यैकत्वं परस्परगुणयोगश्च, किं वा नेति संशये विद्यैकत्वमिति।

तत्रेदमुच्यते—कामादीति। सत्यकामादीत्यर्थः। यथा देवदत्तो दत्तः सत्यभामा भामेति। यदेतच्छान्दोग्य हृदयाकाशस्य सत्यकामत्वादिगुणजातमुपलभ्यते, तदितरत्र वाजसनेयके 'स वा एष महानज आत्मा' इत्यत्र संबध्यते। यच्च वाजसनेयके वशित्वाद्युपलभ्यते, तदपीतरत्र छान्दोग्ये 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८/१/५) इत्यत्र संबध्यते। कुतः—आयतनादिसामान्यात्। समानं ह्युभयत्रापि हृदयमायतनं समानश्च वेद्य ईश्वरः समानं च तस्य सेतुत्वं लोकासंभेदप्रयोजनमित्येवमादि बहु सामान्यं दृश्यते। ननु विशेषोऽपि दृश्यते, छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य गुणयोगो, वाजसनेयके त्वाकाशाश्रयस्य ब्रह्मण इति। न। 'दहर उत्तरेभ्यः' (ब्र० सू० १/३/१४) इत्यत्र छान्दोग्येऽप्याकाशशब्दं ब्रह्मैवेति प्रतिष्ठापितत्वात्। अयं त्वत्र विद्यते विशेषः। सगुणा

हि ब्रह्मविद्या छान्दोग्य उपदिश्यते 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामान्' (छा० ८/१/६) इत्यात्मवत्कामानामपि वेद्यत्वश्रवणात्। वाजसनेयके तु निर्गुणमेव परं ब्रह्मोपदिश्यमानं दृश्यते 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहि' (बृ० ४/३/१४), 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४/३/१५) इत्यादिप्रश्नप्रतिवचनसमन्वयात्। वशित्वादि तु तत्स्तुत्यर्थमेव गुणजातं वाजसनेयके संकीर्त्यते। तथाचोपरिष्टात् 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३/९/२६) इत्यादिना निर्गुणमेव ब्रह्मोपसंहरति। गुणवतस्तु ब्रह्मण एकत्वाद्विभूतिप्रदर्शनायायं गुणोपसंहारः सूत्रितो, नोपासनायेति द्रष्टव्यम्॥३९॥

(१२६) आदराधिकरणम्॥२६॥ (सू० ४०-४१)

(३९९) आदरादलोपः॥४०॥

छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यां प्रकृत्य श्रूयते—'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहूयात्प्राणाय स्वाहा' (छा० ५/१९/१) इत्यादि। तत्र पञ्च प्राणाहुतयो विहिताः। तासु च परस्तादग्निहोत्रशब्दः प्रयुक्तः 'य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति' (छा० ५/२४/२) इति, 'यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते। एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते' (छा० ५/२४/५) इति च। तत्रेदं विचार्यते—किं भोजनलोपे लोपः प्राणाग्निहोत्रस्योतालोप इति! तद्यद्भक्तमिति भक्तागमनसंयोगश्रवणाद्भक्तागमनस्य च भोजनार्थत्वाद्भोजनलोपे लोपः प्राणाग्निहोत्रस्येति। एवं प्राप्ते न लुप्येतेति तावदाह। कस्मात्? आदरात्। तथाहि वैश्वानरविद्यायामेव जाबालानां श्रुतिः —'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्। यथा ह वै स्वयमहुत्वाऽग्निहोत्रं परस्य जुहुयादेवं तत्' इत्यतिथिभोजनस्य प्राथम्यं निन्दित्वा स्वामिभोजनं प्रथमं प्रापयन्ती प्राणाग्निहोत्र आदरं करोति। या हि न प्राथम्यलोपं सहते, नतरां सा प्राथम्यवतोऽग्निहोत्रस्य लोपं सहेतेति मन्यते। ननु भोजनार्थभक्तागमनसंयोगाद्भोजनलोपे लोपः प्रापितः। न। तस्य द्रव्यविशेषविधानार्थत्वात्। प्राकृते ह्यग्निहोत्रे पयःप्रभृतीनां द्रव्याणां नियतत्वादिहाप्यग्निहोत्रशब्दात्कौण्डपायिनामयनवत्तद्धर्मप्राप्तौ सत्यां भक्तद्रव्यैकतागुणविशेषविधानार्थमिदं वाक्यं तद्यद्भक्तमिति। अतो गुणलोपे न मुख्यस्येत्येवं प्राप्तम्। भोजनलोपेऽप्यद्भिर्वाऽन्येन वा द्रव्येणाविरुद्धेन प्रतिनिधानन्यायेन प्राणाग्निहोत्रस्यानुष्ठानमिति॥४०॥

अत उत्तरं पठति—

(४००) उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥४१॥

उपस्थिते भोजनेऽतस्तस्मादेव भोजनद्रव्यात्प्रथमोपनिपतितात्प्राणाग्निहोत्रं निर्वर्तयितव्यम्। कस्मात्? तद्वचनात्। तथाहि—'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्' (छा० ५/१९/१) इति। सिद्धवद्भक्तोपनिपातपरामर्शेन परार्थद्रव्यसाध्यतां प्राणाहुतीनां विदधाति। ता अप्रयोजकलक्षणापन्नाः सत्यः कथं भोजनलोपे द्रव्यान्तरं प्रतिनिधापयेयुः। नचात्र प्राकृताग्निहोत्रधर्मप्राप्तिरस्ति। कुण्डपायिनामयने हि मासमग्निहोत्रं जुहोतीति विध्युद्देशगतोऽग्निहोत्रशब्दस्तद्वद्भावं विधापयेदिति युक्ता तद्धर्मप्राप्तिः। इह पुनरर्थवादगतोऽग्निहोत्रशब्दो न तद्वद्भावं विधापयितुमर्हति। तद्धर्मप्राप्तौ चाभ्युपगम्यमानायामग्न्युद्धरणादयोऽपि प्राप्येरन्। नचास्ति संभवः। अग्न्युद्धरणं तावद्धोमाधिकरणभावाय। नचायमग्नौ होमो, भोजनार्थताव्याघातप्रसङ्गात्। भोजनोपनीतद्रव्यसंबन्धाच्चास्य एवैष होमः। तथाच जाबालश्रुतिः पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयादित्यास्याधारामेवेमां होमनिर्वृत्तिं दर्शयति। अतएव चेहापि सांपादिकान्येवाग्निहोत्राङ्गानि दर्शयति—'उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः' (छा० ५/१८/२) इति। वेदिश्रुतिश्चात्र स्थण्डिलमात्रोपलक्षणार्था द्रष्टव्या। मुख्याग्निहोत्रे वेद्यभावात्। तदङ्गानां चेह संपिपादयिषितत्वात्। भोजनेनैव च कृतकालेन संयोगान्नाग्निहोत्रकालावरोधसंभवः। एवमन्येऽप्युपस्थानादयो धर्माः केचित्कथंचिद्विरुध्यन्ते। तस्माद्भोजनपक्ष एवैते मन्त्रद्रव्यदेवतासंयोगात्पञ्च होमा निर्वर्तयितव्याः। यत्त्वादरदर्शनवचनं तद्भोजनपक्षे प्राथम्यविधानार्थम्। नह्यस्ति वचनस्यातिभारः। न त्वनेनास्य नित्यता शक्यते दर्शयितुम्। तस्माद्भोजनलोपे लोप एव प्राणाग्निहोत्रस्येति॥४१॥

(१२७) तन्निर्धारणाधिकरणम् ॥२७॥ (सू० ४२)

(४०१) तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबन्धः फलम् ॥४२॥

सन्ति कर्माङ्गव्यपाश्रयाणि विज्ञानानि—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १/१/१) इत्येवमादीनि। किं तानि नित्यान्येव स्युः कर्मसु पर्णमयीत्वादिवदुतानित्यानि गोदोहनादिवदिति विचारयामः। किं तावत्प्राप्तं—नित्यानीति। कुतः? प्रयोगवचनपरिग्रहात्। अनारभ्याधीतान्यपि ह्येतान्युद्गीथादिद्वारेण क्रतुसंबन्धात्क्रतुप्रयोगवचने-

नैवाङ्गान्तरवत्संस्पृश्यन्ते। यत्त्वेषां स्ववाक्येषु फलश्रवणम् 'आपयिता ह वै कामानां भवति' (छा० १/१/७) इत्यादि तद्वर्तमानापदेशरूपत्वादर्थवादमात्रमेवापापश्लोक-श्रवणादिवन्न फलप्रधानम्। तस्माद्यथा 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' इत्येवमादीनामप्रकरणपठितानामपि जुह्वादिद्वारेण क्रतुप्रवेशात्प्रकरणपठित-वन्नित्यतैवमुद्गीथाद्युपासनानामपीति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तन्निर्धारणानियम इति। यान्येतान्युद्गीथादिकर्मगुणयाथात्म्यनिर्धा-रणानि रसतम आप्तिः समृद्धिर्मुख्यप्राण आदित्य इत्येवमादीनि, नैतानि नित्यवत्कर्मसु नियम्येरन्। कुतः ? तद्दृष्टेः। तथाह्यनियतत्वमेवंजातीयकानां दर्शयति श्रुतिः—'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद' (छा० १/१/१०) इत्यविदुषोऽपि क्रियाभ्य-नुज्ञानात्। प्रस्तावादिदेवताविज्ञानविहीनानामपि प्रस्तोत्रादीनां याजनाध्यवसानदर्शनात् 'प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि' (छा० १/१०/९), 'तां चेदविद्वानुद्गास्यसि' (छा० १/१०/१०) 'तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि' (छा० १/१०/११) इति च। अपि चैवंजातीयकस्य कर्मव्यपाश्रयस्य विज्ञानस्य पृथगेव कर्मणः फलमुपलभ्यते कर्मफलसिद्ध्यप्रतिबन्धस्तत्समृद्धिरतिशयविशेषः कश्चित् 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १/१/१०) इति। तत्र नाना त्विति विद्वदविद्वत्प्रयोगयोः पृथक्करणाद्वीर्यवत्तरमिति च तरप्प्रत्ययप्रयोगाद्विद्याविहीनमपि कर्म वीर्यवदिति गम्यते। तच्चानित्यत्वे विद्याया उपपद्यते। नित्यत्वे तु कथं तद्विहीनं कर्म वीर्यवदित्यनुज्ञायेत। सर्वाङ्गोपसंहारे हि वीर्यवत्कर्मेति स्थितिः। तथा लोकसा-मादिषु प्रतिनियतानि प्रत्युपासनं फलानि शिष्यन्ते 'कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चा-वृत्ताश्च' (छा० २/२/३) इत्येवमादीनि। नचेदं फलश्रवणमर्थवादमात्रं युक्तं प्रति-पत्तुम्, तथाहि गुणवाद आपद्येत। फलोपदेशे तु मुख्यवादोपपत्तिः। प्रयाजादिषु त्वितिकर्तव्यताकाङ्क्षस्य क्रतोः प्रकृतत्वात्तादर्थ्ये सति युक्तं फलश्रुतेरर्थवादत्वम्। तथानारभ्याधीतेष्वपि पर्णमयीत्वादिषु। नहि पर्णमयीत्वादीनामक्रियात्मकानामाश्रय-मन्तरेण फलसंबन्धोऽवकल्पते। गोदोहनादीनां हि प्रकृताप्प्रणयनाद्याश्रयलाभादुपपन्नः फलविधिः। तथा बैल्वादीनामपि प्रकृतयूपाद्याश्रयलाभादुपपन्नः फलविधिः। नतु

पर्णमयीत्वादिष्वेवंविधः कश्चिदाश्रयः प्रकृतोऽस्ति। वाक्येनैव तु जुह्वाद्याश्रयतां विवक्षित्वा फलेऽपि विधिं विवक्षतो वाक्यभेदः स्यात्। उपासनानां तु क्रियात्मकत्वाद्विशिष्टविधानोपपत्तेरुद्गीथाद्याश्रयाणां फले विधानं न विरुध्यते। तस्माद्यथा क्रत्वाश्रयाण्यपि गोदोहनादीनि फलसंयोगादनित्यान्येवमुद्गीथाद्युपासनान्यपीति द्रष्टव्यम्। अतएव च कल्पसूत्रकारा नैवंजातीयकान्युपासनानि क्रतुषु कल्पयांचक्रुः ॥४२॥

(१२८) प्रदानाधिकरणम् ॥२८॥ (सू० ४३)

(४०२) प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥४३॥

वाजसनेयके—'वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे' (बृ० १/५/२१) इत्यत्राध्यात्मं वागादीनां प्राणः श्रेष्ठोऽवधारितो, अधिदैवतमग्न्यादीनां वायुः तथा छान्दोग्ये—'वायुर्वाव संवर्गः' (छा० ४/३/१) इत्यत्राधिदैवतमग्न्यादीनां वायुः संवर्गोऽवधारितः 'प्राणो वाव संवर्गः' (छा० ४/३/२) इत्यत्राध्यात्मं वागादीनां प्राणः। तत्र संशयः— किं पृथगेवेमौ वायुप्राणावुपगन्तव्यौ स्यातामपृथग्वेति। अपृथगेवेति तावत्प्राप्तं तत्त्वाभेदात्। नह्यभिन्ने तत्त्वे पृथगनुचिन्तनं न्याय्यम्। दर्शयति च श्रुतिरध्यात्ममधिदैवतं च तत्त्वाभेदम्—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० २/४) इत्यारभ्य। तथा, 'त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः' (बृ० १/५/१३) इत्याध्यात्मिकानां प्राणानामाधिदैविकीं विभूतिमात्मभूतां दर्शयति। तथान्यत्रापि तत्र तत्राध्यात्ममधिदैवतं च बहुधा तत्त्वाभेददर्शनं भवति। क्वचिच्च 'यः प्राणः स वायुः' इति स्पष्टमेव वायुं प्राणं चैकं करोति। तथोदाहृतेऽपि वाजसनेयिब्राह्मणे 'यतश्चोदेति सूर्यः' (बृ० १/५/२३) इत्यस्मिन्नुपसंहारश्लोके 'प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति' (बृ० १/५/२३) इति प्राणेनैवोपसंहरन्नेकत्वं दर्शयति। 'तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च' (बृ० १/५/२३) इति च प्राणव्रतेनैकेनोपसंहरन्नेतदेव द्रढयति। तथा छान्दोग्येऽपि परस्तात् 'महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपाः' (छा० ४/३/६) इत्येकमेव संवर्गं गमयति, न ब्रवीत्येक एकेषां चतुर्णां संवर्गोऽपरोऽपरेषामिति। तस्मादपृथक्त्वमुपगमनस्येति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—पृथगेव वायुप्राणावुपगन्तव्याविति। कस्मात्। पृथगुपदेशात्।

आध्यानार्थो ह्ययमध्यात्माधिदैवविभागोपदेशः सोऽसत्याध्यानपृथक्त्वेऽनर्थक एव स्यात्। ननूक्तं न पृथगनुचिन्तनं, तत्त्वाभेदादिति। नैष दोषः। तत्त्वाभेदेऽप्यवस्थाभेदादुपदेशभेदवशेनानुचिन्तनभेदोपपत्तेः। श्लोकोपन्यासस्य च तत्त्वाभेदाभिप्रायेणाप्युपपद्यमानस्य पूर्वोदितध्येयभेदनिराकरणसामर्थ्याभावात्। 'स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुः' (बृ० १/५/२२) इति चोपमानोपमेयकरणात्।

एतेन व्रतोपदेशो व्याख्यातः। 'एकमेव व्रतम्' (बृ० १/५/२३) इति चैवकारो वागादिव्रतनिवर्तनेन प्राणव्रतप्रतिपत्त्यर्थः। भग्नव्रतानि हि वागादीन्युक्तानि 'तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे' (बृ० १/५/२१) इति श्रुतेः। न वायुव्रतनिवृत्त्यर्थः 'अथातो व्रतमीमांसा' (बृ० १/५/२१) इति प्रस्तुत्य तुल्यवद्वायुप्राणयोरभग्नव्रतत्वस्य निर्धारितत्वात्। 'एकमेव व्रतं चरेत्' (बृ० १/५/२३) इति चोक्त्वा 'तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति' (बृ० १/५/२३) इति वायुप्राप्तिं फलं ब्रुवन्वायुव्रतमनिवर्तितं दर्शयति। देवतेत्यत्र वायुः स्यादपरिच्छिन्नात्मकत्वस्य प्रेप्सितत्वात्। पुरस्तात्प्रयोगाच्च 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' (बृ० १/५/२२) इति। तथा 'तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु' (छा० ४/३/४) इति भेदेन व्यपदिशति 'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्' (छा० ४/३/८) इति च भेदेनैवोपसंहरति। तस्मात्पृथगेवोपगमनम्। प्रदानवत्। यथेन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालमिन्द्रायाधिराजायेन्द्राय स्वराज इत्यस्यां त्रिपुरोडाशिन्यामिष्टौ सर्वेषामभिगमयन्नवद्यत्यच्छंवट्कारमिति। अतो वचनादिन्द्राभेदाच्च सहप्रदानाशङ्कायां राजादिगुणभेदाद्याज्यानुवाक्याव्यत्यासविधानाच्च यथान्यासमेव देवतापृथक्त्वात्प्रदानपृथक्त्वं भवति। एवं तत्त्वाभेदेऽप्याध्येयांशपृथक्त्वादाध्यानपृथक्त्वमित्यर्थः। तदुक्तं संकर्षे 'नाना वा देवता पृथग्ज्ञानात्' इति। तत्र तु द्रव्यदेवताभेदाद्यागभेदो विद्यते, नैवमिह विद्याभेदोऽस्ति। उपक्रमोपसंहाराभ्यामध्यात्माधिदैवोपदेशेष्वेकविद्याविधानप्रतीतेः। विद्यैक्येऽपि त्वध्यात्माधिदैवभेदात्प्रवृत्तिभेदो भवति अग्निहोत्र इव सायंप्रातःकालभेदात्। इत्येतावदभिप्रेत्य प्रदानवदित्युक्तम्॥४३॥

विश्रामः॥२६॥

* * * *

(१८९) लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥ २९ ॥ (सू० ४४-५२)

(४०३) लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ ४४ ॥

वाजसनेयिनोऽग्निरहस्ये—'नैव वा इदमग्रे सदासीत्' इत्येतस्मिन्ब्राह्मणे मनोऽधिकृत्याधीयते 'तत्षट्त्रिंशत्सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्मनोमयान्मनश्चितः' इत्यादि। तथैव 'वाक्चितः प्राणचितश्चक्षुश्चितः श्रोत्रचितः कर्मचितोऽग्निचितः' इति पृथगग्नीनामनन्ति सांपादिकान्। तेषु संशयः—किमेते मनश्चिदादयः क्रियानुप्रवेशिनस्तच्छेषभूता, उत स्वतन्त्राः केवलविद्यात्मका इति।

तत्र प्रकरणात्क्रियानुप्रवेशे प्राप्ते स्वातन्त्र्यं तावत्प्रतिजानीते लिङ्गभूयस्त्वादिति। भूयांसि हि लिङ्गान्यस्मिन्ब्राह्मणे केवलविद्यात्मकत्वमेषामुपोद्बलयन्ति दृश्यन्ते 'तद्यत्किंचेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः' इति, 'तान्हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति चैवंजातीयकानि। तद्धि लिङ्गं प्रकरणाद्बलीयः। तदप्युक्तं पूर्वस्मिन्काण्डे—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै० सू० ३/३/१३) इति ॥ ४४ ॥

(४०४) पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रिया मानसवत् ॥ ४५ ॥

नैतद्युक्तं स्वतन्त्रा एतेऽग्नयोऽनन्यशेषभूता इति। पूर्वस्य क्रियामयस्याग्नेः प्रकरणात्तद्विषय एवायं विकल्पविशेषोपदेशः स्यान्न स्वतन्त्रः। ननु प्रकरणाल्लिङ्गं बलीयः। सत्यमेवमेतत्। लिङ्गमपि त्वेवंजातीयकं न प्रकरणाद्बलीयो भवति। अन्यार्थदर्शनं ह्येतत्। सांपादिकाग्निप्रशंसारूपत्वात्। अन्यार्थदर्शनं चासत्यामन्यस्यां प्राप्तौ गुणवादेनाप्युपपद्यमानं न प्रकरणं बाधितुमुत्सहते। तस्मात्सांपादिका अप्येतेऽग्नयः प्रकरणात्क्रियानुप्रवेशिन एव स्युः। मानसवत्। यथा दशरात्रस्य दशमेऽहन्यविवाक्ये पृथिव्या पात्रेण समुद्रस्य सोमस्य प्रजापतये दैवतायै गृह्यमाणस्य ग्रहणासादनहवनाहरणोपह्वानभक्षणानि मानसान्येवाम्नायन्ते। स च मानसोऽपि ग्रहकल्पः क्रियाप्रकरणात्क्रियाशेष एव भवत्येवमयमप्यग्निकल्प इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

(४०५) अतिदेशाच्च ॥ ४६ ॥

अतिदेशश्चैषामग्नीनां क्रियानुप्रवेशमुपोद्बलयति—'षट्त्रिंशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्कास्तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्वः' इति। सति हि सामान्येऽतिदेशः प्रवर्तते। ततश्च

पूर्वेणेष्टकाचितेन क्रियानुप्रवेशिनाऽग्निना सांपादिकानग्नीनतिदिशन्क्रियानुप्रवेशमेवैषां द्योतयति॥४६॥

(४०६) विद्यैव तु निर्धारणात्॥४७॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। विद्यात्मका एवैते स्वतन्त्रा मनश्चिदादयोऽग्नयः स्युर्न क्रियाशेषभूताः। तथाहि निर्धारयति—'ते हैते विद्याचित एव' इति। 'विद्यया हैवैत एवंविदश्चिता भवन्ति' इति च॥४७॥

(४०७) दर्शनाच्च॥४८॥

दृश्यते चैषां स्वातन्त्र्ये लिङ्गम्। तत्पुरस्ताद्दर्शितम् 'लिङ्गभूयस्त्वात्' (ब्र० सू० ३/३/४४) इत्यत्र॥४८॥

ननु लिङ्गमप्यसत्यामन्यस्यां प्राप्तावसाधकं कस्यचिदर्थस्येत्यपास्य तत्प्रकरण-सामर्थ्यात्क्रियाशेषत्वमध्यवसितमित्यत उत्तरं पठति—

(४०८) श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः॥४९॥

नैवं प्रकरणसामर्थ्यात्क्रियाशेषत्वमध्यवसाय स्वातन्त्र्यपक्षो बाधितव्यः। श्रुत्या-देर्बलीयस्त्वात्। बलीयांसि हि प्रकरणाच्छ्रुतिलिङ्गवाक्यानीति स्थितं श्रुतिलिङ्गसूत्रे। तानि चेह स्वातन्त्र्यपक्षं साधयन्ति दृश्यन्ते। कथम्? श्रुतिस्तावत् 'ते हैते विद्याचित एव' इति। तथा लिङ्गम् 'सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति। तथा वाक्यमपि 'विद्यया हैवैत एवंविदश्चिता भवन्ति' इति। 'विद्याचित एव' इति हि सावधारणेयं श्रुतिः क्रियानुप्रवेशेऽमीषामभ्युपगम्यमाने पीडिता स्यात्। नन्वबाह्यसाधन-त्वाभिप्रायमिदमवधारणं भविष्यति। नेत्युच्यते। तदभिप्रायतायां हि विद्याचित इतीयता विद्यास्वरूपसंकीर्तनेनैव कृतत्वादनर्थकमवधारणं भवेत्। स्वरूपमेव ह्येषामबाह्य-साधनमिति। अबाह्यसाधनत्वेऽपि तु मानसग्रहवत्क्रियानुप्रवेशशङ्कायां तन्निवृत्ति-फलमवधारणमर्थवद्भविष्यति। तथा 'स्वपते जाग्रते चैवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतान्येतानग्नींश्चिन्वन्ति' इति सातत्यदर्शनमेषां स्वातन्त्र्येऽवकल्पते। यथा सांपादिके वाक्प्राणमयेऽग्निहोत्रे 'प्राणं तदा वाचि जुहोति—वाचं तदा प्राणे जुहोति' (कौ० २/५) इति चोक्त्वोच्यते—'एते अनन्ते अमृते आहुती जाग्रच्च स्वपंश्च सततं जुहोति' (कौ० २/५) इति, तद्वत्। क्रियानुप्रवेशे तु क्रियाप्रयोगस्याल्पकालत्वेन न सात-

त्येनैषां प्रयोगः कल्पेत। नचेदमर्थवादमात्रमिति न्याय्यम्। यत्र हि विस्पष्टो विधायको लिङ्गादिरुपलभ्यते, युक्तं तत्र संकीर्तनमात्रस्यार्थवादत्वम्। इह तु विस्पष्ट-विध्यन्तरानुपलब्धेः संकीर्तनादेवैषां विज्ञानविधानं कल्पनीयम्। तच्च यथासंकीर्तन-मेव कल्पयितुं शक्यत इति सातत्यदर्शनात्तथाभूतमेव कल्प्यते। ततश्च सामर्थ्यादेषां स्वातन्त्र्यसिद्धिः। एतेन 'तद्यत्किंचेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति, तेषामेव सा कृतिः' इत्यादि व्याख्यातम्। तथा वाक्यमपि 'एवंविदे इति पुरुषविशेषसंबन्धमेवैषा-माचक्षाणं न क्रतुसंबन्धं मृष्यते। तस्मात्स्वातन्त्र्यपक्ष एव ज्यायानिति॥४९॥

(४०९) अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम्॥५०॥

इतश्च प्रकरणमुपमृद्य स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनां प्रतिपत्तव्यम्। यत्क्रियावयवान्मन-आदिव्यापारेष्वनुबध्नाति—'ते मनसैवाधीयन्त मनसाचीयन्त मनसैव ग्रहा अगृह्यन्त मनसाऽस्तुवन्मनसाऽशंसन्यत्किंच यज्ञे कर्म क्रियते यत्किंच यज्ञीयं कर्म मनसैव तेषु तन्मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमेव क्रियते' इत्यादिना। संपत्फलो ह्ययमनुबन्धः। नच प्रत्यक्षाः क्रियावयवाः सन्तः संपदा लिप्सितव्याः। नचात्रोद्गीथाद्युपासनवत्क्रि-याङ्गसंबन्धात्तदनुप्रवेशित्वमाशङ्कितव्यं, श्रुतिवैरूप्यात्। नह्यत्र क्रियाङ्गं किंचिदादाय तस्मिन्नदो नामाध्यवसितव्यमिति। वदति षट्त्रिंशत्सहस्राणि तु मनोवृत्तिभेदानादाय तेष्वग्नित्वं ग्रहादींश्च कल्पयति पुरुषयज्ञादिवत्। संख्या चेयं पुरुषायुषस्याहःसु दृष्टा सती तत्संबन्धिनीषु मनोवृत्तिष्वारोप्यत इति द्रष्टव्यम्। एवमनुबन्धात्स्वातन्त्र्यं मनश्चिदा-दीनाम्। आदिशब्दादतिदेशाद्यपि यथासंभवं योजयितव्यम्। तथाहि—'तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्वः' इति क्रियामयस्याग्नेर्माहात्म्यं ज्ञानमयानामेकैकस्याति-तिदिशन्क्रियायामनादरं दर्शयति। नच सत्येव क्रियासंबन्धे विकल्पः पूर्वेणोत्तरेषा-मिति शक्यं वक्तुम्। नहि येन व्यापारेणाहवनीयधारणादिना पूर्वः क्रियायामुप-करोति, तेनोत्तर उपकर्तुं शक्नुवन्ति।

यत्तु पूर्वपक्षेऽप्यतिदेश उपोद्बलक इत्युक्तं, — सति हि सामान्येऽतिदेशः प्रवर्तत इति तदस्मत्पक्षेऽग्नित्वसामान्येनातिदेशसंभवात्प्रत्युक्तम्। अस्ति हि सांपादिकानामप्य-ग्नीनामग्नित्वमिति। श्रुत्यादीनि च कारणानि दर्शितानि। एवमनुबन्धादिभ्यः कारणेभ्यः स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनाम्। प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्। यथा प्रज्ञान्तराणि शाण्डिल्यविद्या-प्रभृतीनि स्वेन स्वेनानुबध्यमानानि पृथगेव कर्मभ्यः प्रज्ञान्तरेभ्यश्च स्वतन्त्राणि भवन्त्ये-वमिति। दृष्टश्चावेष्टे राजसूयप्रकरणपठितायाः प्रकरणादुत्कर्षो वर्णत्रयानुबन्धाद्राजय-

ज्ञत्वाच्च राजसूयस्य। तदुक्तं प्रथमे काण्डे—'क्रत्वर्थायामिति चेन्न वर्णत्रयसंयोगात्' (जै० सू० ११/४/७) इति॥५०॥

(४१०) न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः॥५१॥

यदुक्तं मानसवदिति तत्प्रत्युच्यते। न मानसग्रहसामान्यादपि मनश्चिदादीनां क्रियाशेषत्वं कल्प्यम्। पूर्वोक्तेभ्यः श्रुत्यादिहेतुभ्यः केवलपुरुषार्थत्वोपलब्धेः। नहि किंचित्कस्यचित्केनचित्सामान्यं न संभवति। नच तावता यथास्वं वैषम्यं निवर्तते। मृत्युवत्। यथा 'स वा एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः' इति 'अग्निर्वै मृत्युः' (बृ० ३/२/१०) इति चाग्न्यादित्यपुरुषयोः समानेऽपि मृत्युशब्दप्रयोगे नात्यन्तसाम्यापत्तिः। यथा च 'असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समित्' (छा० ५/४/१) इत्यत्र न समिदादिसामान्याल्लोकस्याग्निभावापत्तिस्तद्वत्॥५१॥

(४११) परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः॥५२॥

परस्तादपि 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः' इत्यस्मिन्ननन्तरे ब्राह्मणे ताद्विध्यं केवलविद्याविधित्वं शब्दस्य प्रयोजनं लक्ष्यते, न शुद्धकर्माङ्गविधित्वम्। तत्र हि—'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः। न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः' इत्यनेन श्लोकेन केवलं कर्म निन्दन्विद्यां च प्रशंसन्निदं गमयति। तथा पुरस्तादपि 'यदेतन्मण्डलं तपति' इत्यस्मिन्ब्राह्मणे विद्याप्रधानत्वमेव लक्ष्यते 'सोऽमृतो भवति मृत्युर्ह्यस्यात्मा भवति' इति विद्याफलेनैवोपसंहारान्न कर्मप्रधानता, तत्सामान्यादिहापि तथात्वम्। भूयांसस्त्वग्न्यवयवाः संपादयितव्या विद्यायामित्येतस्मात्कारणादग्निनानुबध्यते विद्या, न कर्माङ्गत्वात्। तस्मान्मनश्चिदादीनां केवलविद्यात्मकत्वसिद्धिः॥५२॥

(१३०) ऐकात्म्याधिकरणम्॥३०॥ (सू० ५३-५४)

(४१२) एक आत्मनः शरीरे भावात्॥५३॥

इह देहव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः समर्थ्यते बन्धमोक्षाधिकारसिद्धये। नह्यसति देहव्यतिरिक्तात्मनि परलोकफलाश्चोदना उपपद्येरन्कस्य वा ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्येत। ननु शास्त्रप्रमुख एव प्रथमे पादे शास्त्रफलोपभोगयोग्यस्य देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वमुक्तम्। सत्यमुक्तं भाष्यकृता, नतु तत्रात्मास्तित्वे सूत्रमस्ति। इह तु स्वयमेव

सूत्रकृता तदस्तित्वमाक्षेपपुरःसरं प्रतिष्ठापितम्। इत एव चाकृष्याचार्येण शबरस्वामिना प्रमाणलक्षणे वर्णितम्। अतएव च भगवतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्र आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्याम इत्युद्धारः कृतः। इह चेदं चोदनालक्षणेषूपासनेषु विचार्यमाणेष्वात्मास्तित्वं विचार्यते कृत्स्नशास्त्रशेषत्वप्रदर्शनाय।

अपिच पूर्वस्मिन्नधिकरणे प्रकरणोत्कर्षाभ्युपगमेन मनश्चिदादीनां पुरुषार्थत्वं वर्णितं, कोऽसौ पुरुषो यदर्था एते मनश्चिदादय इत्यस्यां प्रसक्ताविदं देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वमुच्यते। तदस्तित्वाक्षेपार्थं चेदमाद्यं सूत्रम्। आक्षेपपूर्विका हि परिहारोक्तिर्विवक्षितेऽर्थे स्थूणानिखननन्यायेन दृढां बुद्धिमुत्पादयति। अत्रैके देहमात्रात्मदर्शिनो लोकायतिका देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽभावं मन्यमानाः समस्तव्यस्तेषु बाह्येषु पृथिव्यादिष्वदृष्टमपि चैतन्यं शरीराकारपरिणतेषु भूतेषु स्यादिति संभावयन्तः, तेभ्यश्चैतन्यं मदशक्तिवद्विज्ञानं चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुष इति चाहुः। न स्वर्गगमनायापवर्गगमनाय वा समर्थो देहव्यतिरिक्त आत्मास्ति, यत्कृतं चैतन्यं देहे स्यात्। देह एव तु चेतनश्चात्मा चेति प्रतिजानते। हेतुं चाचक्षते शरीरे भावादिति। यद्धि यस्मिन्सति भवत्यसति च न भवति तत्तद्धर्मत्वेनाध्यवसीयते, यथाऽग्निधर्मावौष्ण्यप्रकाशौ। प्राणचेष्टाचैतन्यस्मृत्यादयश्चात्मधर्मत्वेनाभिमता आत्मवादिनां, तेऽप्यन्तरेव देह उपलभ्यमाना बहिश्चानुपलभ्यमाना असिद्धे देहव्यतिरिक्ते धर्मिणि देहधर्मा एव भवितुमर्हन्ति। तस्मादव्यतिरेको देहादात्मन इति॥५३॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

(४१३) व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत्॥५४॥

नत्वेतदस्ति यदुक्तमव्यतिरेको देहादात्मन इति। व्यतिरेक एवास्य देहाद्भवितुमर्हति, तद्भावाभावित्वात्। यदि देहभावे भावाद्देहधर्मत्वमात्मधर्माणां मन्येत, ततो देहभावेऽप्यभावादतद्धर्मत्वमेवैषां किं न मन्येत। देहधर्मवैलक्षण्यात्। ये हि देहधर्मा रूपादयस्ते यावद्देहं भवन्ति। प्राणचेष्टादयस्तु सत्यपि देहे मृतावस्थयां न भवन्ति। देहधर्माश्च रूपादयः परैरप्युपलभ्यन्ते नत्वात्मधर्माश्चैतन्यस्मृत्यादयः। अपिच सति हि तावद्देहे जीवदवस्थायामेषां भावः शक्यते निश्चेतुं नत्वसत्यभावः। पतितेऽपि कदाचिदस्मिन्देहे देहान्तरसंचारेणात्मधर्मा अनुवर्तेरन्। संशयमात्रेणापि परपक्षः प्रतिषिध्यते। किमात्मकं च पुनरिदं चैतन्यं मन्यते, यस्य भूतेभ्य उत्पत्तिमिच्छतीति

परः पर्यनुयोक्तव्यः। नहि भूतचतुष्टयव्यतिरेकेण लोकायतिकाः किंचित्तत्त्वं प्रतियन्ति। यदनुभवनं भूतभौतिकानां तच्चैतन्यमिति चेत्। तर्त्तर्हि विषयत्वात्तेषां न तद्धर्मत्वमश्नुवीत, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। नह्यग्निरुष्णः सन्स्वात्मानं दहति। नहि नटः शिक्षितः सन्स्वस्कन्धमधिरोक्ष्यति। नहि भूतभौतिकधर्मेण सता चैतन्येन भूतभौतिकानि विषयीक्रियेरन्। नहि रूपादिभिः स्वरूपं पररूपं वा विषयीक्रियते। विषयीक्रियन्ते तु बाह्याध्यात्मिकानि भूतभौतिकानि चैतन्येन। अतश्च यथैवास्या भूतभौतिकविषयाया उपलब्धेर्भावोऽभ्युपगम्यत, एवं व्यतिरेकोऽप्यस्यास्तेभ्योऽभ्युपगन्तव्यः। उपलब्धिस्वरूप एव च न आत्मेत्यात्मनो देहव्यतिरिक्तत्वम्। नित्यत्वं चोपलब्धेरैकरूप्यात्। अहमिदमद्राक्षमिति चावस्थान्तरयोगेऽप्युपलब्धृत्वेन प्रत्यभिज्ञानात्। स्मृत्याद्युपपत्तेश्च।

यत्तूक्तं शरीरे भावाच्छरीरधर्म उपलब्धिरिति तद्वर्णितेन प्रकारेण प्रत्युक्तम्। अपिच सत्सु प्रदीपादिषूपकरणेषूपलब्धिर्भवत्यसत्सु न भवति। नचैतावता प्रदीपादिधर्म एवोपलब्धिर्भवति। एवं च सति देहभावे उपलब्धिर्भवत्यसति च न भवतीति न देहधर्मो भवितुमर्हति। उपकरणत्वमात्रेणापि प्रदीपादिवद्देहोपयोगोपपत्तेः। नचात्यन्तं देहस्योपलब्धावुपयोगोऽपि दृश्यते, निश्चेष्टेऽप्यस्मिन्देहे स्वप्ने नानाविधोपलब्धिदर्शनात्। तस्मादनवद्यं देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वम्॥५४॥

(१३१) अङ्गावबद्धाधिकरणम्॥३१॥ (सू० ५५-५६)

(४१४) अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम्॥५५॥

समाप्ता प्रासङ्गिकी कथा, संप्रति तु प्रकृतामेवानुवर्तामहे—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १/१/१) 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २/२/१), 'उक्थमुक्थमिति वै प्रजा वदन्ति तदिदमेवोक्थम्', 'इयमेव पृथिवी' 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः' इत्येवमाद्या य उद्गीथादिकर्माङ्गावबद्धाः प्रत्ययाः प्रतिवेदं शाखाभेदेषु विहितास्ते तत्तच्छाखागतेष्वेवोद्गीथादिषु भवेयुरथवा सर्वशाखागतेष्विति विशयः। प्रतिशाखं च स्वरादिभेदादुद्गीथादिभेदानुपादायायमुपन्यासः। किं तावत्प्राप्तम्? स्वशाखागतेष्वेवोद्गीथादिषु विधीयेरन्निति। कुतः?—संनिधानात्। 'उद्गीथमुपासीत' (छा० १/१/१) इति हि सामान्यविहितानां विशेषाकाङ्क्षायां संनिकृष्टेनैव स्वशाखागतेन विशेषेणाकाङ्क्षादिनिवृत्तेः। तदतिलङ्घनेन शाखान्तरविहितविशेषोपादाने कारणं नास्ति। तस्मात्प्रतिशाखं व्यवस्थेति।

एवं प्राप्ते ब्रवीत्यङ्गावबद्धास्त्विवति। तुशब्दः परपक्षं व्यावर्तयति। नैते प्रतिवेदं स्वशाखास्वैव व्यवतिष्ठेरन्। अपि तु सर्वशाखास्वनुवर्तेरन्। कुतः ?—उद्गीथादिश्रुत्यविशेषात्। स्वशाखाव्यवस्थायां ह्युद्गीथमुपासीतेति सामान्यश्रुतिरविशेषप्रवृत्ता सती संनिधानवशेन विशेषे व्यवस्थाप्यमाना पीडिता स्यात्। नचैतन्न्याय्यम्। संनिधानात्तु श्रुतिर्बलीयसी। नच सामान्याश्रयः प्रत्ययो नोपपद्यते। तस्मात्स्वरादिभेदे सत्यप्युद्गीथत्वाद्यविशेषात्सर्वशाखागतेष्वेवोद्गीथादिष्वेवंजातीयकाः प्रत्ययाः स्युः ॥५५॥

(४१५) मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥५६॥

अथवा नैवात्र विरोधः शङ्कितव्यः। कथमन्यशाखागतेषूद्गीथादिष्वन्यशाखाविहिताः प्रत्यया भवेयुरिति। मन्त्रादिवदविरोधोपपत्तेः। तथाहि मन्त्राणां कर्मणां गुणानां च शाखान्तरोत्पन्नानामपि शाखान्तर उपसंग्रहो दृश्यते। येषामपि हि शाखिनां कुटरुरसीत्यश्मादानमन्त्रो नाम्नातस्तेषामप्यसौ विनियोगो दृश्यते कुक्कुटोऽसीत्यश्मानमादत्ते कुटरुरसीति वेति। येषामपि समिदादयः प्रयाजा नाम्नातास्तेषामपि तेषु गुणविधिराम्नायते—'ऋतवो वै प्रयाजाः समानमत्र होतव्याः' इति। तथा येषामपि 'अजोऽग्नीषोमीयः' इति जातिविशेषोपदेशो नास्ति, तेषामपि तद्विषेशविषयो मन्त्रवर्ण उपलभ्यते—'छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि' इति। तथा वेदान्तरोत्पन्नानामपि 'अग्नेर्वेर्होत्रं वेरध्वरम्' इत्येवमादिमन्त्राणां वेदान्तरे परिग्रहो दृष्टः। तथा बह्वृचपठितस्य सूक्तस्य 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' (ऋ० सं० २/६/७) इत्यस्य 'अध्वर्यवे सजनीयं शस्यम्' इत्यत्र परिग्रहो दृष्टः। तस्माद्यथाश्रयाणां कर्माङ्गानां सर्वत्रानुवृत्तिरेवमाश्रितानामपि प्रत्ययानामित्यविरोधः ॥५६॥

(१३२) भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् ॥३२॥ (सू० ५७)

(४१६) भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ॥५७॥

'प्राचीनशाल औपमन्यवः' (छा० ५/११/१) इत्यस्यामाख्यायिकायां व्यस्तस्य समस्तस्य च वैश्वानरस्योपासनं श्रूयते। व्यस्तोपासनं तावत् 'औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से' (छा० ५/१२/१) इत्यादि। तथा समस्तोपासनमपि 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो

बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ' (छा० ५/१८/२) इत्यादि। तत्र संशयः— किमिहोभयथाप्युपासनं स्याद्व्यस्तस्य समस्तस्य चोत समस्तस्यैवेति? किं तावत्प्राप्तम्। प्रत्यवयवं सुतेजःप्रभृतिषूपास्स इति क्रियापदश्रवणात् 'तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते' (छा० ५/१२/१) इत्यादिफलभेदश्रवणाच्च व्यस्तान्यप्युपासनानि स्युरिति प्राप्तम्।

ततोऽभिधीयते—भूम्नः पदार्थोपचयात्मकस्य समस्तस्य वैश्वानरोपासनस्य ज्यायस्त्वं प्राधान्यमस्मिन्वाक्ये विवक्षितं भवितुमर्हति, न प्रत्येकमवयवोपासनानामपि। क्रतुवत्। यथा क्रतुषु दर्शपूर्णमासप्रभृतिषु सामस्त्येन साङ्गप्रधानप्रयोग एवैको विवक्ष्यते, न व्यस्तानामपि प्रयोगः प्रयाजादीनाम्। नाप्येकदेशाङ्गयुक्तस्य प्रधानस्य, तद्वत्। कुत एतद्भूमैव ज्यायानिति। तथाहि श्रुतिर्भूम्नो ज्यायस्त्वं दर्शयति एकवाक्यतावगमात्। एकं हीदं वाक्यं वैश्वानरविद्याविषयं पौर्वापर्यालोचनात्प्रतीयते। तथाहि— प्राचीनशालप्रभृतय उद्दालकावसानाः षड्ऋषयो वैश्वानरविद्यायां परिनिष्ठामप्रतिपद्यमाना अश्वपतिं कैकेयं राजानमभ्याजग्मुरित्युपक्रम्यैकैकस्यर्षेरुपास्यं द्युप्रभृतीनामेकैकं श्रावयित्वा 'मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच' (छा० ५/१२/२) इत्यादिना मूर्धादिभावं तेषां विदधाति। 'मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्यः' (छा० ५/१२/२) इत्यादिना च व्यस्तोपासनमपवदति। पुनश्च व्यस्तोपासनं व्यावर्त्य समस्तोपासनमेवानुवर्त्य 'स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति' (छा० ५/१८/१) इति भूमाश्रयमेव फलं दर्शयति। यत्तु प्रत्येकं सुतेजःप्रभृतिषु फलभेदश्रवणं तदेवं सत्यङ्गफलानि प्रधान एवाभ्युपगतानीति द्रष्टव्यम्। तथोपास्स इत्यपि प्रत्यवयवमाख्यातश्रवणं पराभिप्रायानुवादार्थं न व्यस्तोपासनविधानार्थम्। तस्मात्समस्तोपासनपक्ष एव श्रेयानिति।

केचित्त्वत्र समस्तोपासनपक्षं ज्यायांसं प्रतिष्ठाप्य ज्यायस्त्ववचनादेव किल व्यस्तोपासनपक्षमपि सूत्रकारोऽनुमन्यत इति कथयन्ति। तदयुक्तम्। एकवाक्यतावगतौ सत्यां वाक्यभेदकल्पनस्यान्याय्यत्वात्। 'मूर्धा ते व्यपतिष्यत्' (छा० ५/१२/२) इति चैवमादिनिन्दावचनविरोधात्। स्पष्टे चोपसंहारस्थे समस्तोपासनावगमे तदभावस्य पूर्वपक्षे वक्तुमशक्यत्वात्। सौत्रस्य च ज्यायस्त्ववचनस्य प्रमाणवत्त्वाभिप्रायेणाप्युपपद्यमानत्वात्॥ ५७॥

(१३३) शब्दभेदाधिकरणम् ॥३३॥ (सू० ५८)

(४१७) नाना शब्दादिभेदात् ॥५८॥

पूर्वस्मिन्नधिकरणे सत्यामपि सुतेजःप्रभृतीनां फलभेदश्रुतौ समस्तोपासनं ज्याय इत्युक्तम्। अतः प्राप्ता बुद्धिरन्यान्यपि भिन्नश्रुतीन्युपासनानि समस्योपाशिष्यन्त इति। अपिच नैव वेद्याभेदे विद्याभेदो विज्ञातुं शक्यते। वेद्यं हि रूपं विद्याया द्रव्यदैवतमिव यागस्य। वेद्यश्चैक एवेश्वरः श्रुतिनानात्वेऽप्यवगम्यते 'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३/१४/२) 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४/१०/५) 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८/१/५) इत्येवमादिषु। तथा 'एक एव प्राणः' 'प्राणो वाव संवर्गः' (छा० ४/३/३) 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' (छा० ५/१/१) 'प्राणो ह पिता प्राणो माता' (छा० ७/१५/१) इत्येवमादिषु। वेद्यैकत्वाच्च विद्यैकत्वम् श्रुतम्। श्रुतिनानात्वमप्यस्मिन्पक्षे गुणान्तरपरत्वान्नानर्थकम्। तस्मात्स्वपरशाखाविहितमेकवेद्यव्यपाश्रयं गुणजातमुपसंहर्तव्यं विद्याकार्त्स्न्यायेति।

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते — नानेति। वेद्याभेदेऽप्येवंजातीयका विद्या भिन्ना भवितुमर्हति। कुतः? —शब्दादिभेदात्। भवति हि शब्दभेदः 'वेद' 'उपासीत' 'स क्रतुं कुर्वीत' (छा० ३/१४/१) इत्येवमादिः। शब्दभेदश्च कर्मभेदहेतुः समधिगतः पुरस्ताच्छब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वादिति। आदिग्रहणाद्गुणादयोऽपि यथासंभवं भेदहेतवो योजयितव्याः। ननु वेदेत्यादिषु शब्दभेद एवावगम्यते न यजतीत्यादिवदर्थभेदः, सर्वेषामेवैषां मनोवृत्त्यर्थत्वाभेदात् अर्थान्तरासंभवाच्च। तत्कथं शब्दभेदाद्विद्याभेद इति। नैष दोषः। मनोवृत्त्यर्थत्वाभेदेऽप्यनुबन्धभेदाद्वेद्यभेदे सति विद्याभेदोपपत्तेः। एकस्यापीश्वरस्योपास्यस्य प्रतिप्रकरणं व्यावृत्ता गुणाः शिष्यन्ते। तथैकस्यापि प्राणस्य तत्र तत्रोपास्यस्याभेदेऽप्यन्यादृग्गुणोऽन्यत्रोपासितव्योऽन्यादृग्गुणश्चान्यत्रेत्येवमनुबन्धभेदाद्वेद्यभेदे सति विद्याभेदो विज्ञायते। नचात्रैको विद्याविधिरितरे गुणविधय इति शक्यं वक्तुम्। विनिगमनायां हेत्वभावात्। अनेकत्वाच्च प्रतिप्रकरणं गुणानां प्राप्तविद्यानुवादेन विधानानुपपत्तेः। नचास्मिन्पक्षे समानाः सन्तः सत्यकामादयो गुणा असकृच्छ्रावयितव्याः। प्रतिप्रकरणं चेदंकामेनेदमुपासितव्यमिदंकामेन चेदमिति नैराकाङ्क्ष्यावगमान्नैकवाक्यतापत्तिः। नचात्र वैश्वानरविद्यायामिव समस्तचोदनापरास्ति, यद्बलेन प्रतिप्रकरणवर्तीन्यवयवोपासनानि भूत्वैकवाक्यतामियुः। वेद्यैकत्वनिमित्ते च विद्यैकत्वे सर्वत्र निरङ्कुशे प्रतिज्ञायमाने समस्तगुणोपसंहारोऽशक्यः प्रतिज्ञायेत। तस्मात्सुष्ठूच्यते

नाना शब्दादिभेदादिति। स्थिते चैतस्मिन्नधिकरणे सर्ववेदान्तप्रत्ययमित्यादि द्रष्टव्यम्॥५८॥

(१३४) विकल्पाधिकरणम्॥३४॥ (सू० ५९)

(४१८) विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्॥५९॥

स्थिते विद्याभेदे विचार्यते — किमासामिच्छया समुच्चयो, विकल्पो वा स्यात्, अथवा विकल्प एव नियमेनेति। तत्र स्थितत्वात्तावद्विद्याभेदस्य न समुच्चयनियमे किंचित्कारणमस्ति। ननु भिन्नानामप्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां समुच्चयनियमो दृश्यते। नैष दोषः। नित्यताश्रुतिर्हि तत्र कारणं, नैवं विद्यानां काचिन्नित्यताश्रुतिरस्ति। तस्मान्न समुच्चयनियमः। नापि विकल्पनियमः। विद्यान्तराधिकृतस्य विद्यान्तराप्रतिषेधात्। पारिशेष्याद्याथाकाम्यमापद्यते। नन्वविशिष्टफलत्वादासां विकल्पो न्याय्यः। तथाहि —'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३/१४/२) 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४/१०/५) 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८/१/५) इत्येवमाद्यास्तुल्यवदीश्वरप्राप्तिफला लक्ष्यन्ते। नैष दोषः। समानफलेष्वपि स्वर्गादिसाधनेषु कर्मसु याथाकाम्यदर्शनात्। तस्माद्याथाकाम्यप्राप्तावुच्यते विकल्प एवासां भवितुमर्हति, न समुच्चयः। कस्मात्? अविशिष्टफलत्वात्। अविशिष्टं ह्यासां फलमुपास्यविषयसाक्षात्करणम्। एकेन चोपासनेन साक्षात्कृत उपास्ये विषय ईश्वरादौ द्वितीयमनर्थकम्। अपि चासंभवः। साक्षात्करणस्य समुच्चयपक्षे चित्तविक्षेपहेतुत्वात्। साक्षात्करणसाध्यं च विद्याफलं दर्शयन्ति श्रुतयः—'यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्ति' (छा० ३/१४/४) इति, 'देवो भूत्वा देवानप्येति' (बृ० ४/१/२) इति चैवमाद्याः। स्मृतयश्च—'सदा तद्भावभावितः' (गी० ८/६) इत्येवमाद्याः। तस्मादविशिष्टफलानां विद्यानामन्यतमामादाय तत्परः स्याद्यावदुपास्यविषयसाक्षात्करणेन तत्फलं प्राप्तमिति॥५९॥

(१३५) काम्याधिकरणम्॥३५॥ (सू० ६०)

(४१९) काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात्॥६०॥

अविशिष्टफलत्वादित्यस्य प्रत्युदाहरणम्। यासु पुनः काम्यासु विद्यासु 'स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदं रोदिति' (छा० ३/१५/२) 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७/१/५)

इति चैवमाद्यासु क्रियावददृष्टेनात्मनात्मीयं तत्तत् फलं साधयन्तीषु साक्षात्करणापेक्षा नास्ति। ता यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा समुच्चीयेरन्पूर्वहेत्वभावात्। पूर्वस्याविशिष्टफलत्वादित्यस्य विकल्पहेतोरभावात्॥६०॥

(१३६) यथाश्रयभावाधिकरणम्॥३६॥ (सू० ६१-६६)

(४२०) अङ्गेषु यथाश्रयभावः॥६१॥

कर्माङ्गेषूद्गीथादिषु य आश्रिताः प्रत्यया वेदत्रयविहिताः, किं ते समुच्चीयेरन्किंवा यथाकामं स्युरिति संशये यथाश्रयभाव इत्याह। यथैवैषामाश्रयाः स्तोत्रादयः संभूय भवन्त्येवं प्रत्यया अपि। आश्रयतन्त्रत्वात्प्रत्ययानाम्॥६१॥

(४२१) शिष्टेश्च॥६२॥

यथा वाश्रयाः स्तोत्रादयस्त्रिषु वेदेषु शिष्यन्त एवमाश्रिता अपि प्रत्ययाः। नोपदेशकृतोऽपि कश्चिद्विशेषोऽङ्गानां तदाश्रयाणां च प्रत्ययानामित्यर्थः॥६२॥

(४२२) समाहारात्॥६३॥

'होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति' (छा० १/५/५) इति च प्रणवोद्गीथैकत्वविज्ञानमाहात्म्यादुद्गाता स्वकर्मण्युत्पन्नं क्षतं हौत्रात्कर्मणः प्रतिसमादधातीति ब्रुवन्वेदान्तरोदितस्य प्रत्ययस्य वेदान्तरोदितपदार्थसंबन्धसामान्यात्सर्ववेदोदितप्रत्ययोपसंहारं सूचयतीति लिङ्गदर्शनम्॥६३॥

(४२३) गुणसाधारण्यश्रुतेश्च॥६४॥

विद्यागुणं च विद्याश्रयं सन्तमोंकारं वेदत्रयसाधारणं श्रावयति—'तेनेयं त्रयीविद्या वर्तत ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायति' (छा० १/१/९) इति च। ततश्चाश्रयसाधारण्यादाश्रितसाधारण्यमिति लिङ्गदर्शनमेव। अथवा गुणसाधारण्यश्रुतेश्चेति। यदीमे कर्मगुणा उद्गीथादयः सर्वे सर्वप्रयोगसाधारणा न स्युर्न स्यात्ततस्तदाश्रयाणां प्रत्ययानां सहभावः। ते तूद्गीथादयः सर्वाङ्गग्राहिणा प्रयोगवचनेन सर्वे सर्वप्रयोगसाधारणाः श्राव्यन्ते। ततश्चाश्रयसहभावात्प्रत्ययसहभाव इति॥६४॥

(४२४) न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥६५॥

न वेति पक्षव्यावर्तनम्। न यथाश्रयभाव आश्रितानामुपासनानां भवितुमर्हति। कुतः ? —तत्सहभावाश्रुतेः। यथा हि त्रिवेदीविहितानामङ्गानां स्तोत्रादीनां सहभावः श्रूयते—'ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकरोति स्तोत्रमनुशंसति प्रस्तोतः साम गाय होतरेतद्यज' इत्यादिना। नैवमुपासनानां सहभावश्रुतिरस्ति। ननु प्रयोगवचन एष एषां सहभावं प्रापयेत्। नेति ब्रूमः—पुरुषार्थत्वादुपासनानाम्। प्रयोगवचनो हि क्रत्वर्थानामुद्गीथादीनां सहभावं प्रापयेत्। उद्गीथाद्युपासनानि तु क्रत्वङ्गाश्रयाण्यपि गोदोहनादिवत्पुरुषार्थानीत्यवोचाम 'पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्' (ब्र० सू० ३/३/४२) इत्यत्र। अयमेव चोपदेशाश्रयो विशेषोऽङ्गानां तदालम्बनानां चोपासनानां, यदेकेषां क्रत्वर्थत्वमेकेषां पुरुषार्थत्वमिति। परं च लिङ्गद्वयमकारणमुपासनसहभावस्य श्रुति-न्यायाभावात्। नच प्रतिप्रयोगमाश्रयकार्त्स्न्योपसंहारादाश्रितानामपि तथात्वं विज्ञातुं शक्यम्। अतत्प्रयुक्तत्वादुपासनानाम्। आश्रयतन्त्राण्यपि ह्युपासनानि काममाश्रयाभावे मा भूवन्न त्वाश्रयसहभावेन सहभावनियममर्हन्ति, तत्सहभावाश्रुतेरेव। तस्माद्यथा-काममेवोपासनान्यनुष्ठीयेरन्॥६५॥

(४२५) दर्शनाच्च॥६६॥

दर्शयति च श्रुतिरसहभावं प्रत्ययानाम्—'एवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति' (छा० ४/१७/१०) इति। सर्वप्रत्ययोपसंहारे हि सर्वे सर्वविदः इति न विज्ञानवता ब्रह्मणा परिपाल्यत्वमितरेषां संकीर्त्येत। तस्माद्यथा-काममुपासनानां समुच्चयो विकल्पो वेति॥६६॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ
श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः॥३॥

विश्रामः॥२७॥

* * * *

ॐ

॥ अथ तृतीयोऽध्याये चतुर्थः पादः ॥

(अत्र निर्गुणविद्याया अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनविचारः)

(१३७) पुरुषार्थाधिकरणम् ॥ १ ॥ (सू० १-१७)

(४२६) पुरुषार्थोऽतःशब्दादिति बादरायणः ॥ १ ॥

अथेदानीमौपनिषदमात्मज्ञानं किमधिकारिद्वारेण कर्मण्येवानुप्रविशत्याहोस्वित्स्वतन्त्रमेव पुरुषार्थसाधनं भवतीति मीमांसमानः सिद्धान्तेनैव तावदुपक्रमते 'पुरुषार्थोऽत' इति। अस्माद्वेदान्तविहितादात्मज्ञानात्स्वतन्त्रात्पुरुषार्थः सिद्ध्यतीति बादरायण आचार्यो मन्यते। कुत एतदवगम्यते; शब्दादित्याह। तथाहि—'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७/१/३), 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३/२/९), 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २/१/१), 'आचार्यवान्पुरुषो वेद, तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६/१४/२) इति, 'आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८/७/१) इत्युपक्रम्य 'सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति' (छा० ८/७/१) इति, 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (अृ० ४/५/६) इत्युपक्रम्य 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्' (बृ० ४/५/१५) इत्येवंजातीयका श्रुतिः केवलाया विद्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वं श्रावयति॥ १॥

अथात्र परः प्रत्यवतिष्ठते—

(४२७) शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ॥ २ ॥

कर्तृत्वेनात्मनः कर्मशेषत्वात्तद्विज्ञानमपि व्रीहिप्रोक्षणादिवद्विषयद्वारेण कर्मसंबन्ध्येवेत्यतस्तस्मिन्नवगतप्रयोजन आत्मज्ञाने वा फलश्रुतिः, सार्थवाद इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। यथान्येषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापꣳ श्लोकꣳ शृणोति। यदङ्क्ते चक्षुरेष भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते। यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते, वर्म यजमानस्य भ्रातृव्याभिभूत्यै' इत्येवंजातीयका फलश्रुतिरर्थवादः। तद्वत्। कथं पुनरस्यानारभ्याधीतस्यात्मज्ञानस्य प्रकरणादीनामन्यतमेनापि हेतुना विना क्रतुप्रवेश आशङ्क्यते। कर्तृद्वारेण वाक्यात्तद्विज्ञानस्य क्रतुसंबन्ध

इति चेत्। न। वाक्याद्विनियोगानुपपत्तेः। अव्यभिचारिणा हि केनचिद्द्वारेणानारभ्याधीतानामपि वाक्यनिमित्तः क्रतुसंबन्धोऽवकल्पते। कर्ता तु व्यभिचारि द्वारं, लौकिकवैदिककर्मसाधारण्यात्। तस्मान्न तद्द्वारेणात्मज्ञानस्य क्रतुसंबन्धसिद्धिरिति। न। व्यतिरेकविज्ञानस्य वैदिकेभ्यः कर्मभ्योऽन्यत्रानुपयोगात्। नहि देहव्यतिरिक्तात्मविज्ञानं लौकिकेषु कर्मसूपयुज्यते। सर्वथा दृष्टार्थप्रवृत्त्युपपत्तेः। वैदिकेषु तु देहपातोत्तरकालफलेषु देहव्यतिरिक्तात्मविज्ञानमन्तरेण प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इत्युपयुज्यते व्यतिरेकविज्ञानम्। नन्वपहतपाप्मत्वादिविशेषणादसंसार्यात्मविषयमौपनिषदं दर्शनं न प्रवृत्त्यङ्गं स्यात्। न। प्रियादिसंसूचितस्य संसारिण एवात्मनो द्रष्टव्यत्वेनोपदेशात्। अपहतपाप्मत्वादि विशेषणं तु स्तुत्यर्थं भविष्यति। ननु तत्र तत्र प्रसाधितमेतदधिकमसंसारि ब्रह्म जगत्कारणं, तदेव च संसारिण आत्मनः पारमार्थिकं स्वरूपमुपनिषत्सूपदिश्यत इति। सत्यं प्रसाधितं, तस्यैव तु स्थूणानिखननवत्फलद्वारेणाक्षेपसमाधाने क्रियेते दार्ढ्याय॥२॥

(४२८) आचारदर्शनात्॥३॥

'जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे' (बृ० ३/१/१), 'यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि' (छा० ५/११/५) इत्येवमादीनि ब्रह्मविदामप्यन्यपरेषु वाक्येषु कर्मसंबन्धदर्शनानि भवन्ति। तथोद्दालकादीनामपि पुत्रानुशासनादिदर्शनाद्गार्हस्थ्यसंबन्धोऽवगम्यते। केवलाच्चेज्ज्ञानात्पुरुषार्थसिद्धिः स्यात्किमर्थमनेकायाससमन्वितानि कर्माणि ते कुर्युः 'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' इति न्यायात्॥३॥

(४२९) तच्छ्रुतेः॥४॥

'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १/१/१०) इति च कर्मशेषत्वश्रवणाद्विद्यायाः, न केवलायाः पुरुषार्थहेतुत्वम्॥४॥

(४३०) समन्वारम्भणात्॥५॥

'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' (बृ० ४/४/२) इति च विद्याकर्मणोः फलारम्भे सहकारित्वदर्शनान्न स्वातन्त्र्यं विद्यायाः॥५॥

(४३१) तद्वतो विधानात्॥६॥

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे

शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः' (छा० ८/१५/१) इति चैवंजातीयका श्रुतिः समस्तवेदार्थविज्ञानवतः कर्माधिकारं दर्शयति। तस्मादपि न विज्ञानस्य स्वातन्त्र्येण फलहेतुत्वम्। नन्वत्राधीत्येत्यध्ययनमात्रं वेदस्य श्रूयते, नार्थविज्ञानम्। नैष दोषः। दृष्टार्थत्वाद्वेदाध्ययनमर्थावबोधपर्यन्तमिति स्थितम्॥६॥

(४३२) नियमाच्च॥७॥

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे' (ई० २) इति। तथा 'एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रं जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा' इत्येवंजातीयकान्नियमादपि कर्मशेषत्वमेव विद्याया इति॥७॥

एवं प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

(४३३) अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्॥८॥

तुशब्दात्पक्षो विपरिवर्तते। यदुक्तम्—'शेषत्वात्पुरुषार्थवादः' (ब्र० सू० ३/४/२) इति, तन्नोपपद्यते। कस्मात्? अधिकोपदेशात्। यदि संसार्येवात्मा शारीरः कर्ता भोक्ता च शरीरमात्रव्यतिरेकेण वेदान्तेषूपदिष्टः स्यात्ततो वर्णितेन प्रकारेण फलश्रुतेरर्थवादत्वं स्यात्। अधिकस्तावच्छारीरादात्मनोऽसंसारीश्वरः कर्तृत्वादिसंसारिधर्मरहितोऽपहतपाप्मत्वादिविशेषणः परमात्मा वेद्यत्वेनोपदिश्यते वेदान्तेषु। नच तद्विज्ञानं कर्मणां प्रवर्तकं भवति, प्रत्युत कर्माण्युच्छिन्नत्तीति वक्ष्यति 'उपमर्दं च' (ब्र० सू० ३/४/१६) इत्यत्र। तस्मात् 'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्' (ब्र० सू० ३/४/१) इति यन्मतं भगवतो बादरायणस्य, तत्तथैव तिष्ठति, न शेषत्वप्रभृतिभिर्हेत्वाभासैश्चालयितुं शक्यते। तथाहि तमधिकं शारीरादीश्वरमात्मानं दर्शयन्ति श्रुतयः—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु० १/१/९) 'भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः' (तै० २/८/१) 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (कठ० ६/२) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि' (बृ० ३/८/९) 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६/२/३) इत्येवमाद्याः।

यत्तु प्रियादिसंसूचितस्य संसारिण एवात्मनो वेद्यतयाऽनुकर्षणम् 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २/४/५) 'यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३/४/१) 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते'

(छा० ८/७/४) इत्युपक्रम्य 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८/९/३) इति चैवमादि, तदपि 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः (बृ० २/४/१०)' 'योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति' (बृ० ३/५/१) 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' (छा० ८/१२/३) इत्येवमादिभिर्वाक्यशेषैः सत्यामेवाधिकोपदिदिक्षायामत्यन्ताभेदाभिप्रायमित्यविरोधः पारमेश्वरमेव हि शारीरस्य पारमार्थिकं स्वरूपम्। उपाधिकृतं तु शारीरत्वम् 'तत्त्वमसि' (छा० ६/८/७) 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ (बृ० ३/८/११) इत्यादिश्रुतिभ्यः। सर्वं चैतद्विस्तरेणास्माभिः पुरस्तात्तत्र तत्र वर्णितम्॥८॥

(४३४) तुल्यं तु दर्शनम्॥९॥

यत्तूक्तमाचारदर्शनात्कर्मशेषो विद्येति। अत्र ब्रूमः—तुल्यमाचारदर्शनमकर्मशेषत्वेऽपि विद्यायाः। तथाहि श्रुतिर्भवति—'एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे। एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवांचक्रिरे', 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृ० ३/५/१) इत्येवंजातीयका। याज्ञवल्क्यादीनामपि ब्रह्मविदामकर्मनिष्ठत्वं दृश्यते—'एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार' (बृ० ४/५/१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अपिच 'यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि' (छा० ५/११/५) इत्येतल्लिङ्गदर्शनं वैश्वानरविद्याविषयम्। संभवति च सोपाधिकायां ब्रह्मविद्यायां कर्मसाहित्यदर्शनम्। नत्वत्रापि कर्माङ्गत्वमस्ति। प्रकरणाद्यभावात्॥९॥

यत्पुनरुक्तम्—'तच्छ्रुतेः' (ब्र० सू० ३/४/४) इति, अत्र ब्रूमः—

(४३५) असार्वत्रिकी॥१०॥

'यदेव विद्यया करोति' (छा० १/१/१०) इत्येषा श्रुतिर्न सर्वविद्याविषया। प्रकृतविद्याभिसंबन्धात्। प्रकृता चोद्गीथविद्या 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १/१/१) इत्यत्र॥१०॥

(४३६) विभागः शतवत्॥११॥

यद्यप्युक्तम्—'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' (बृ० ४/४/२) इत्येतत्समन्वा-

रम्भवचनमस्वातन्त्र्ये विद्याया लिङ्गमिति। तत्प्रत्युच्यते। विभागोऽत्र द्रष्टव्यो विद्यान्यं पुरुषं समन्वारभते कर्मान्यमिति। शतवत्। यथाशतमाभ्यां दीयतामित्युक्ते विभज्य दीयते पञ्चाशदेकस्मै पञ्चाशदपरस्मै, तद्वत्। नचेदं समन्वारम्भवचनं मुमुक्षुविषयम् 'इति नु कामयमानः' (बृ० ४/४/६) इति संसारिविषयत्वोपसंहारात्। 'अथाकामयमानः' (बृ० ४/४/६) इति च मुमुक्षोः पृथगुपक्रमात्। तत्र संसारिविषये विद्या विहिता प्रतिषिद्धा च परिगृह्यते, विशेषाभावात्। कर्मापि विहितं प्रतिषिद्धं च यथाप्राप्तानुवादित्वात्। एवं सत्यविभागेनापीदं समन्वारम्भवचनमवकल्पते॥११॥

यच्चैतत् तद्वतो 'विधानात्' (ब्र० सू० ३/४/६) इत्यत उत्तरं पठति—

(४३७) अध्ययनमात्रवतः॥१२॥

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य' (छा० ८/१५/१) इत्यत्राध्ययनमात्रस्य श्रवणादध्ययनमात्रवत एव कर्मविधिरित्यध्यवस्यामः। नन्वेवं सत्यविद्यत्वादनधिकारः कर्मसु प्रसज्येत। नैष दोषः। न वयमध्ययनप्रभवं कर्मावबोधनमधिकारकारणं वारयामः, किं तर्ह्यौपनिषदमात्मज्ञानं स्वातन्त्र्येणैव प्रयोजनवत्प्रतीयमानं न कर्माधिकारकारणतां प्रतिपद्यत इत्येतावत्प्रतिपादयामः। यथा च न क्रत्वन्तरज्ञानं क्रत्वन्तराधिकारेणापेक्ष्यत, एवमेतदपि द्रष्टव्यमिति॥१२॥

यदप्युक्तं 'नियमाच्च' (ब्र० सू० ३/४/७) इत्यत्राभिधीयते—

(४३८) नाविशेषात्॥१३॥

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' (ई० २) इत्येवमादिषु नियमश्रवणेषु न विदुष इति विशेषोऽस्ति। अविशेषेण नियमविधानात्॥१३॥

(४३९) स्तुतयेऽनुमतिर्वा॥१४॥

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' (ई० २) इत्यत्रापरो विशेष आख्यायते। यद्यप्यत्र प्रकरणसामर्थ्याद्विद्वानेव कुर्वन्निति संबध्यते, तथापि विद्यास्तुतये कर्मानुज्ञानमेतद्द्रष्टव्यम्। 'न कर्म लिप्यते नरे' (ई० २) इति हि वक्ष्यति। एतदुक्तं भवति। यावज्जीवं कर्म कुर्वत्यपि विदुषि पुरुषे न कर्म लेपाय भवति, विद्यासामर्थ्यादिति। तदेवं विद्या स्तूयते॥१४॥

(४४०) कामकारेण चैके ॥१५॥

अपि चैके विद्वांसः प्रत्यक्षीकृतविद्याफलाः सन्तस्तदवष्टम्भात्फलान्तरसाधनेषु प्रजादिषु प्रयोजनाभावं परामृशन्ति। कामकारेणेति श्रुतिर्भवति वाजसनेयिनाम्। 'एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' (बृ० ४/४/२२) इति। अनुभवारूढमेव च विद्याफलं, न क्रियाफलवत्कालान्तरभावीत्यसकृदवोचाम। अतोऽपि न विद्यायाः कर्मशेषत्वं, नापि तद्विषयायाः फलश्रुतेरयथार्थत्वं शक्यमाश्रयितुम् ॥१५॥

(४४१) उपमर्दं च ॥१६॥

अपि च कर्माधिकारहेतोः क्रियाकारकफललक्षणस्य समस्तस्य प्रपञ्चस्याविद्याकृतस्य विद्यासामर्थ्यात्स्वरूपोपमर्दमामनन्ति—'यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्' (बृ० २/४/१४) इत्यादिना। वेदान्तोदितात्मज्ञानपूर्विकां तु कर्माधिकारसिद्धिं प्रत्याशासानस्य कर्माधिकारोच्छित्तिरेव प्रसज्येत। तस्मादपि स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥१६॥

(४४२) ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि ॥१७॥

ऊर्ध्वरेतःसु चाश्रमेषु विद्या श्रूयते। नच तत्र कर्माङ्गत्वं विद्याया उपपद्यते। कर्माभावात्। नह्यग्निहोत्रादीनि वैदिकानि कर्माणि तेषां सन्ति। स्यादेतत्। ऊर्ध्वरेतस आश्रमा न श्रूयन्ते वेद इति, तदपि नास्ति। तेऽपि हि वैदिकेषु शब्देष्ववगम्यन्ते 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २/२३/१) 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' (छा० ५/१०/१), 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये' (मु० १/२/११), 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ० ४/४/२२), 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (जा० ४) इत्येवमादिषु। प्रतिपन्नाप्रतिपन्नगार्हस्थ्यानामपाकृतानपाकृतर्णत्रयाणां चोर्ध्वरेतस्त्वं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम्। तस्मादपि स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥१७॥

(१३८) परामर्शाधिकरणम् ॥ २ ॥ (सू० १८-२०)

(४४३) परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥१८॥

'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २/२३/१) इत्यादयो ये शब्दा ऊर्ध्वरेतसामाश्रमाणां सद्भावायोदाहृताः, न ते तत्प्रतिपादनाय प्रभवन्ति। यतः परामर्शमेषु

शब्देष्वाश्रमान्तराणां जैमिनिराचार्यो मन्यते, न विधिम्। कुतः? —नह्यत्र लिङ्गादीनामन्यतमश्चोदनाशब्दोऽस्ति। अर्थान्तरपरत्वं चैतेषां प्रत्येकमुपलभ्यते। त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यत्र तावद्यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्तीति परामर्शपूर्वकमाश्रमाणामनात्यन्तिकफलत्वं संकीर्त्यात्यन्तिकफलतया ब्रह्मसंस्थता - स्तूयते—'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (छा० २/२३/१) इति। ननु परामर्शेऽप्याश्रमा गम्यन्त एव। सत्यं गम्यन्ते। स्मृत्याचाराभ्यां तु तेषां प्रसिद्धिर्न प्रत्यक्षश्रुतेः। अतश्च प्रत्यक्षश्रुतिविरोधे सत्यनादरणीयास्ते भविष्यन्ति। अनधिकृतविषया वा। ननु गार्हस्थ्यमपि सहैवोर्ध्वरेतोभिः परामृष्टं यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथम इति। सत्यमेवं, तथापि तु गृहस्थं प्रत्येवाग्निहोत्रादीनां कर्मणां विधानाच्छ्रुतिप्रसिद्धमेव हि तदस्तित्वम्। तस्मात्स्तुत्यर्थ एवायं परामर्शो न चोदनार्थः। अपि चापवदति हि प्रत्यक्षा श्रुतिराश्रमान्तरम् 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते', 'आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' (तै० १/११/१), 'नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः' इत्येवमाद्या। तथा 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' (छा० ५/१०/१) 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये' (मु० १/२/११) इति च देवयानोपदेशो नाश्रमान्तरोपदेशः। संदिग्धं चाश्रमान्तराभिधानम् 'तप एव द्वितीयः' (छा० २/२३/१) इत्येवमादिषु। तथा 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ० ४/४/२२) इति लोकसंस्तवोऽयं न पारिव्राज्यविधिः। ननु ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदिति विस्पष्टमिदं प्रत्यक्षं पारिव्राज्यविधानं जाबालानाम्। सत्यमेवमेतत्। अनपेक्ष्य त्वेतां श्रुतिमयं विचार इति द्रष्टव्यम्॥१८॥

(४४४) अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः॥१९॥

अनुष्ठेयमाश्रमान्तरं बादरायण आचार्यो मन्यते। वेदे श्रवणात्। अग्निहोत्रादीनां चावश्यानुष्ठेयत्वात्तद्विरोधादनधिकृतानुष्ठेयमाश्रमान्तरमिति हीमां मतिं निराकरोति गार्हस्थ्यवदेवाश्रमान्तरमप्यनिच्छता प्रतिपत्तव्यमिति मन्यमानः। कुतः? —साम्यश्रुतेः। समाना हि गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्य परामर्शश्रुतिर्दृश्यते 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २/२३/१) इत्याद्या। यथेह श्रुत्यन्तरविहितमेव गार्हस्थ्यं परामृष्टमेवमाश्रमान्तरमपीति प्रतिपत्तव्यम्। यथा च शास्त्रान्तरप्राप्तयोरेव निवीतप्राचीनावीतयोःपरामर्श उपवीतविधिपरे वाक्ये। तस्मात्तुल्यमनुष्ठेयत्वं गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्य। तथा 'एतमेव प्रव्राजिनो

लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ० ४/४/२१) इत्यस्य वेदानुवचनादिभिः समभिव्याहारः। 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' (छा० ५/१०/१) इत्यस्य च पञ्चाग्निविद्यया।

यत्तूक्तम् 'तप एव द्वितीयः' (छा० २/२३/१) इत्यादिष्वाश्रमान्तराभिधानं संदिग्धमिति। नैष दोषः। निश्चयकारणसद्भावात्। 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २/२३/१) इति हि धर्मस्कन्धत्रित्वं प्रतिज्ञातम्। नच यज्ञादयो भूयांसो धर्मा उत्पत्तिभिन्नाः सन्तोऽन्यत्राश्रमसंबन्धात्त्रित्वेऽन्तर्भावयितुं शक्यन्ते। तत्र यज्ञादिलिङ्गो गृहाश्रम एको धर्मस्कन्धो निर्दिष्टो, ब्रह्मचारीति च स्पष्ट आश्रमनिर्देशस्तप इत्यपि कोऽन्यस्तपःप्रधानादाश्रमाद्धर्मस्कन्धोऽभ्युपगम्येत। 'ये चेमेऽरण्ये' (छा० ५/१०/१) इति चारण्यलिङ्गाच्छ्रद्धातपोभ्यामाश्रमगृहीतिः। तस्मात्परामर्शेऽप्यनुष्ठेयमाश्रमान्तरम्॥१९॥

ब्रह्मसंस्थता (४४५) **विधिर्वा धारणवत्॥२०॥**

विधिर्वाऽयमाश्रमान्तरस्य न परामर्शमात्रम्। ननु विधित्वाभ्युपगम एकवाक्यताप्रतीतिरुपरुध्येत, प्रतीयते चात्रैकवाक्यता पुण्यलोकफलास्त्रयो धर्मस्कन्धा ब्रह्मसंस्थतात्वमृतत्त्वफलेति। सत्यमेतत्। सतीमपित्वेकवाक्यताप्रतीतिं परित्यज्य विधिरेवाभ्युपगन्तव्योऽपूर्वत्वात्। विध्यन्तरस्यादर्शनात्। विस्पष्टाच्चाश्रमान्तरप्रत्ययाद्गुणवादकल्पनयैकवाक्यत्वयोजनानुपपत्तेः। धारणवत्। यथा 'अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति' इत्यत्र सत्यामप्यधोधारणेनैकवाक्यताप्रतीतौ विधीयत एवोपरिधारणमपूर्वत्वात्। तथाचोक्तं शेषलक्षणे—'विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्' इति। तद्वदिहाप्याश्रमपरामर्शश्रुतिर्विधिरेवेति कल्प्यते। यदापि परामर्श एवायमाश्रमान्तराणां, तदापि ब्रह्मसंस्थता तावत्संस्तवसामर्थ्यादवश्यं विधेयाऽभ्युपगन्तव्या। सा च किं चतुर्ष्वाश्रमेषु यस्य कस्यचिदाहोस्वित्परिव्राजकस्यैवेति विवेक्तव्यम्। यदि च ब्रह्मचार्यन्तेष्वाश्रमेषु परामृश्यमानेषु परिव्राजकोऽपि परामृष्टस्ततश्चतुर्णामप्याश्रमाणां परामृष्टत्वाविशेषादनाश्रमित्वानुपपत्तेश्च यः कश्चिच्चतुर्ष्वाश्रमेषु ब्रह्मसंस्थो भविष्यति। अथ न परामृष्टस्ततः परिशिष्यमाणः परिव्राडेव ब्रह्मसंस्थ इति सेत्स्यति। तत्र तपःशब्देन वैखानसग्राहिणा परामृष्टः परिव्राडपीति केचित्। तदयुक्तम्। नहि सत्यां गतौ वानप्रस्थविशेषणेन परिव्राजको ग्रहणमर्हति। यथात्र ब्रह्मचारिगृहमेधिनावसाधरणेनैव स्वेन स्वेन विशेषणेन विशेषितावेवं भिक्षुवैखानसावपीति युक्तम्। तपश्चासाधारणो धर्मो वानप्रस्थानां, कायक्लेशप्रधानत्वात्, तपःशब्दस्य तत्र रूढेः।

भिक्षोस्तु धर्म इन्द्रियसंयमादिलक्षणो नैव तपःशब्देनाभिलप्यते। चतुष्ट्वेन च प्रसिद्धा आश्रमास्त्रित्वेन परामृश्यन्त इत्यन्याय्यम्। अपिच भेदव्यपदेशोऽत्र भवति 'तत्र एते पुण्यलोकभाज एकोऽमृतत्वभाक्' इति। पृथक्त्वे चैष भेदव्यपदेशोऽवकल्पते। नह्येवं भवति देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञावन्यतरस्त्वनयोर्महाप्रज्ञ इति। भवति त्वेवं देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञौ विष्णुमित्रस्तु महाप्रज्ञ इति। तस्मातपूर्वे त्रय आश्रमिणः पुण्यलोकभाजः, परिशिष्यमाणः परिव्राडेवामृतत्वभाक्।

कथं पुनर्ब्रह्मसंस्थशब्दो योगात्प्रवर्तमानः सर्वत्र संभवन्परिव्राजक एवावतिष्ठेत। रूढ्यभ्युपगमे चाश्रममात्रादमृतत्वप्राप्तेर्ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्ग इति। अत्रोच्यते— ब्रह्मसंस्थ इति हि ब्रह्मणि परिसमाप्तिरनन्यव्यापारतारूपं तन्निष्ठत्वमभिधीयते। तच्च त्रयाणामाश्रमाणां न संभवति। स्वाश्रमविहितकर्माननुष्ठाने प्रत्यवायश्रवणात्। परिव्राजकस्य तु सर्वकर्मसंन्यासात्प्रत्यवायो न संभवत्यननुष्ठाननिमित्तः। शमदमादिस्तु तदीयो धर्मो ब्रह्मसंस्थताया उपोद्बलको, न विरोधी। ब्रह्मनिष्ठत्वमेव हि तस्य शमदमाद्युपबृंहितं स्वाश्रमविहितं कर्म, यज्ञादीनि चेतरेषां तद्व्यतिक्रमे च तस्य प्रत्यवायः। तथाच 'न्यास इति ब्रह्मा, ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मा', 'तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्' (नारा० ७८), 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' (मु० ३/२/६ नारा० १२/३ कै० ३) इत्याद्याः श्रुतयः। स्मृतयश्च—'तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः' (गी० ५/१७) इत्याद्या ब्रह्मसंस्थस्य कर्माभावं दर्शयन्ति। तस्मात्परिव्राजकस्याश्रममात्रादमृतत्वप्राप्तेर्ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्ग इत्येषोऽपि दोषो नावतरति। तदेवं परामर्शेऽपीतरेषामाश्रमाणां पारिव्राज्यं तावद्ब्रह्मसंस्थतालक्षणं लभ्येतैव। अनपेक्ष्यैव जाबालश्रुतिमाश्रमान्तरविधायिनीमयमाचार्येण विचारः प्रवर्तितः। विद्यत एव त्वाश्रमान्तरविधिश्रुतिः प्रत्यक्षा। 'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद्, गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा' (जाबा० ४) इति। न चेयं श्रुतिरनधिकृतविषया शक्या वक्तुम्, अविशेषश्रवणात्। पृथग्विधानाच्चानधिकृतानाम् 'अथ पुनरेव व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा' (जाबा० ४) इत्यादिना। ब्रह्मदानपरिपाकाङ्गत्वाच्च पारिव्राज्यस्य नानधिकृतविषयत्वम्। तच्च दर्शयति—'अथ परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय भवति' (जाबा० ५) इति। तस्मात्सिद्धा ऊर्ध्वरेतसामाश्रमाः। सिद्धं चोर्ध्वरेतःसु विधानाद्विद्यायाः स्वातन्त्र्यमिति॥२०॥

(१३९) स्तुतिमात्राधिकरणम् ॥ ३ ॥ (सू० २१-२२)

(४४६) स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥२१॥ विध्यर्थाः

'स एष रसानां रसतमः परमः पराध्योऽष्टमो यदुद्गीथः' (छा० १/१/३) 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १/६/१) 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः। तदिदमेवोक्थमियमेव पृथिवी' इत्येवंजातीयकाः श्रुतयः किमुद्गीथादेः स्तुत्यर्था आहोस्विदुपासनाविध्यर्था इत्यस्मिन्संशये स्तुत्यर्था इति युक्तम्। उद्गीथादीनि कर्माङ्गान्युपादाय श्रवणात्। यथा—'इयमेव जुहूरादित्यः कूर्मः स्वर्गो लोक आहवनीयः' इत्याद्या जुह्वादिस्तुत्यर्थास्तद्वदिति चेत्। नेत्याह। नहि स्तुतिमात्रमासां श्रुतीनां प्रयोजनं युक्तमपूर्वत्वात्। विध्यर्थतायां ह्यपूर्वोऽर्थो विहितो भवति, स्तुत्यर्थतायां त्वानर्थक्यमेव स्यात्। विधायकस्य हि शब्दस्य वाक्यशेषभावं प्रतिपद्यमाना स्तुतिरुपयुज्यत इत्युक्तम् 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इत्यत्र। प्रदेशान्तरविहितानां तूद्गीथादीनामियं प्रदेशान्तरपठिता स्तुतिर्वाक्यशेषभावमप्रतिपद्यमानानर्थिकैव स्यात्। इयमेव जुहूरित्यादि तु विधिसंनिधावेवाम्नातमिति वैषम्यम्। तस्माद्विध्यर्था एवंजातीयकाः श्रुतयः ॥ २१ ॥

(४४७) भावशब्दाच्च ॥ २२ ॥

'उद्गीथमुपासीत' (छा० १/१/१), 'सामोपासीत' (छा० २/२/१), 'अहमुक्थमस्मीति विद्यात्' इत्यादयश्च विस्पष्टा विधिशब्दाः श्रूयन्ते, ते च स्तुतिमात्रप्रयोजनतायां व्याहन्येरन्। तथाच न्यायविदां स्मरणम्—'कुर्यात्क्रियेत कर्तव्यं भवेत्स्यादिति पञ्चमम्। एतत्स्यात्सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्' इति लिङाद्यर्थो विधिरिति मन्यमानास्त एवं स्मरन्ति। प्रतिप्रकरणं च फलानि श्राव्यन्ते—'आपयिता ह वै कामानां भवति' (छा० १/१/७) 'एष ह्येव कामगानस्येष्टे' (छा० १/७/९) 'कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च' (छा० २/२/३) इत्यादीनि। तस्मादप्युपासनविधानार्था उद्गीथादिश्रुतयः ॥ २२ ॥

(१४०) पारिप्लवाधिकरणम् ॥ ४ ॥ (सू० २३-२४)

(४४८) पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ २३ ॥

'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च' (बृ० ४/

५/१), 'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम' (कौषी० ३/१), 'जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस' (छा० ४/१/१) इत्येवमादिषु वेदान्तपठितेष्वाख्यानेषु संशयः—किमिमानि पारिप्लवप्रयोगार्थान्याहोस्वित्संनिहितविद्याप्रतिपत्त्यर्थानीति। पारिप्लवार्था इमा आख्यानश्रुतयः। आख्यानसामान्यात्। आख्यानप्रयोगस्य च पारिप्लवे चोदितत्वात्। ततश्च विद्याप्रधानत्वं वेदान्तानां न स्यात्, मन्त्रवत्प्रयोगशेषत्वादिति चेत्। तन्न। कस्मात्? विशेषितत्वात्। 'पारिप्लवमाचक्षीत' इति हि प्रकृत्य 'मनुर्वैवस्वतो राजा' इत्येवमादीनि कानिचिदेवाख्यानानि तत्र विशेष्यन्ते। आख्यानसामान्याच्चेत्सर्वगृहीतिः स्यादनर्थकमेवेदं विशेषणं भवेत्। तस्मान्न पारिप्लवार्था एता आख्यानश्रुतयः॥२३॥

(४४९) तथा चैकवाक्यतोपबन्धात्॥२४॥

असति च पारिप्लवार्थत्व आख्यानानां संनिहितविद्याप्रतिपादनोपयोगितैव न्याय्या। एकवाक्यतोपबन्धात्। तथाहि तत्र तत्र संनिहिताभिर्विद्याभिरेकवाक्यता दृश्यते प्ररोचनोपयोगात्प्रतिपत्तिसौकर्योपयोगाच्च। मैत्रेयीब्राह्मणे तावत्—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः (बृ० ४/५/६) इत्याद्यया विद्यैकवाक्यता दृश्यते। प्रातर्दनेऽपि 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्याद्यया। जानश्रुतिरित्यत्रापि 'वायुर्वाव संवर्गः' (छा० ४/३/१) इत्याद्यया। यथा 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' इत्येवमादीनां कर्मश्रुतिगतानामाख्यानानां संनिहितविधिस्तुत्यर्थता, तद्वत्। तस्मान्न पारिप्लवार्थत्वम्॥२४॥

(१४१) अग्नीन्धनाद्यधिकरणम्॥५॥ (सू० २५)

(४५०) अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा॥२५॥

'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्' (ब्र० सू० ३/४/१) इत्येतद्व्यवहितमपि संभवादत इति परामृश्यते। अतएव च विद्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वादग्नीन्धनादीन्याश्रमकर्माणि विद्यया स्वार्थसिद्धौ नापेक्षितव्यानीत्याद्यस्यैवाधिकरणस्य फलमुपसंहरत्यधिकविवक्षया॥२५॥

(१४२) सर्वापेक्षाधिकरणम्॥६॥ (सू० २६-२७)

(४५१) सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्॥२६॥

इदमिदानीं चिन्त्यते — किं विद्याया अत्यन्तमेवानपेक्षाश्रमकर्मणामुतास्ति काचिदपेक्षेति। तत्रात एवाग्नीन्धनादीन्याश्रमकर्माणि विद्यया स्वार्थसिद्धौ नापेक्ष्यन्त

एवमत्यन्तमेवानपेक्षायां प्राप्तायामिदमुच्यते सर्वापेक्षा चेति। अपेक्षते च विद्या सर्वाण्याश्रमकर्माणि नात्यन्तमनपेक्षैव।

ननु विरुद्धमिदं वचनमपेक्षते चाश्रमकर्माणि विद्या नापेक्षते चेति। नेति ब्रूमः। उत्पन्ना हि विद्या फलसिद्धिं प्रति न किंचिदन्यदपेक्षत, उत्पत्तिं प्रति त्वपेक्षते। कुतः?—यज्ञादिश्रुतेः। तथाहि श्रुतिः—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ० ४/४/२२) इति यज्ञादीनां विद्यासाधनभावं दर्शयति। विविदिषासंयोगाच्चैषामुत्पत्तिसाधनभावोऽवसीयते। 'अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्' (छा० ८/५/१) इत्यत्र च विद्यासाधनभूतस्य ब्रह्मचर्यस्य यज्ञादिभिः संस्तवाद्यज्ञादीनामपि हि साधनभावः सूच्यते। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि' (कठ० २/१५) इत्येवमाद्या च श्रुतिराश्रमकर्मणां विद्यासाधनभावं सूचयति। स्मृतिरपि—'कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः। कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते' इत्येवमाद्या। अश्ववदिति योग्यतानिदर्शनम्। यथाच योग्यतावशेनाश्वो न लाङ्गलाकर्षणे युज्यते, रथचर्यायां तु युज्यते। एवमाश्रमकर्माणि विद्यया फलसिद्धौ नापेक्ष्यन्त, उत्पत्तौ चापेक्ष्यन्त इति॥२६॥

(४५२) शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्॥२७॥

यदि कश्चिन्मन्येत यज्ञादीनां विद्यासाधनभावो न न्याय्यो, विध्यभावात्। 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्येवंजातीयका हि श्रुतिरनुवादस्वरूपा विद्याभिष्टवपरा, न यज्ञादिविधिपरा। इत्थं महाभागा विद्या यद्यज्ञादिभिरेतामवाप्तुमिच्छन्तीति। तथापि तु शमदमाद्युपेतः स्याद्विद्यार्थी 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' (बृ० ४/४/२३) इति विद्यासाधनत्वेन शमदमादीनां विधानाद्विहितानां चावश्यानुष्ठेयत्वात्।

नन्वत्रापि शमाद्युपेतो भूत्वा पश्यतीति वर्तमानापदेश उपलभ्यते, न विधिः। नेति ब्रूमः। तस्मादिति प्रकृतप्रशंसापरिग्रहाद्विधित्वप्रतीतेः। पश्येदिति च माध्यंदिना विस्पष्टमेव विधिमधीयते। तस्माद्यज्ञाद्यनपेक्षायामपि, शमादीन्यपेक्षितव्यानि। यज्ञादीन्यपि त्वपेक्षितव्यानीति यज्ञादिश्रुतेरेव। ननूक्तं 'यज्ञादिभिर्विविदिषन्ती'त्यत्र न

विधिरुपलभ्यत इति। सत्यमुक्तं, तथापि त्वपूर्वत्वात्संयोगस्य विधिः परिकल्प्यते। नह्ययं यज्ञादीनां विविदिषासंयोगः पूर्व प्राप्तो येनानूद्येत 'तस्मात्पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि' इत्येवमादिषु चाश्रुतविधिकेष्वपि वाक्येष्वपूर्वत्वाद्विधिं परिकल्प्य पौष्णं पेषणं विकृतौ प्रतीयेतेत्यादिविचारः प्रथमे तन्त्रे प्रवर्तितः। तथाचोक्तम् 'विधिर्वा धारणवत्' (ब्र० सू० ३/४/२०) इति। स्मृतिष्वपि भगवद्गीताद्यास्वनभिसंधाय फलमनुष्ठितानि यज्ञादीनि मुमुक्षोर्ज्ञानसाधनानि भवन्तीति प्रपञ्चितम्। तस्माद्यज्ञादीनि शमदमादीनि च यथाश्रमं सर्वाण्येवाश्रमकर्माणि विद्योत्पत्तावपेक्षितव्यानि। तत्राप्येवंविदिति विद्यासंयोगात्प्रत्यासन्नानि विद्यासाधनानि शमादीनि, विविदिषासंयोगात्तु बाह्यतराणि यज्ञादीनीति विवेक्तव्यम्॥२७॥

(१४३) सर्वान्नानुमत्यधिकरणम्॥७॥ (सू० २८-३१)

(४५३) सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात्॥२८॥

प्राणसंवादे श्रूयते छन्दोगानाम्—'न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवति' (छा० ५/२/१) इति। तथा वाजसनेयिनाम्—'न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतम्' (बृ० ६/१/१४) इति। सर्वमेवास्यादनीयमेव भवतीत्यर्थः। किमिदं सर्वान्नानुज्ञानं शमादिवद्विद्याङ्गं विधीयत, उत स्तुत्यर्थं इति संशये विधिरिति तावत्प्राप्तम्। तथाहि—प्रवृत्तिविशेषकर उपदेशो भवत्यतः प्राणविद्यासंनिधानात्तदङ्गत्वेनेयं नियमनिवृत्तिरुपदिश्यते। नन्वेवं सति भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रव्याघातः स्यात्। नैष दोषः। सामान्यविशेषभावाद्बाधोपपत्तेः। यथाप्राणिहिंसाप्रतिषेधस्य पशुसंज्ञपनविधिना बाधः। यथाच 'न कांचन परिहरेत्तद्व्रतम्' (छा० २/१३/२) इत्यनेन वामदेव्यविद्याविषयेण सर्वस्त्र्यपरिहारवचनेन तत्सामान्यविषयं गम्यागम्यविभागशास्त्रं बाध्यते। एवमनेनापि प्राणविद्याविषयेण सर्वान्नभक्षणवचनेन भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रं बाध्येतेति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नेदं सर्वान्नानुज्ञानं विधीयत इति। नह्यत्र विधायकः शब्द उपलभ्यते, 'न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवति' (छा० ४/२/१) इति वर्तमानापदेशात्। नचासत्यामपि विधिप्रतीतौ प्रवृत्तिविशेषकरत्वलोभेनैव विधिरभ्युपगन्तुं शक्यते। अपिच श्वादिमर्यादं प्राणस्यान्नमित्युक्त्वेदमुच्यते 'नैवंविदः

किंचिदनन्नं भवति' इति। नच श्वादिमर्यादमन्नं मानुषेण देहेनोपभोक्तुं शक्यते। शक्यते तु प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति विचिन्तयितुम्। तस्मात्प्राणान्नविज्ञानप्रशंसार्थोऽयमर्थवादो न सर्वान्नानुज्ञानविधिः। तद्दर्शयति 'सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये' इति। एतदुक्तं भवति—प्राणात्यय एव हि परस्यामापदि सर्वमन्नमदनीयत्वेनाभ्यनुज्ञायते, तद्दर्शनात्। तथाहि श्रुतिश्चाक्रायणस्यर्षेः कष्टायामवस्थायामभक्ष्यभक्षणे प्रवृत्तिं दर्शयति—'मटचीहतेषु कुरुषु' (छा० १/१०/१) इत्यस्मिन्ब्राह्मणे। चाक्रायणः किलर्षिरापद्गत इभ्येन सामिखादितान्कुल्माषांश्चखाद। अनुपानं तु तदीयमुच्छिष्टदोषात्प्रत्याचचक्षे। कारणं चात्रोवाच 'न वा अजीविष्यमिमानखादन्' (छा० १/१०/४) इति, 'कामो म उदपानम्' (छा० १/१०/४) इति च। पुनश्चोत्तरेद्युस्तानेव स्वपरोच्छिष्टान्पर्युषितान्कुल्माषान्भक्षयांबभूवेति। तदेतदुच्छिष्टोच्छिष्टपर्युषितभक्षणं दर्शयन्त्याः श्रुतेराशयातिशयो लक्ष्यते, प्राणात्ययप्रसङ्गे प्राणसंधारणायाभक्ष्यमपि भक्षयितव्यमिति। स्वस्थावस्थायां तु तन्न कर्तव्यं विद्यावतापीत्यनुपानप्रत्याख्यानाद्गम्यते। तस्मादर्थवादो 'न ह वा एवंविदि' (छा० ५/२/१) इत्येवमादिः ॥२८॥

(४५४) अबाधाच्च ॥२९॥

एवंच "सत्याहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिरित्येवमादि" भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रमबाधितं भविष्यति॥२९॥

(४५५) अपिच स्मर्यते ॥३०॥

अपि चापदि सर्वान्नभक्षणमपि स्मर्यते विदुषोऽविदुषश्चाविशेषेण—'जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' इति। तथा 'मद्यं नित्यं ब्राह्मणः', 'सुरापस्य ब्राह्मणस्योष्णामासिंचेयुः', 'सुरापाः कृमयो भवन्त्यभक्ष्यभक्षणात्' इति च स्मर्यते वर्जनमन्नस्य॥३०॥

(४५६) शब्दश्चातोऽकामकारे ॥३१॥

शब्दश्चानन्नस्य प्रतिषेधकः कामकारनिवृत्तिप्रयोजनः काठकानां संहितायां श्रूयते—'तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्' इति। सोऽपि 'न ह वा एवंविदि' (छा० ५/२/१) इत्यस्यार्थवादत्वादुपपन्नतरो भवति। तस्मादेवंजातीयका अर्थवादा न विधय इति॥३१॥

विश्रामः ॥२८॥

* * * *

(१४४) आश्रमकर्माधिकरणम् ॥८॥ (सू० ३२-३६)

(४५७) विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥३२॥

'सर्वापेक्षा च—' (ब्र० सू० ३/४/२६) इत्यत्राश्रमकर्मणां विद्यासाधनत्वमवधारितम्। इदानीं तु किममुमुक्षोरप्याश्रममात्रनिष्ठस्य विद्यामकामयमानस्य तान्यनुष्ठेयान्युताहो नेति चिन्त्यते। तत्र 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ० ४/४/२२) इत्यादिनाऽश्रमकर्मणां विद्यासाधनत्वेन विहितत्वाद्विद्यामनिच्छतः फलान्तरं कामयमानस्य नित्यान्यननुष्ठेयानि। अथ तस्याप्यनुष्ठेयानि न तर्ह्येषां विद्यासाधनत्वं, नित्यानित्यसंयोगविरोधादिति। अस्यां प्राप्तौ पठति—आश्रममात्रनिष्ठस्याप्यमुमुक्षोः कर्तव्यान्येव नित्यानि कर्माणि 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादिना विहितत्वात्। नहि वचनस्यातिभारो नाम कश्चिदस्ति ॥३२॥

अथ यदुक्तं नैवं सति विद्यासाधनत्वमेषां स्यादित्यत उत्तरं पठति—

(४५८) सहकारित्वेन च ॥३३॥

विद्यासहकारीणि चैतानि स्युर्विहितत्वादेव 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ० ४/४/२२) इत्यादिना। तदुक्तम्—'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३/४/२६) इति। नचेदं विद्यासहकारित्ववचनमाश्रमकर्मणां प्रयाजादिवद्विद्याफलविषयं मन्तव्यम्। अविधिलक्षणत्वाद्विद्यायाः। असाध्यत्वाच्च विद्याफलस्य। विधिलक्षणं हि साधनं दर्शपूर्णमासादि स्वर्गफलसिषाधयिषया सहकारिसाधनान्तरमपेक्षते, नैवं विद्या। तथाचोक्तम् 'अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा' (ब्र० सू० ३/४/२५) इति। तस्मादुत्पत्तिसाधनत्व एवैषां सहकारित्ववाचोयुक्तिः। न चात्र नित्यानित्यसंयोगविरोध आशङ्क्यः; कर्माभेदेऽपि संयोगभेदात्। नित्यो ह्येकः संयोगो यावज्जीवादिवाक्यकल्पितो न तस्य विद्याफलत्वम्। अनित्यस्त्वपरः संयोगः 'तमेतं वेदानुवचनेन' (बृ० ४/४/२२) इत्यादिवाक्यकल्पितस्तस्य विद्याफलत्वम्। यथैकस्यापि खादिरत्वस्य नित्येन संयोगेन क्रत्वर्थत्वमनित्येन संयोगेन पुरुषार्थत्वं, तद्वत् ॥३३॥

(४५९) सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ॥३४॥

सर्वथाप्याश्रमकर्मत्वपक्षे विद्यासहकारित्वपक्षे च त एवाग्निहोत्रादयो धर्मा

अनुष्ठेयाः। त एवेत्यवधारयन्नाचार्यः किं निवर्तयति? कर्मभेदशङ्कामिति ब्रूमः। यथा कुण्डपायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुह्वति' इत्यत्र नित्यादग्निहोत्रात्कर्मान्तरमुपदिश्यते, नैवमिह कर्मभेदोऽस्तीत्यर्थः। कुतः? उभयलिङ्गात्, श्रुतिलिङ्गात्स्मृतिलिङ्गाच्च। श्रुतिलिङ्गं तावत्—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ० ४/४/२२) इति सिद्धवदुत्पन्नरूपाण्येव यज्ञादीनि विविदिषायां विनियुङ्क्ते, नतु जुह्वतीत्यादिवदपूर्वमेषां रूपमुत्पादयतीति। स्मृतिलिङ्गमपि—'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः' (गी० ६/१) इति विज्ञातकर्तव्यताकमेव कर्म विद्योत्पत्त्यर्थं दर्शयति। यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत्संस्कारा इत्याद्या च संस्कारत्वप्रसिद्धिर्वैदिकेषु कर्मसु तत्संस्कृतस्य विद्योत्पत्तिमभिप्रेत्य स्मृतौ भवति। तस्मात्साध्विदमभेदावधारणम्॥३४॥

(४६०) अनभिभवं च दर्शयति॥३५॥

सहकारित्वस्यैवैतदुपोद्बलकं लिङ्गदर्शनमनभिभवं च दर्शयति श्रुतिर्ब्रह्मचर्यादिसाधनसंपन्नस्य रागादिभिः क्लेशैः 'एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते' (छा० ८/५/३) इत्यादिना। तस्माद्यज्ञादीन्याश्रमकर्माणि च भवन्ति, विद्यासहकारीणि चेति निश्चितम्॥ ३५॥

(१४५) विधुराधिकरणम्॥९॥ (सू० ३६-३९)

(४६१) अन्तरा चापि तु, तद्दृष्टेः॥३६॥

विधुरादीनां द्रव्यादिसंपद्रहितानां चान्यतमाश्रमप्रतिपत्तिहीनानामन्तरालवर्तिनां किं विद्यायामधिकारोऽस्ति, किं वा नास्तीति संशये, नास्तीति तावत्प्राप्तम्; आश्रमकर्मणां विद्याहेतुत्वावधारणादाश्रमकर्मासंभवाच्चैतेषामिति। एवं प्राप्त इदमाह—अन्तरा चापि त्वनाश्रमित्वेन वर्तमानोऽपि विद्यायामधिक्रियते। कुतः? तद्दृष्टेः। रैक्ववाचक्नवीप्रभृतीनामेवंभूतानामपि ब्रह्मवित्त्वश्रुत्युपलब्धेः॥ ३६॥

(४६२) अपि च स्मर्यते॥३७॥

संवर्तप्रभृतीनां च नग्नचर्यादियोगादनपेक्षिताश्रमकर्मणामपि महायोगित्वं स्मर्यत इतिहासे॥ ३७॥

ननु लिङ्गमिदं श्रुतिस्मृतिदर्शनमुपन्यस्तं, का नु खलु प्राप्तिरिति साऽभिधीयते—

(४६३) विशेषानुग्रहश्च ॥३८॥

तेषामपि च विधुरादीनामविरुद्धैः पुरुषमात्रसंबन्धिभिर्जपोपवासदेवताराधनादिभिर्धर्मविशेषैरनुग्रहो विद्यायाः संभवति। तथा च स्मृतिः—'जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते' इत्यसंभवदाश्रमकर्मणोऽपि जप्येऽधिकारं दर्शयति। जन्मान्तरानुष्ठितैरपि चाश्रमकर्मभिः संभवत्येव विद्याया अनुग्रहः। तथा च स्मृतिः—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (गी० ६/४५) इति जन्मान्तरसंचितानपि संस्कारविशेषाननुग्रहीतृन्विद्यायां दर्शयति। दृष्टार्था च विद्या प्रतिषेधाभावमात्रेणाप्यर्थिनमधिकरोति श्रवणादिषु। तस्माद्विधुरादीनामप्यधिकारो न विरुध्यते॥ ३८॥

(४६४) अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥३९॥

अतस्त्वन्तरालवर्तित्वादितरदाश्रमवर्तित्वं ज्यायो विद्यासाधनम्; श्रुतिस्मृतिसंदृष्टत्वात्, श्रुतिलिङ्गाच्च 'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च' (बृ० ४/४/९) इति, 'अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः। संवत्सरमनाश्रमी स्थित्वा कृच्छ्रमेकं चरेत्' इति च स्मृतिलिङ्गात्॥ ३९॥

(१४६) तद्भूताधिकरणम् ॥१०॥ (सू० ४०)

(४६५) तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः ॥४०॥

सन्त्यूर्ध्वरेतस आश्रमा इति स्थापितम्। तांस्तु प्राप्तस्य कथंचित्ततः प्रच्युतिरस्ति नास्ति वेति संशयः। पूर्वकर्मस्वनुष्ठानचिकीर्षया वा रागादिवशेन वा प्रच्युतोऽपि स्याद्विशेषाभावादिति।

एवं प्राप्त उच्यते—तद्भूतस्य तु प्रतिपन्नोर्ध्वरेतोभावस्य न कथंचिदप्यतद्भावो न ततः प्रच्युतिः स्यात्। कुतः? नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः। तथा हि—'अत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्' (छा० २/२३/१) इति 'अरण्यमियादिति पदं ततो न पुनरेयादित्युपनिषत्' इति, 'आचार्येणाभ्यनुज्ञातश्चतुर्णामेकमाश्रमम्। आविमोक्षाच्छरीरस्य सोऽनुतिष्ठेद्यथाविधि' इति चैवंजातीयको नियमः प्रच्युत्यभावं दर्शयति। यथा च 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्' (जा० ४) 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (जा०

४) इति चैवमादीन्यारोहरूपाणि वचांस्युपलभ्यन्ते, नैवं प्रत्यवरोहरूपाणि। न चैवमाचाराः शिष्टा विद्यन्ते। यत्तुपूर्वकर्मस्वनुष्ठानचिकीर्षया प्रत्यवरोहणमिति, तदसत्; 'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्' (गी० ३/३५) इति स्मरणात्, न्यायाच्च। यो हि यं प्रति विधीयते, स तस्य धर्मो, नतु यो येन स्वनुष्ठातुं शक्यते, चोदनालक्षणत्वाद्धर्मस्य। नच रागादिवशात्प्रच्युतिः; नियमशास्त्रस्य बलीयस्त्वात्। जैमिनेरपीत्यपिशब्देन जैमिनिबादरायणयोरत्र संप्रतिपत्तिं शास्ति प्रतिपत्तिदार्ढ्याय॥ ४०॥

(१४७) अधिकाराधिकरणम्॥ ११॥ (सू० ४१-४२)

(४६६) न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात्॥४१॥

यदि नैष्ठिको ब्रह्मचारी प्रमादादवकीर्येत, किं तस्य 'ब्रह्मचार्यवकीर्णी नैर्ऋतं गर्दभमालभेत' इत्येतत्प्रायश्चित्तं स्यादुत नेति? नेत्युच्यते; यदप्यधिकारलक्षणे निर्णीतं प्रायश्चित्तम् 'अवकीर्णिपशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात्' (जै० सू० ६/८/२१) इति, तदपि न नैष्ठिकस्य भवितुमर्हति। किं कारणम्? 'आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः। प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा' इत्यप्रतिसमाधेयपतनस्मरणाच्छिन्नशिरस इव प्रतिक्रियानुपपत्तेः, उपकुर्वाणस्य तु तादृक्पतनस्मरणाभावादुपपद्यते तत्प्रायश्चित्तम्॥ ४१॥

(४६७) उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम्॥४२॥

अपि त्वेक आचार्या उपपातकमेवैतदिति मन्यन्ते; यन्नैष्ठिकस्य गुरुदारादिभ्योऽन्यत्र ब्रह्मचर्यं विशीर्येत, न तन्महापातकं भवति; गुरुतल्पादिषु महापातकेष्वपरिगणनात्। तस्मादुपकुर्वाणवन्नैष्ठिकस्यापि प्रायश्चित्तस्य भावमिच्छन्ति, ब्रह्मचारित्वाविशेषादवकीर्णित्वाविशेषाच्च। अशनवत्। यथा ब्रह्मचारिणो मधुमांसाशने व्रतलोपः पुनःसंस्कारश्चैवमिति। ये हि प्रायश्चित्तस्याभावमिच्छन्ति, तेषां न मूलमुपलभ्यते, ये तु भावमिच्छन्ति, तेषां ब्रह्मचार्यवकीर्णीत्येतदविशेषश्रवणं मूलम्। तस्माद्भावो युक्ततरः। तदुक्तं प्रमाणलक्षणे—'समा विप्रतिपत्तिः स्यात्' (जै० सू० १/३/८) 'शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्' (जै० सू० १/३/९) इति। प्रायश्चित्ताभावस्मरणं त्वेवं सति यत्नगौरवोत्पादनार्थमिति व्याख्यातव्यम्। एवं भिक्षुवैखानसयोरपि 'वानप्रस्थो दीक्षाभेदे कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा महाकक्षं वर्धयेत्',

'भिक्षुर्वानप्रस्थवत्सोमवल्लिवर्जं स्वशास्त्रसंस्कारश्च' इत्येवमादि प्रायश्चित्तस्मरणमनुस्मर्तव्यम्॥४२॥

(१४८) बहिरधिकरणम्॥१२॥ (सू० ४३)

(४६८) बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च॥४३॥

यद्यूर्ध्वरेतसां स्वाश्रमेभ्यः प्रच्यवनं महापातकं, यदि वोपपातकमुभयथापि शिष्टैस्ते बहिष्कर्तव्याः। 'आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः। प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा' इति, 'आरूढपतितं विप्रं मण्डलाच्च विनिःसृतम्। उद्बद्धं कृमिदष्टं च स्पृष्ट्वा चान्द्रायणं चरेत्' इति चैवमादिनिन्दातिशयस्मृतिभ्यः, शिष्टाचाराच्च। नहि यज्ञाध्ययनविवाहादीनि तैः सहाचरन्ति शिष्टाः॥४३॥

(१४९) स्वाम्यधिकरणम्॥१३॥ (सू० ४४-४६)

(४६९) स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः॥४४॥

अङ्गेषूपासनेषु संशयः—किं तानि यजमानकर्माण्याहोस्विदृत्विक्कर्माणीति। किं तावत्प्राप्तम्? यजमानकर्माणीति। कुतः? फलश्रुतेः, फलं हि श्रूयते—'वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते' (छा० २/३/२) इत्यादि। तच्च स्वामिगामि न्याय्यम्; तस्य साङ्गे प्रयोगेऽधिकृतत्वात्, अधिकृताधिकारत्वाच्चैवंजातीयकस्य। फलं च कर्तर्युपासनानां श्रूयते—'वर्षत्यस्मै य उपास्ते' इत्यादि। नन्वृत्विजोऽपि फलं दृष्टम्—'आत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति' (बृ० १/३/२८) इति। न; तस्य वाचनिकत्वात्। तस्मात्स्वामिन एव फलवत्सूपासनेषु कर्तृत्वमित्यात्रेय आचार्यो मन्यते॥४४॥

(४७०) आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते॥४५॥

नैतदस्ति—स्वामिकर्माण्युपासनानीति, ऋत्विक्कर्माण्येतानि स्युरित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते। किं कारणम्? तस्मै हि साङ्गाय कर्मणे यजमानेनर्त्विक्परिक्रीयते; तत्प्रयोगान्तःपातीनि चोद्गीथाद्युपासनान्यधिकृताधिकारत्वात्। तस्माद्गोदोहनादिनियमवदेवर्त्विग्भिर्निर्वर्त्येरन्। तथा च 'तं ह बको दाल्भ्यो विदांचकार स ह नैमिषीयाणा-

मुद्गाता बभूव' (छा० १/२/१३) इत्युद्गातृकर्तृकतां विज्ञानस्य दर्शयति। यत्तूक्तं—कर्त्राश्रयं फलं श्रूयत इति,-नैष दोषः; परार्थत्वादृत्विजोऽन्यत्र वचनात्फलसंबन्धानुपपत्तेः ॥ ४५ ॥

(४७१) श्रुतेश्च ॥ ४६ ॥

'यां वै कांचन यज्ञ ऋत्विज आशिषमाशासत इति यजमानायैव तामाशासत इति होवाच' इति, 'तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात्कं ते काममागायानि' (छा० १/७/८-९) इति। तच्चर्त्विक्कर्तृकस्य विज्ञानस्य यजमानगामि फलं दर्शयति। तस्मादङ्गोपासनानामृत्विक्कर्मत्वसिद्धिः ॥ ४६ ॥

(१५०) सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् ॥ १४ ॥ (सू० ४७-४९)

(४७२) सहकार्यन्तरविधिः, पक्षेण तृतीयं, तद्वतो विध्यादिवत् ॥ ४७ ॥

'तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' (बृ० ३/५/१) इति बृहदारण्यके श्रूयते। तत्र संशयः—मौनं विधीयते न वेति। न विधीयत इति तावत्प्राप्तम्; बाल्येन तिष्ठासेदित्यत्रैव विधेरवसितत्वात्। न ह्यथ मुनिरित्यत्र विधायिका विभक्तिरुपलभ्यते; तस्मादयमनुवादो युक्तः। कुतः प्राप्तिरिति चेत्। मुनिपण्डितशब्दयोर्ज्ञानार्थत्वात्पाण्डित्यं निर्विद्येत्येवं प्राप्तं मौनम्। अपि चामौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मण इत्यत्र तावन्न ब्राह्मणत्वं विधीयते, प्रागेव प्राप्तत्वात्। तस्मादथ ब्राह्मण इति प्रशंसावादस्तथैवाथ मुनिरित्यपि भवितुमर्हति, समाननिर्देशत्वादिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—सहकार्यन्तरविधिरिति। विद्यासहकारिणो मौनस्य बाल्यपाण्डित्यवद्विधिरेवाश्रयितव्योऽपूर्वत्वात्। ननु पाण्डित्यशब्देनैव मौनस्यावगतत्वमुक्तम्। नैष दोषः। मुनिशब्दस्य ज्ञानातिशयार्थत्वात्। मननान्मुनिरिति च व्युत्पत्तिसंभवात्। 'मुनीनामप्यहं व्यासः' (गी० १०/३७) इति च प्रयोगदर्शनात्। ननु मुनिशब्द उत्तमाश्रमवचनोऽपि श्रूयते 'गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थम्' इत्यत्र। न। 'वाल्मीकिर्मुनिपुंगवः' इत्यादिषु व्यभिचारदर्शनात्। इतराश्रमसंनिधानात्तु पारिशेष्यात्तत्रोत्तमाश्रमोपादानं ज्ञानप्रधानत्वादुत्तमाश्रमस्य। तस्माद्बाल्यपाण्डित्यापेक्षया तृतीय-

मिदं मौनं ज्ञानातिशयरूपं विधीयते। यत्तु बाल्य एव विधेः पर्यवसानमिति; तथाप्यपूर्वत्वान्मुनित्वस्य विधेयत्वमाश्रीयते मुनिः स्यादिति। निर्वेदनीयत्वनिर्देशादपि मौनस्य बाल्यपाण्डित्यवद्विधेयत्वाश्रयणम्॥ तद्वतो विद्यावतः संन्यासिनः। कथं च विद्यावतः संन्यासिन इत्यवगम्यते। तदधिकारात् 'आत्मानं विदित्वा पुत्राद्येषणाभ्यो व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति। ननु सति विद्यावत्त्वे प्राप्नोत्येव तत्रातिशयः, किं मौनविधिनेत्यत आह—पक्षेणेति। एतदुक्तं भवति—यस्मिन्पक्षे भेददर्शनप्राबल्यान्न प्राप्नोति, तस्मिन्नैष विधिरिति। विध्यादिवत्। यथा—'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्येवंजातीयके विध्यादौ सहकारित्वेनाग्न्यन्वाधानादिकमङ्गजातं विधीयते। एवमविधिप्रधानेऽप्यस्मिन्विद्यावाक्ये मौनविधिरित्यर्थः॥४७॥

एवं बाल्यादिविशिष्टे कैवल्याश्रमे श्रुतिमति विद्यमाने कस्माच्छान्दोग्ये गृहिणोपसंहारः 'अभिसमावृत्य कुटुम्बे' (छा० ८/१५/१) इत्यत्र। तेन ह्युपसंहरंस्तद्विषयमादरं दर्शयतीति। अत उत्तरं पठति—

(४७३) कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः॥४८॥

तुशब्दो विशेषणार्थः। कृत्स्नभावोऽस्य विशेष्यते। बहुलायासानि हि बहून्याश्रमकर्माणि यज्ञादीनि तं प्रति कर्तव्यतयोपदिष्टान्याश्रमान्तरकर्माणि च यथासंभवमहिंसेन्द्रियसंयमादीनि तस्य विद्यन्ते। तस्माद्गृहमेधिनोपसंहारो न विरुध्यते॥४८॥

(४७४) मौनवदितरेषामप्युपदेशात्॥४९॥

यथा मौनं गार्हस्थ्यं चैतावाश्रमौ श्रुतिमन्तावेवमितरावपि वानप्रस्थगुरुकुलवासौ। दर्शिता हि पुरस्താच्छ्रुतिः—'तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः' (छा० २/२३/१) इत्याद्या। तस्माच्चतुर्णामप्याश्रमाणामुपदेशाविशेषात्तुल्यवद्विकल्पसमुच्चयाभ्यां प्रतिपत्तिः। इतरेषामिति द्वयोराश्रमयोर्बहुवचनं वृत्तिभेदापेक्षयाऽनुष्ठातृभेदापेक्षया वेति द्रष्टव्यम्॥४९॥

(१५१) अनाविष्काराधिकरणम्॥१५॥ (सू० ५०)

(४७५) अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्॥५०॥

'तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' (बृ० ३/५/१) इति बाल्य-

मनुष्ठेयतया श्रूयते। तत्र बालस्य भावः कर्म वा बाल्यमिति तद्धिते सति बालभावस्य वयोविशेषस्येच्छया संपादयितुमशक्यत्वाद्यथोपपादं मूत्रपुरीषत्वादिबालचरितमन्तर्गता वा भावविशुद्धिरप्ररूढेन्द्रियत्वं दम्भदर्पादिरहितत्वं वा बाल्यं स्यादिति संशयः। किं तावत्प्राप्तं कामचारवादभक्षणता यथोपपादमूत्रपुरीषत्वं च प्रसिद्धतरं लोके बाल्यमिति तद्ग्रहणं युक्तम्। ननु पतितत्वादिदोषप्राप्तेर्न युक्तं कामचारताद्याश्रयणम्। न। विद्यावतः संन्यासिनो वचनसामर्थ्याद्दोषनिवृत्तेः पशुहिंसादिष्विवेति।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते। न। वचनस्य गत्यन्तरसंभवात्। अविरुद्धे ह्यन्यस्मिन्बाल्यशब्दाभिलप्ये लभ्यमाने न विध्यन्तरव्याघातकल्पना युक्ता। प्रधानोपकाराय चाङ्गं विधीयते। ज्ञानाभ्यासश्च प्रधानमिह यतीनामनुष्ठेयम्। नच सकलायां बालचर्यायामङ्गीक्रियमाणायां ज्ञानाभ्यासः संभाव्यते। तस्मादान्तरो भावविशेषो बालस्याप्ररूढेन्द्रियत्वादिरिह बाल्यमाश्रीयते। तदाह—अनाविष्कुर्वन्निति। ज्ञानाध्ययनधार्मिकत्वादिभिरात्मानमविख्यापयन्दम्भदर्पादिरहितो भवेत्। यथा बालोऽप्ररूढेन्द्रियतया न परेषामात्मानमाविष्कर्तुमीहते, तद्वत्। एवं ह्यस्य वाक्यस्य प्रधानोपकार्यर्थानुगम उपपद्यते। तथाचोक्तं स्मृतिकारैः—'यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्। न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स ब्राह्मणः॥ गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत्। अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्'॥ 'अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारः' इति चैवमादि॥५०॥

(१५२) ऐहिकाधिकरणम्॥१६॥ (सू० ५१)

(४७६) ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्॥५१॥

'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३/४/२६) इत्यत आरभ्योच्चावचं विद्यासाधनमवधारितं, तत्फलं विद्या सिद्ध्यन्ती किमिहैव जन्मनि सिद्ध्यत्युत कदाचिदमुत्रापीति चिन्त्यते। किं तावत्प्राप्तम्। इहैवेति। किं कारणम्। श्रवणादिपूर्विका हि विद्या। नच कश्चिदमुत्र मे विद्या जायतामित्यभिसंधाय श्रवणादिषु प्रवर्तते। समान एव तु जन्मनि विद्याजन्माभिसंधायैतेषु प्रवर्तमानो दृश्यते। यज्ञादीन्यपि श्रवणादिद्वारेणैव विद्यां जनयन्ति, प्रमाणजन्यत्वाद्विद्यायाः। तस्मादैहिकमेव विद्याजन्मेति।

एवं प्राप्ते वदामः—ऐहिकं विद्याजन्म भवत्यसति अप्रस्तुतप्रतिबन्ध इति।

एतदुक्तं भवति—यदा प्रक्रान्तस्य विद्यासाधनस्य कश्चित्प्रतिबन्धो न क्रियत उपस्थितविपाकेन कर्मान्तरेण, तदेहैव विद्योत्पद्यते, यदा तु खलु तत्प्रतिबन्धः क्रियते, तदाऽमुत्रेति। उपस्थितविपाकत्वं च कर्मणो देशकालनिमित्तोपनिपाताद्भवति। यानि चैकस्य कर्मणो विपाचकानि देशकालनिमित्तानि, तान्येवान्यस्यापीति न नियन्तुं शक्यते। यतो विरुद्धफलान्यपि कर्माणि भवन्ति। शास्त्रमप्यस्य कर्मण इदं फलं भवतीत्येतावति पर्यवसितं न देशकालनिमित्तविशेषमपि संकीर्तयति। साधनवीर्यविशेषात्त्वतीन्द्रिया कस्यचिच्छक्तिराविर्भवति तत्प्रतिबद्धा परस्य तिष्ठति। नचाविशेषेण विद्यायामभिसंधिर्नोत्पद्यत इहामुत्र वा मे विद्या जायतामित्यभिसंधेर्निरङ्कुशत्वात्। श्रवणादिद्वारेणापि विद्योत्पद्यमाना प्रतिबन्धक्षयापेक्षयैवोत्पद्यते। तथाच श्रुतिर्दुर्बोधत्वमात्मनो दर्शयति—'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः। आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः' (क० २/७) इति। गर्भस्थ एव च वामदेवः प्रतिपेदे ब्रह्मभावमिति वदन्ती जन्मान्तरसंचितात्साधनाज्जन्मान्तरे विद्योत्पत्तिं दर्शयति। नहि गर्भस्थस्यैवैहिकं किंचित्साधनं संभाव्यते। स्मृतावपि—'अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति' (गी० ६/३७) इत्यर्जुनेन पृष्टो भगवान्वासुदेवः 'नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति (गी० ६/४०) इत्युक्त्वा पुनस्तस्य पुण्यलोकप्राप्तिं साधुकुले संभूतिं चाभिधायानन्तरम् 'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्' (गी० ६/४३) इत्यादिना 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (गी० ६/४५) इत्यन्तेनैतदेव दर्शयति। तस्मादैहिकमामुष्मिकं वा विद्याजन्म प्रतिबन्धक्षयापेक्षयेति स्थितम्॥५१॥

(१५३) मुक्तिफलाधिकरणम् ॥१७॥ (सू० ५२)

(४७७) एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥५२॥

यथा मुमुक्षोर्विद्यासाधनावलम्बिनः साधनवीर्यविशेषाद्विद्यालक्षणे फल ऐहिकामुष्मिकफलत्वकृतो विशेषप्रतिनियमो दृष्टः। एवं मुक्तिलक्षणेऽप्युत्कर्षापकर्षकृतः कश्चिद्विशेषप्रतिनियमः स्यादित्याशङ्क्याह—एवं मुक्तिफलानियम इति। न खलु मुक्तिफले कश्चिदेवंभूतो विशेषप्रतिनियम आशङ्कितव्यः। कुतः ?—तदवस्थावधृतेः। मुक्त्यवस्था हि सर्ववेदान्तेष्वेकरूपैवावधार्यते। ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था, नच ब्रह्मणोऽनेकाकारयोगोऽस्ति। एकलिङ्गत्वावधारणात् 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३/८/८), 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३/९/२६), 'यत्र नान्यत्पश्यति' (छा० ७/२४/१),

'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मु० २/२/११), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २/४/६), 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमृतोऽमरोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४/४/२५), 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४/५/१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

अपिच विद्या साधनं स्ववीर्यविशेषात्स्वफल एव विद्यायां कंचिदतिशयमासञ्जयेन्न विद्याफले मुक्तौ। तद्ध्यसाध्यं नित्यसिद्धस्वभावमेव विद्ययाधिगम्यत इत्यसकृदवादिष्म। नच तस्यामप्युत्कर्षनिकर्षात्मकोऽतिशय उपपद्यते, निकृष्टाया विद्यात्वाभावादुत्कृष्टैव हि विद्या भवति। तस्मात्तस्यां चिराचिरोत्पत्तिरूपोऽतिशयो भवन्भवेत्। नतु मुक्तौ कश्चिदतिशयसंभवोऽस्ति। विद्याभेदाभावादपि तत्फलभेदनियमाभावः कर्मफलवत्। नहि मुक्तिसाधनभूताया विद्यायाः कर्मणामिव भेदोऽस्तीति। सगुणासु तु विद्यासु—'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३/१४/२) इत्याद्यासु गुणावापोद्वापवशाद्भेदोपपत्तौ सत्यामुपपद्यते यथास्वं फलभेदनियमः कर्मफलवत्। तथाच लिङ्गदर्शनम्—'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति। नैवं निर्गुणायां विद्यायां, गुणाभावात्। यथाच स्मृतिः—'नहि गतिरधिकास्ति कस्यचित्सति हि गुणे प्रवदन्त्यतुल्यताम्' इति। तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेरिति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति॥५२॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः॥४॥

॥इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्येसाधनाख्यः तृतीयोऽध्यायः॥

तृतीयाध्यायस्य पादशोऽधिकरणसूत्राणां सङ्ग्रहः

पादः	अधिकरणानि	सूत्राणि
प्रथमः	६	२७
द्वितीयः	८	४१
तृतीयः	३६	६६
चतुर्थः	१७	५२
योगः	६७	१८६

ॐ

॥ अथ फलनामचतुर्थोऽध्यायः ॥

प्रथमः पादः

(अयं चाध्यायः सगुणनिर्गुणविद्ययोः फलविशेषनिर्णयार्थः)

(१५७) आवृत्त्यधिकरणम् ॥१॥ (सू० १-२)

(४७८) आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥

तृतीयेऽध्याये परापरासु विद्यासु साधनाश्रयो विचारः प्रायेणात्यगात्। अथेह चतुर्थेऽध्याये फलाश्रय आगमिष्यति। प्रसङ्गागतं चान्यदपि किंचिच्चिन्तयिष्ते। प्रथमं तावत्कतिभिश्चिदधिकरणैः साधनाश्रयविचारशेषमेवानुसरामः।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० ४/५/६), 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' (बृ० ४/४/२१), 'सोऽन्येष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८/७/१), इति चैवमादिश्रवणेषु संशयः—किं सकृत्प्रत्ययः कर्तव्य आहोस्विदावृत्त्येति। किं तावत्प्राप्तं सकृत्प्रत्ययः स्यात्प्रयाजादिवत्। तावता शास्त्रस्य कृतार्थत्वात्। अश्रूयमाणायां ह्यावृत्तौ क्रियमाणायामशास्त्रार्थः कृतो भवेत्। नन्वसकृदुपदेशा उदाहृताः ''श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य'' इत्येवमादयः। एवमपि यावच्छब्दमावर्तयेत्सकृच्छ्रवणं सकृन्मननं सकृन्निदिध्यासनं चेति नातिरिक्तम्। सकृदुपदेशेषु तु वेदोपासीतेत्येवमादिष्वनावृत्तिरिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—प्रत्ययावृत्तिः कर्तव्या। कुतः ? असकृदुपदेशात् 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्येवंजातीयको ह्यसकृदुपदेशः प्रत्ययावृत्तिं सूचयति। ननूक्तं यावच्छब्दमेवावर्तयेन्नाधिकमिति। न। दर्शनपर्यवसितत्वादेषाम्। दर्शनपर्यवसानानि हि श्रवणादीन्यावर्त्यमानानि दृष्टार्थानि भवन्ति। यथाऽवघातादीनि तण्डुलादिनिष्पत्तिपर्यवसानानि, तद्वत्।

अपि चोपासनं निदिध्यासनं चेत्यन्तर्णीतावृत्तिगुणैव क्रियाभिधीयते। तथाहि—लोके गुरुमुपास्ते राजानमुपास्त इति च यस्तात्पर्येण गुर्वादीननुवर्तते, स एवमुच्यते।

तथा ध्यायति प्रोषितनाथा पतिमिति या निरन्तरस्मरणा पतिं प्रति सोत्कण्ठा, सैवमभिधीयते। विद्युपास्त्योश्च वेदान्तेष्वव्यतिरेकेण प्रयोगो दृश्यते। क्वचिद्विदिनोपक्रम्योपासिनोपसंहरति, यथा—'यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्तः' (छा० ४/१/४) इत्यत्र 'अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से' (छा० ५/२/२) इति। क्वचिच्चोपासिनोपक्रम्य विदिनोपसंहरति यथा—'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छा० ३/१८/१) इत्यत्र 'भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद' (छा० ३/१८/३) इति। तस्मात्सकृदुपदेशेष्वप्यावृत्तिसिद्धिः। असकृदुपदेशस्त्वावृत्तेः सूचकः॥१॥

(४७९) लिङ्गाच्च॥२॥

लिङ्गमपि प्रत्ययावृत्तिं प्रत्याययति। तथा ह्युद्गीथविज्ञानं प्रस्तुत्य 'आदित्य उद्गीथः' (छा० १/५/१) इत्येतदेकपुत्रतादोषेणापोद्य 'रश्मींस्त्वं पर्यावर्तयात्' (छा० १/५/२) इति रश्मिबहुत्वविज्ञानं बहुपुत्रतायै विदधत्सिद्धवत्प्रत्ययावृत्तिं दर्शयति। तस्मात्तत्सामान्यात्सर्वप्रत्ययेष्वावृत्तिसिद्धिः।

अत्राह—भवतु नाम साध्यफलेषु प्रत्ययेष्वावृत्तिः। तेष्वावृत्तिसाध्यस्यातिशयस्य संभवात्। यस्तु परब्रह्मविषयः प्रत्ययो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमेवात्मभूतं परं ब्रह्म समर्पयति, तत्र किमर्थावृत्तिरिति। सकृच्छ्रुतौ च ब्रह्मात्मत्वप्रतीत्यनुपपत्तेरावृत्त्यभ्युपगम इति चेत्। न। आवृत्तावपि तदनुपपत्तेः। यदि हि 'तत्त्वमसि' (छा० ६/८/७) इत्येवंजातीयकं वाक्यं सकृच्छ्रूयमाणं ब्रह्मात्मत्वप्रतीतिं नोत्पादयेत्ततस्तदेवावर्त्यमानमुत्पादयिष्यतीति का प्रत्याशा स्यात्। अथोच्येत न केवलं वाक्यं कंचिदर्थं साक्षात्कर्तुं शक्नोत्यतो युक्त्यपेक्षं वाक्यमनुभावयिष्यति ब्रह्मात्मत्वमिति। तथाप्यावृत्त्यानर्थक्यमेव। साऽपि हि युक्तिः सकृत्प्रवृत्तैव स्वमर्थमनुभावयिष्यति। अथापि स्याद्युक्त्या वाक्येन च सामान्यविषयमेव विज्ञानं क्रियते, न विशेषविषयम्। यथास्ति मे हृदये शूलमित्यतो वाक्याद्गात्रकम्पादिलिङ्गाच्च शूलसद्भावसामान्यमेव परः प्रतिपद्यते, न विशेषमनुभवति यथा स एव शूली। विशेषानुभवश्चाविद्याया निवर्तकस्ततस्तदर्थावृत्तिरिति चेत्। न। असकृदपि तावन्मात्रे क्रियमाणे विशेषविज्ञानोत्पत्त्यसंभवात्। नहि सकृत्प्रयुक्ताभ्यां शास्त्रयुक्तिभ्यामनवगतो विशेषः शतकृत्वोऽपि प्रयुज्य-

मानाभ्यामवगन्तुं शक्यते। तस्माद्यदि शास्त्रयुक्तिभ्यां विशेषः प्रतिपाद्यते, यदि वा सामान्यमेवोभयथापि सकृत्प्रवृत्ते एव ते स्वकार्यं कुरुत इत्यावृत्त्यनुपयोगः। नच सकृत्प्रयुक्ते शास्त्रयुक्ती कस्यचिदप्यनुभवं नोत्पादयत इति शक्यते नियन्तुं, विचित्रप्रज्ञत्वात्प्रतिपत्तॄणाम्। अपि चानेकांशोपेते लौकिके पदार्थे सामान्यविशेषवत्येकेनावधानेनैकमंशमवधारयत्यपरेणापरमिति स्यादप्यभ्यासोपयोगो, यथा दीर्घप्रपाठकग्रहणादिषु। नतु निर्विशेषे ब्रह्मणि सामान्यविशेषरहिते चैतन्यमात्रात्मके प्रमोत्पत्तावभ्यासापेक्षा युक्तेति।

अत्रोच्यते—भवेदावृत्त्यानर्थक्यं तं प्रति, यस्तत्त्वमसीति सकृदुक्तमेव ब्रह्मात्मत्वमनुभवितुं शक्नुयात्। यस्तु न शक्नोति, तं प्रत्युपयुज्यत एवावृत्तिः। तथाहि छान्दोग्ये 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६/८/७) इत्युपदिश्य 'भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु' (छा० ६/८/७) इति पुनः पुनः परिचोद्यमानस्तत्तदाशङ्काकारणं निराकृत्य तत्त्वमसीत्येवासकृदुपदिशति। तथाच 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० ४/५/६) इत्यादि दर्शितम्। ननूक्तं सकृच्छ्रुतं चेत्तत्त्वमसिवाक्यं स्वमर्थमनुभावयितुं न शक्नोति, तत आवर्त्यमानमपि नैव शक्ष्यतीति। नैष दोषः। नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम। दृश्यन्ते हि सकृच्छ्रुताद्वाक्यान्मन्दप्रतीतं वाक्यार्थमावर्तयन्तस्तत्तदाभासव्युदासेन सम्यक्प्रतिपद्यमानाः। अपिच तत्त्वमसीत्येतद्वाक्यं त्वंपदार्थस्य तत्पदार्थभावमाचष्टे। तत्पदेन च प्रकृतं सद्ब्रह्मेक्षितृ जगतो जन्मादिकारणमभिधीयते 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २/१/१), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३/९/२८), 'अदृष्टं द्रष्टृ' (बृ० ३/८/११), 'अविज्ञातं विज्ञातृ' (बृ० ३/८/११), 'अजमजरममरम्' 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३/८/८) इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धम्। तत्राजादिशब्दैर्जन्मादयो भावविकारा निवर्तिताः। अस्थूलादिशब्दैश्च स्थौल्यादयो द्रव्यधर्माः। विज्ञानादिशब्दैश्च चैतन्यप्रकाशात्मकत्वमुक्तम्। एष व्यावृत्तसर्वसंसारधर्मकोऽनुभवात्मको ब्रह्मसंज्ञकस्तत्पदार्थो वेदान्ताभियुक्तानां प्रसिद्धः। तथा त्वंपदार्थोऽपि प्रत्यगात्मा श्रोता देहादारभ्य प्रत्यगात्मतया संभाव्यमानश्चैतन्यपर्यन्तत्वेनावधारितः। तत्र येषामेतौ पदार्थावज्ञानसंशयविपर्ययप्रतिबद्धौ, तेषां तत्त्वमसीत्येतद्वाक्यं स्वार्थे प्रमां नोत्पादयितुं शक्नोति, पदार्थज्ञानपूर्वकत्वाद्वाक्यार्थज्ञानस्येत्यतस्तान्प्रत्येष्टव्यः पदार्थविवेकप्रयोजनः शास्त्रयुक्त्यभ्यासः।

यद्यपि च प्रतिपत्तव्य आत्मा निरंशस्तथाप्यध्यारोपितं तस्मिन्बह्वंशत्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादिलक्षणं, तत्रैकेनावधानेनैकमंशमपोहत्यापरेणापरमिति युज्यते तत्र क्रमवती प्रतिपत्तिः। तत्तु पूर्वरूपमेवात्मप्रतिपत्तेः। येषां पुनर्निपुणमतीनां नाज्ञानसंशयविपर्ययलक्षणः पदार्थविषयः प्रतिबन्धोऽस्ति, ते शक्नुवन्ति सकृदुक्तमेव तत्त्वमसिवाक्यार्थमनुभवितुमिति तान्प्रत्यावृत्त्यानर्थक्यमिष्टमेव। सकृदुत्पन्नैव ह्यात्मप्रतिपत्तिरविद्यां निवर्तयतीति नात्र कश्चिदपि क्रमोऽभ्युपगम्यते। सत्यमेवं युज्येत, यदि कस्यचिदेवं प्रतिपत्तिर्भवेत्। बलवती ह्यात्मनो दुःखित्वादिप्रतिपत्तिः। अतो न दुःखित्वाद्यभावं कश्चित्प्रतिपद्यत इति चेत्। न। देहाद्यभिमानवद्दुःखित्वाद्यभिमानस्य मिथ्याभिमानत्वोपपत्तेः। प्रत्यक्षं हि देहे छिद्यमाने दह्यमाने वाऽहं छिद्ये दह्य इति च मिथ्याभिमानो दृष्टः। तथा बाह्यतरेष्वपि पुत्रमित्रादिषु संतप्यमानेष्वहमेव संतप्य इत्यध्यारोपो दृष्टः। तथा दुःखित्वाद्यभिमानोऽपि स्यात्। देहादिवदेव चैतन्याद्बहिरुपलभ्यमानत्वाद्दुःखित्वादीनां सुषुप्तादिषु चाननुवृत्तेः। चैतन्यस्य तु सुषुप्तेऽप्यनुवृत्तिमामनन्ति 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति' (बृ० ४/३/२३) इत्यादिना। तस्मात्सर्वदुःखविनिर्मुक्तैकचैतन्यात्मकोऽहमित्येष आत्मानुभवः। नचैवमात्मानमनुभवतः किंचिदन्यत्कृत्यमवशिष्यते। तथाच श्रुतिः—'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः' (बृ० ४/४/२२) इत्यात्मविदः कर्तव्याभावं दर्शयति। स्मृतिरपि—'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते' (गी० ३/१७) इति। यस्य तु नैषोऽनुभवो द्रागिव जायते, तं प्रत्यनुभवार्थ एवावृत्त्यभ्युपगमः। तत्रापि न तत्त्वमसिवाक्यार्थात्प्रच्याव्यावृत्तौ प्रवर्तयेत्। नहि वरघाताय कन्यामुद्वाहयन्ति। नियुक्तस्य चास्मिन्नधिकृतोऽहं कर्ता मयेदं कर्तव्यमित्यवश्यं ब्रह्मप्रत्ययाद्विपरीतप्रत्यय उत्पद्यते। यस्तु स्वयमेव मन्दमतिरप्रतिभानात्तं वाक्यार्थं जिहासेत्तस्यैतस्मिन्नेवं वाक्यार्थे स्थिरीकार आवृत्त्यादिवाचोयुक्त्याभ्युपेयते। तस्मात्परब्रह्मविषयेऽपि प्रत्यये तदुपायोपदेशेष्वावृत्तिसिद्धिः॥२॥

विश्रामः॥२९॥

* * * *

(१५५) आत्मत्वोपासनाधिकरणम् ॥२॥ (सू० ३)

(४८०) आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च॥३॥

यः शास्त्रोक्तविशेषणः परमात्मा, स किमहमिति ग्रहीतव्यः, किंवा मदन्य इत्येतद्विचारयति। कथं पुनरात्मशब्दे प्रत्यगात्मविषये श्रूयमाणे संशय इति। उच्यते— अयमात्मशब्दो मुख्यः शक्यतेऽभ्युपगन्तुं सति जीवेश्वरयोरभेदसंभवे, इतरथा तु गौणोऽयमभ्युपगन्तव्य इति मन्यते। किं तावत्प्राप्तं नाहमिति ग्राह्यः। नह्यपहतपाप्मत्वादिगुणो विपरीतगुणत्वेन शक्यते ग्रहीतुं, विपरीतगुणो वाऽपहतपाप्मत्वादिगुणत्वेन। अपहतपाप्मादिगुणश्च परमेश्वरस्तद्विपरीतगुणस्तु शारीरः। ईश्वरस्य च संसार्यात्मत्व ईश्वराभावप्रसङ्गः। ततः शास्त्रानर्थक्यम्। संसारिणोऽपीश्वरात्मत्वेऽधिकार्यभावाच्छास्त्रानर्थक्यमेव, प्रत्यक्षादिविरोधश्च। अन्यत्वेऽपि तादात्म्यदर्शनं शास्त्रात्कर्तव्यं प्रतिमादिष्विव विष्ण्वादिदर्शनमिति चेत् काममेवं भवतु। नतु संसारिणो मुख्य आत्मेश्वर इत्येतन्नः प्रापयितव्यमिति

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आत्मेत्येव परमेश्वरः प्रतिपत्तव्यः। तथाहि परमेश्वरप्रक्रियायां जाबाला आत्मत्वेनैवैतमुपगच्छन्ति—'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि भगवो देवते' इति। तथान्येऽपि 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्येवमादय आत्मत्वोपगमाः द्रष्टव्याः। ग्राहयन्ति चात्मत्वेनैवेश्वरं वेदान्तवाक्यानि 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३/४/१), 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३/७/३), 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६/८/७) इत्येवमादीनि। यदुक्तं प्रतीकदर्शनमिदं विष्णुप्रतिमान्यायेन भविष्यतीति, तदयुक्तं; गौणत्वप्रसङ्गात्। वाक्यवैरूप्याच्च। यत्र हि प्रतीकदृष्टिरभिप्रेयते, सकृदेव तत्र वचनं भवति—यथा—'मनो ब्रह्म' (छा० ३/१८/१) 'आदित्यो ब्रह्म' (छा० ३/१९/१) इत्यादि। इह पुनस्त्वमहमस्म्यहं च त्वमसीत्याह, अतः प्रतीकश्रुतिवैरूप्यादभेदप्रतिपत्तिः। भेददृष्ट्यपवादाच्च। तथाहि—'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद' (बृ० १/४/१०), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४/४/१९ कठ० ४/१०), 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ० ४/५/७) इत्येवमाद्या भूयसी श्रुतिर्भेददर्शनमपवदति। यत्तूक्तं न

विरुद्धगुणयोरन्योऽन्यात्मत्वसंभव इति। नायं दोषः। विरुद्धगुणताया मिथ्यात्वोपपत्तेः। यत्पुनरुक्तमीश्वराभावप्रसङ्ग इति। तदसत्। शास्त्रप्रामाण्यादनभ्युपगमाच्च। न हीश्वरस्य संसार्यात्मत्वं प्रतिपाद्यत इत्यभ्युपगच्छामः, किं तर्हि संसारिणः संसारित्वापोहेनेश्वरात्मत्वं प्रतिपिपादयिषितमिति। एवं च सत्यद्वैतेश्वरस्यापहतपाप्मत्वादिगुणता, विपरीतगुणता त्वितरस्य मिथ्येति व्यवतिष्ठते। यदप्युक्तमधिकार्यभावःप्रत्यक्षादिविरोधश्चेति। तदप्यसत्। प्राक्प्रबोधात्संसारित्वाभ्युपगमात्। तद्विषयत्वाच्च प्रत्यक्षादिव्यवहारस्य। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २/४/१४) इत्यादिना हि प्रबोधे प्रत्यक्षाद्यभावं दर्शयति। प्रत्यक्षाद्यभावे श्रुतेरप्यभावप्रसङ्ग इति चेत्। न। इष्टत्वात्। 'अत्र पिताऽपिता भवति' (बृ० ४/३/२२) इत्युपक्रम्य 'वेदा अवेदाः' (बृ० ४/३/२२) इति वचनादिष्यत एवास्माभिः प्रबोधे। कस्य पुनरयमप्रबोध इति चेत्। यस्त्वं पृच्छसि तस्य त इति वदामः। नन्वहमीश्वर एवोक्तः श्रुत्या, यद्येवं प्रतिबुद्धोऽसि नास्ति कस्यचिदप्रबोधः। योऽपि दोषश्चोद्यते कैश्चिदविद्यया किलात्मनः सद्वितीयत्वाददद्वैतानुपपत्तिरिति सोऽप्येतेन प्रत्युक्तः। तस्मादात्मेत्येवेश्वरे मनो दधीत॥३॥

(१५६) प्रतीकाधिकरणम्॥३॥ (सू० ४)

(४८१) न प्रतीके नहि सः॥४॥

'मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेति' (छा० ३/१८/१), तथा 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः (छा० ३/१९/१), 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७/१/५) इत्येवमादिषु प्रतीकोपासनेषु संशयः—किं तेष्वप्यात्मग्रहः कर्तव्यो न वेति। किं तावत्प्राप्तम्। तेष्वप्यात्मग्रह एव युक्तः। कस्मात्। ब्रह्मणः श्रुतिष्वात्मत्वेन प्रसिद्धत्वात्प्रतीकानामपि ब्रह्मविकारत्वाद्ब्रह्मत्वे सत्यात्मत्वोपपत्तेरिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न प्रतीकेष्वात्ममतिं बध्नीयात्। नहि स उपासकः प्रतीकानि व्यस्तान्यात्मत्वेनाकलयेत्। यत्पुनर्ब्रह्मविकारत्वात्प्रतीकानां ब्रह्मत्वं ततश्चात्मत्वमिति। तदसत्। प्रतीकाभावप्रसङ्गात्। विकारस्वरूपोपमर्देन हि नामादिजातस्य ब्रह्मत्वमेवाश्रितं भवति। स्वरूपोपमर्दे च नामादीनां कुतः प्रतीकत्वमात्मग्रहो वा। नच ब्रह्मण आत्मत्वाद्ब्रह्मदृष्ट्युपदेशेष्वात्मदृष्टिः कल्प्या। कर्तृत्वाद्यनिराकरणात्। कर्तृत्वादिसर्वसंसारधर्मनिराकरणे हि ब्रह्मण आत्मत्वोपदेशः। तदनिराकरणेन चोपासनविधानम्।

अतश्चोपासकस्य प्रतीकैः समत्वादात्मग्रहो नोपपद्यते। नहि रुचकस्वस्तिकयोरितरेतरात्मत्वमस्ति। सुवर्णात्मत्वेनैव तु ब्रह्मात्मत्वेनैकत्वे प्रतीकाभावप्रसङ्गमवोचाम। अतो न प्रतीकेष्वात्मदृष्टिः क्रियते॥४॥

(१५७) ब्रह्मदृष्ट्यधिकरणम् ॥४॥ (सू० ५)

(४८२) ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्॥५॥

तेष्वेवोदाहरणेष्वन्यः संशयः—किमादित्यादिदृष्टयो ब्रह्मण्यध्यसितव्याः, किंवा ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिष्विति। कुतः संशयः ? सामानाधिकरण्ये कारणानवधारणात्। अत्र हि ब्रह्मशब्दस्यादित्यादिशब्दैः सामानाधिकरण्यमुपलभ्यते। आदित्यो ब्रह्म, प्राणो ब्रह्म, विद्युद्ब्रह्मेत्यादिसमानविभक्तिनिर्देशात्। न चात्राञ्जसं सामानाधिकरण्यमवकल्पते। अर्थान्तरवचनत्वाद्ब्रह्मादित्यादिशब्दानाम्। नहि भवति गौरश्व इति सामानाधिकरण्यम्। ननु प्रकृतिविकारभावाद्ब्रह्मादित्यादीनां मृच्छरावादिवत्सामानाधिकरण्यं स्यात्। नेत्युच्यते। विकारप्रविलयो ह्येवं प्रकृतिसामाधिकरण्यात्स्यात्। ततश्च प्रतीकाभावप्रसङ्गमवोचाम। परमात्मवाक्यं चेदं तदानीं स्यात्ततश्चोपासनाधिकारो बाध्येत। परिमितविकारोपादानं च व्यर्थम्। तस्माद्ब्राह्मणोऽग्निर्वैश्वानर इत्यादिवदन्यत्रान्यदृष्ट्यध्यासे सति क्व किंदृष्टिरध्यस्यतामिति संशयः। तत्रानियमो, नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादित्येवं प्राप्तम्। अथवादित्यादिदृष्टय एव ब्रह्मणि कर्तव्या इत्येवं प्राप्तम्। एवं ह्यादित्यादिदृष्टिभिर्ब्रह्मोपासितं भवति, ब्रह्मोपासनं च फलवदिति शास्त्रमर्यादा। तस्मान्न ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिष्विति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मदृष्टिरेवादित्यादिषु स्यादिति। कस्मात्? उत्कर्षात्। एवमुत्कर्षेणादित्यादयो दृष्टा भवन्ति। उत्कृष्टदृष्टेस्तेष्वध्यासात्। तथाच लौकिको न्यायोऽनुगतो भवति। उत्कृष्टदृष्टिर्हि निकृष्टेऽध्यसितव्येति लौकिको न्यायः। यथा राजदृष्टिः क्षत्तरि, स चानुसर्तव्यः। विपर्यये प्रत्यवायप्रसङ्गात्। नहि क्षत्तृदृष्टिपरिगृहीतो राजा निकर्षं नीयमानः श्रेयसे स्यात्। ननु शास्त्रप्रामाण्यादनाशङ्कनीयोऽत्र प्रत्यवायप्रसङ्गो, नच लौकिकेन न्यायेन शास्त्रीया दृष्टिर्नियन्तुं युक्तेति। अत्रोच्यते—निर्धारिते शास्त्रार्थ एतदेवं स्यात्। संदिग्धे तु तस्मिंस्तन्निर्णयं प्रति लौकिकोऽपि न्याय आश्रीयमाणो न विरुध्यते। तेन चोत्कृष्टदृष्ट्यध्यासे शास्त्रार्थेऽवधार्यमाणे निकृष्टदृष्टिमध्यस्यन्प्रत्यवे-

यादिति श्लिष्यते। प्राथम्याच्चादित्यादिशब्दानां मुख्यार्थत्वमविरोधाद्ग्रहीतव्यम्। तैः स्वार्थवृत्तिभिरवरुद्धायां बुद्धौ पश्चादवतरतो ब्रह्मशब्दस्य मुख्यया वृत्त्या सामानाधिकरण्यासंभवाद्ब्रह्मदृष्टिविधानार्थतैवावतिष्ठते। इतिपरत्वादपि ब्रह्मशब्दस्यैष एवार्थो न्याय्यः। तथाहि 'ब्रह्मेत्यादेशः', 'ब्रह्मेत्युपासीत', 'ब्रह्मेत्युपास्ते' इति च सर्वत्रेति परं ब्रह्मशब्दमुच्चारयति शुद्धांस्त्वादित्यादिशब्दान्। ततश्च यथा शुक्तिकां रजतमिति प्रत्येतीत्यत्र शुक्तिवचन एव शुक्तिकाशब्दो, रजतशब्दस्तु रजतप्रतीतिलक्षणार्थः। प्रत्येत्येव हि केवलं रजतमिति नतु तत्र रजतमस्ति। एवमत्राप्यादित्यादीन्ब्रह्मेति प्रतीयादिति गम्यते। वाक्यशेषोऽपि च द्वितीयानिर्देशेनादित्यादीनेवोपास्तिक्रियया व्याप्यमानान्दर्शयति—'स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ३/१९/४), 'यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७/२/२), 'यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७/४/३) इति च।

यत्तूक्तं ब्रह्मोपासनमेवात्रादरणीयं फलत्वायेति। तदयुक्तम्। उक्तेन न्यायेनादित्यादीनामेवोपास्यत्वावगमात्। फलं त्वतिथ्याद्युपासन इव आदित्याद्युपासनेऽपि ब्रह्मैव दास्यति, सर्वाध्यक्षत्वात्। वर्णितं चैतत् 'फलमत उपपत्तेः' (ब्र० सू० ३/२/३८) इत्यत्र। ईदृशं चात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं, यत्प्रतीकेषु तद्दृष्ट्यध्यारोपणं प्रतिमादिष्विव विष्ण्वादीनाम्॥५॥

(१५८) आदित्यादिमत्यधिकरणम्॥५॥ (सू० ६)

(४८३) आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः॥६॥

'य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत' (छा० १/३/१), 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २/२/१), 'वाचि सप्तविधं सामोपासीत' (छा० २/८/१), 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १/६/१) इत्येवमादिष्वङ्गावबद्धेषूपासनेषु संशयः किमादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टयो विधीयन्ते, किंवोद्गीथादिष्वेवादित्यादिदृष्टय इति। तत्रानियमो, नियमकारणाभावादिति प्राप्तम्। नह्यत्र ब्रह्मण इव कस्यचिदुत्कर्षविशेषोऽवधार्यते। ब्रह्म हि समस्तजगत्कारणत्वादपहतपाप्मत्वादिगुणयोगाच्चादित्यादिभ्य उत्कृष्टमिति शक्यमवधारयितुं, न त्वादित्योद्गीथादीनां विकारत्वाविशेषात्किंचिदुत्कर्षविशेषावधारणे कारणमस्ति। अथवा नियमेनोद्गीथादिमतय आदित्यादिष्वध्यस्येरन्। कस्मात्? कर्मा-

त्मकत्वादुद्गीथादीनां कर्मणश्च फलप्राप्तिप्रसिद्धेः। उद्गीथादिमतिभिरुपास्यमाना आदित्यादयः कर्मात्मकाः सन्तः फलहेतवो भविष्यन्ति। तथाच 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १/६/१) इत्यत्र 'तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम' (छा० १/६/१) इत्यृक्शब्देन पृथिवीं निर्दिशति, सामशब्देनाग्निं, तच्च पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामदृष्टिचिकीर्षायामवकल्पते, न ऋक्सामयोः पृथिव्यग्निदृष्टिचिकीर्षायाम्। क्षत्तरि हि राजदृष्टिकरणाद्राजशब्द उपचर्यते, न राजनि क्षत्तृशब्दः। अपि च 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २/२/१) इत्यधिकरणनिर्देशाल्लोकेषु सामाध्यसितव्यमिति प्रतीयते। 'एतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्' (छा० २/११/१) इति चैतदेवं दर्शयति। प्रथमनिर्दिष्टेषु चादित्यादिषु चरमनिर्दिष्टं ब्रह्माध्यस्तम् 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३/१९/१) इत्यादिषु। प्रथमनिर्दिष्टाश्च पृथिव्यादयश्चरमनिर्दिष्टा हिंकारादयः 'पृथिवी हिंकारः' (छा० २/२/१) इत्यादिश्रुतिषु। अतोऽनङ्गेष्वादित्यादिष्वङ्गमतिनिक्षेप इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आदित्यादिमतय एवाङ्गेषूद्गीथादिषु क्षिप्येरन्। कुतः ? उपपत्तेः। उपपद्यते ह्येवमपूर्वसंनिकर्षादादित्यादिमतिभिः संस्क्रियमाणेषूद्गीथादिषु कर्मसमृद्धिः। 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिशदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १/१/१०) इति च विद्यायाः कर्मसमृद्धिहेतुत्वं दर्शयति। भवतु कर्मसमृद्धिफलेष्वेवं, स्वतन्त्रफलेषु तु कथम् 'य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविधं सामोपास्ते' (छा० २/२/३) इत्यादिषु। तेष्वप्यधिकृताधिकारात्प्रकृतापूर्वसंनिकर्षेणैव फलकल्पना युक्ता, गोदोहनादिनियमवत्। फलात्मकत्वाच्चादित्यादीनामुद्गीथादिभ्यः कर्मात्मकेभ्य उत्कर्षोपपत्तिः। आदित्यादिप्राप्तिलक्षणं हि कर्मफलं शिष्यते श्रुतिषु। अपिच 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १/१/१) 'खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति' (छा० १/१/१०) इति चोद्गीथमेवोपास्यत्वेनोपक्रम्यादित्यादिमतीर्विदधाति।

यत्तूक्तमुद्गीथादिमतिभिरुपास्यमाना आदित्यादयः कर्मभूयं भूत्वा फलं करिष्यन्तीति। तदयुक्तम्। स्वयमेवोपासनस्य कर्मत्वात्फलवत्त्वोपपत्तेः। आदित्यादिभावेनापि च दृश्यमानानामुद्गीथादीनां कर्मात्मकत्वानपायात्। 'तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम' (छा० १/६/१) इति तु लाक्षणिक एव पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामशब्दप्रयोगः। लक्षणा च यथासंभवं संनिकृष्टेन विप्रकृष्टेन वा स्वार्थसंबन्धेन प्रवर्तते। तत्र यद्यप्यृक्सामयोः पृथिव्यग्निदृष्टिचिकीर्षा, तथापि प्रसिद्धयोर्ऋक्सामयोर्भेदेनानुकीर्तनात्पृथिव्यग्न्योश्च

संनिधानात्तयोरेवैष ऋक्सामशब्दप्रयोग ऋक्सामसंबन्धादिति निश्चीयते। क्षत्तृशब्दोऽपि हि कुतश्चित्कारणाद्राजानमुपसर्पन्न निवारयितुं पार्यते। 'इयमेवर्क्' (छा० १/६/१) इति च यथाक्षरन्यासमृच एव पृथिवीत्वमवधारयति। पृथिव्या ह्युक्त्वेऽवधार्यमाण इयमृगेवेत्यक्षरन्यासः स्यात्।

'य एवं विद्वान्साम गायति' (छा० १/७/७) इति चाङ्गाश्रयमेव विज्ञानमुपसंहरति न पृथिव्याद्याश्रयम्। तथा 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २/२/१) इति यद्यपि सप्तमीनिर्दिष्टा लोकास्तथापि साम्न्येव तेऽध्यस्येरन्द्वितीयानिर्देशेन साम्न उपास्यत्वावगमात्। सामनि हि लोकेष्वध्यस्यमानेषु साम लोकात्मनोपासितं भवति। अन्यथा पुनर्लोकाः सामात्मनोपासिताः स्युः। एतेन 'एतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्' (छा० २/११/१) इत्यादि व्याख्यातम्। यत्रापि तुल्यो द्वितीयानिर्देशः—'अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत' (छा० २/९/१) इति, तत्रापि 'समस्तस्य खलु साम्न उपासनं साधु' (छा० २/१/१) 'इति तु पञ्चविधस्य' (छा० २/७/२) 'अथ सप्तविधस्य' (छा० २/८/१) इति च साम्न एवोपास्यत्वोपक्रमात्तस्मिन्नेवादित्याद्यध्यासः। एतस्मादेव च साम्न उपास्यत्वावगमात् 'पृथिवी हिंकारः' (छा० २/२/१) इत्यादिनिर्देशविपर्ययेऽपि हिंकारादिष्वेव पृथिव्यादिदृष्टिः। तस्मादनङ्गाश्रया आदित्यादिमतयोऽङ्गेषूद्गीथादिषु क्षिप्येरन्निति सिद्धम्॥६॥

(१५८) आसीनाधिकरणम्॥६॥ (सू० ७-१०)

(४८४) आसीनः संभवात्॥७॥

कर्माङ्गसंबद्धेषु तावदुपासनेषु कर्मतन्त्रत्वान्नासनादिचिन्ता, नापि सम्यग्दर्शने, वस्तुतन्त्रत्वाद्विज्ञानस्य। इतरेषु तूपासनेषु किमनियमेन तिष्ठन्नासीनः शयानो वा प्रवर्तेतोत नियमेनासीन एवेति चिन्तयति। तत्र मानसत्वादुपासनस्यानियमः शरीरस्थितेरिति।

एवं प्राप्ते ब्रवीति—आसीन एवोपासीतेति। कुतः? संभवात्। उपासनं नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणं, नच तद्गच्छतो धावतो वा संभवति, गत्यादीनां चित्तविक्षेपकत्वात्। तिष्ठतोऽपि देहधारणे व्यापृतं मनो न सूक्ष्मवस्तुनिरीक्षणक्षमं भवति। शयानस्याप्यकस्मादेव निद्रयाभिभूयेत। आसीनस्य त्वेवंजातीयको भूयान्दोषः सुपरिहर इति संभवति तस्योपासनम्॥७॥

(४८५) ध्यानाच्च ॥८॥

अपिच ध्यायत्यर्थ एष यत्समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्। ध्यायतिश्च प्रशिथिलाङ्गचेष्टेषु प्रतिष्ठितदृष्टिष्वेकविषयाक्षिप्तचित्तेषूपचर्यमाणो दृश्यते, ध्यायति बको ध्यायति प्रोषितबन्धुरिति आसीनश्चानायासो भवति। तस्मादप्यासीनकर्मोपासनम् ॥८॥

(४८६) अचलत्वं चापेक्ष्य ॥९॥

अपिच 'ध्यायतीव पृथिवी' (छा० ७/६/१) इत्यत्र पृथिव्यादिष्वचलत्वमेवापेक्ष्य ध्यायतिवादो भवति, तच्च लिङ्गमुपासनस्यासीनकर्मत्वे ॥९॥

(४८७) स्मरन्ति च ॥१०॥

स्मरन्त्यपि च शिष्टा उपासनाङ्गत्वेनासनम्—'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः' (गी० ६/११) इत्यादिना। अतएव पद्मकादीनामासनविशेषाणामुपदेशो योगशास्त्रे ॥१०॥

(१६०) एकाग्रताधिकरणम् ॥७॥ (सू० ११)

(४८८) यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥११॥

दिग्देशकालेषु संशयः—किमस्ति कश्चिन्नियमो, नास्ति वेति। प्रायेण वैदिकेष्वारम्भेषु दिगादिनियमदर्शनात्स्यादिहापि कश्चिन्नियम इति यस्य मतिस्तं प्रत्याह दिग्देशकालेष्वर्थलक्षण एव नियमः। यत्रैवास्य दिशि देशे काले वा मनसः सौकर्येणैकाग्रता भवति, तत्रैवोपासीत, प्राचीदिक्पूर्वाह्णप्राचीनप्रवणादिवद्विशेषाश्रवणात्। एकाग्रताया इष्टायाः सर्वत्राविशेषात्। ननु विशेषमपि केचिदामनन्ति—'समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः। मनोनुकूले नतु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्' (श्वे० २/१०) इति यथेति। उच्यते—सत्यमस्त्येवंजातीयको नियमः। सति त्वेतस्मिंस्तद्गतेषु विशेषेष्वनियम इति सुहृद्भूत्वाचार्य आचष्टे। 'मनोनुकूले' इति चैषा श्रुतिर्यत्रैकाग्रता तत्रैवेत्येतदेव दर्शयति ॥११॥

(१६१) आप्रायणाधिकरणम् ॥८॥ (सू० १२)

(४८९) आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥१२॥

आवृत्तिः सर्वोपासनेष्वादर्तव्येति स्थितमाद्येऽधिकरणे। तत्र यानि तावत्सम्यग्दर्शनार्थान्युपासनानि, तान्यवघातादिवत्कार्यपर्यवसानानीति ज्ञातमेवैषामावृत्तिपरिमाणम्।

नहि सम्यग्दर्शने कार्ये निष्पन्ने यत्नान्तरं किंचिच्छासितुं शक्यम्। अनियोज्यब्रह्मात्मत्व-प्रतिपत्तेः शास्त्रस्याविषयत्वात्। यानि पुनरभ्युदयफलानि तेष्वेषा चिन्ता, किं कियन्तं-चित्कालं प्रत्ययमावर्त्योपरमेदुत यावज्जीवमावर्तयेदिति। किं तावत्प्राप्तम्? कियन्तं-चित्कालं प्रत्ययमभ्यस्योत्सृजेदावृत्तिविशिष्टस्योपासनाशब्दार्थस्य कृतत्वादिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आप्रायणादेवावर्तयेत्प्रत्ययम्। अन्त्यप्रत्ययवशाददृष्टफलप्राप्तेः। कर्माण्यपि हि जन्मान्तरोपभोग्यं फलमारभमाणानि तदनुरूपं भावनाविज्ञानं प्रायण-काल आक्षिपन्ति, 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति,' 'यच्चित्तस्तेनैष प्राण-मायाति, प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति' इति चैवमा-दिश्रुतिभ्यः। तृणजलूकानिदर्शनाच्च। प्रत्ययास्त्वेते स्वरूपानुवृत्तिं मुक्त्वा किमन्यत्प्रा-यणकालभावि भावनाविज्ञानमपेक्षेरन्। तस्माद्ये प्रतिपत्तव्यफलभावानात्मकाः प्रत्यया-स्तेष्वाप्रायणादावृत्तिः। तथाच श्रुतिः—'स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैति' इति प्रायण-कालेऽपि प्रत्ययानुवृत्तिं दर्शयति। स्मृतिरपि—'यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः' (गी० ८/६) इति, 'प्रयाणकाले मनसाऽचलेन' (गी० ८/१०) इति च। 'सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येत' इति च मरणवेलायामपि कर्तव्यशेषं श्रावयति॥१२॥

(१६२) तदधिगमाधिकरणम् ॥९॥ (सू० १३)

(४९०) तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्॥१३॥

गतस्तृतीयशेषः। अथेदानीं ब्रह्मविद्याफलं प्रति चिन्ता प्रतायते। ब्रह्माधिगमे सति तद्विपरीतफलं दुरितं क्षीयते न क्षीयते वेति संशयः। किं तावत्प्राप्तम्? फलार्थत्वा-त्कर्मणः फलमदत्त्वा न संभाव्यते क्षयः। फलदायिनी ह्यस्य शक्तिः श्रुत्या समधिगता। यदि तदन्तरेणैव फलोपभोगमपवृज्येत, श्रुतिः कदर्थिता स्यात्। स्मरन्ति च 'नहि कर्म क्षीयते' इति। नन्वेवं सति प्रायश्चित्तोपदेशोऽनर्थकः प्राप्नोति। नैष दोषः। प्रायश्चित्तानां नैमित्तिकत्वोपपत्तेर्गृहदाहेष्ट्यादिवत्। अपिच प्रायश्चित्तानां दोषसंयोगेन विधानाद्भवेदपि दोषक्षपणार्थता, नत्वेवं ब्रह्मविद्यायां विधानमस्ति। नन्वनभ्युपगम्यमाने ब्रह्मविदः कर्मक्षये तत्फलस्यावश्यंभोक्तव्यत्वादनिर्मोक्षः स्यात्। नेत्युच्यते। देशकाल-निमित्तापेक्षो मोक्षः कर्मफलवद्भविष्यति। तस्मान्न ब्रह्माधिगमे दुरितनिवृत्तिरिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तदधिगमे ब्रह्माधिगमे सत्युत्तरपूर्वयोरघयोरश्लेषविनाशौ भवतः

उत्तरस्याश्लेषः पूर्वस्य विनाशः। कस्मात्? तद्व्यपदेशात्। तथाहि ब्रह्मविद्याप्रक्रियायां संभाव्यमानसंबन्धस्यागामिनो दुरितस्यानभिसंबन्धं विदुषो व्यपदिशति—'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' (छा० ४/१४/३) इति। तथा विनाशमपि पूर्वोपचितस्य दुरितस्य व्यपदिशति—'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा० ५/२४/३) इति। अयमपरः कर्मक्षयव्यपदेशो भवति—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मु० २/२/८) इति।

यदुक्तमनुपभुक्तफलस्य कर्मणः क्षयकल्पनायां शास्त्रं कदर्थितं स्यादिति। नैष दोषः। नहि वयं कर्मणः फलदायिनीं शक्तिमवजानीमहे, विद्यत एव सा, सा तु विद्यादिना कारणान्तरेण प्रतिबध्यत इति वदामः। शक्तिसद्भावमात्रे च शास्त्रं व्याप्रियते, न प्रतिबन्धाप्रतिबन्धयोरपि। नहि कर्म क्षीयत इत्येतदपि स्मरणमौत्सर्गिकं न भोगादृते कर्म क्षीयते तदर्थत्वादिति। इष्यत एव तु प्रायश्चित्तादिना तस्य क्षयः, 'सर्वं पाप्मानं तरति', 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेव वेद' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः।

यत्तूक्तं नैमित्तिकानि प्रायश्चित्तानि भविष्यन्तीति। तदसत्। दोषसंयोगेन चोद्यमानानामेषां दोषनिर्घातफलसंभवे फलान्तरकल्पनानुपपत्तेः।

यत्पुनरेतदुक्तं न प्रायश्चित्तवद्दोषक्षयोद्देशेन विद्याविधानमस्तीति। अत्र ब्रूमः सगुणासु तावद्विद्यासु विद्यत एव विधानम्। तासु च वाक्यशेष ऐश्वर्यप्राप्तिः पापनिवृत्तिश्च विद्यावत उच्यते। तयोश्चाविवक्षाकारणं नास्तीत्यतः पाप्मप्रहाणपूर्वकैश्वर्यप्राप्तिस्तासां फलमिति निश्चीयते। निर्गुणायां तु विद्यायां यद्यपि विधानं नास्ति, तथाप्यकर्त्रात्मत्वबोधात्कर्मप्रदाहसिद्धिः। अश्लेष इति चागामिषु कर्मसु कर्तृत्वमेव न प्रतिपद्यते ब्रह्मविदिति दर्शयति। अतिक्रान्तेषु तु यद्यपि मिथ्याज्ञानात्कर्तृत्वं प्रतिपेद इव, तथापि विद्यासामर्थ्यान्मिथ्याज्ञाननिवृत्तेस्तान्यपि प्रविलीयन्त इत्याह—विनाश इति। पूर्वसिद्धकर्तृत्वभोक्तृत्वविपरीतं हि त्रिष्वपि कालेष्वकर्तृत्वाभोक्तृत्वस्वरूपं ब्रह्माहमस्मि, नेतः पूर्वमपि कर्ता भोक्ता चाहमासं, नेदानीं, नापि भविष्यत्काल इति ब्रह्मविदवगच्छति। एवमेव च मोक्ष उपपद्यते। अन्यथा ह्यनादिकालप्रवृत्तानां कर्मणां क्षयाभावे मोक्षाभावः स्यात्। नच देशकालनिमित्तापेक्षो मोक्षः कर्मफलवद्भवितुमर्हति। अनित्यत्वप्रसङ्गात्। परोक्षत्वानुपपत्तेश्च ज्ञानफलस्य। तस्माद्ब्रह्माधिगमे दुरितक्षय इति स्थितम्॥१३॥

(१६३) इतरासंश्लेषाधिकरणम् ॥१०॥ (सू० १४)

(४९१) इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥१४॥

पूर्वस्मिन्नधिकरणे बन्धहेतोरघस्य स्वाभाविकस्याश्लेषविनाशौ ज्ञाननिमित्तौ शास्त्रव्यपदेशान्निरूपितौ। धर्मस्य पुनः शास्त्रीयत्वाच्छास्त्रीयेण ज्ञानेनाविरोध इत्याशङ्क्य तन्निराकरणाय पूर्वाधिकरणन्यायातिदेशः क्रियते।

इतरस्यापि पुण्यस्य कर्मण एवमघवदसंश्लेषो विनाशश्च ज्ञानवतो भवतः। कुतः ?—तस्यापि स्वफलहेतुत्वेन ज्ञानफलप्रतिबन्धित्वप्रसङ्गात्। 'उभे उ हैवैष एते तरति' (बृ० ४/४/२२) इत्यादिश्रुतिषु च दुष्कृतवत्सुकृतस्यापि प्रणाशव्यपदेशात्। अकर्त्रात्मत्वबोधनिमित्तस्य च कर्मक्षयस्य सुकृतदुष्कृतयोस्तुल्यत्वात् 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' (मु० २/२/८) इति चाविशेषश्रुतेः। यत्रापि केवल एव पाप्मशब्दो दृश्यते, तत्रापि तेनैव पुण्यमप्याकलितमिति द्रष्टव्यम्। ज्ञानफलापेक्षया पुण्यस्य निकृष्टफलत्वात्। अस्ति च श्रुतौ पुण्येऽपि पाप्मशब्दः 'नैनं सेतुमहोरात्रे तरतः' (छा० ८/४/१) इत्यत्र सह दुष्कृतेन सुकृतमप्यनुक्रम्य सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्त इत्यविशेषेणैव प्रकृते पुण्ये पाप्मशब्दप्रयोगात्। पाते त्विति तुशब्दोऽवधारणार्थः। एवं धर्माधर्मयोर्बन्धहेत्वोर्विद्यासामर्थ्यादश्लेषविनाशसिद्धेरवश्यंभाविनी विदुषः शरीरपाते मुक्तिरित्यवधारयति ॥१४॥

(१६४) अनारब्धाधिकरणम् ॥११॥ (सू० १५)

(४९२) अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥१५॥

पूर्वयोरधिकरणयोर्ज्ञाननिमित्तः सुकृतदुष्कृतयोर्विनाशोऽवधारितः, स किमविशेषेणारब्धकार्ययोरनारब्धकार्ययोश्च भवत्युत विशेषेणानारब्धकार्ययोरेवेति विचार्यते। तत्र 'उभे उ हैवैष एते तरति' (बृ० ४/४/२२) इत्येवमादिश्रुतिष्वविशेषश्रवणादविशेषेणैव क्षय इति। एवं प्राप्ते प्रत्याह—अनारब्धकार्ये एव त्विति। अप्रवृत्तफले एव पूर्वे जन्मान्तरसंचिते अस्मिन्नपि च जन्मनि प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः संचिते सुकृतदुष्कृते ज्ञानाधिगमात्क्षीयेते न त्वारब्धकार्ये सामिभुक्तफले, याभ्यामेतद्ब्रह्मज्ञानायतनं जन्म निर्मितम्। कुत एतत्? 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६/१४/२) इति शरीरपातावधिकरणात्क्षेमप्राप्तेः। इतरथा हि ज्ञानादशेषकर्मक्षये सति स्थितिहेत्वभावाज्ज्ञानप्राप्त्यनन्तरमेव क्षेममश्नुवीत, तत्र शरीरपातप्रतीक्षां नाचक्षीत।

ननु वस्तुबलेनैवायमकर्त्रात्मावबोधः कर्माणि क्षपयन्कथं कानिचित्क्षपयेत्कानिचिच्चोपेक्षेत। नहि समानेऽग्निबीजसंपर्के केषांचिद्बीजशक्तिः क्षीयते, केषांचिन्न क्षीयत इति शक्यमङ्गीकर्तुमिति। उच्यते—न तावदनाश्रित्यारब्धकार्यं कर्माशयं ज्ञानोत्पत्तिरुपपद्यते। आश्रिते च तस्मिन्कुलालचक्रवत्प्रवृत्तवेगस्यान्तराले प्रतिबन्धासंभवाद्भवति वेगक्षयप्रतिपालनम्। अकर्त्रात्मबोधोऽपि हि मिथ्याज्ञानबाधनेन कर्माण्युच्छिनत्ति। बाधितमपि तु मिथ्याज्ञानं द्विचन्द्रज्ञानवत्संस्कारवशात्कंचित्कालमनुवर्तत एव। अपिच नैवात्र विवदितव्यं ब्रह्मविदः कंचित्कालं शरीरं ध्रियते न वा ध्रियत इति। कथं ह्येकस्य स्वहृदयप्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं चापरेण प्रतिक्षेप्तुं शक्येत। श्रुतिस्मृतिषु च स्थितप्रज्ञलक्षणनिर्देशेनैतदेव निरुच्यते। तस्मादनारब्धकार्ययोरेव सुकृतदुष्कृतयोर्विद्यासामर्थ्यात्क्षय इति निर्णयः ॥१५॥

(१६५) अग्निहोत्राद्यधिकरणम् ॥१२॥ (सू० १६-१७)

(४९३) अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥१६॥

पुण्यस्याप्यश्लेषविनाशयोरघन्यायोऽतिदिष्टः। सोऽतिदेशः सर्वपुण्यविषय इत्याशङ्क्य प्रतिवक्ति—अग्निहोत्रादि त्विति। तुशब्द आशङ्कामपनुदति। यन्नित्यं कर्म वैदिकमग्निहोत्रादि तत्तत्कार्यायैव भवति, ज्ञानस्य यत्कार्यं तदेवास्यापि कार्यमित्यर्थः। कुतः? 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' (बृ० ४/४/२२) इत्यादिदर्शनात्। ननु ज्ञानकर्मणोर्विलक्षणकार्यत्वात्कार्यैकत्वानुपपत्तिः। नैष दोषः। ज्वरमरणकार्ययोरपि दधिविषयोर्गुडमन्त्रसंयुक्तयोस्तृप्तिपुष्टिकार्यदर्शनात्। तद्वत्कर्मणोऽपि ज्ञानसंयुक्तस्य मोक्षकार्योपपत्तेः। नन्वनारभ्यो मोक्षः, कथमस्य कर्मकार्यत्वमुच्यते। नैष दोषः। आरादुपकारकत्वात्कर्मणः। ज्ञानस्यैव हि प्रापकं सत्कर्म प्रणाड्या मोक्षकारणमित्युपचर्यते। अतएव चातिक्रान्तविषयमेतत्कार्यैकत्वाभिधानम्। नहि ब्रह्मविद आगाम्यग्निहोत्रादि संभवति। अनियोज्यब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तेः शास्त्रस्याविषयत्वात्। सगुणासु तु विद्यासु कर्तृत्वानतिवृत्तेः संभवत्यागाम्यप्यग्निहोत्रादि। तस्यापि निरभिसंधिनः कार्यान्तराभावाद्विद्यासंगत्युपपत्तिः ॥१६॥

किंविषयं पुनरिदमश्लेषविनाशवचनं, किंविषयं वाऽदो विनियोगवचनमेकेषां शाखिनाम् 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति। अत उत्तरं पठति—

(४९४) अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥१७॥

अतोऽग्निहोत्रादेर्नित्यात्कर्मणोऽन्यापि ह्यस्ति साधुकृत्या, या फलमभिसंधाय क्रियते तस्या एष विनियोग उक्त एकेषां शाखिनाम् 'सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्ति' इति। तस्या एव चेदमघवदश्लेषविनाशनिरूपणमितरस्याप्येवमश्लेष इति। तथा एवं जातीयकस्य काम्यस्य कर्मणो विद्यां प्रत्यनुपकारकत्वे संप्रतिपत्तिरुभयोरपि जैमिनिबादरायणयोराचार्ययोः ॥१७॥

(१६६) विद्याज्ञानसाधनाधिकरणम् ॥१३॥ (सू० १८)

(४९५) यदेव विद्ययेति हि ॥१८॥

समधिगतमेतदनन्तराधिकरणे नित्यमग्निहोत्रादिकं कर्म मुमुक्षुणा मोक्षप्रयोजनोद्देशेन कृतमुपात्तदुरितक्षयहेतुत्वद्वारेण सत्त्वशुद्धिकारणतां प्रतिपद्यमानं मोक्षप्रयोजनब्रह्माधिगमनिमित्तत्वेन ब्रह्मविद्यया सहैककार्यं भवतीति। तत्राग्निहोत्रादि कर्माङ्गव्यपाश्रयविद्यासंयुक्तं केवलं चास्ति। 'य एवं विद्वान्यजति', 'य एवं विद्वाञ्जुहोति', 'य एवं विद्वाञ्छंसति', 'य एवं विद्वान्गायति', 'तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं' (छा० ४/१७/१०), 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद' (छा० १/१/१०) इत्यादिवचनेभ्यो विद्यासंयुक्तमस्ति, केवलमप्यस्ति। तत्रेदं विचार्यते —किं विद्यासंयुक्तमेवाग्निहोत्रादिकं कर्म मुमुक्षोर्विद्याहेतुत्वेन तया सहैककार्यत्वं प्रतिपद्यते, न केवलमुत विद्यासंयुक्तं केवलं चाविशेषेणेति। कुतः संशयः? 'तमेतमात्मानं यज्ञेन विविदिषन्ति' इति यज्ञादीनामविशेषेणात्मवेदनाङ्गत्वेन श्रवणात्। विद्यासंयुक्तस्य चाग्निहोत्रादेर्विशिष्टत्वावगमात्। किं तावत्प्राप्तं? विद्यासंयुक्तमेव कर्माग्निहोत्राद्यात्मविद्याशेषत्वं प्रतिपद्यते, न विद्याहीनम्। विद्योपेतस्य विशिष्टत्वावगमाद्विद्याविहीनात्। 'यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवं विद्वान्' इत्यादिश्रुतिभ्यः। 'बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि' (गी० २/३९), 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय' (गी० २/४९) इत्यादिस्मृतिभ्यश्चेति।

एवं प्राप्ते प्रतिपद्यते—यदेव विद्ययेति हि। सत्यमेतत्। विद्यासंयुक्तं कर्माग्निहोत्रादिकं विद्याविहीनात्कर्मणोऽग्निहोत्राद्विशिष्टं विद्वानिव ब्राह्मणो विद्याविहीनाद्ब्राह्मणात्। तथापि नात्यन्तमनपेक्षं विद्याविहीनं कर्माग्निहोत्रादिकम्। कस्मात्? 'तमेतमात्मानं यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यविशेषेणाग्निहोत्रादेर्विद्याहेतुत्वेन श्रुतत्वात्। ननु विद्यासंयुक्त-

स्याग्निहोत्रादेर्विद्याविहीनाद्विशिष्टत्वावगमाद्विद्याविहीनमग्निहोत्राद्यात्मविद्याहेतुत्वेनानपेक्षमेवेति युक्तम्। नैतदेवम्। विद्यासहायस्याग्निहोत्रादेर्विद्यानिमित्तेन सामर्थ्यातिशयेन योगादात्मज्ञानं प्रति कश्चित्कारणत्वातिशयो भविष्यति, न तथा विद्याविहीनस्येति युक्तं कल्पयितुम्। नतु 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यत्राविशेषेणात्मज्ञानाङ्गत्वेन श्रुतस्याग्निहोत्रादेरनङ्गत्वं शक्यमभ्युपगन्तुम्। तथाहि श्रुतिः—'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोप निषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १/१/१०) इति विद्यासंयुक्तस्य कर्मणोऽग्निहोत्रादेर्वीर्यवत्तरत्वाभिधानेन स्वकार्यं प्रति कंचिदतिशयं ब्रुवाणा विद्याविहीनस्य तस्यैव तत्प्रयोजनं प्रति वीर्यवत्त्वं दर्शयति। कर्मणश्च वीर्यवत्त्वं तद्यत्स्वप्रयोजनसाधनप्रसहत्वम्। तस्माद्विद्यासंयुक्तं नित्यमग्निहोत्रादि विद्याविहीनं चोभयमपि मुमुक्षुणा मोक्षप्रयोजनोद्देशेनेह जन्मनि जन्मान्तरे च प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः कृतं यत्तद्यथासामर्थ्यं ब्रह्माधिगमप्रतिबन्धकारणोपात्तदुरितक्षयहेतुत्वद्वारेण ब्रह्माधिगमकारणत्वं प्रतिपद्यमानं श्रवणमननश्रद्धातात्पर्याद्यन्तरङ्गकारणापेक्षं ब्रह्मविद्यया सहैककार्यं भवतीति स्थितम्॥१८॥

(१६७) इतरक्षपणाधिकरणम्॥१४॥ (सू० १९)

(४९६) भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते॥१९॥

अनारब्धकार्ययोः पुण्यपापयोर्विद्यासामर्थ्यात्क्षय उक्तः। इतरे त्वारब्धकार्ये पुण्यपापे उपभोगेन क्षपयित्वा ब्रह्म संपद्यते 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छान्दो० ६/१४/२) इति 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' इति चैवमादिश्रुतिभ्यः। ननु सत्यपि सम्यग्दर्शने यथा प्राग्देहपाताद्भेददर्शनं द्विचन्द्रदर्शनन्यायेनानुवृत्तमेवं पश्चादप्यनुवर्तेत। न, निमित्ताभावात्। उपभोगेन तत्र क्षपणं ह्यनुवृत्तिनिमित्तं, नच तादृशमत्र किंचिदस्ति। नन्वपरः कर्माशयोऽभिनवमुपभोगमारप्स्यते। न। तस्य दग्धबीजत्वात्। मिथ्याज्ञानावष्टम्भं हि कर्मान्तरं देहपात उपभोगान्तरमारभते, तच्च मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानेन दग्धमित्यतः साध्वेतदारब्धकार्यक्षये विदुषः कैवल्यमवश्यं भवतीति॥१९॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ
शारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः॥१॥

विश्रामः॥३०॥

* * * *

ॐ

॥ चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः ॥

(अत्र पादे उत्क्रान्तिगतिनिरूपणम्)

(१६८) वागधिकरणम् ॥१॥ (सू० १-२)

(४९७) वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥१॥

अथापरासु विद्यासु फलप्राप्तये देवयानं पन्थानमवतारयिष्यन्प्रथमं तावद्यथाशास्त्रमुत्क्रान्तिक्रममन्वाचष्टे। समाना हि विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तिरिति वक्ष्यति। अस्ति प्रयाणविषया श्रुतिः 'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्' (छा० ६/८/६) इति। किमिह वाच एव वृत्तिमत्त्या मनसि संपत्तिरुच्यत, उत वाग्वृत्तेरिति विशयः। तत्र वागेव तावन्मनसि संपद्यत इति प्राप्तम्, तथाहि श्रुतिरनुगृहीता भवति। इतरथा लक्षणा स्यात्। श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या, न लक्षणा। तस्माद्वाच एवायं मनसि प्रलय इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—वाग्वृत्तिर्मनसि संपद्यत इति। कथं वाग्वृत्तिरिति व्याख्यायते, यावता वाङ्मनसीत्येवाचार्यः पठति। सत्यमेतत्। पठिष्यति तु परस्तात् 'अविभागो वचनात्' (ब्र० सू० ४/२/१६) इति। तस्मादत्र वृत्त्युपशममात्रं विवक्षितमिति गम्यते। तत्त्वप्रलयविवक्षायां तु सर्वत्रैवाविभागसाम्यात्किं परत्रैव विशिंष्यादविभाग इति। तस्मादत्र वृत्त्युपसंहारविवक्षा। वाग्वृत्तिः पूर्वमुपसंह्रियते मनोवृत्ताववस्थितायामित्यर्थः। कस्मात्? दर्शनात्। दृश्यते हि वाग्वृत्तेः पूर्वोपसंहारो मनोवृत्तौ विद्यमानायाम्। नतु वाच एव वृत्तिमत्त्या मनस्युपसंहारः केनचिदपि द्रष्टुं शक्यते। ननु श्रुतिसामर्थ्याद्वाच एवायं मनस्यप्ययो युक्त इत्युक्तम्। नेत्याह। अतत्प्रकृतित्वात्। यस्य हि यत उत्पत्तिस्तस्य तत्र प्रलयो न्याय्यो, मृदीव शरावस्य। नच मनसो वागुत्पद्यत इति किंचन प्रमाणमस्ति। वृत्त्युद्भवाभिभवौ त्वप्रकृतिसमाश्रयावपि दृश्येते। पार्थिवेभ्यो हीन्धनेभ्यस्तैजसस्याग्नेर्वृत्तिरुद्भवत्यप्सु चोपशाम्यति। कथं तर्ह्यस्मिन्पक्षे शब्दो वाङ्मनसि संपद्यत इति। अत आह शब्दाच्चेति। शब्दोऽप्यस्मिन्पक्षेऽवकल्पते, वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारादित्यर्थः ॥१॥

(४९८) अतएव च सर्वाण्यनु॥२॥

'तस्मादुपशान्ततेजाः। पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः' (प्रश्न० ३/९) इत्यत्राविशेषेण सर्वेषामेवेन्द्रियाणां मनसि संपत्तिः श्रूयते। तत्राप्यत एव वाच इव चक्षुरादीनामपि सवृत्तिके मनस्यवस्थिते वृत्तिलोपदर्शनात्तत्त्वप्रलयासंभवाच्छब्दोपपत्तेश्च वृत्तिद्वारेणैव सर्वाणीन्द्रियाणि मनोऽनुवर्तन्ते। सर्वेषां करणानां मनस्युपसंहाराविशेषे सति वाचः पृथग्ग्रहणं वाङ्मनसि संपद्यत इत्युदाहरणानुरोधेन॥२॥

(१६९) मनोऽधिकरणम्॥२॥ (सू० ३)

(४९९) तन्मनः प्राण उत्तरात्॥३॥

समधिगतमेतत् 'वाङ्मनसि संपद्यते' (छा० ६/८/६) इत्यत्र वृत्तिसंपत्तिविवक्षेति। अथ यदुत्तरवाक्यम् 'मनः प्राणे' (छा० ६/८/६) इति किमत्रापि वृत्तिसंपत्तिरेव विवक्ष्यत, उत वृत्तिमत्संपत्तिरिति विचिकित्सायां वृत्तिमत्संपत्तिरेवात्रेति प्राप्तम्। श्रुत्यनुग्रहात्तत्प्रकृतिकत्वोपपत्तेश्च। तथाहि—'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणः' (छा० ६/५/४) इत्यन्नयोनि मन आमनन्त्यब्योनिं च प्राणम्। 'आपश्चान्नमसृजन्त इति श्रुतिः। अतश्च यन्मनः प्राणे प्रलीयते, अन्नमेव तदप्सु प्रलीयतेऽन्नं हि मन आपश्च प्राणः प्रकृतिविकाराभेदादिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तदप्यागृहीतबाह्येन्द्रियवृत्ति मनो वृत्तिद्वारेणैव प्राणे प्रलीयते इत्युत्तराद्वाक्यादवगन्तव्यम्। तथाहि सुषुप्सोर्मुमूर्षोश्च प्राणवृत्तौ परिस्पन्दात्मिकायामवस्थितायां मनोवृत्तीनामुपशमो दृश्यते। नच मनसः स्वरूपाप्ययः प्राणे संभवति। अतत्प्रकृतित्वात्। ननु दर्शितं मनसः प्राणप्रकृतित्वम्। नैतत्सारम्। न हीदृशेन प्रणाडिकेन तत्प्रकृतित्वेन मनः प्राणे संपत्तुमर्हति। एवमपि ह्यन्ने मनः संपद्येताप्सु चान्नमप्स्वेव च प्राणः। नह्येतस्मिन्नपि पक्षे प्राणभावपरिणताभ्योऽद्भ्यो मनो जायत इति किंचन प्रमाणमस्ति। तस्मान्न मनसः प्राणे स्वरूपाप्ययः। वृत्त्यप्ययेऽपि तु शब्दोऽवकल्पते वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारादिति दर्शितम्॥३॥

(१७०) अध्यक्षाधिकरणम्॥३॥ (सू० ४-६)

(५००) सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः॥४॥

स्थितमेतद्यस्य यतो नोत्पत्तिस्तस्य तस्मिन्वृत्तिप्रलयो, न स्वरूपप्रलय इति। इदमिदानीं प्राणस्तेजसीत्यत्र चिन्त्यते—किं यथाश्रुति प्राणस्य तेजस्येव वृत्त्यु-

पसंहाराः, किंवा देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षे जीव इति। तत्र श्रुतेरनतिशङ्क्यत्वात्प्राणस्य तेजस्येव संपत्तिः स्यादश्रुतकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति।

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते-सोऽध्यक्ष इति। स प्रकृतः प्राणोऽध्यक्षेऽविद्याकर्म-पूर्वप्रज्ञोपाधिके विज्ञानात्मन्यवतिष्ठते। तत्प्रधाना प्राणवृत्तिर्भवतीत्यर्थः। कुतः ?— तदुपगमादिभ्यः। 'एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति, यत्रैतदू-र्ध्वोच्छ्वासी भवति' इति हि श्रुत्यन्तरमध्यक्षोपगामिनः सर्वान्प्राणानविशेषेण दर्शयति। विशेषेण च 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' (बृ० ४/४/२) इति पञ्चवृत्तेः प्राणस्याध्यक्षानुगामितां दर्शयति, तदनुवृत्तितां चेतरेषाम् 'प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४/४/२) इति। 'सविज्ञानो भवति' इति चाध्यक्षस्यान्तर्विज्ञान-वत्त्वप्रदर्शनेन तस्मिन्नपीतकरणग्रामस्य प्राणस्यावस्थानं गमयति। ननु 'प्राणस्तेजसि' इति श्रूयते, कथं प्राणोऽध्यक्ष इत्यधिकावापः क्रियते। नैष दोषः। अध्यक्षप्रधानत्वा-दुत्क्रमणादिव्यवहारस्य, श्रुत्यन्तरगतस्यापि च विशेषस्यापेक्षणीयत्वात्॥४॥

कथं तर्हि 'प्राणस्तेजसि' इति श्रुतिरित्यत आह—

(५०१) भूतेषु तच्छ्रुतेः॥५॥

स प्राणसंपृक्तोऽध्यक्षस्तेजःसहचरितेषु भूतेषु देहबीजभूतेषु सूक्ष्मेष्ववतिष्ठत इत्यवगन्तव्यम्। प्राणस्तेजसीति श्रुतेः। ननु चेयं श्रुतिः प्राणस्य तेजसि स्थितिं दर्शयति, न प्राणसंपृक्तस्याध्यक्षस्य। नैष दोषः। सोऽध्यक्ष इत्यध्यक्षस्याप्यन्तरालेऽ-प्युपसंख्यातत्वात्। योऽपि हि स्रुघ्नान्मथुरां गत्वा मथुरायाः पाटलिपुत्रं व्रजति सोऽपि स्रुघ्नात्पाटलिपुत्रं यातीति शक्यते वदितुम्। तस्मात्प्राणस्तेजसीति प्राण-संपृक्तस्याध्यक्षस्यैवैतत्तेजःसहचरितेषु भूतेष्ववस्थानम्॥५॥

कथं तेजःसहचरितेषु भूतेष्वित्युच्यते, यावतैकमेव तेजः श्रूयते प्राणस्ते-जसीति। अत आह—

(५०२) नैकस्मिन्दर्शयतो हि॥६॥

नैकस्मिन्नेव तेजसि शरीरान्तरप्रेप्सावेलायां जीवोऽवतिष्ठते, कार्यस्य शरीरस्या-नेकात्मकत्वदर्शनात्। दर्शयतश्चैतमर्थं प्रश्नप्रतिवचने 'आपः पुरुषवचसः' (छा० ५/ ३/३) इति। तद्व्याख्यातम् 'त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्' (ब्र० सू० ३/१/२) इत्यत्र।

श्रुतिस्मृती चैतमर्थं दर्शयतः। श्रुतिः 'पृथ्वीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः' इत्याद्या। स्मृतिरपि 'अण्व्यो मात्राऽविनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः। ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः' इत्याद्या। ननु चोपसंहृतेषु वागादिषु करणेषु शरीरान्तरप्रेप्सावेलायां 'क्वायं तदा पुरुषो भवति' (बृ० ३/२/१३) इत्युपक्रम्य श्रुत्यन्तरं कर्माश्रयतां निरूपयति—'तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ ह यत्प्रशशंसतुः कर्म हैव तत्प्रशशंसतुः' (बृ० ३/२/१३) इति। अत्रोच्यते—तत्र कर्मप्रयुक्तस्य ग्रहातिग्रहसंज्ञकस्येन्द्रियविषयात्मकस्य बन्धनस्य प्रवृत्तिरिति कर्माश्रयतोक्ता। इह पुनर्भूतोपादानाद्देहान्तरोत्पत्तिरिति भूताश्रयत्वमुक्तम्। प्रशंसाशब्दादपि तत्र प्राधान्यमात्रं कर्मणः प्रदर्शितं, नत्वाश्रयान्तरं निवारितम्। तस्मादविरोधः॥६॥

(१७१) आसृत्युपक्रमाधिकरणम्॥४॥ (सू० ७)

(५०३) समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य॥७॥

सेयमुत्क्रान्तिः किं विद्वदविदुषोः समाना, किंवा विशेषवतीति विशयानानां विशेषवतीति तावत्प्राप्तम्। भूताश्रयविशिष्टा ह्येषा। पुनर्भवाय न भूतान्याश्रीयन्ते। नच विदुषः पुनर्भवः संभवति। 'अमृतत्वं हि विद्वानश्नुते' इति स्थितिः। तस्मादविदुष एवैषोत्क्रान्तिः। ननु विद्याप्रकरणे समाम्नानाद्विदुष एवैषा भवेत्। न। स्वापादिवद्यथाप्राप्तानुकीर्तनात्। तथाहि 'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम', 'अशिशिषति नाम', 'पिपासति नाम' (छा० ६/८/१,३,५) इति च सर्वप्राणिसाधारणा एव स्वापादयोऽनुकीर्त्यन्ते विद्याप्रकरणेऽपि प्रतिपिपादयिषितवस्तुप्रतिपादनानुगुण्येन नतु विदुषो विशेषवन्तो विधित्स्यन्ते। एवमियमप्युत्क्रान्तिर्महाजनगतैवानुकीर्त्यते यस्यां परस्यां देवतायां पुरुषस्य प्रयतस्तेजः संपद्यते स आत्मा तत्त्वमसीत्येतत्प्रतिपादयितुम्। प्रतिषिद्धा चैषा विदुषः'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ० ४/४/६) इति। तस्मादविदुष एवैषेति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—समाना चैषोत्क्रान्तिर्वाङ्मनसीत्याद्या विद्वदविदुषोरासृत्युपक्रमाद्भवितुमर्हति। अविशेषश्रवणात्। अविद्वान्देहबीजभूतानि भूतसूक्ष्माण्याश्रित्य कर्मप्रयुक्तो देहग्रहणमनुभवितुं संसरति। विद्वांस्तु ज्ञानप्रकाशितं मोक्षनाडीद्वारमाश्रयते। तदेतदासृत्युपक्रमादित्युक्तम्। नन्वमृतत्वं हि विदुषा प्राप्तव्यं नच तद्देशान्तरायत्तं, तत्र कुतो भूताश्रयत्वं सृत्युपक्रमो वेति। अत्रोच्यते—अनुपोष्य चेदम्, अदग्-

ध्वाऽत्यन्तमविद्यादीन्क्लेशानपरविद्यासामर्थ्यादापेक्षिकममृतत्वं प्रेप्सते, संभवति तत्र सृत्युपक्रमो भूताश्रयत्वं च। नहि निराश्रयाणां प्राणानां गतिरुपपद्यते। तस्माद-दोषः ॥७॥

(१७२) संसारव्यपदेशाधिकरणम् ॥५॥ (सू० ८-११)

(५०४) तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात् ॥८॥

'तेजः परस्यां देवतायाम्' (छा० ६/८/६) इत्यत्र प्रकरणसामर्थ्यात्तद्यथा प्रकृतं तेजः साध्यक्षं सप्राणं सकरणग्रामं भूतान्तरसहितं प्रयतः पुंसः परस्यां देवतायां संपद्यत इत्येतदुक्तं भवति। कीदृशी पुनरियं संपत्तिः स्यादिति चिन्त्यते। तत्रात्यन्तिक एव तावत्स्वरूपप्रविलय इति प्राप्तम्। तत्प्रकृतित्वोपपत्तेः। सर्वस्य हि जनिमतो वस्तुजातस्य प्रकृतिः परा देवतेति प्रतिष्ठापितम्। तस्मादात्यन्तिकीय-मविभागापत्तिरिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तत्तेजआदि भूतसूक्ष्मं श्रोत्रादिकरणाश्रयभूतमाऽपीतेरासंसार-मोक्षात्सम्यग्ज्ञाननिमित्तादवतिष्ठते। 'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणु-मन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्' (क० ५/७) इत्यादिसंसारव्यपदेशात्। अन्यथा हि सर्वः प्रायणसमय एवोपाधिप्रत्यस्तमयादत्यन्तं ब्रह्म संपद्यते। तत्र विधिशास्त्र-मनर्थकं स्याद्विद्याशास्त्रं च। मिथ्याज्ञाननिमित्तश्च बन्धो न सम्यग्ज्ञानादृते विस्रंसितु-मर्हति। तस्मात्तत्प्रकृतित्वेऽपि सुषुप्तप्रलयवद्बीजभावावशेषैवैषा सत्संपत्तिरिति ॥८॥

(५०५) सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥९॥

तच्चेतरभूतसहितं तेजो जीवस्यास्माच्छरीरात्प्रवसत आश्रयभूतं स्वरूपतः प्रमाणतश्च सूक्ष्मं भवितुमर्हति। तथाहि—नाडीनिष्क्रमणश्रवणादिभ्योऽस्य सौक्ष्म्य-मुपलभ्यते। तत्र तनुत्वात्संचारोपपत्तिः। स्वच्छत्वाच्चाप्रतीघातोपपत्तिः। अतएव च देहान्निर्गच्छन्पार्श्वस्थैर्नोपलभ्यते ॥९॥

(५०६) नोपमर्देनातः ॥१०॥

अतएव सूक्ष्मत्वान्नास्य स्थूलस्य शरीरस्योपमर्देन दाहादिनिमित्तेनेतरत्सूक्ष्मं शरीरमुपमृद्यते ॥१०॥

(५०७) अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥११॥

अस्यैव च सूक्ष्मस्य शरीरस्यैष ऊष्मा, यमेतस्मिञ्शरीरे संस्पर्शेनोष्माणं विजानन्ति। तथाहि मृतावस्थायामवस्थितेऽपि देहे विद्यमानेष्वपि च रूपादिषु देहगुणेषु नोष्मोपलभ्यते, जीवदवस्थायामेव तूपलभ्यत इत्यत उपपद्यते प्रसिद्धशरीरव्यतिरिक्तव्यपाश्रय एवैष ऊष्मेति। तथाच श्रुतिः—'उष्ण एव जीविष्यञ्शीतो मरिष्यन्' इति ॥११॥

(१७३) प्रतिषेधाधिकरणम् ॥६॥ (सू० १२-१४)

(५०८) प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥१२॥

'अमृतत्वं चानुपोष्य' इत्यतो विशेषणादात्यन्तिकेऽमृतत्वे गत्युत्क्रान्त्योरभावोऽभ्युपगतः। तत्रापि केनचित्कारणेनोत्क्रान्तिमाशङ्क्य प्रतिषेधति—'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो भवति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४/४/६) इत्यतः परविद्याविषयात्प्रतिषेधान्न परब्रह्मविदो देहात्प्राणानामुत्क्रान्तिरस्तीति चेत्। नेत्युच्यते। यतः शारीरादात्मन एष उत्क्रान्तिप्रतिषेधः प्राणानां, न शरीरात्। कथमवगम्यते 'न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति' इति शाखान्तरे पञ्चमीप्रयोगात्। संबन्धसामान्यविषया हि षष्ठी शाखान्तरगतया पञ्चम्या संबन्धविशेषे व्यवस्थाप्यते। तस्मादिति च प्राधान्यादभ्युदयनिःश्रेयसाधिकृतो देही संबध्यते, न देहः। न तस्मादुच्चिक्रमिषोर्जीवात्प्राणा अपक्रामन्ति, सहैव तेन भवन्तीत्यर्थः ॥१२॥

सप्राणस्य च प्रवसतो भवत्युत्क्रान्तिर्देहादित्येवं प्राप्ते प्रत्युच्यते—

(५०९) स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥१३॥

न तदस्ति, यदुक्तं परब्रह्मविदोऽपि देहादस्त्युत्क्रान्तिः, उत्क्रान्तिप्रतिषेधस्य देह्यपादानत्वादिति। यतो देहापादान एवोत्क्रान्तिप्रतिषेध एकेषां समाम्नातॄणां स्पष्ट उपलभ्यते। तथाहि—आर्तभागप्रश्ने 'यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति' (बृ० ३/२/११) इत्यत्र 'नेति होवाच याज्ञवल्क्यः' (बृ० ३/२/११) इत्यनुत्क्रान्तिपक्षं परिगृह्य न तर्ह्ययमनुत्क्रान्तेषु प्राणेषु म्रियत इत्यस्यामाशङ्कायाम् 'अत्रैव समवनीयन्त' इति प्रविलयं प्राणानां प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये 'स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते' (बृ० ३/२/११) इति सशब्दपरामृष्टस्य प्रकृतस्योत्क्रान्त्यवधेरुच्छ्वयनादीनि समामनन्ति। देहस्य चैतानि स्युर्न देहिनः। तत्सामान्यात् 'न तस्मा-

त्प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते' इत्यत्राप्यभेदोपचारेण देहापादानस्यैवोत्क्रमणस्य प्रतिषेधः। यद्यपि प्राधान्यं देहिन इति व्याख्येयं येषां, पञ्चमीपाठः। येषां तु षष्ठी पाठस्तेषां विद्वत्संबन्धिन्युत्क्रान्तिः प्रतिषिध्यत इति प्राप्तोत्क्रान्तिप्रतिषेधार्थत्वादस्य वाक्यस्य देहापादानैव सा प्रतिषिद्धा भवति, देहादुत्क्रान्तिः प्राप्ता न देहिनः। अपिच 'चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४/४/२) इत्येवमविद्वद्विषयं सप्रपञ्चमुत्क्रमणं संसारगमनं च दर्शयित्वा 'इति नु कामयमानः' (बृ० ४/४/६) इत्युपसंहृत्याविद्वत्कथाम् 'अथाकामयमानः' (बृ० ४/४/६) इति व्यपदिश्य विद्वांसं यदि तद्विषयेऽप्युत्क्रान्तिमेव प्रापयेदसमञ्जस एव व्यपदेशः स्यात्। तस्मादविद्वद्विषये प्राप्तयोर्गत्युत्क्रान्त्योर्विद्वद्विषये प्रतिषेध इत्येवमेव व्याख्येयं व्यपदेशार्थवत्त्वाय। नच ब्रह्मविदः सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य प्रक्षीणकामकर्मण उत्क्रान्तिर्गतिर्वोपपद्यते, निमित्ताभावात्।'अत्र ब्रह्म समश्नुते'इति चैवंजातीयकाः श्रुतयो गत्युत्क्रान्त्योरभावं सूचयन्ति॥१३॥

(५१०) स्मर्यते च॥१४॥

स्मर्यतेऽपि च महाभारते गत्युत्क्रान्त्योरभावः—'सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यतः। देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः' इति। ननु गतिरपि ब्रह्मविदः सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य स्मर्यते 'शुकः किल वैयासकिर्मुमुक्षुरादित्यमण्डलमभिप्रतस्थे पित्रा चानुगम्याहूतो भो इति प्रतिशुश्राव' इति। न। सशरीरस्यैवायं योगबलेन विशिष्टदेशप्राप्तिपूर्वकः शरीरोत्सर्ग इति द्रष्टव्यम्। सर्वभूतदृश्यत्वाद्युपन्यासात्। नह्यशरीरं गच्छन्तं सर्वभूतानि द्रष्टुं शक्नुयुः। तथाच तत्रैवोपसंहृतम्—'शुकस्तु मारुताच्छीघ्रां गतिं कृत्वाऽन्तरिक्षगः। दर्शयित्वा प्रभावं स्वं सर्वभूतगतोऽभवत्' इति। तस्मादभावः परब्रह्मविदो गत्युत्क्रान्त्योः। गतिश्रुतीनां तु विषयमुपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः॥१४॥

(१७४) वागादिलयाधिकरणम्॥७॥ (सू० १५)

(५११) तानि परे तथाह्याह॥१५॥

तानि पुनः प्राणशब्दोदितानीन्द्रियाणि भूतानि च परब्रह्मविदस्तस्मिन्नेव परस्मिन्नात्मनि प्रलीयन्ते? कस्मात्। तथाह्याह श्रुतिः—'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' (प्रश्न० ६/५) इति। ननु 'गताः

कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' (मु० ३/२/७) इति विद्वद्विषयैवापरा श्रुतिः परस्मादात्मनोऽन्यत्रापि कलानां प्रलयमाह स्म। न। सा खलु व्यवहारापेक्षा, पार्थिवाद्याः कलाः पृथिव्यादिरेव स्वप्रकृतीरपियन्तीति। इतरा तु विद्वत्प्रतिपत्त्यपेक्षा कृत्स्नं कलाजातं परब्रह्मविदो ब्रह्मैव संपद्यत इति। तस्माददोषः॥१५॥

(१७५) अविभागाधिकरणम्॥८॥ (सू० १६)

(५१२) अविभागो वचनात्॥१६॥

स पुनर्विदुषः कलाप्रलयः किमितरेषामिव सावशेषो भवत्याहोस्विन्निरवशेष इति। तत्र प्रलयसामान्याच्छक्त्यवशेषताप्रसक्तौ ब्रवीति—अविभागापत्तिरेवेति। कुतः?—वचनात्। तथाहि कलाप्रलयमुक्त्वा वक्ति—'भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यत स एषोऽकलोऽमृतो भवति' (प्र० ६/५) इति। अविद्यानिमित्तानां च कलानां न विद्यानिमित्ते प्रलये सावशेषत्वोपपत्तिः। तस्मादविभाग एवेति॥१६॥

(१७६) तदोकोऽधिकरणम्॥९॥ (सू० १७)

(५१३) तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया॥१७॥

समाप्ता प्रासङ्गिकी परविद्यागता चिन्ता। संप्रति त्वपरविद्याविषयामेव चिन्तामनुवर्तयति। समाना चासृत्युपक्रमाद्विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तिरित्युक्तं, तमिदानीं सृत्युपक्रमं दर्शयति। तस्योपसंहृतवागादिकलापस्योच्चिक्रमिषतो विज्ञानात्मन ओक आयतनं हृदयम्। 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' इति श्रुतेः। तदग्रप्रज्वलनपूर्विका चक्षुरादिस्थानापादाना चोत्क्रान्तिः श्रूयते—'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते, तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' (बृ० ४/४/२) इति। सा किमनियमेनैव विद्वदविदुषोर्भवत्यथास्ति कश्चिद्विदुषो विशेषनियम इति विचिकित्सायां श्रुत्यविशेषादनियमप्राप्तावाचष्टे—समानेऽपि हि विद्वदविदुषोर्हृदयाग्रप्रद्योतने तत्प्रकाशितद्वारत्वे च मूर्धस्थानादेव विद्वान्निष्क्रामति, स्थानान्तरेभ्यस्त्वितरे। कुतः?—विद्यासामर्थ्यात्। यदि विद्वानपीतरवद्यतः कुतश्चिद्देहदेशादुत्क्रामेन्नैवोत्कृष्टं लोकं लभेत। तत्रानर्थिकैव विद्या स्यात्। तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च विद्याशेषभूता च मूर्धन्यनाडीसंबद्धं गतिरनुशील-

यितव्या विद्याविशेषेषु विहिता, तामभ्यस्यंस्तयैव प्रतिष्ठत इति युक्तम्। तस्माद्धृदयालयेन ब्रह्मणा सूपासितेनानुगृहीतस्तद्भावं समापन्नो विद्वान्मूर्धन्ययैव शताधिकया शतादतिरिक्तयैकशततम्या नाड्या निष्क्रामतीतराभिरितरे। तथाहि हार्दविद्यां प्रकृत्य समामनन्ति—'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' (छा० ८/६/६) इति॥१७॥

(१७७) रश्म्यधिकरणम्॥१०॥ (सू० १८)

(५१४) रश्म्यनुसारी॥१८॥

अस्ति हार्दविद्या—'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' (छा० ८/१/१) इत्युपक्रम्य विहिता। तत्प्रक्रियायाम् 'अथ या एता हृदयस्य नाड्यः' (छा० ८/६/१) इत्युपक्रम्य सप्रपञ्चं नाडीरश्मिसंबन्धमुक्त्वोक्तम् 'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' (छा० ८/६/५) इति। पुनश्चोक्तम् 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८/६/६) इति। तस्माच्छताधिकया नाड्या निष्क्रामन्रश्म्यनुसारी निष्क्रामतीति गम्यते। तत्किमविशेषेणैवाहनि रात्रौ वा म्रियमाणस्य रश्म्यनुसारित्वमाहोस्विदहन्येवेति संशये सत्यविशेषश्रवणादविशेषेणैव तावद्रश्म्यनुसारीति प्रतिज्ञायते॥१८॥

(५१५) निशि नेति चेन्न संबन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च॥१९॥

अस्त्यहनि नाडीरश्मिसंबन्ध इत्यहनि मृतस्य स्याद्रश्म्यनुसारित्वं, रात्रौ तु प्रेतस्य न स्यात्, नाडीरश्मिसंबन्धविच्छेदादिति चेन्न। नाडीरश्मिसंबन्धस्य यावद्देहभावित्वात्। यावद्देहभावी हि शिराकिरणसंपर्कः। दर्शयति चैतमर्थं श्रुतिः—'अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते, ता आसु नाडीषु सृप्ता, आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः' (छा० ८/६/२) इति। निदाघसमये च निशास्वपि किरणानुवृत्तिरुपलभ्यते, प्रतापादिकार्यदर्शनात्। स्तोकानुवृत्तेस्तु दुर्लक्ष्यत्वमृत्वन्तररजनीषु शैशिरेष्विव दुर्दिनेषु। 'अहरेवैतद्रात्रौ दधाति' इति चैतदेव दर्शयति। यदि च रात्रौ प्रेतो विनैव रश्म्यनुसारेणोर्ध्वमाक्रमेत, रश्म्यनुसारानर्थक्यं भवेत्। नह्येतद्विशिष्याधीयते यो दिवा प्रैति स रश्मीनपेक्ष्योर्ध्वमाक्रमते, यस्तु रात्रौ सोऽनपेक्ष्यैवेति। अथ तु विद्वानपि रात्रिप्रायणापराधमात्रेण नौर्ध्वमाक्रमेत, पाक्षिकफलाविद्येत्य-

प्रवृत्तिरेव तस्यां स्यात्। मृत्युकालानियमात्। अथापि रात्रावुपरतोऽहरागममुदीक्षेत। अहरागमेऽप्यस्य कदाचिद्रश्मिसंबन्धार्हं शरीरं स्यात्पावकादिसंपर्कात्। 'स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति' (छा० ८/६/५) इति च श्रुतिरनुदीक्षां दर्शयति। तस्मात्तदविशेषेणैवेदं रात्रिंदिवं रश्म्यनुसारित्वम्॥१९॥

(१७८) दक्षिणायनाधिकरणम्॥११॥ (सू० २०-२१)

(५१६) अतश्चायनेऽपि दक्षिणे॥२०॥

अतएव चोदीक्षानुपपत्तेरपाक्षिकफलत्वाच्च विद्याया अनियतकालत्वाच्च मृत्योर्दक्षिणायनेऽपि म्रियमाणो विद्वान्प्राप्नोत्येव विद्याफलम्।

उत्तरायणमरणप्राशस्त्यप्रसिद्धेर्भीष्मस्य च प्रतीक्षादर्शनात् 'आपूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति' (छा० ४/१५/५) इति च श्रुतेरपेक्षितव्यमुत्तरायणमितीमामाशङ्कामनेन सूत्रेणापनुदति। प्राशस्त्यप्रसिद्धिरविद्वद्विषया। भीष्मस्य प्रतिपालनमाचारप्रतिपालनार्थं पितृप्रसादलब्धस्वच्छन्दमृत्युताख्यापनार्थं च। श्रुतेस्त्वर्थं वक्ष्यति 'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्' (ब्र० सू० ४/३/४) इति॥२०॥

ननु च—'यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः। प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ' (गी० ८/२३) इति कालप्राधान्येनोपक्रम्याहरादिकालविशेषः स्मृतावपुनरावृत्तये नियमितः, कथं रात्रौ दक्षिणायने वा प्रयातोऽनावृत्तिं यायादिति। अत्रोच्यते—

(५१७) योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते॥२१॥

योगिनः प्रति चायमहरादिकालविनियोगोऽनावृत्तये स्मर्यते। स्मार्ते चैते योगसांख्ये, न श्रौते। अतो विषयभेदात्प्रमाणविशेषाच्च नास्य स्मार्तस्य कालविनियोगस्य श्रौतेषु विज्ञानेष्ववतारः। ननु—'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्'। 'धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्' (गी० ८/२४/२५) इति च श्रौतावेतौ देवयानपितृयाणौ प्रत्यभिज्ञायेते स्मृतावपीति। उच्यते—'तं कालं वक्ष्यामि' (गी० ८/२३) इति स्मृतौ कालप्रतिज्ञानाद्विरोधमाशङ्क्य परिहार उक्तः। यदा पुनः स्मृतावप्यग्न्याद्या देवता एवातिवाहिक्यो गृह्यन्ते, तदा न कश्चिद्विरोध इति॥२१॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ
शारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥२॥

* * * *

अर्चिः अहः (आपूर्यमाण) शु. पक्ष उत्तरायण संवत्सर

देवलोकं वायुलोकं आदित्यलोकं चन्द्रलोकं वरुणलोकं ४०५

इन्द्रलोकं प्रजापतिलोकं विद्युल्लोकं ब्रह्मलोकं

ॐ

॥ चतुर्थाध्याये तृतीयः पादः ॥

(अत्र पादे सगुणविद्यावतो मृतस्योत्तरमार्गाभिधानम्)

(१७९) अर्चिराद्यधिकरणम् ॥१॥ (सू० १)

(५१८) अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥१॥

आसृत्युपक्रमात्समानोत्क्रान्तिरित्युक्तम्। सृतिस्तु श्रुत्यन्तरेष्वनेकधा श्रूयते। नाडीरश्मिसंबन्धेनैका 'अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्व आक्रमते' (छा० ८/६/५) इति। अर्चिरादिकैका 'तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहः' (बृ० ६/२/१५) इति। 'स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति' (कौ० १/३) इत्यन्या। यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति (बृ० ५/१०/१) इत्यपरा। 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति' (मु० १/२/११) इति चापरा। तत्र संशयः—किं परस्परं भिन्ना एताः सृतयः, किं वैकैवानेकविशेषणेति। तत्र प्राप्तं तावद्भिन्ना एताः सृतय इति। भिन्नप्रकरणत्वात्। भिन्नोपासनाशेषत्वाच्च। अपिच 'अथैतैरेव रश्मिभिः' (छा० ८/६/५) इत्यवधारणमर्चिराद्यपेक्षायामुपरुध्येत। त्वरावचनं च पीड्यते 'स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति' (छा० ८/६/५) इति। तस्मादन्योऽन्यभिन्ना एवैते पन्थान इति। एवं प्राप्तेऽभिदध्महे—अर्चिरादिनेति। सर्वो ब्रह्मप्रेप्सुरर्चिरादिनैवाध्वना रंहतीति प्रतिजानीमहे। कुतः?—तत्प्रथितेः। प्रथितो ह्येष मार्गः सर्वेषां विदुषाम्। तथाहि पञ्चाग्निविद्याप्रकरणे 'येचामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते' (बृ० ६/२/१५) इति विद्यान्तरशीलिनामप्यर्चिरादिका सृतिः श्राव्यते। स्यादेतत्। यासु विद्यासु न काचिद्गतिरुच्यते, तास्वियमर्चिरादिकोपतिष्ठतां, यासु त्वन्या श्राव्यते, तासु किमित्यर्चिराद्याश्रयणमिति। अत्रोच्यते—भवेदेतदेवं यद्यत्यन्तभिन्ना एवैताः सृतयः स्युः। एकैव त्वेषा सृतिरनेकविशेषणा ब्रह्मलोकप्रपदनी क्वचित्केनचिद्विशेषणेनोपलक्षितेति वदामः। सर्वत्रैकदेशप्रत्यभिज्ञानादितरेतरविशेषणविशेष्यभावोपपत्तेः। प्रकरणभेदेऽपि हि विद्यैकत्वे भवतीतरेतरविशेषणोपसंहारवद्गतिविशेषणानामप्युपसंहारः। विद्याभेदेऽपि तु गत्येकदेशप्रत्यभिज्ञानाद्गन्तव्याभेदाच्च गत्यभेद एव। तथाहि 'ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति' (बृ० ६/२/१५), 'तस्मिन्वसन्ति शाश्वतीः समाः' (बृ० ५/

१०/१), 'सा या ब्रह्मणो जितिर्या व्युष्टिस्तां जितिं जयति तां व्युष्टिं व्यश्नुते' (कौषी० १/४), 'तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति' (छा० ८/४/३) इति च तत्र तत्र तदेवैकं फलं ब्रह्मलोकप्राप्तिलक्षणं प्रदर्श्यते। यत्त्वेतैरेवेत्यवधारणमर्चिराद्याश्रयणे न स्यादिति। नैष दोषः। रश्मिप्राप्तिपरत्वादस्य। नह्येक एव शब्दो रश्मींश्च प्रापयितुमर्हत्यर्चिरादींश्च व्यावर्तयितुम्। तस्माद्रश्मिसंबन्ध एवायमवधार्यत इति द्रष्टव्यम्। त्वरावचनं त्वर्चिराद्यपेक्षायामपि गन्तव्यान्तरापेक्षया शैघ्र्यार्थत्वान्नोपरुध्यते। यथा निमिषमात्रेणात्रागम्यत इति। अपिच 'अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न' (छा० ५/१०/८) इति मार्गद्वयभ्रष्टानां कष्टं तृतीयं स्थानमाचक्षाणा पितृयाणव्यतिरिक्तमेकमेव देवयानमर्चिरादिपर्वाणं पन्थानं प्रथयति। भूयांस्यर्चिरादिसृतौ मार्गपर्वाण्यल्पीयांसि त्वन्यत्र। भूयसां चानुगुण्येनाल्पीयसां नयनं न्याय्यमित्यतोऽप्यर्चिरादिना तत्प्रथितेरित्युक्तम्॥१॥

(१८०) वाय्वधिकरणम्॥२॥ (सू० २)

(५११) वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम्॥२॥

केन पुनः संनिवेशविशेषेण गतिविशेषणानामितरेतरविशेषणविशेष्यभाव इति तदेतत्सुहृद्भूत्वाचार्यो ग्रथयति। 'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्' (कौ० १/३) इति कौषीतकिनां देवयानः पन्थाः पठ्यते। तत्रार्चिरग्निलोकशब्दौ तावदेकार्थौ ज्वलनवचनत्वादिति नात्र संनिवेशक्रमः क्वचिदन्वेष्यः। वायुस्त्वर्चिरादौ वर्त्मनि न श्रुतः कतमस्मिन् स्थाने निवेशयितव्य इति। उच्यते—'तेऽर्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्। मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्' (छा० ५/१०/१,२) इत्यत्र संवत्सरात्पराञ्चमादित्यादर्वाञ्चं वायुमभिसंभवन्ति। कस्मात्। अविशेषविशेषाभ्याम्। तथाहि—'स वायुलोकम्' (कौ० १/३) इत्यत्राविशेषोपदिष्टस्य वायोः श्रुत्यन्तरे विशेषोपदेशो दृश्यते 'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति' (बृ० ५/१०/१) इति। एतस्मादादित्याद्वायोः पूर्वत्वदर्शनाद्विशेषादब्दादित्ययोरन्तराले वायुर्निवेशयितव्यः। कस्मात्पुनरग्नेः

परत्वदर्शनाद्विशेषादर्चिषोऽनन्तरं वायुर्न निवेश्यते। नैषोऽस्ति विशेष इति वदामः। ननूदाहृता श्रुतिः—'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकम्' (कौ० १/३) इति। उच्यते—केवलोऽत्र पाठः पौर्वापर्येणावस्थितो, नात्र क्रमवचनः कश्चिच्छब्दोऽस्ति। पदार्थोपदर्शनमात्रं ह्यत्र क्रियते-एतमेतं चागच्छतीति इतरत्र पुनर्वायुप्रत्तेन रथचक्रमात्रेण च्छिद्रेणोर्ध्वमाक्रम्यादित्यमागच्छतीत्यवगम्यते क्रमः। तस्मात्सूक्तमविशेषविशेषाभ्यामिति। वाजसनेयिनस्तु 'मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्' (बृ० ६/२/१५) इति समामनन्ति। तत्रादित्यानन्तर्याय देवलोकाद्वायुमभिसंभवेयुः। वायुमशब्दादिति तु छन्दोगश्रुत्यपेक्षयोक्तम्। छान्दोग्यवाजसनेयकयोस्त्वेकत्र देवलोको न विद्यते, परत्र संवत्सरः। तत्र श्रुतिद्वयप्रत्ययादुभावप्युभयत्र ग्रथयितव्यौ। तत्रापि माससंबन्धात्संवत्सरः पूर्वः पश्चिमो देवलोक इति विवेक्तव्यम्॥२॥

(१८१) तडिदधिकरणम्॥३॥ (सू० ३)

(५२०) तडितोऽधि वरुणः संबन्धात्॥३॥

'आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतम्' (छा० ४/१५/५) इत्यस्या विद्युत उपरिष्टात्स वरुणलोकमित्ययं वरुणः संबध्यते। अस्ति हि संबन्धो विद्युद्वरुणयोः। यदा हि विशाला विद्युतस्तीव्रस्तनितनिर्घोषा जीमूतोदरेषु प्रनृत्यन्त्यथापः प्रपतन्ति। विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा (छा० ७/११/१) इति च ब्राह्मणम्। अपां चाधिपतिर्वरुण इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिः। वरुणादधीन्द्रप्रजापती स्थानान्तराभावात्पाठसामर्थ्याच्च। आगन्तुकत्वादपि वरुणादीनामन्त एव निवेशो वैशेषिकस्थानाभावाद्विद्युच्चान्त्यार्चिरादौ वर्त्मनि॥३॥

(१८२) आतिवाहिकाधिकरणम्॥४॥ (सू० ४-६)

(५२१) आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्॥४॥

तेष्वेवार्चिरादिषु संशयः—किमेतानि मार्गचिह्नान्युत भोगभूमयोऽथवा नेतारो गन्तॄणामिति। तत्र मार्गलक्षणभूता अर्चिरादय इति तावत्प्राप्तम्। तत्स्वरूपत्वादुपदेशस्य। यथाहि लोके कश्चिद्ग्रामं नगरं वा प्रतिष्ठासमानोऽनुशिष्यते गच्छेत-

स्त्वममुं गिरिं ततो न्यग्रोधं ततो नदीं ततो ग्रामं ततो नगरं वा प्राप्स्यसीत्येवमिहाप्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमित्याद्याह। अथवा भोगभूमय इति प्राप्तम्। तथाहि—लोकशब्देनाग्न्यादीननुबध्नाति 'अग्निलोकमागच्छति' (कौ० १/३) इत्यादि। लोकशब्दश्च प्राणिनां भोगायतनेषु भाष्यते—'मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः' (बृ० १/५/१६) इति च। तथाच ब्राह्मणम्—'अहोरात्रेषु ते लोकेषु सज्जन्ते' इत्यादि। तस्मान्नातिवाहिका अर्चिरादयः। अचेतनत्वादप्येतेषामातिवाहिकत्वानुपपत्तिः। चेतना हि लोके राजनियुक्ताः पुरुषा दुर्गेषु मार्गेष्वतिवाह्यानतिवाहयन्तीति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आतिवाहिका एवैते भवितुमर्हन्ति। कुतः?—तल्लिङ्गात्। तथाहि 'चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४/१५/५) इति सिद्धवद्गमयितृत्वं दर्शयति। तद्वचनं तद्विषयमेवोपक्षीणमिति चेत्। न। प्राप्तमानवत्वनिवृत्तिपरत्वाद्विशेषणस्य। यद्यर्चिरादिषु पुरुषा गमयितारः प्राप्तास्ते च मानवाः, ततो युक्तं तन्निवृत्त्यर्थं पुरुषविशेषणममानव इति॥४॥

ननु तल्लिङ्गमात्रमगमकं, न्यायाभावात्। नैष दोषः।

(५२२) उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः॥५॥

ये तावदर्चिरादिमार्गगास्ते देहवियोगात्संपिण्डितकरणग्रामा इत्यस्वतन्त्रा अर्चिरादीनामप्यचेतनत्वादस्वातन्त्र्यमित्यतोऽर्चिराद्यभिमानिनश्चेतना देवताविशेषा अतियात्रायां नियुक्ता इति गम्यते। लोकेऽपि हि मत्तमूर्च्छितादयः संपिण्डितकरणाः परप्रयुक्तवर्त्मानो भवन्ति। अनवस्थितत्वादप्यर्चिरादीनां न मार्गलक्षणत्वोपपत्तिः। नहि रात्रौ प्रेतस्याहःस्वरूपाभिसंभव उपपद्यते। नच प्रतिपालनमस्तीत्युक्तं पुरस्तात्। ध्रुवत्वात्तु देवतात्मनां नायं दोषो भवति। अर्चिरादिशब्दता चैषामर्चिराद्यभिमानादुपपद्यते 'अर्चिषोऽहः' (छा० ४/१५/५,५/१०/१) इत्यादिनिर्देशस्त्वातिवाहिकत्वेऽपि न विरुध्यते। अर्चिषा हेतुनाऽहरभिसंभवति। अह्ना हेतुना आपूर्यमाणपक्षमिति। तथाच लोके प्रसिद्धेष्वप्यातिवाहिकेष्वेवंजातीयक उपदेशो दृश्यते। गच्छ त्वमितो बलवर्माणं ततो जयसिंहं ततः कृष्णगुप्तमिति। अपि चोपक्रमे 'तेऽर्चिरभिसंभवन्ति' (बृ० ६/२/१५) इति संबन्धमात्रमुक्तं न संबन्धविशेषः कश्चित्।

उपसंहारे तु 'स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४/१५/६) इति संबन्धविशेषोऽतिवाह्यातिवाहकत्वलक्षण उक्तस्तेन स एवोपक्रमेऽपीति निर्धार्यते। संपिण्डितकरणत्वादेव च गन्तृणां न तत्रोपभोगसंभवः। लोकशब्दस्त्वनुपभुञ्जानेष्वपि गन्तृषु गमयितुं शक्यते। अन्येषां तल्लोकवासिनां भोगभूमित्वात्। अतोऽग्निस्वामिकं लोकं प्राप्तोऽग्निनाऽतिवाह्यते वायुस्वामिकं लोकं प्राप्तो वायुनेति योजयितव्यम्॥५॥

कथं पुनरातिवाहिकत्वपक्षे वरुणादिषु तत्संभवः। विद्युतो ह्यधि वरुणादय उपक्षिप्ता विद्युतस्त्वनन्तरमाब्रह्मप्राप्तेरमानवस्यैव पुरुषस्य गमयितृत्वं श्रुतमिति। अत उत्तरं पठति—

(५२३) वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः॥६॥

ततो विद्युदभिसंभवनादूर्ध्वं विद्युदनन्तरवर्तिनैवामानवेन पुरुषेण वरुणलोकादिष्वतिवाह्यमाना ब्रह्मलोकं गच्छन्तीत्यवगन्तव्यम्। 'तान्वैद्युतान्पुरुषोऽमानवः स एत्य ब्रह्मलोकं गमयति' इति तस्यैव गमयितृत्वश्रुतेः। वरुणादयस्तु तस्यैवाप्रतिबन्धकरणेन साहाय्यानुष्ठानेन वा केनचिदनुग्राहका इत्यवगन्तव्यम्। तस्मात्साधूक्तमातिवाहिका देवतात्मानोऽर्चिरादय इति॥६॥

विश्रामः॥३१॥

* * * *

(१८३) कार्याधिकरणम्॥५॥ (सू० ७-१४)

(५२४) कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः॥७॥

'स एनान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४/१५/५) इत्यत्र विचिकित्स्यते—किं कार्यमपरं ब्रह्म गमयत्याहोस्वित्परमेवाविकृतं ब्रह्मेति। कुतः संशयः? ब्रह्मशब्दप्रयोगाद्गतिश्रुतेश्च। तत्र कार्यमेव सगुणमपरं ब्रह्मैनान्गमयत्यमानवः पुरुष इति बादरिराचार्यो मन्यते। कुतः?—अस्य गत्युपपत्तेः। अस्य हि कार्यब्रह्मणो गन्तव्यत्वमुपपद्यते, प्रदेशवत्त्वात्। नतु परस्मिन्ब्रह्मणि गन्तृत्वं गन्तव्यत्वं गतिर्वाऽवकल्पते। सर्वगतत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च गन्तृणाम्॥७॥

(५२५) विशेषितत्वाच्च ॥८॥

'ब्रह्मलोकानामयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति' (बृ० ६/२/१५) इति च श्रुत्यन्तरे विशेषितत्वात्कार्यब्रह्मविषयैव गतिरिति गम्यते। नहि बहुवचनेन विशेषणं परस्मिन्ब्रह्मण्यवकल्पते। कार्ये त्ववस्थाभेदोपपत्तेः संभवति बहुवचनम्। लोकश्रुतिरपि विकारगोचरायामेव संनिवेशविशिष्टायां भोगभूमावाञ्जसी, गौणी त्वन्यत्र 'ब्रह्मैव लोक एष सम्राट्' इत्यादिषु। अधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशोऽपि परस्मिन्ब्रह्मण्यनाञ्जसः स्यात्। तस्मात्कार्यविषयमेवेदं नयनम् ॥८॥

ननु कार्यविषयेऽपि ब्रह्मशब्दो नोपपद्यते, समन्वये हि समस्तस्य जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्मेति स्थापितमिति। अत्रोच्यते—

(५२६) सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥९॥

तुशब्द आशङ्काव्यावृत्त्यर्थः। परब्रह्मसामीप्यादपरस्य ब्रह्मणस्तस्मिन्नपि ब्रह्मशब्दप्रयोगो न विरुध्यते। परमेव हि ब्रह्म विशुद्धोपाधिसंबन्धं क्वचित्कैश्चिद्विकारधर्मैर्मनोमयत्वादिभिरुपासनायोपदिश्यमानमपरमिति स्थितिः ॥९॥

ननु कार्यप्राप्तावनावृत्तिश्रवणं न घटते। नहि परस्माद्ब्रह्मणोऽन्यत्र क्वचिन्नित्यतां संभावयन्ति। दर्शयति च देवयानेन पथा प्रस्थितानामनावृत्तिम् 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४/१५/६) इति तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ति 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८/६/६, क० ६/१६) इति चेत्। अत्र ब्रूमः—

(५२७) कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥१०॥

कार्यब्रह्मलोकप्रलयप्रत्युपस्थाने सति तत्रैवोत्पन्नसम्यग्दर्शनाः सन्तस्तदध्यक्षेण हिरण्यगर्भेण सहातः परं परिशुद्धं विष्णोः परमं पदं प्रतिपद्यन्त इति। इत्थं क्रममुक्तिरनावृत्त्यादिश्रुत्यभिधानेभ्योऽभ्युपगन्तव्या। नह्यञ्जसैव गतिपूर्विका परप्राप्तिः संभवतीत्युपपादितम् ॥१०॥

(५२८) स्मृतेश्च ॥११॥

स्मृतिरप्येतमर्थमनुजानाति—'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' इति। तस्मात्कार्यब्रह्मविषया गतिः श्रूयत इति सिद्धान्तः ॥११॥

कं पुनः पूर्वपक्षमाशङ्क्यायं सिद्धान्तः प्रतिष्ठापितः 'कार्यं बादरिः' (ब्र० सू० ४/३/७) इत्यादिनेति। स इदानीं सूत्रैरेवोपदर्श्यते—

(५२१) परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्॥१२॥

जैमिनिस्त्वाचार्यः 'स एनान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४/१५/६) इत्यत्र परमेव ब्रह्म प्रापयतीति मन्यते। कुतः?—मुख्यत्वात्। परं हि ब्रह्म ब्रह्मशब्दस्य मुख्यमालम्बनं, गौणमपरं, मुख्यगौणयोश्च मुख्ये संप्रत्ययो भवति॥१२॥

(५३०) दर्शनाच्च॥१३॥

'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८/६/६, क० ६/१६) इति च गतिपूर्वकममृतत्वं दर्शयति। अमृतत्वं च परस्मिन्ब्रह्मण्युपपद्यते न कार्ये, विनाशित्वात्कार्यस्य। 'अथ यत्रान्यत्पश्यति तदल्पं तन्मर्त्यम्' (छा० ७/२४/१) इति प्रवचनात् परविषयैव चैषा गतिः कठवल्लीषु पठ्यते। नहि तत्र विद्यान्तरप्रक्रमोऽस्ति 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २/१४) इति परस्यैव ब्रह्मणः प्रक्रान्तत्वात्॥१३॥

(५३१) न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसंधिः॥१४॥

अपि च 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' (बृ० ८/१४/१) इति नायं कार्यविषयः प्रतिपत्त्यभिसंधिः, 'नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' (छा० ८/१४/१) इति कार्यविलक्षणस्य परस्यैव ब्रह्मणः प्रकृतत्वात्। 'यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्' (छा० ८/१४/१) इति च सर्वात्मत्वेनोपक्रमणात्। 'न तस्य प्रतिमा अस्ति, यस्य नाम महद्यशः' (श्वे० ४/१९) इति च परस्यैव ब्रह्मणो यशोनामत्वप्रसिद्धेः। सा चेयं वेश्मप्रतिपत्तिर्गतिपूर्विका हार्दविद्यायामुदिता 'तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरणमयम् (छा० ८/५/३) इत्यत्र। पदेरपि च गत्यर्थत्वान्मार्गापेक्षावसीयते। तस्मात्परब्रह्मविषया गतिश्रुतय इति पक्षान्तरम्। तावेतौ द्वौ पक्षावाचार्येण सूत्रितौ गत्युपपत्त्यादिभिरेको, मुख्यत्वादिभिरपरः। तत्र गत्युपपत्त्यादयः प्रभवन्ति मुख्यत्वादीनाभासयितुं न तु मुख्यत्वादयो गत्युपपत्त्यादीनित्याद्य एव सिद्धान्तो व्याख्यातो, द्वितीयः पूर्वपक्षः।

नह्यसत्यपि संभवे मुख्यस्यैवार्थस्य ग्रहणमिति कश्चिदाज्ञापयिता विद्यते। परविद्याप्रकरणेऽपि च तत्स्तुत्यर्थं विद्यान्तराश्रयगत्यनुकीर्तनमुपपद्यते 'विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' (छा० ८/६/६) इतिवत्। 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' (छा० ८/

१४/१) इति तु पूर्ववाक्यविच्छेदेन कार्येऽपि प्रतिपत्त्यभिसंधिर्न विरुध्यते। सगुणेऽपि च ब्रह्मणि सर्वात्मत्वसंकीर्तनं सर्वकर्मा सर्वकाम इत्यादिवदवकल्पते। तस्मादपरविषया एव गतिश्रुतयः।

केचित्पुनः पूर्वाणि पूर्वपक्षसूत्राणि भवन्त्युत्तराणि सिद्धान्तसूत्राणीत्येतां व्यवस्थामनुरुध्यमानाः परविषया एव गतिश्रुतीः प्रतिष्ठापयन्ति; तदनुपपन्नं गन्तव्यत्वानुपपत्तेर्ब्रह्मणः। यत्सर्वगतं सर्वान्तरं सर्वात्मकं च परं ब्रह्म 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ० ३/४/१), 'य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३/४/१), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७/२५/२) 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' (मु० २/२/११) इत्यादिश्रुतिनिर्धारितविशेषं, तस्य गन्तव्यता न कदाचिदप्युपपद्यते। नहि गतमेव गम्यते। अन्यो ह्यन्यद्गच्छतीति प्रसिद्धं लोके। ननु लोके गतस्यापि गन्तव्यता देशान्तरविशिष्टा दृष्टा। यथा पृथिवीस्थ एव पृथिवीं देशान्तरद्वारेण गच्छतीति। तथानन्यत्वेऽपि बालस्य कालान्तरविशिष्टं वार्धकं स्वात्मभूतमेव गन्तव्यं दृष्टं, तद्वद्ब्रह्मणोऽपि सर्वशक्त्युपेतत्वात्कथंचिद्गन्तव्यता स्यादिति। न। प्रतिषिद्धसर्वविशेषत्वाद्ब्रह्मणः। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६/१९) 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३/८/८), 'सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मु० २/१/२), 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४/४/२५), 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३/९/२६) इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यो न देशकालादिविशेषयोगः परमात्मनि कल्पयितुं शक्यते। येन भूप्रदेशवयोवस्थान्यायेनास्य गन्तव्यता स्यात्। भूवयसोस्तु प्रदेशावस्थादिविशेषयोगादुपपद्यते देशकालविशिष्टा गन्तव्यता। जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुत्वश्रुतेरनेकशक्तित्वं ब्रह्मण इति चेत्। न। विशेषनिराकरणश्रुतीनामनन्यार्थत्वात्।

उत्पत्त्यादिश्रुतीनामपि समानमनन्यार्थत्वमिति चेत्। न। तासामेकत्वप्रतिपादनपरत्वात्। मृदादिदृष्टान्तैर्हि सतो ब्रह्मण एकस्य सत्यत्वं, विकारस्य चानृतत्वं प्रतिपादयच्छास्त्रं नोत्पत्त्यादिपरं भवितुमर्हति। कस्मात्पुनरुत्पत्त्यादिश्रुतीनां विशेषनिराकरणश्रुतिशेषत्वं, न पुनरितरशेषत्वमितरासामिति। उच्यते—विशेषनिराकरणश्रुतीनां निराकाङ्क्षार्थत्वात्। नह्यात्मन एकत्वनित्यत्वशुद्धत्वाद्यवगतौ सत्यां भूयः काचिदाकाङ्क्षोपजायते, पुरुषार्थसमाप्तिबुद्ध्युपपत्तेः 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ई० ७), 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४/२/४), 'विद्वान्न

बिभेति कुतश्चन। एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्' (तै० २/९/१), इत्यादिश्रुतिभ्यः। तथैव च विदुषां तुष्ट्यनुभवादिदर्शनात्। विकारानृताभिसंध्यपवादाच्च 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (क० २/१/१०) इति। अतो न विशेषनिराकरणश्रुतीनामन्यशेषत्वमवगन्तुं शक्यते। नैवमुत्पत्त्यादिश्रुतीनां निराकाङ्क्षार्थप्रतिपादनसामर्थ्यमस्ति। प्रत्यक्षं तु तासामन्यार्थत्वं समनुगम्यते। तथाहि 'तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यति' (छा० ६/८/३) इत्युपन्यस्योदर्के सत एवैकस्य जगन्मूलस्य विज्ञेयत्वं दर्शयति। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति' (तै० ३/१/१) इति च। एवमुत्पत्त्यादिश्रुतीनामैकात्म्यावगमपरत्वान्नानेकशक्तियोगो ब्रह्मणः। अतश्च गन्तव्यत्वानुपपत्तिः। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४/४/६) इति च परस्मिन्ब्रह्मणि गतिं निवारयति। तद्व्याख्यातं 'स्पष्टो ह्येकेषाम्' (ब्र० सू० ४/२/१३) इत्यत्र।

गतिकल्पनायां च गन्ता जीवो गन्तव्यस्य ब्रह्मणोऽवयवो विकारो वान्यो वा ततः स्यात्। अत्यन्ततादात्म्ये गमनानुपपत्तेः। यद्येवं ततः किं स्यात्? उच्यते। यद्येकदेशस्तेनैकदेशिनो नित्यप्राप्तत्वान्न पुनर्ब्रह्मगमनमुपपद्यते। एकदेशित्वकल्पना च ब्रह्मण्यनुपपन्ना, निरवयवत्वप्रसिद्धेः। विकारपक्षेऽप्येतत्तुल्यं, विकारेणापि विकारिणो नित्यप्राप्तत्वात्। नहि घटो मृदात्मतां परित्यज्यावतिष्ठते, परित्यागे वाऽभावप्राप्तेः। विकारावयवपक्षयोश्च तद्वतः स्थिरत्वाद्ब्रह्मणः संसारगमनमप्यनवक्लृप्तम्। अथान्य एव जीवो ब्रह्मणः। सोऽणुर्व्यापी मध्यमपरिमाणो वा भवितुमर्हति। व्यापित्वे गमनानुपपत्तिः। मध्यमपरिमाणत्वे चानित्यत्वप्रसङ्गः। अणुत्वे कृत्स्नशरीरवेदनानुपपत्तिः। प्रतिषिद्धे चाणुत्वमध्यमपरिमाणत्वे विस्तरेण पुरस्तात्। परस्माच्चान्यत्वे जीवस्य 'तत्त्वमसि' (छा० ६/८/७) इत्यादिशास्त्रबाधप्रसङ्गः। विकारावयवपक्षयोरपि समानोऽयं दोषः। विकारावयवयोस्तद्वतोऽनन्यत्वाददोष इति चेत्। न। मुख्यैकत्वानुपपत्तेः। सर्वेष्वेतेषु पक्षेष्वनिर्मोक्षप्रसङ्गः। संसार्यात्मत्वानिवृत्तेः। निवृत्तौ वा स्वरूपनाशप्रसङ्गः। ब्रह्मात्मत्वाभ्युपगमाच्च।

यत्तु कैश्चिज्जल्प्यते — नित्यानि नैमित्तिकानि कर्माण्यनुष्ठीयन्ते प्रत्यवायानुत्पत्तये, काम्यानि प्रतिषिद्धानि च परिह्रियन्ते स्वर्गनरकानवाप्तये, सांप्रतदेहोपभोग्यानि च कर्माण्युपभोगेनैव क्षिप्यन्त इत्यतो वर्तमानदेहपातादूर्ध्वं देहान्तरप्रतिसंधानकारणाभा-

वात्स्वरूपावस्थानलक्षणं कैवल्यं विनापि ब्रह्मात्मतयैवंवृत्तस्य सेत्स्यतीति। तदसत्। प्रमाणाभावात्। नह्येतच्छास्त्रेण केनचित्प्रतिपादितं मोक्षार्थीत्थं समाचरेदिति। स्वमनीषया त्वेतत्तर्कितं, यस्मात्कर्मनिमित्तः संसारस्तस्मान्निमित्ताभावान्न भविष्यतीति। नचैतत्तर्कयितुमपि शक्यते, निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वात्। बहूनि हि कर्माणि जात्यन्तरसंचितानीष्टानिष्टविपाकान्येकैकस्य जन्तोः संभाव्यन्ते। तेषां विरुद्धफलानां युगपदुपभोगासंभवात्कानिचिल्लब्धावसराणीदं जन्म निर्मिमते, कानिचित्तु देशकालनिमित्तप्रतीक्षाण्यासत इत्यतस्तेषामवशिष्टानां सांप्रतेनोपभोगेन क्षपणासंभवान्न यथावर्णितचरितस्यापि वर्तमानदेहपाते देहान्तरनिमित्ताभावः शक्यते निश्चेतुम्। कर्मशेषसद्भावसिद्धिश्च 'तद्य इह रमणीयचरणास्ततः शेषेण' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः।

स्यादेतत्। नित्यनैमित्तिकानि तेषां क्षेपकाणि भविष्यन्तीति। तन्न। विरोधाभावात्। सति हि विरोधे क्षेप्यक्षेपकभावो भवति। नच जन्मान्तरसंचितानां सुकृतानां नित्यनैमित्तिकैरस्ति विरोधः। शुद्धिरूपत्वाविशेषात्। दुरितानां त्वशुद्धिरूपत्वात्सति विरोधे भवतु क्षपणं, नतु तावता देहान्तरनिमित्ताभावसिद्धिः। सुकृतनिमित्तत्वोपपत्तेः। दुश्चरितस्याप्यशेषक्षपणानवगमात्। नच नित्यनैमित्तिकानुष्ठानात्प्रत्यवायानुत्पत्तिमात्रं न पुनः फलान्तरोत्पत्तिरिति प्रमाणमस्ति, फलान्तरस्याप्यनुनिष्पादिनः संभवात्। स्मरति ह्यापस्तम्बः—'तद्यथाम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धावनूत्पद्येते, एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते' इति। नचासति सम्यग्दर्शने सर्वात्मना काम्यप्रतिषिद्धवर्जनं जन्मप्रायणान्तराले केनचित्प्रतिज्ञातुं शक्यम्। सुनिपुणानामपि सूक्ष्मापराधदर्शनात्। संशयितव्यं तु भवति, तथापि निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वमेव। नचानभ्युपगम्यमाने ज्ञानगम्ये ब्रह्मात्मत्वे कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावस्यात्मनः कैवल्यमाकाङ्क्षितुं शक्यम्। अग्न्यौष्ण्यवत्स्वभावस्यापरिहार्यत्वात्। स्यादेतत्। कर्तृत्वभोक्तृत्वकार्यमनर्थो न तच्छक्तिस्तेन शक्त्यवस्थानेऽपि कार्यपरिहारादुपपन्नो मोक्ष इति। तच्च न। शक्तिसद्भावे कार्यप्रसवस्य दुर्निवारत्वात्। अथापि स्यान्न केवला शक्तिः कार्यमारभतेऽनपेक्ष्यान्यानि निमित्तानि। अत एकाकिनी सा स्थितापि नापराध्यतीति। तच्च न। निमित्तानामपि शक्तिलक्षणेन संबन्धेन नित्यसंबद्धत्वात्। तस्मात्कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावे सत्यात्मन्यसत्यां विद्यागम्यायां ब्रह्मात्मतायां न कथंचन मोक्षं प्रत्याशास्ति। श्रुतिश्च—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३/८) इति ज्ञानादन्यं मोक्षमार्गं वारयति। परस्मादनन्यत्वेऽपि जीवस्य सर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गः। प्रत्यक्षादिप्रमाणाप्रवृत्तेरिति चेत्। न। प्राक्प्रबोधात्स्वप्नव्यवहारवत्तदुपपत्तेः। शास्त्रं च 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर

इतरं पश्यति' (बृ० २/४/१४;४/५/१५) इत्यादिनाऽप्रबुद्धविषये प्रत्यक्षादिव्यवहारमुक्त्वा पुनः प्रबुद्धविषये 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २/४/१४;४/५/१५) इत्यादिना तदभावं दर्शयति। तदेवं परब्रह्मविदो गन्तव्यादिविज्ञानस्य बाधितत्वान्न कथंचन गतिरुपपादयितुं शक्या।

किंविषयाः पुनर्गतिश्रुतय इति। उच्यते—सगुणविद्याविषया भविष्यन्ति। तथाहि क्वचित्पञ्चाग्निविद्यां प्रकृत्य गतिरुच्यते, क्वचित्पर्यङ्कविद्यां, क्वचिद्वैश्वानरविद्याम्। यत्रापि ब्रह्म प्रकृत्य गतिरुच्यते यथा 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४/१०/५) इति 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' (छा० ८/१/१) इति च, तत्रापि वामनीत्वादिभिः सत्यकामादिभिश्च गुणैः सगुणस्यैवोपास्यत्वात्संभवति गतिः। न क्वचित्परब्रह्मविषया गतिः श्राव्यते, यथागतिप्रतिषेधः श्रावितः 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ० ४/४/६) इति। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २/१/९) इत्यादिषु तु सत्यप्याप्नोतेर्गत्यर्थत्वे वर्णितेन न्यायेन देशान्तरप्राप्त्यसंभवात्स्वरूपप्रतिपत्तिरेवेयमविद्याध्यारोपितनामरूपप्रविलयापेक्षयाऽभिधीयते 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४/४/६) इत्यादिवदिति द्रष्टव्यम्।

अपिच परविषया गतिर्व्याख्यायमाना प्ररोचनाय वा स्यादनुचिन्तनाय वा; तत्र प्ररोचनं तावद्ब्रह्मविदो न गत्युक्त्या क्रियते। स्वसंवेद्येनैवाव्यवहितेन विद्यासमर्पितेन स्वास्थ्येन तत्सिद्धेः। नच नित्यसिद्धनिःश्रेयसनिवेदनस्यासाध्यफलस्य विज्ञानस्य गत्यनुचिन्तेन काचिदपेक्षोपपद्यते। तस्मादपरब्रह्मविषया गतिः। तत्र परापरब्रह्मविवेकानवधारणेनापरस्मिन्ब्रह्मणि वर्तमाना गतिश्रुतयः परस्मिन्नध्यारोप्यन्ते। किं द्वे ब्रह्मणी परमपरं चेति; बाढं, द्वे 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' (प्र० ५/२) इत्यादिदर्शनात्। किं पुनः परं ब्रह्म किमपरमिति। उच्यते। यत्राविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधादस्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते, तत्परम्। तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनचिद्विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३/१४/२) इत्यादिशब्दैस्तदपरम्। नन्वेवमद्वितीयश्रुतिरुपरुध्येत। न। अविद्याकृतनामरूपोपाधिकतया परिहृतत्वात्। तस्य चापरब्रह्मोपासनस्य तत्संनिधौ श्रूयमाणम् 'स यदि पितृलोककामो भवति' (छा० ८/२/१) इत्यादि जगदैश्वर्यलक्षणं संसारगोचरमेव फलं भवति। अनिवर्तितत्वादविद्यायाः। तस्य च देशविशेषावबद्धत्वात्तत्प्राप्त्यर्थं गमनमविरुद्धम्। सर्वगतत्वेऽपि चात्मन आकाशस्येव घटादिगमने बुद्ध्याद्युपाधिगमने गमनप्रसिद्धिरित्यवादिष्म 'तद्गुणसारत्वात्' (ब्र० सू० २/३/२९) इत्यत्र।

तस्मात् 'कार्यं बादरिः' (ब्र० सू० ४/३/७) इत्येष एव स्थितः पक्षः। 'परं जैमिनिः' (ब्र० सू० ४/३/१२) इति तु पक्षान्तरप्रतिभानमात्रप्रदर्शनं प्रज्ञाविकासनायेति द्रष्टव्यम्॥१४॥

(१८४) अप्रतीकालम्बनाधिकरणम्॥६॥ (सू० १५-१६)

(५३२) अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात्तत्क्रतुश्च॥१५॥

स्थितमेतत्कार्यविषया गतिर्न परविषयेति। इदमिदानीं संदिह्यते, किं सर्वान्विकारालम्बनानविशेषेणैवामानवः पुरुषः प्रापयति ब्रह्मलोकमुत कांश्चिदेवेति। किं तावत्प्राप्तं सर्वेषामेवैषां विदुषामन्यत्र परस्माद्ब्रह्मणो गतिः स्यात्। तथाहि—'अनियमः सर्वासाम्—' (ब्र० सू० ३/३/३१) इत्यत्राविशेषेणैवेषा विद्यान्तरेष्ववतारितेति।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—अप्रतीकालम्बनानिति। प्रतीकालम्बनान्वर्जयित्वा सर्वान्न्यान्विकारालम्बनान्नयति ब्रह्मलोकमिति बादरायण आचार्यो मन्यते। नह्येवमुभयथाभावाभ्युपगमे कश्चिद्दोषोऽस्ति। अनियमन्यायस्य प्रतीकव्यतिरिक्तेष्वप्युपासनेषूपपत्तेः। तत्क्रतुश्चास्योभयथाभावस्य समर्थको हेतुर्द्रष्टव्यः। यो हि ब्रह्मक्रतुः, स ब्राह्ममैश्वर्यमासीदेदिति श्लिष्यते 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतेः। नतु प्रतीकेषु ब्रह्मक्रतुत्वमस्ति, प्रतीकप्रधानत्वादुपासनस्य। नन्वब्रह्मक्रतुरपि ब्रह्म गच्छतीति श्रूयते, यथा पञ्चाग्निविद्यायाम् 'स एनान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४/१५/५) इति। भवतु यत्रैवमाहत्यवाद उपलभ्यते, तदभावे त्वौत्सर्गिकेण तत्क्रतुन्यायेन ब्रह्मक्रतूनामेव तत्प्राप्तिर्नेतरेषामिति गम्यते॥१५॥

(५३३) विशेषं च दर्शयति॥१६॥

नामादिषु प्रतीकोपासनेषु पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्फलविशेषमुत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्नुपासने दर्शयति—'यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७/१/५) 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' (छा० ७/२/१) 'यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७/२/२) 'मनो वाव वाचो भूयः' (छा० ७/३/१) इत्यादिना। स चायं फलविशेषः प्रतीकतन्त्रत्वादुपासनानामुपपद्यते। ब्रह्मतन्त्रे तु ब्रह्मणोऽविशिष्टत्वात्कथं फलविशेषः स्यात्। तस्मान्न प्रतीकालम्बनानामितरैस्तुल्यफलत्वमिति॥१६॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीशंकरभगवत्पादकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः॥३॥

* * * *

ॐ

॥ चतुर्थाध्याये चतुर्थः पादः ॥

(अत्र पादे ब्रह्मप्राप्ति-ब्रह्मलोकस्थितिनिरूपणम्)

(१८५) संपद्याविर्भावाधिकरणम् ॥ १ ॥ (सू० १-३)

(५३४) संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ १ ॥

"एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत" इति श्रूयते। तत्र संशयः—किं देवलोकाद्युपभोगस्थानेष्विवागन्तुकेन केनचिद्विशेषेणाभिनिष्पद्यत आहोस्विदात्ममात्रेणेति। किं तावत्प्राप्तम्? स्थानान्तरेष्विवागन्तुकेन केनचिद्रूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात्। मोक्षस्यापि फलत्वप्रसिद्धेः। अभिनिष्पद्यत इति चोत्पत्तिपर्यायत्वात्। स्वरूपमात्रेण चेदभिनिष्पत्तिः पूर्वास्वप्यवस्थासु स्वरूपानपायाद्विभाव्येत। तस्माद्विशेषेण केनचिदभिनिष्पद्यत इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—केवलेनैवात्मनाविर्भवति, न धर्मान्तरेणेति। कुतः?—स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति स्वशब्दात्। अन्यथा हि स्वशब्देनेति विशेषणमनवक्लृप्तं स्यात्। नन्वात्मीयाभिप्रायः स्वशब्दो भविष्यति। न। तस्यावचनीयत्वात्। येनैव हि केनचिद्रूपेणाभिनिष्पद्यते, तस्यैवात्मीयत्वोपपत्तेः स्वेनेति विशेषणमनर्थकं स्यात्। आत्मवचनतायां त्वर्थवत्केवलेनैवात्मरूपेणाभिनिष्पद्यते, नागन्तुकेनापररूपेणापीति ॥ १ ॥

कः पुनर्विशेषः पूर्वास्ववस्थास्विह च स्वरूपानपायसाम्ये सतीत्यत आह—

(५३५) मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

योऽत्राभिनिष्पद्यत इत्युक्तः स सर्वबन्धविनिर्मुक्तः शुद्धेनैवात्मनाऽवतिष्ठते। पूर्वत्र त्वन्धो भवत्यपि रोदितीव विनाशमेवापीतो भवतीति चावस्थात्रयकलुषितेनात्मनेत्ययं विशेषः। कथं पुनरवगम्यते मुक्तोऽयमिदानीं भवतीति—प्रतिज्ञानादित्याह। तथा हि 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८/९/३,८/१०/४,८/११/३) इत्यवस्थात्रयदोषविहीनमात्मानं व्याख्येयत्वेन प्रतिज्ञाय 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छा० ८/१२/१) इति चोपन्यस्य 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः

पुरुषः' (छा० ८/१२/३) इति चोपसंहरति। तथाख्यायिकोपक्रमेऽपि 'आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८/७/१) इत्यादि मुक्तात्मविषयमेव प्रतिज्ञानम्। फलत्वप्रसिद्धिरपि मोक्षस्य बन्धनिवृत्तिमात्रापेक्षा, नापूर्वोपजननापेक्षा। यदप्यभिनिष्पद्यत इत्युत्पत्तिपर्यायत्वं, तदपि पूर्वावस्थापेक्षं, यथा रोगनिवृत्तावरोगोऽभिनिष्पद्यत इति तद्वत्। तस्माददोषः॥२॥

(५३६) आत्मा प्रकरणात्॥३॥

कथं पुनर्मुक्त इत्युच्यते—यावता 'परं ज्योतिरुपसंपद्यत' (छा० ८/१२/३) इति कार्यगोचरमेवैनं श्रावयति। ज्योतिःशब्दस्य भौतिके ज्योतिषि रूढत्वात्। नचानतिवृत्तौ विकारविषयात्कश्चिन्मुक्तो भवितुमर्हति विकारस्यार्तत्वप्रसिद्धेरिति। नैष दोषः। यत आत्मैवात्र ज्योतिःशब्देनावेद्यते, प्रकरणात् 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः' (छा० ८/७/१) इति हि प्रकृते परस्मिन्नात्मनि नाकस्माद्भौतिकं ज्योतिः शक्यं ग्रहीतुम्। प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गात्। ज्योतिःशब्दस्त्वात्मन्यपि दृश्यते 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' (बृ० ४/४/१६) इति। 'प्रपञ्चितं चैतत्' (ब्र० सू० १/३/४०) इत्यत्र॥३॥

(१८६) अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम्॥२॥ (सू० ४)

(५३७) अविभागेन दृष्टत्वात्॥४॥

परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते यः, स किं परस्मादात्मनः पृथगेव भवत्युताविभागेनैवावतिष्ठत इति वीक्षायाम् 'स तत्र पर्येति' (८/१२/३) इत्यधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशात् 'ज्योतिरुपसंपद्य' (छा० ८/१२/३) इति च कर्तृकर्मनिर्देशाद्भेदेनैवावस्थानमिति यस्य मतिस्तं व्युत्पादयत्यविभक्त एव परेणात्मना मुक्तोऽवतिष्ठते। कुतः—दृष्टत्वात्। तथाहि 'तत्त्वमसि' (छा० ६/८/७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १/४/१०), 'यत्र नान्यत्पश्यति' (छा० ७/२४/१), 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' (बृ० ४/३/२३) इत्येवमादीनि वाक्यान्यविभागेनैव परमात्मानं दर्शयन्ति। यथादर्शनमेव च फलं युक्तं तत्क्रतुन्यायात्। 'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति

गौतम' (क० ४/१५) इति चैवमादीनि मुक्तस्वरूपनिरूपणपराणि वाक्यान्यविभागमेव दर्शयन्ति, नदीसमुद्रादिनिदर्शनानि च। भेदनिर्देशस्त्वभेदेऽप्युपचर्यते। 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७/२४/१) इति 'आत्मरतिरात्मक्रीडः' (छा० ७/२५/२) इति चैवमादिदर्शनात्॥४॥

(१८७) ब्राह्माधिकरणम्॥३॥ (सू० ५-७)

(५३८) ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः॥५॥

स्थितमेतत् 'स्वेन रूपेण' (छा० ८/३/४) इत्यत्रात्ममात्ररूपेणाभिनिष्पद्यते, नागन्तुकेनापररूपेणेति। अधुना तु तद्विशेषबुभुत्सायामभिधीयते स्वमस्य रूपं ब्राह्ममपहतपाप्मत्वादिसत्यसंकल्पत्वावसानं तथा सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं च, तेन स्वरूपेणाभिनिष्पद्यत इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। कुतः?—उपन्यासादिभ्यस्तथात्वावगमात्। तथाहि—'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८/७/१) इत्यादिना 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८/७/१) इत्येवमन्तेनोपन्यासेनैवमात्मकतामात्मनो बोधयति। तथा 'स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाणः' (छा० ८/१२/३) इत्यैश्वर्यरूपमावेदयति। 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ७/२५/२) इति च। 'सर्वज्ञः सर्वेश्वरः' इत्यादिव्यपदेशाश्चैवमुपपन्ना भविष्यन्तीति॥५॥

(५३९) चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः॥६॥

यद्यप्यपहतपाप्मत्वादयोभेदेनैव धर्मा निर्दिश्यन्ते, तथापि शब्दविकल्पजा एवैते। पाप्मादिनिवृत्तिमात्रं हि तत्र गम्यते। चैतन्यमेव त्वस्यात्मनः स्वरूपमिति, तन्मात्रेण स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिर्युक्ता। तथा च श्रुतिः—'एवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४/५/१३) इत्येवंजातीयकाऽनुगृहीता भविष्यति। सत्यकामत्वादयस्तु यद्यपि वस्तुस्वरूपेणैव धर्मा उच्यन्ते सत्याः कामा अस्येति। तथाप्युपाधिसंबन्धाधीनत्वात्तेषां न चैतन्यवत्स्वरूपत्वसंभवः। अनेकाकारत्वप्रतिषेधात्। प्रतिषिद्धं हि ब्रह्मणोऽनेकाकारत्वम् 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गम्' (ब्र० सू० ३/२/११) इत्यत्र। अतएव च जक्षणादिसंकीर्तनमपि दुःखाभावमात्राभिप्रायं स्तुत्यर्थमात्मरतिरित्यादिवत्। नहि मुख्यान्येव रतिक्रीडा-

मिथुनान्यात्मनि शक्यन्ते वर्णयितुं, द्वितीयविषयत्वात्तेषाम्। तस्मान्निरस्ताशेषप्रपञ्चेन प्रसन्नेनाव्यपदेश्येन बोधात्मनाऽभिनिष्पद्यत इत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते॥६॥

(५४०) एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः॥७॥

एवमपि पारमार्थिकचैतन्यमात्रस्वरूपाभ्युपगमेऽपि व्यवहारापेक्षया पूर्वस्याप्युपन्यासादिभ्योऽवगतस्य ब्राह्मस्यैश्वर्यरूपस्याप्रत्याख्यानादविरोधं बादरायण आचार्यो मन्यते॥७॥

(१८८) संकल्पाधिकरणम्॥४॥ (सू० ८-९)

(५४१) संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः॥८॥

हार्दविद्यायां श्रूयते—'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः' समुत्तिष्ठन्ति (छा० ८/२/१) इत्यादि। तत्र संशयः किं संकल्प एव केवलः पित्रादिसमुत्थाने हेतुरुत निमित्तान्तरसहित इति। तत्र सत्यपि संकल्पादेवेति श्रवणे लोकवन्निमित्तान्तरापेक्षता युक्ता। यथा लोकेऽस्मदादीनां संकल्पाद्गमनादिभ्यश्च हेतुभ्यः पित्रादिसंपत्तिर्भवत्येवं मुक्तस्यापि स्यात्। एवं दृष्टविपरीतं न कल्पितं भविष्यति। संकल्पादेवेति तु राज्ञ इव संकल्पितार्थसिद्धिकरीं साधनान्तरसामग्रीं सुलभामपेक्ष्योच्यते। नच संकल्पमात्रसमुत्थानाः पित्रादयो मनोरथविजृम्भितवच्चलत्वात्पुष्कलं भोगं समर्पयितुं पर्याप्ताः स्युरिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः संकल्पादेव तु केवलात्पित्रादिसमुत्थानमिति। कुतः?—तच्छ्रुतेः। 'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८/२/१) इत्यादिका हि श्रुतिर्निमित्तान्तरापेक्षायां पीड्येत। निमित्तान्तरमपि तु यदि संकल्पानुविधाय्येव स्याद्भवतु, नतु प्रयत्नान्तरसंपाद्यं निमित्तान्तरमितीष्यते। प्राक्तत्संपत्तेर्वन्ध्यसंकल्पत्वप्रसङ्गात्। नच श्रुत्यवगम्येऽर्थे लोकवदिति सामान्यतो दृष्टं क्रमते। संकल्पबलादेव चैषां यावत्प्रयोजनं स्थैर्योपपत्तिः। प्राकृतसंकल्पविलक्षणत्वान्मुक्तसंकल्पस्य॥८॥

(५४२) अत एव चानन्याधिपतिः॥९॥

अतएव चावन्ध्यसंकल्पत्वादनन्याधिपतिर्विद्वान्भवति नास्यान्योऽधिपतिर्भवती-

त्यर्थः। नहि प्राकृतोऽपि संकल्पयन्नन्यस्वामिकत्वमात्मनः सत्यां गतौ संकल्पयति। श्रुतिश्चैतद्दर्शयति—अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ८/१/६) इति॥९॥

(१८९) अभावाधिकरणम् ॥५॥ (सू० १०-१४)

(५४३) अभावं बादरिराह ह्येवम्॥१०॥

'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८/२/१) इत्यादिश्रुतेर्मनस्तावत्संकल्पसाधनं सिद्धम्। शरीरेन्द्रियाणि पुनः प्राप्तैश्वर्यस्य विदुषः सन्ति न वा सन्तीति समीक्ष्यते। तत्र बादरिस्तावदाचार्यः शरीरस्येन्द्रियाणां चाभावं महीयमानस्य विदुषो मन्यते। कस्मात्? एवं ह्याहाम्नायः 'मनसैतान्कामान्पश्यन्रमते' (छा० ८/१२/५) 'य एते ब्रह्मलोके' (छा० ८/१३/१) इति। यदि मनसा शरीरेन्द्रियैश्च विहरेन्मनसेति विशेषणं न स्यात्। तस्मादभावः शरीरेन्द्रियाणां मोक्षे॥१०॥

(५४४) भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥११॥

जैमिनिस्त्वाचार्यो मनोवच्छरीरस्यापि सेन्द्रियस्य भावं मुक्तं प्रति मन्यते। यतः 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा० ७/२६/२) इत्यादिनाऽनेकधाभावविकल्पमामनन्ति। नह्यनेकविधता विना शरीरभेदेनाञ्जसी स्यात्। यद्यपि निर्गुणायां भूमविद्यायामयमनेकधाभावविकल्पः पठ्यते, तथापि विद्यमानमेवेदं सगुणावस्थायामैश्वर्यं भूमविद्यास्तुतये संकीर्त्यत इत्यतः सगुणविद्याफलभावेनोपतिष्ठत इति॥११॥

उच्यते—

(५४५) द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः॥१२॥

बादरायणः पुनराचार्योऽत एवोभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादुभयविधत्वं साधु मन्यते, यदा सशरीरतां संकल्पयति, तदा सशरीरो भवति, यदा त्वशरीरतां, तदाऽशरीर इति। सत्यसंकल्पत्वात्, संकल्पवैचित्र्याच्च। द्वादशाहवत्। यथा द्वादशाहःसत्रमहीनश्च भवति। उभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादेवमिदमपीति॥१२॥

(५४६) तन्वभावे संध्यवदुपपत्तेः ॥१३॥

यदा तनोः सेन्द्रियस्य शरीरस्याभावस्तदा यथा संध्ये स्थाने शरीरेन्द्रियविषयेष्वविद्यमानेष्वप्युपलब्धिमात्रा एव पित्रादिकामा भवन्त्येवं मोक्षेऽपि स्युरेवं ह्येतदुपपद्यते ॥१३॥

(५४७) भावे जाग्रद्वत् ॥१४॥

भावे पुनस्तनोर्यथा जागरिते विद्यमाना एव पित्रादिकामा भवन्त्येवं मुक्तस्याप्युपपद्यते ॥१४॥

(१९०) प्रदीपाधिकरणम् ॥६॥ (सू० १५-१६)

(५४८) प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥१५॥

'अभावं जैमिनिर्विकल्पामननात्' (ब्र० सू० ४/४/११) इत्यत्र सशरीरत्वं मुक्तस्योक्तम्। तत्र त्रिधाभावादिष्वनेकशरीरसर्गे किं निरात्मकानि शरीराणि दारुयन्त्राणीव सृज्यन्ते, किंवा सात्मकान्यस्मदादिशरीरवदिति भवति वीक्षा, तत्र चात्ममनसोर्भेदानुपपत्तेरेकेन शरीरेण योगादितराणि शरीराणि निरात्मकानीति। एवं प्राप्ते प्रतिपद्यते—प्रदीपवदावेश इति। यथा प्रदीप एकोऽनेकप्रदीपभावमापद्यते, विकारशक्तियोगात्। एवमेकोऽपि सन्विद्वानैश्वर्ययोगादनेकभावमापद्य सर्वाणि शरीराण्याविशति। कुतः? तथाहि दर्शयति शास्त्रमेकस्यानेकभावम्—'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा' (छा० ७/२६/२) इत्यादि। नैतद्दारुयन्त्रोपमाभ्युपगमेऽवकल्पते, नापि जीवान्तरावेशे। नच निरात्मकानां शरीराणां प्रवृत्तिः संभवति। यत्त्वात्ममनसोर्भेदानुपपत्तेरनेकशरीरयोगासंभव इति। नैष दोषः। एकमनोनुवर्तीनि समनस्कान्येवापराणि शरीराणि सत्यसंकल्पत्वात्स्रक्ष्यति। सृष्टेषु च तेषूपाधिभेदादात्मनोऽपि भेदेनाधिष्ठातृत्वं योक्ष्यते। एषैव च योगशास्त्रेषु योगिनामनेकशरीरयोगप्रक्रिया ॥१५॥

कथं पुनर्मुक्तस्यानेकशरीरावेशादिलक्षणमैश्वर्यमभ्युपगम्यते, यावता 'तत्केन कं विजानीयात्' (बृ० ४/५/१५), 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्' (बृ० ४/३/३०), 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति' (बृ० ४/३/३२) इति चैवंजातीयका श्रुतिर्विशेषविज्ञानं वारयतीत्यत उत्तरं पठति—

(५४९) स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥१६॥

A स्वाप्ययः सुषुप्तम् 'स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते' (छा० ६/८/१) इति श्रुतेः। संपत्तिः कैवल्यम्, 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४/४/६) श्रुतेः। तयोरन्यतरामवस्थामपेक्ष्यैतद्विशेषसंज्ञाभाववचनम्। क्वचित्सुषुप्तावस्थामपेक्ष्योच्यते, क्वचित्कैवल्यावस्थाम्। कथमवगम्यते, यतस्तत्रैवैतदधिकारवशादाविष्कृतम् 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति' (बृ० २/४/१४), 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' (बृ० २/४/१४), 'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति' (बृ० ४/३/१९, माण्डू० ५) इत्यादिश्रुतिभ्यः। सगुणविद्याविपाकावस्थानं त्वेतत्स्वर्गादिवदवस्थान्तरं यत्रैतदैश्वर्यमुपवर्ण्यते। तस्माददोषः ॥१६॥

(१९१) जगद्व्यापाराधिकरणम् ॥७॥ (सू० १७-२२)

(५५०) जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥१७॥

ये सगुणब्रह्मोपासनात्सहैव मनसेश्वरसायुज्यं व्रजन्ति। किं तेषां निरवग्रहमैश्वर्यं भवत्याहोस्वित्सावग्रहमिति संशयः। किं तावत्प्राप्तम्? निरङ्कुशमेवैषामैश्वर्यं भवितुमर्हति 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (तै० १/६/२), 'सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति' (तै० १/५/३), 'तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ७/२५/२,८/१/६) इत्यादिश्रुतिभ्य इति।

A एवं प्राप्ते पठति—जगद्व्यापारवर्जमिति। जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वाऽन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति, जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवेश्वरस्य। कुतः?—तस्य तत्र प्रकृतत्वादसंनिहितत्वाच्चेतरेषाम्। पर एव हीश्वरो जगद्व्यापारेऽधिकृतः। तमेव प्रकृत्योत्पत्त्याद्युपदेशात्। नित्यशब्दनिबन्धनत्वाच्च। तदन्वेषणविजिज्ञासनपूर्वकं त्वितरेषामणिमाद्यैश्वर्यं श्रूयते। तेनासंनिहितास्ते जगद्व्यापारे। समनस्कत्वादेव चैतेषामनैकमत्ये कस्यचित्स्थित्यभिप्रायः कस्यचित्संहाराभिप्रायः इत्येवं विरोधोऽपि कदाचित्स्यात्। अथ कस्यचित्संकल्पमन्वन्यस्य संकल्प इत्यविरोधः समर्थ्येत, ततः परमेश्वराकूततन्त्रत्वमेवेतरेषामिति व्यवतिष्ठते ॥१७॥

(५५१) प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः॥१८॥

अथ यदुक्तम् 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (तै० १/६/२) इत्यादिप्रत्यक्षोपदेशान्निरवग्रहमैश्वर्यं विदुषां न्याय्यमिति तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते। नायं दोषः। आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः। आधिकारिको यः सवितृमण्डलादिषु विशेषायतनेष्ववस्थितः पर ईश्वरस्तदायत्तैवेयं स्वाराज्यप्राप्तिरुच्यते। यत्कारणमनन्तरम् 'आप्नोति मनसस्पतिम्' (तै० १/६/२) इत्याह। यो हि सर्वमनसां पतिः पूर्वसिद्ध ईश्वरस्तं प्राप्नोतीत्येतदुक्तं भवति। तदनुसारेणैव चानन्तरम् 'वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिश्च भवति' (तै० १/६/२) इत्याह। एवमन्यत्रापि यथासंभवं नित्यसिद्धेश्वरायत्तमेवेतरेषामैश्वर्यं योजयितव्यम्॥१८॥

(५५२) विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह॥१९॥

विकारावर्त्यपि च नित्यमुक्तं पारमेश्वरं रूपं, न केवलं विकारमात्रगोचरं सवितृमण्डलाद्यधिष्ठानम्। तथाह्यस्य द्विरूपां स्थितिमाहाम्नायः 'तावानस्य महिमा, ततो ज्यायांश्च पुरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३/१२/६) इत्येवमादिः। नच तन्निर्विकारं रूपमितरालम्बनाः प्राप्नुवन्तीति शक्यं वक्तुमतत्क्रतुत्वात्तेषाम्। अतश्च यथैव द्विरूपे परमेश्वरे निर्गुणं रूपमनवाप्य सगुण एवावतिष्ठन्त, एवं सगुणेऽपि निरवग्रहमैश्वर्यमनवाप्य सावग्रह एवावतिष्ठन्त इति द्रष्टव्यम्॥१९॥

(५५३) दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने॥२०॥

दर्शयतश्च विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः श्रुतिस्मृती। 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' (क० ५/१५ श्वे० ६/१४ मु० २/२/१०) इति। 'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः' (गी० १५/६) इति च। तदेवं विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः प्रसिद्धमित्यभिप्रायः॥२०॥

(५५४) भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च॥२१॥

इतश्च न निरङ्कुशं विकारालम्बनानामैश्वर्यं, यस्माद्भोगमात्रमेवैषामनादिसिद्धे-

नेश्वरेण समानमिति श्रूयते—'तमाहापो वै खलु मीयन्ते लोकोऽसौ' इति 'स यथैतां देवतां सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवं हैवंविदं सर्वाणि भूतान्यवन्ति तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति (बृ० १/५/२३) इत्यादिभेदव्यपदेशलिङ्गेभ्यः॥२१॥

नन्वेवं सति सातिशयत्वादन्तवत्त्वमैश्वर्यस्य स्यात्ततश्चैषामावृत्तिः प्रसज्येतेत्यत उत्तरं भगवान्बादरायण आचार्यः पठति—

(५५५) अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्॥२२॥

नाडीरश्मिसमन्वितेनार्चिरादिपर्वणा देवयानेन पथा ये ब्रह्मलोकं शास्त्रोक्तविशेषणं गच्छन्ति 'यस्मिन्नरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि यस्मिन्नैरंमदीयं सरो यस्मिन्नश्वत्थः सोमसवनो यस्मिन्नपराजिता पूर्ब्रह्मणो यस्मिंश्च प्रभुविमितं हिरण्मयं वेश्म यश्चानेकधा मन्त्रार्थवादादिप्रदेशेषु प्रपञ्च्यते ते तं प्राप्य न चन्द्रलोकादिव भुक्तभोगा आवर्तन्ते। कुतः? 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८/६/६, क० ६/१६), 'तेषां न पुनरावृत्तिः' (बृ० ६/२/१५), 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४/१५/६), 'ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते' (छा० ८/१५/१), 'न च पुनरावर्तते' (छा० ८/१५/१) इत्यादिशब्देभ्यः। अन्तवत्त्वेऽपि त्वैश्वर्यस्य यथाऽनावृत्तिस्तथा वर्णितम् 'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातःपरम्' (ब्र० सू० ४/३/१०) इत्यत्र। सम्यग्दर्शनविध्वस्ततमसां तु नित्यसिद्धनिर्वाणपरायणानां सिद्धैवानावृत्तिः, तदाश्रयणेनैव हि सगुणशरणानामप्यनावृत्तिसिद्धिरिति। अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दादिति सूत्राभ्यासः शास्त्रपरिसमाप्तिं द्योतयति॥२२॥

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ
चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः॥४॥

विश्रामः॥३२॥

* * * *

चतुर्थाध्यायस्य पादशोऽधिकरणसूत्राणां सङ्ग्रहः

पादः	अधिकरणानि	सूत्राणि
प्रथमः	१४	१९
द्वितीयः	११	२१
तृतीयः	६	१६
चतुर्थः	७	२२
योगः	३८	७८

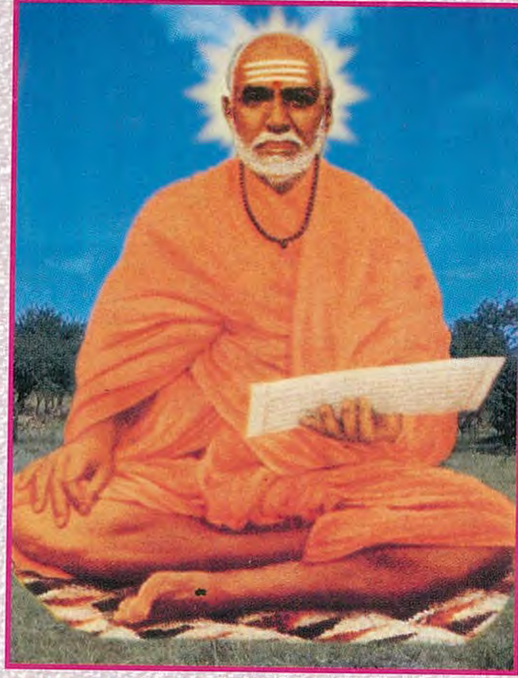


ब्रह्मसूत्रग्रन्थस्याध्यायशोऽधिकरणसूत्राणां सङ्ग्रहः

अध्यायः	अधिकरणानि	सूत्राणि
प्रथमः	३९	१३४
द्वितीयः	४७	१५७
तृतीयः	६७	१८६
चतुर्थः	३८	७८
योगः	१९१	५५५







श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अनन्त श्री विभूषित
पूज्यपाद श्रीमत्स्वामी धनराज गिरिजी महाराज
निर्वाण शताब्दी महोत्सव
फा॰कृ॰११, वि॰सं॰ २०६७, सन् २०११ ई॰



श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अनन्त श्री विभूषित
स्वामी हरिहर तीर्थ जी महाराज (श्री छोटे महाराज जी)
जन्म शताब्दी महोत्सव
ज्येष्ठ शु॰ ३ वि॰सं॰ २०६८, सन् २०११ ई॰

गुरुजन-शताब्दी-त्रिवेणी-सङ्गम-प्रसङ्गे प्रकाशितम्

ऋषिकेशस्थ श्री कैलास आश्रम की दिव्य - विभूतियाँ

जगद्गुरु भगवान - आद्य शंकराचार्य जी



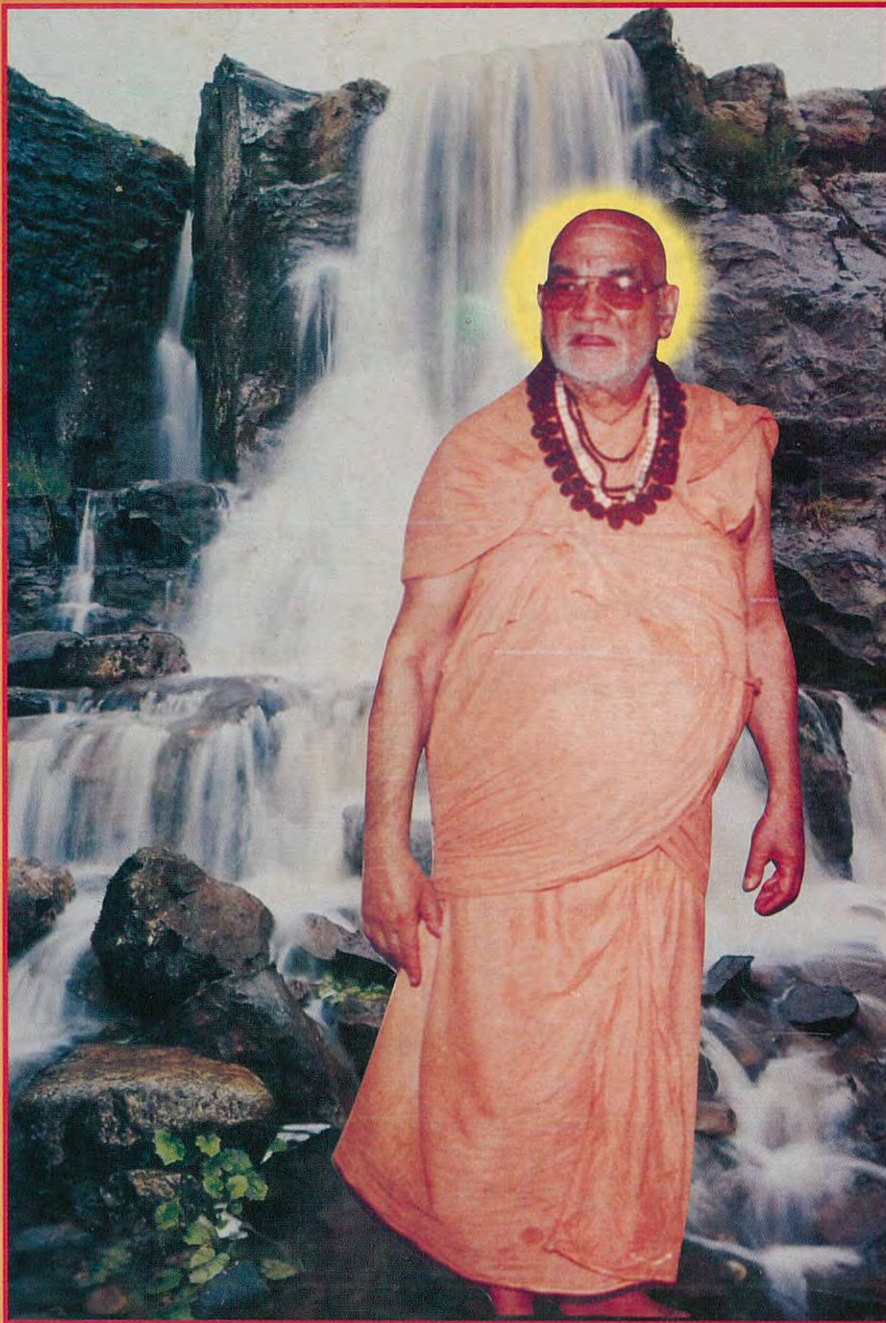
श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आ. म. मं.

श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज

आप का जन्म २९ नवम्बर, सन् १९२१ को जिला पटना (बिहार) के गाजी पुर ग्राम में हुआ। आपके पिता श्रीमान् जवाहर शर्मा जी और माता श्रीमती ललिता देवी थीं। आप बाल्यकाल से ही भगवान् की उपासना में रुचि रखते थे। २० वर्ष की आयु में आपने घर गृहस्थी को त्याग कर साधु जीवन अपनाया। आपके गुरुदेव परमहंस स्वामी विज्ञानानन्द गिरि जी महाराज एवं परमगुरुदेव योगीराज स्वामी नित्यानन्द गिरि जी महाराज से आपने परमार्थ पथ की दीक्षा ली। अपनी सारस्वत साधना में आपने काशी में वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य तक अध्ययन कर परीक्षा पास की। तत्पश्चात् आप अध्यापन कार्य में संलग्न हुए। विश्वनाथ संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य रहे। वहीं पर निरंजनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी नृसिंह गिरि जी महाराज एवं निरंजनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज की छत्रछाया में संन्यास दीक्षा ली।

२१ जुलाई सन् १९६९ को आप कैलास ब्रह्मविद्यापीठ ऋषिकेश के महामण्डलेश्वर पद पर आसीन हुये। आपने ग्रन्थ रचना एवं प्रकाशन में विशेष रुचि ली और अनेकों ग्रन्थों का लोककल्याणार्थ प्रकाशन बड़े धैर्यपूर्वक करवाया। आपने कैलास आश्रम की शताब्दी (१९८०-८१), आचार्यद्वय जन्म शताब्दी (१९८५-८६), आद्यश्री शङ्कराचार्य द्वादश शताब्दी (१९८७-८८), भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर प्रतिष्ठा शताब्दी (१९९२-९७) आदि महत्वपूर्ण महोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाकर गुरुजनों के यश को चार चाँद लगाये। आप भारत के आध्यात्मिक एवं धार्मिक क्षेत्र के आचार्यों में अग्रगण्य हैं।

आपने शाङ्करी परम्परा को पुष्ट करने का स्तुत्य सफल प्रयास किया है। शाङ्करभाष्य नित्य पारायण के आप प्रवर्तक हैं और तदनुरूप ग्रन्थों के पारायण संस्करणों को आप प्रकाशित करवा रहे हैं। आपकी इन सभी प्रवृत्तियों को देखकर सन्तों एवं भक्तों ने आपको **शाङ्करी-परम्परा-संपोषकाचार्य** उपाधि से समलंकृत किया है। गुरुजनों के प्रति आपके मन में अगाध श्रद्धा एवं भक्ति है। सन् २००४ में मनाये जाने वाले **गुरुजन शताब्दी त्रिवेणी संगम** महोत्सव के आप ही परिकल्पक एवं संयोजक हैं।



श्रीकैलासपीठाधीश्वर शाङ्करभाष्यपारायणप्रवर्तकाचार्य

परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज

वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य